सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—२६

राजपूताना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत

# ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत

## भाग १

## ( शब्द-शक्ति-विवेचन )

लेखक

डा० भोलाशंकर व्यास

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
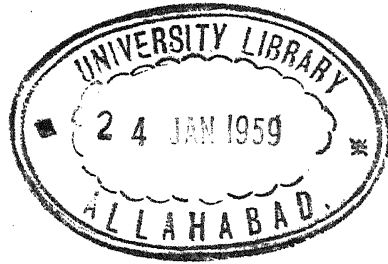
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, सं० २०१३, १५०० प्रतियाँ
मूल्य १०)

पराशक्ति में विलीन

माँ

को

# माला का परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्रचर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्य-श्लोक महाराज श्रीरामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराज कुमार श्रीमानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और मातृवियोग और पतिवियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह जी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने उनके जीवनकाल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षित थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रगट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपये देकर नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की। तीस हजार रुपये के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी में 'सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी ( चेयर )' की स्थापना की।

पाँच हजार रुपए से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

पाँच हजार रुपये दरबार हाई स्कूल शाहपुरा में सूर्यकुमारी-विज्ञान-भवन के लिये प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्व-साधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

# भूमिका

वृत्तिविचार भारतीय साहित्यशास्त्र का आधार पीठ है जिसके आधार पर इसका विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। साहित्यशास्त्र के इतिहास में निःसन्देह वह एक अन्तःपरीक्षण का युगान्तरकारी काल उपस्थित हुआ जब लक्ष्यमें मूलतः प्रतिष्ठित होने पर भी प्रतीयमान अर्थ की पृथक् सत्ता का सूत्रपात आनन्दवर्धनाचार्य ने लक्षणग्रन्थ में सर्वप्रथम किया। भारतीय साहित्यशास्त्र भी भारतवर्ष के व्यापक अध्यात्म दर्शन का एक बहुमूल्य अंग है, परन्तु अभी तक आलोचकों की दृष्टि उसके बाहरी साधनों के समीक्षण की ओर इतनी अधिक लगी हुई है कि उसका अन्तरंग सिद्धान्त अनेक पण्डितम्मन्य आलोचकों की दृष्टि से ओझल ही बना हुआ है। जीवन तथा साहित्य में आनन्द की प्रतिष्ठा करने वाला रससिद्धान्त इसका प्राण है और इसकी यथार्थ मीमांसा करने के लिए वृत्तियों का विशेषतः व्यञ्जना का विचार नितान्त आवश्यक और उपादेय है। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपने मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या तथा मीमांसा के लिए वृत्तियों का यथेष्ट विवेचन किया है। अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति किसी न किसी रूपमें प्रत्येक दर्शन को अभीष्ट है, परन्तु व्यञ्जना की मीमांसा भारतीय साहित्यशास्त्र की दार्शनिक जगत् को महती देन है।

व्यञ्जना वृत्ति का उदय व्याकरण आगम ने अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त **स्फोट** की व्याख्या के लिए किया। पातञ्जल महाभाष्य में इसका विशद विवेचन है। वैयाकरणों के इस मौलिक सिद्धान्त को ग्रहण करके भी आलंकारिकों ने इसके क्षेत्रको विस्तृत कर दिया। 'ध्वनि' सिद्धान्त का जनक वैयाकरणों का यही स्फोट सिद्धान्त है, परन्तु अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त बड़ी ही विशद युक्तियों तथा तर्कों का उपयोग किया है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ऐसे मूर्धन्य आचार्य हैं, जिनकी व्याख्यायें नितान्त मौलिक, मनोवैज्ञानिक तथा विचारोत्तेजक हैं। आजकल पाश्चात्य दार्शनिकों की दृष्टि भी इस विषयकी विवेचना की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुई है और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विवेचक विद्वानों ने शब्द तथा अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की गुत्थियों को सुलझाने का श्लाघनीय प्रयास किया है तथा कर रहे हैं, परन्तु

अभी भी इनकी व्याख्यायें उस तल को स्पर्श करने में भी कृतकार्य नहीं हुई हैं जिसका विशद विवरण अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने इतनी सुन्दरता तथा सूक्ष्मता के साथ अपने ग्रन्थों में किया है। पश्चिमी आलोचना शास्त्र में व्यञ्जना का प्रवेश तो अभी हाल की घटना है। एबरक्राम्बी तथा रिचर्ड्स ने अपने ग्रन्थों में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता के विषय में हाल में आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

तुलनात्मक दृष्टि से व्याख्यात वृत्तिविषयक ग्रन्थ की हिन्दी में नितान्त आवश्यकता थी। हर्ष का विषय है कि डाक्टर भोलाशंकर व्यास ने इस आवश्यकता की पूर्ति इस ग्रन्थ के द्वारा बड़े ही सुन्दर ढंग से की है। लेखक की दृष्टि व्यापक है संस्कृत में निबद्ध एतद्विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त वह पाश्चात्य विद्वानों के मान्य ग्रन्थों से पूरा परिचय रखता है और इसलिए यह ग्रन्थ बहुत ही प्रौढ़, प्राञ्जल तथा प्रामाणिक हुआ है। लिखने का ढंग बहुत ही विशद है। भिन्न भिन्न मतों को उदाहरणों के सहारे समझा कर लेखक ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। ऐसे सुन्दर, सामयिक तथा उपादेय ग्रन्थ की रचना के लिए मैं व्यासजी को बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि हिन्दी के विद्वान् इस ग्रन्थरत्न का यथोचित आदर करेंगे।

अक्षय तृतीया
सं० २०१३
१३—५—५६

बलदेव उपाध्याय

# निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्ध राजपूताना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। आगरा से संस्कृत एम० ए० तथा राजपूताना से हिन्दी एम० ए० करने के पश्चात् मैंने किसी शुद्ध साहित्यशास्त्रीय विषय को लेकर गवेषणा करने की इच्छा प्रकट की। इसकी प्रेरणा मुझे अपने साहित्य-शास्त्र के अध्यापक स्व० प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय (भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर) से मिली थी तथा उनके दिवंगत होने के बाद गुरुवर प्रो० मोहनवल्लभ जी पंत (अध्यक्ष, संस्कृत-हिंदी विभाग, उदयपुर कॉलेज) ने मुझे इस ओर प्रोत्साहित किया तथा समय समय पर जटिल साहित्यिक समस्याओं को सुलझा कर मेरा उत्साह बढ़ाया। प्रो० पंत के चरणों में ही बैठ कर मैंने इस प्रबंध को प्रस्तुत किया है। यदि मुझे प्रो० पंत का वरद हस्त न मिलता, तो सम्भव है जितनी शीघ्रता से मैं यह दुस्तर कार्य कर सका, वह असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य था।

पी-एच० डी० के लिये मैंने "ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत" नामक विषय को चुना। किंतु जब मैं गवेषणा कार्य में संलग्न हुआ और अध्ययन के पश्चात् विषय की गंभीरता का अभ्यास होने लगा, तो मैंने समझा कि ध्वनि संप्रदाय के समस्त सिद्धांतों का एक ही ग्रंथ में संकेत करना उसके साथ न्याय न होगा। यही कारण है कि समस्त विषय को दो भागों में बाँटा गया। प्रथम भाग में ध्वनि सम्प्रदाय के केवल शब्दशक्ति संबंधी विचारों का अध्ययन करने की योजना बनाई गई, द्वितीय भाग में ध्वनि संप्रदाय के अन्य आलंकारिक सिद्धांतों के अध्ययन की। इसी योजना के अनुसार मेरे निरीक्षक गुरुवर प्रो० पन्त ने यह सम्मति दी कि मैं केवल प्रथम भाग ही को पी-एच० डी० के लिये प्रस्तुत कर दूँ। एतदर्थ विश्वविद्यालय को आवेदन पत्र भेजा गया और विश्वविद्यालय ने केवल 'शब्दशक्ति विवेचन' को ही पी-एच० डी० के लिए पर्याप्त समझ कर, इसकी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार प्रबंध का शीर्षक वही बना रहा, पर उसके साथ प्रथम भाग तथा 'शब्दशक्ति विवेचन' जोड़ देना पड़ा।

प्रस्तुत गवेषणा में भारतीय दार्शनिकों, वैयाकरणों तथा आलंकारिकों के शब्द की उद्भूति, शब्दार्थसंबंध, शब्दशक्ति आदि विषयों से संबद्ध मतों का विशद विवेचन करते हुए इस विषय में ध्वनिवादी आलंकारिकों के मत की महत्ता प्रतिष्ठापित की गई है। इसी संबंध में विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी तुलनात्मक संकेत करना आवश्यक समझा गया है। ध्वनिवादियों की नवीन उद्भूति 'व्यंजना' पर विशद रूप से विचार करना इस प्रबंध का प्रधान लक्ष्य है। जिस रूप में यह प्रबंध प्रस्तुत किया था, उस रूप में इसमें दो परिच्छेद और थे, "व्यंजनावाद और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रतीकवाद" तथा "व्यंजनावादी के मत से काव्य में चमत्कार"। इन दो परिच्छेदों को इसलिए निकाल दिया है कि इनका उपयुक्त स्थान इस प्रबंध का द्वितीय भाग है। "ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत" के द्वितीय भाग का कार्य हो रहा है, आशा है मैं उसे शीघ्र ही पाठकों के समक्ष रख सकूँगा। भारतीय साहित्यशास्त्र पर एक अन्य ग्रन्थ भी बड़ी जल्दी पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न कर रहा हूँ—"भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार"—जिसमें अलंकारों के ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय विकास का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रबंध के लिखने में मुझे प्रधान पथप्रदर्शन गुरुवर प्रो० मोहनवल्लभ जी पन्त से मिला है। लन्दन विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा गुजराती के प्राध्यापक डॉ० टी० एन० दवे ने भी मुझे आवश्यक परामर्श देकर विशेष कृपा की है। लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल आव् ऑरियन्टल स्टडीज़ में भाषाशास्त्र के अध्यापक डॉ० डब्ल्यू० एस० एलन का मैं विशेष अभारी हूँ, जिन्होंने समय समय पर पुस्तकों तथा परामर्श के द्वारा मेरी सहायता की। भाषाशास्त्र संबंधी विचारों के लिए मैं उनका ऋणी हूँ। उन्होंने अपने अप्रकाशित थीसिस का उपयोग करने की इजाजत दे दी, जिसका उपयोग मैंने प्रबंध के प्रथम परिच्छेद के लिखने में किया है, अतः मैं इस आभार का प्रकाशन आवश्यक समझता हूँ। भारतीय दार्शनिकों के मत को समझने के लिये अपने ज्येष्ठ पितृव्य पं० कन्हैयालाल जी शास्त्री का प्रसाद प्राप्त हुआ है। गुरुवर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस प्रबंध की भूमिका लिखकर जो कृपा प्रदर्शित की है, उसका आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधानमंत्री डॉ० राजबली जी पाण्डेय की

असीम कृपा का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जिनकी कृपा के बिना प्रबंध का प्रकाशन दुःसाध्य था। पुस्तक के प्रकाशन में सभा के साहित्य-मंत्री डॉ० श्रीकृष्णलाल जी, सभा के साहित्यिक-विभाग के सहायक संपादक श्री भुवनेश्वर प्रसाद गौड़ जी तथा सभा प्रेस के व्यवस्थापक श्री महताब राय जी का पर्याप्त सहयोग रहा है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

काशी<br>
वैशाखी पूर्णिमा<br>
२०१३

**भोलाशंकर व्यास**

# ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धांत

भाग १.

( शब्दशक्ति विवेचन )

## विषय-सूची

### आमुख



———

## प्रथम परिच्छेद
### शब्द और अर्थ

मानव-जीवन में वाणी का महत्त्व—भाषा और शब्द तथा अर्थ के संबंध के विषय में आदिम विचार—यही वैयक्तिक नामों को गुप्त रखने की भावना का आधार—इसी धारण के कारण सफेद जादू ( white magic ) तथा काले जादू ( black Magic ) की उत्पत्ति—ताबू ( Tabu ) तथा शब्द; फ्रॉयड का शब्दोत्पत्तिसंबंधी मत—शब्द की उत्पत्ति के विषय में अतिप्राचीन भारतीय विचार—वाणी की आध्यात्मिक महत्ता—वाणी की नैतिक ( ethical ) महत्ता—वाणी की बौद्धिक महत्ता—काव्य में वाणी का महत्त्व वाणी तथा मन का संबंध—शब्द व अर्थ दोनों एक ही वस्तु के दो अंश—शब्दार्थसंबंध के विषय में तीन वाद—( क ) उत्पत्तिवाद—( ख ) व्यक्तिवाद —( ग ) ज्ञप्तिवाद—शब्द तथा अर्थ में प्रतीकात्मक ( symbolic ) संबंध—शब्द की प्रतीकात्मकता के विषय में ऑड्गन तथा रिचर्ड्स का मत, रेखाचित्र के द्वारा स्पष्टीकरण—शब्द समस्त भावों का बोध कराने में असमर्थ-अभाववाचीशब्द और अर्थप्रतिपत्ति; वैशेषिक दार्शनिकों का तथा अरस्तू का मत—शब्द का संकेतग्रह जाति में या व्यक्ति में—शब्दसमूह के रूप, वाक्य एवं महावाक्य—शब्द का भौतिक स्वरूप—शब्द के विषय में नित्यवाद, अनित्यवाद तथा नित्यानित्यवाद—सार्थक शब्द के तीन प्रकार प्रकृति, प्रत्यय तथा निपात—उपसंहार।

---

## द्वितीय परिच्छेद
### अभिधा शक्ति और वाच्वार्थ

शब्द की विभिन्न शक्तियाँ—अभिधा एवं वाच्यार्थ—संकेत—संकेत का ईश्वरेच्छा वाला मत—अनीश्वरवादी मत, संकेत का आधार सामाजिक चेतना; कार्लमार्क्स ( Karl Marx ) तथा कॉडवेल ( Caudwell ) के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मत—संकेतग्रह—व्यक्तिशक्तिवादी का मत—ज्ञानशक्तिवादी का मत—कुब्जा शक्ति—बौद्ध दार्शनिकों का मत—अपोह—नैयायिकों का मत, जातिविशिष्टव्यक्ति में संकेत—मीमांसकों का मत—जाति में संकेत, व्यक्ति का आक्षेप से ग्रहण—( क ) भाट्ट मीमांसकों का मत, पार्थ

सारथि मिश्र—( ख ) श्रीकर का मत, उपादान से व्यक्ति का ग्रहण—( ग ) मण्डन मिश्र का मत, लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण—इस मत का मम्मट के द्वारा खण्डन—( घ ) प्रभाकर का मत, जाति के ज्ञान के साथ ही व्यक्ति का स्मरण—वैयाकरणों का मत, उपाधि में संकेत—उपाधि के भेदोपभेद—जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा—नव्य आलंकारिकों को अभिमत मत—संकेत के प्रकार आजानिक, आधुनिक—पाश्चात्य विद्वान् तथा शाब्दबोध—अरस्तू, पेथागोरस, तथा प्रिन्स्कियन का मत—पोर्ट-रॉयल ( Port-Royal ) सम्प्रदाय के तर्क-शास्त्रियों का मत—स्केलिगर का मत—जॉन लॉक का मत, जॉन लॉक तथा कॉन्डिलेक के मत से केवल 'जाति' ( species; genera ) में संकेत—जॉन स्टुअर्ट मिल का मत—व्यक्तिगत नाम, सामान्य अभिधान ( कोनोटेटिव ) तथा विशेषण ( एट्रिब्यूट ) में संकेत—अभिधा की परिभाषा—बालक को वाच्यार्थ का ग्रहण कैसे होता है—ब्लूमफील्ड का मत—प्राच्य विद्वानों के मत से शक्तिग्रह के आठ साधन—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति ( विवरण ), सिद्धपदसान्निध्य—अभिधा के तीन भेद—रूढि—योग—योगरूढि—अनेकार्थवाची शब्दों के १५ मुख्यार्थनियामक, भर्तृहरि का मत—रेञो ( Regnaud ) के द्वारा इस का खण्डन उल्लिखित—रेञो के मत का खण्डन—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यशब्दसान्निध्य, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, चेष्टा—उपसंहार ।

## तृतीय परिच्छेद

### लक्षणा एवं लक्ष्यार्थ

लक्षणा एवं लक्ष्यार्थ—लक्षणा की परिभाषा—लक्षणा के हेतुत्रय—निरूढा तथा प्रयोजनवती लक्षणा—रूढा को लक्षणा मानना उचित या नहीं; पं० रामकरण आसोपा के मत का खण्डन—उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा—मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के कई संबंध—गौणी लक्षणा तथा शुद्धा लक्षणा—उपचार—सादृश्यमूलक लाक्षणिक शब्द से लक्ष्यार्थ प्रतीति कैसे होती है—इस विषय में तीन मत—गौणी के उदाहरण तथा स्पष्टीकरण—सारोपा तथा साध्यवसाना गौणी—लक्षणा के १३ भेदों का संक्षिप्त विवरण—जहदजहल्लक्षणा जैसे भेद की कल्पना—विश्वनाथ के मत में लक्षणा के भेद—गूढ व्यंग्या तथा अगूढ व्यंग्या—

---

## चतुर्थ परिच्छेद

---

### तात्पर्यवृत्ति और वाक्यार्थ



---

## पंचम परिच्छेद

### व्यंजना वृत्ति, ( शाब्दी व्यंजना )

## षष्ठ परिच्छेद

### व्यंजना वृत्ति ( आर्थी व्यंजना )



---

## सप्तम परिच्छेद

### अभिधावादी तथा व्यंजना



---

## अष्टम परिच्छेद

### लक्षणावादी तथा व्यंजना

## नवम परिच्छेद

### अनुमानवादी और व्यंजना



———

## दशम परिच्छेद

### व्यंजना तथा साहित्यशास्त्र से इतर आचार्य



———

## एकादश परिच्छेद

### काव्य की कसौटी—व्यंजना



———

## सिंहावलोकन



---

## परिशिष्ट

# ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत

(शब्द-शक्ति-विवेचन)

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

—ऋग्वेद १०. ७१. ४–५

'वाणी को देखते हुए भी कई व्यक्ति नहीं देख पाते; कई लोग इसे सुन कर भी नहीं सुन पाते। किंतु विद्वान् व्यक्ति के समक्ष वाणी अपने कलेवर को ठीक उसी तरह प्रकट कर देती है, जैसे सुंदर वस्त्रवाली कामिनी प्रिय के हाथों अपने आपको सौंप देती है।'

'विद्वान् व्यक्ति देवताओं का मित्र है, वह किसी भी समय असफल नहीं होता। किंतु जो व्यक्ति पुष्प और फल से रहित अर्थात् निरर्थक वाणी को सुनता है, वह माया ( ढोंग ) करता है'।

# आमुख

"The intelligent forms of ancient poets,
The fair humanities of old religion......
They live no longer in the faith of reason:
But still the heart doth need a language, still
Doth the old instinct bring back the old names."

--Coleridge:

मानव के भावों का प्रकट रूप, उसके भावजगत् का बहिः-प्रतिफलन ही साहित्य है। भावजगत् से सम्बद्ध होने के कारण ही साहित्य का क्षेत्र विज्ञान से सर्वथा भिन्न है।

साहित्य के लिये देशकाल-मुक्त कसौटी आवश्यक

साहित्य में शब्द का अर्थ से, बहिर्जगत् का भाव-जगत् से, मानव का मानवेतर सृष्टि से, अथच विषयी का विषय से तादात्म्य हो जाता है, वे दोनों "साहित्य" ( सहितस्य भावः ) प्राप्त कर लेते हैं। क्रौञ्च पक्षी को निषाद के बाण से विद्ध देख कर महाकवि वाल्मीकि का श्लोकरूप* में परिणत शोक तत्प्रकरणविशिष्ट ही न होकर, एक सार्वजनीन एवं सार्वदेशिक शोक था। साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि वह देश काल की परिधि से मुक्त हो, मुक्त पवन की भाँति कोई भी उसका सेवन कर आह्लाद प्राप्त कर सके। सच्चे साहित्य का गुण यह है, कि वह कभी बासी नहीं होता, नित्य नूतनता, प्रतिक्षण अभिनव रमणीयता उसमें संक्रांत होती जाती है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" यह उक्ति साहित्य के लिये भी शत प्रतिशत अंश में चरितार्थ होती है। इसीलिए साहित्य के सौन्दर्या-सौन्दर्य का विवेचन करते समय हमें एक ऐसी तुला की आवश्यकता

---

* मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

— रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १.

होगी, जो किसी देश-काल से सम्बद्ध न होकर सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन हो। साहित्य हमें क्यों अच्छा लगता है? क्या कारण है, कि हमें अमुक चित्र अन्य चित्र से अच्छा लगता है? इस निर्धारण के लिये हम कोई निश्चित कसौटी मान सकते हैं। कुछ लोगों का मत है, कि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न होने से जो चित्र, मुझे अच्छा लगता है संभवतः वह आपको रुचिकर प्रतीत न हो, अतः इस दृष्टि से एक निश्चित कसौटी मानी ही नहीं जा सकती। किन्तु यह मत भ्रान्त ही है।

साहित्य में प्रमुख अंश काव्य का है, इसीलिए कुछ लोग तो काव्य या साहित्य में अभेद-प्रतिपत्ति[1] मानते हैं। यदि साहित्य का संकुचित अर्थ लिया जाय, तो उसके साथ काव्य की अभेद-प्रतिपत्ति मानने में हमें भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं। यहाँ पर हम अब 'साहित्य' शब्द का प्रयोग न कर, 'काव्य' का ही प्रयोग करेंगे।

काव्य 'कला' या 'विद्या'

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार काव्य भी एक कला है। इसीलिए अरस्तू ने काव्य का भी प्रयोजन अनुकरणवृत्ति माना है।[2] प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हीगेल ने कलाओं का विभाजन करते हुए स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला, तथा काव्य-कला इन पाँच कलाओं को ललित कलाएँ माना, तथा इनमें उत्तरोत्तर कला को पूर्व पूर्व से उत्कृष्ट माना।[3] इनके यहाँ 'काव्य' भी कलाओं में सन्निविष्ट होने के कारण मनोरंजन की ही वस्तु रहा। भारत में काव्य को कला नहीं माना गया। कलाओं का सन्निवेश भारत में 'उपविद्याओं' के अन्तर्गत हुआ है, किंतु काव्य 'विद्या' के अन्तर्गत है।[4] अतः भारत में

---

१. जहाँ दो वस्तुओं में किन्हीं कारणों से एकता तथा अभिन्नता मानी जाय, उसे 'अभेदप्रतिपत्ति' ( identification ) कहते हैं।

२. Art is imitation.—Aristotle.

३. Worsfold: Judgment in Literature P. 2.

४. प्रसादः—'काव्य और कला' नामक निबन्ध में प्रसाद जी ने यह बताया है कि समस्यापूर्ति आदि कला है, किन्तु काव्य 'कला' नहीं। समस्यापूर्ति को 'जयमंगला'-कार भी 'कला' मानता है—"श्लोकस्य च समस्यापूरणं क्रीडार्थं वादार्थं"—( कामसूत्र टीका )।

काव्य का महत्त्व किसी भी दर्शन या शास्त्र से कम नहीं माना गया है। शास्त्रों में प्रत्येक शास्त्र चतुर्वर्ग में से किसी न किसी एक वर्ग की ही पूर्ति करता है, यथा स्मृत्यादि धर्म की, नीतिशास्त्र अर्थ की, कामशास्त्र काम की, तथा दर्शनशास्त्र मोक्ष की। किंतु काव्यशास्त्र अकेला ही चारों वर्गों की प्राप्ति करा देता है। साथ ही स्मृति, नीति, कामसूत्र, तथा षड् दर्शन को समझने के लिये गहन बुद्धि अपेक्षित है, किंतु काव्य तो सुकुमार बुद्धिवाले लोगों को भी कठिन से कठिन शास्त्रीय विषयों को सुगम रूप में दे देता है।

"काव्य के स्वरूप का विवेचन इसलिये किया जाता है कि केवल काव्य से ही अल्पबुद्धिवाले लोग सुख से चारो वर्गों का फल प्राप्त कर सकते हैं।" —भामह[1]

इसी काव्य को आधार बना कर कई दार्शनिकों तथा उपदेशकों ने अपने सिद्धांतों का प्रचार भी किया है। अश्वघोष ने तभी तो कहा था "पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति"—(सौंदरानंद)। इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्य में उपदेश ही एकमात्र वस्तु है। फिर भी काव्य में हम उपदेश तत्त्व को सर्वथा भुला नहीं सकते। काव्य के संपादक तत्त्वों में इसका भी अपना स्थान है।

रस के आधार पर काव्य की वेद तथा पुराण से महत्ता

किंतु, इससे भी बढ़कर प्रमुख तत्त्व, काव्य में, रस है। रस-प्रवणता के कारण ही काव्य काव्य है। यही वह मधुर पदार्थ है, जिसमें लपेट कर दी गई उपदेश की कटुकौषधि भी रुचिकर प्रतीत होती है। इसी रस को प्रधानता देते हुए वेणीदत्त ने अपने अलंकार-चंद्रोदय में कहा है:—

"कवियों की वाणी की सृष्टि प्रकृति के नियमों से बँधी नहीं है वह स्वतन्त्र है, आनंदपूर्ण है। नवों रसों की प्रवणता के कारण वह रमणीय हो जाती है, तथा विपत्ति का निवारण एवं संपत्ति का विधान

---

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥—(भामह-काव्यालंकार,)

करनेवाली है। कवियों की ऐसी रचना की विधात्री देवी भारती सब देवताओं से उत्कृष्ट है।"[1]

वेद पुराणादि शास्त्रों से काव्य का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि शब्द-प्रधान वेदों में प्रभुसम्मित उपदेश पाया जाता है, अतः वह उपदेश सर्वथा कटु एवं रूक्ष रूप में गृहीत होता है। पुराणों का उपदेश सुहृत्सम्मित है, उसमें वेदों की भाँति स्वामी की आज्ञा नहीं होती, अपितु मित्र के द्वारा हितविधायकता होती है। वेदों का उपदेश एक अनुल्लंघनीय सैनिक आदेश ( मिलिट्री कमांड ) है, जिसको उसी रूप में ग्रहण करना होता है, जिस रूप में वह कहा गया है। वहाँ अमुक कार्य क्यों किया जाय, इस प्रश्न की न तो अपेक्षा ही होती है, न समाधान ही। पुराणादि में ऐसा सैनिक आदेश नहीं है. वहाँ अमुक कार्य करने से यह लाभ होगा, न करने से यह हानि होगी, इस बात को भी उपदेश के साथ ही बता दिया जाता है। यह उसी प्रकार का उपदेश है, जैसा कोई मित्र किसी कार्य के दोनों पक्षों को स्पष्ट करता हुआ देता है। काव्य का उपदेश इन दोनों उपदेश-प्रकारों से भिन्न है। इस उपदेश को 'कांता-सम्मित' माना गया है। जैसे किसी कार्य में प्रवृत्त करने के लिये प्रिया इस ढंग से फुसलाती है, कि वह उपदेश होते हुए भी उपदेश नहीं जान पड़ता, और प्रिय उस कार्य में बिना किसी 'ननु न च' के प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार काव्यमय उपदेश भी इस ढंग से दिया जाता है कि वह स्वतः ही गृहीत हो जाता है। बिहारी के प्रसिद्ध दोहे[2] ने जयसिंह को जो उपदेश दिया, वह 'कांतासम्मित' ही था, तभी तो जयसिंह रुष्ट होने के स्थान पर बिहारी से अत्यधिक प्रसन्न

---

१ नियतिनियमहीनानन्दपूर्णां स्वतन्त्रां,
नवरसरुचिरांगीं निर्मितिं या तनोति।
दुरितदलनदक्षां सर्वसम्पत्तिदात्रीं,
जयति कविव.णां देवता भारती सा॥
( अलंकारचन्द्रोदय—इंडिया आफिस ( लंदन ) पुस्तकालय,
—हस्तलिखित ग्रंथ )

२. नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल॥—( बिहारी सतसई )

हुए। काव्यमय उपदेश की यही विशेषता है। तभी तो विद्यानाथ ने कहा है:—

"जिस कांतासम्मित काव्य सौन्दर्य ने, शब्द प्रधान प्रभुसम्मित वेद, तथा अर्थ प्रधान सुहृत्सम्मित पुराण से भी अधिक उत्कृष्ट सरसता उत्पन्न कर विद्वान् को विशेष कौतूहल दिया, उस काव्यसौंदर्य की हम इच्छा किया करते हैं।"[1] काव्य के अनुशीलन से न केवल रसास्वाद ही होता है, अपितु लौकिक व्यवहार आदि का भी ज्ञान होता है। अतः जो लोग काव्य को बैठे-ठाले लोगों का विषय समझते हैं, वे भूल करते हैं। काव्य का वस्तुतः उतना ही महत्त्व है, जितना किसी अन्य शास्त्र का, यह ऊपर कहा जा चुका है। एक प्राकृत कवि ने इसीलिए कहा है कि काव्यालाप से विज्ञान बढ़ता है, यश प्राप्त होता है, गुण फैलते हैं, सत्पुरुषों के चरित्र सुनने को मिलते हैं, वह कौनसी वस्तु है, जो काव्यालाप से प्राप्त नहीं होती।[2]

रसमय काव्य के साधन—शब्दार्थ

काव्य को रसमय बनाने के प्रधान साधन हैं—शब्द, अर्थ। शब्दार्थ ही तो कविता-कामिनी का शरीर है, अतः उसमें जहाँ तक उनके बाह्य रूप का प्रश्न है, ठीक वही महत्त्व है जो वेदों या पुराणों में शास्त्र, दर्शन तथा विज्ञान में। अतः शब्द तथा अर्थ के विभिन्न रूपों एवं संबंधों का ज्ञान काव्यानुशीलनकर्ता के लिये ठीक उतना ही आवश्यक हो जाता है, जितना कि भाषाशास्त्र, कोश तथा व्याकरण के विद्वान् के लिये। अपितु उसका कार्य इस दिशा में इन वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों से भी गुरुतर है। ये लोग इसके बाह्य रूप तक ही सीमित रह जाते हैं, किंतु वह इसके आभ्यंतर रूप का भी

---

१. यद्वेदात्प्रभुसम्मितादधिगतं शब्दप्रधानाच्चिरं
यच्चार्थप्रवणात्पुराणवचनादिष्टं सुहृत्सम्मितात्।
कान्तासम्मितया यया सरसतामापाद्य काव्यश्रिया
कर्त्तव्ये कुतुकी बधो विरचितस्तस्यैस्पृहां कुर्महे॥

—( प्रतापरुद्रीय १, ८, )

२. परिवड्ढइ विण्णाणं संभाविज्जइ जसो विसप्पंति गुणा।
सुव्वइ सुपुरिसचरियं किं तज्जेण ण हरंति कव्वालावा॥

निरीक्षण करता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक या दार्शनिक जहाँ शब्दों के सांकेतिक अर्थों तक ही सीमित रहता है, वहाँ काव्यालोचक उनकी भावात्मक महत्ता का भी अध्ययन करता है। इस दृष्टि से वह उतना ही अध्ययन नहीं करता, जितना कोरे दार्शनिक, अपितु वह एक सीढ़ी और आगे बढ़ जाता है अतः इस दिशा में उसका क्षेत्र विशाल है, विस्तृत है। दार्शनिकों तथा साहित्यालोचकों की इस अर्थ-विज्ञान संबंधी सरणि का विवेचन हम विस्तार से भूमिका के आगामी पृष्ठों में करेंगे।

शब्दार्थ संबंध का विवेचन

शब्द, अर्थ तथा उनके संबंध पर सभ्यता के उषःकाल से ही पूर्व तथा पश्चिम दोनों देशों में दार्शनिक एवं साहित्यिक दृष्टियों से गंभीर विचार होते रहे हैं। वैसे कुछ बातों में इन दोनों के मत आपाततः भिन्न प्रतीत होते हैं, किंतु विचार करने पर दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते पाए जाते हैं, यदि कोई भेद है तो मात्रा का। शब्दों तथा अर्थों के परस्पर संबंध का विवेचन हमें यास्क के निरुक्त से ही मिलता है। सूत्रकारों के सूत्रों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है, जिसका विस्तार भाष्यकारों के भाष्यों में पाया जाता है। मीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी तथा महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि के ग्रंथ इस दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसके बाद तो मीमांसकों तथा नैयायिकों के दार्शनिक ग्रंथ, वैयाकरणों के प्रबंध तथा टीकाएँ, एवं साहित्यिकों के अलंकार ग्रंथ इस विवेचना से भरे पड़े हैं। पश्चिम में भी अरस्तू, सिसरो, क्विन्तीलियन, मिल, लॉक, दुमार्स, दर्मेस्तेते, आग्डन एवं रिचर्ड्स, आदि ने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। इन लोगों के विवेचनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हम प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् रेन्यो (Regnaud) के साथ यही कहेंगे: — "ला सिविलिज़ाशिऑं द लॉद ए सेल द लोक्सीदाँ ऑं ई ल मेम प्वाँ द देपार"[1] (भारत तथा पश्चिम की सभ्यता का स्रोत एक ही है)।

---

1. "La civilisation de l'Inde et celle de l'occident ont eu le meme point de depart".—Regnaud.

शब्द की उत्पत्ति, शब्द के तथा अर्थ के परस्पर संबंध पर, मीमांसकों तथा वैयाकरणों ने विशेष विचार किया है। नैयायिकों ने भी इस विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डाला है।

शब्दार्थ संबंध पर संक्षिप्त प्राच्य-मत

नैयायिक शब्द तथा अर्थ के परस्पर संबंध को ईश्वर-जनित मानते हैं, किंतु वैज्ञानिक दृष्टि से यह मत त्रुटिपूर्ण ही माना जायगा। मीमांसकों का मत कुछ-कुछ आधुनिक शब्दार्थ-विज्ञान ( सिमेंटिक्स ) से मिलता है। शब्द तथा अर्थ के परस्पर संबंध के विषय में मीमांसक यही मानते हैं, कि शब्द में स्वतः ही अर्थ समवेत है।[1] इनके संबंध को बतानेवाला या निश्चित करनेवाला कोई नहीं है ( शबर भाष्य )। हमारे पूर्वज शब्दों का तत्तत् अर्थों में प्रयोग करते आ रहे हैं। उन लोगों ने अपने बचपन में दूसरे वृद्धों से उनके प्रयोग व संबंध सीखे ही होंगे। इस प्रकार शब्दों व अर्थों का संबंध अनादि है। इसी संबंध में वे आगे जाकर बताते हैं, कि कोई भी शब्द अपने सामान्य अर्थ को ही द्योतित करता है। शबर इस 'सामान्य' का भाव बोध कराने के लिए 'जाति' एवं 'आकृति' दोनों ही शब्दों का प्रयोग करते हैं।[2] कुमारिल ने भी श्लोकवार्तिक में बताया है, कि 'जाति', 'सामान्य' तथा 'आकृति' तीनों एक ही हैं। 'आकृति' का जो तात्पर्य नैयायिक लेते हैं, वह मीमांसकों से सर्वथा भिन्न है। उनके मतानुसार 'आकृति' वस्तु विशेष का रूप है। दूसरे शब्दों में 'आकृति' नैयायिकों के मत में 'जात्यवच्छिन्नव्यक्ति'[3] है। शब्द का संकेत 'जाति' में होता है, या 'व्यक्ति' में इस विषय पर विचार करते हुए प्रबंध के द्वितीय परिच्छेद में हमने इन विभिन्न मत-सरणियों पर प्रकाश डाला है। व्याडि तथा वाजप्यायन जैसे अति-

१. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥

—जैमिनिसूत्र १, १, ५ व भाष्य

२. द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः—

—जैमिनिसूत्र १, ३, ३३ पर भाष्य

३. 'अवच्छिन्न' नव्य नैयायिकों की पारिभाषिक शब्द प्रणाली है, जिसका अर्थ 'विशिष्ट' होता है। किसी विशेष पदार्थ में, उसकी 'जाति' सदा निहित रहती है, अतः दूसरे शब्दों में वह 'जातिविशिष्ट' या 'जात्यवच्छिन्न' है।

प्राचीन वैयाकरणों ने भी शाब्दबोध के विषय में प्रकाश डाला है। इनके मतों का उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है। व्याडि के मतानुसार समस्त शब्दों का अर्थ 'द्रव्य' ( व्यक्ति ) ही है, इसका उल्लेख वार्तिककार ने किया है। वार्तिककार ने वाजप्यायन का भी उल्लेख करते हुए बताया है, कि वह मीमांसकों की भाँति 'आकृति' ( जाति ) में ही शाब्दबोध मानता है।

पाश्चात्यों का शब्दार्थ विज्ञान और उसकी तीन सरणियाँ

शब्द तथा अर्थ के विषय में तथा उनके संबंध के विषय में १६ वीं शताब्दी से ही यूरोप में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। शब्दार्थ विज्ञान ( सिमेंटिक्स या सेस्मोलोजी ) के नाम से तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अंतर्गत एक नवीन शाखा की उद्भूति हुई, जिसमें शब्द तथा उसके अर्थ के संबंध पर विचार किया गया। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ब्रेआल ( Breal ) ने 'सिमेंटिक्स' नाम से एक ग्रंथ लिखा, जिसमें शब्द व अर्थ के सांकेतिक संबंध को प्रकट करते हुए अर्थ के विस्तार, संकोच, विपर्यय आदि पर प्रकाश डाला। यदि संस्कृत की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय, तो ब्रेआल का यह ग्रंथ अभिधा तथा रूढा लक्षणा का ही विवेचन करता है। कुछ स्थिति में यह प्रयोजनवती लक्षणा का भी समावेश करता है। किंतु इसका यह विवेचन भाषा-शास्त्रीय है। यद्यपि इस विवेचन में ब्रेआल का आधार मनःशास्त्र तथा कुछ सीमा तक समाज-शास्त्र रहा है, तथापि वह क्षेत्र इतना विशाल नहीं, कि साहित्यिक की दृष्टि में पूर्ण कहा जा सके। जहाँ तक शब्दार्थ-विज्ञान की सरणियों का प्रश्न है, ये तीन प्रकार की मानी गई हैं—१. तार्किक, २. समाजशास्त्रीय, ३. मनः शास्त्रीय। आधुनिकतम भाषाशास्त्रियों के मतानुसार शब्दार्थ-विज्ञान में समाजवैज्ञानिक शैली का समाश्रय ही ठीक है। लंदन विश्व-विद्यालय के भाषाशास्त्र के प्राध्यापक गुरुवर प्रो० फर्थ ने अपने एक लेख में बताया है कि "सिमेंटिक्स" के अध्ययन में समाज-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण हाथ है। वे बताते हैं कि प्रकरण ( Context ) ही शब्द तथा उसके अर्थ एवं उनके संबंध को व्यक्त करता है। इसके लिए शब्द का सामाजिक रूप में व्यवहार आवश्यक है।[१]" प्रो० फर्थ के इस

१. Prof. J. R. Firth—"The technique of

मत का विशद उल्लेख हम ऑग्डन तथा रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक मत के प्रतिवाद रूप में आगे करेंगे। ब्रेआल की शब्दार्थ मीमांसा के विषय में प्रो० फर्थ का निजी मत यही है, कि उसका आधार सामाजिक भित्ति न होकर कोरा मनोविज्ञान ही है।

शब्द तथा अर्थ के संबंध के विषय में दार्शनिकों की विचार-सरणि को समझने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक होगा, कि पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार अर्थ क्या वस्तु है।

शब्दार्थ-संबंध के विषय में शिलर स्ट्रोंग व पार्संन्स का मत

डॉ० शिलर के मतानुसार "अर्थ अनिवार्यतः वैयक्तिक है········किसी वस्तु का अर्थ उस व्यक्ति पर निर्भर है, जिसे वह वस्तु अभिप्रेत है।"[१] प्रसिद्ध अँगरेज दार्शनिक रसॅल ने अर्थ की परिभाषा को और अधिक पूर्ण तथा ठीक बनाने के लिए "स्मार्त कार्यकारणवाद" ( Mnemic Causation ) की कल्पना की है। उसके मतानुसार अर्थ "संबंध विशेष" जान पड़ता है। "संबंध विशेष" में अर्थ समाहित हो जाता है, तथा शब्द में केवल अर्थ ही नहीं होता, अपितु वह "अपने अर्थ" से संबद्ध रहता है।[२] इस संबंध विशेष का 'स्मृति' से अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। इसी से यह स्मार्त-कारणवाद कहलाता है। एलफ्रेड सिजविक के मत में, "परिणाम अर्थ के आधार हैं, तथा अर्थ सत्य का।"[3] डॉ० स्ट्रौंग ने इस संबंध में

---

Semantics". PP. 42–43. ( Published in Transections of Philological Society of England and Ireland.—1935. ).

१. "Meaning is essentially personal.......what anything means depends on who means it."—Dr. Schiller quoted in "Meaning of Meaning." P. 161.

२. ......for Mr. Russell meaning appeared as 'a relation', that a relation 'constitutes' meaning, and that a word not only has 'meaning', but is related to its meaning'.—Ibid P. 161.

३. "Meaning depends on consequences, and

अपना विशेष ध्यान उस दशा पर दिया है, जिसमें कोई विषय "किसी विशेष बात को अभिहित" करता कहा जाता है। इस दशा में डॉ० स्ट्रॉंग भी डॉ० शिलर की भाँति वैयक्तिक अर्थ पर जोर देते जान पड़ते हैं। डॉ० जे० हर्बर्ट पार्सन्स ने इस विषय में एक नवीन वैज्ञानिक विवेचना की है। उनके मत में 'अर्थ' के आदिम बीज धन-रूप ( प्लस ) अथवा ऋण-रूप ( माइनस ) प्रभावोत्पादक स्वर में मानना होगा। साथ ही प्राणिशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार की धन-रूप तथा ऋण-रूप स्वर-लहरी का निषेध करना मूर्खता होगी।[1] यहाँ डॉ० पार्सन्स की प्रणाली को थोड़ा विस्तार में समझना आवश्यक होगा। प्रत्यक्ष दृष्टि से हम एक ऐसी स्थिति मान सकते हैं, जिसमें हमारी चेतनता की आधार-भित्ति ( Psychoplasm ) विशेष प्रभावोत्पादक एवं ज्ञापक तत्त्वों में विभक्त हो जाती है। ये तत्त्व पुनः संगठित एवं संश्लिष्ट होकर किसी अनुभव के 'अर्थ' का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार इस प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने पर अर्थ प्रौढ़ बन जाता है। इसी परिवर्तित अर्थ का अवचेतन में संचय किया जाता है, और यही अर्थ पुनः प्रकट किया जा सकता है, यद्यपि यह चेतनमन के नीचे दबा पड़ा रहता है। चेतना की आधार-भित्ति जितनी ही अधिक परिवर्तनशील होगी, उसका संगठन तथा संश्लेषण उतने ही उच्च तथा जटिल अर्थ के रूप में परिणत होगा। धीरे-धीरे सामाजिक वातावरण के कारण अर्थ की अनुभूति होने लगती है, तथा सामाजिक संबंध में हम प्राचीन एवं नवीन अर्थों की प्रक्रिया देखते हैं। इस प्रक्रिया के कारण और अधिक नवीन, पूर्ण तथा परिष्कृत अर्थ उत्पन्न होते हैं। इस स्थिति में आकर अर्थ की उत्पादक क्रियाएँ उच्चतर सीमा तक पहुँच जाती हैं। भाषा का उषःकाल हम बाल्यावस्था को मान सकते हैं। "बालक की

---

truth depends on Meaning".—Alfred Sidzwich quoted, ibid P. 162.

१. "It would be unwise to deny the presence of a plus or minus affective tone—and this is the primitive germ of Meaning".—Dr. Parsons quoted ibid P. 163.

चेष्टाएँ उसकी मनःप्रक्रियाओं के गौण-चिह्न मात्र नहीं हैं, किंतु उसकी भावनाओं तथा इच्छाओं के सक्रिय प्रतीक हैं।"[१]

अर्थ के विषय में और महत्त्वपूर्ण विवेचन हमें जे. एस. मूर की 'द फाउंडेशन्स आव् साइकोलोजी" में मिलता है। इस ग्रन्थ में अर्थ के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण शंका उठा कर उसका समाधान किया गया है। पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि मानसिक प्रक्रिया का सार ही अर्थ है, यह मानना सत्य है या नहीं। वह इसका उत्तर यही देते हैं कि मानसिक प्रक्रियाएँ अर्थ से समवेत नहीं हैं। पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि "क्या हमारे समस्त अनुभव स्वभावतः किसी अर्थ को प्रत्यायित नहीं करते ? क्या हमें कभी अनर्थक उत्तेजना का भी अनुभव होता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मूर यही मानते हैं कि "मन अनर्थक उत्तेजना से आरंभ होकर सार्थक प्रत्यक्षों की ओर बढ़ता है। नहीं तो, इसके विपरीत हमें यह कल्पना करनी ही पड़ेगी, कि मन आरंभ से ही अर्थयुक्त था।"[२] इस विषय में एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है, कि "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अर्थ क्या है ?" इसका उत्तर यही है कि "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ (वस्तुतः) प्रकरण ही है।" अर्थात् प्रत्येक अनुभव में अथवा उत्तेजन (Stimulus) एवं कल्पनाओं के समूह में, संबद्ध प्रतिरूप एक प्रकरण का-सा रूप धारण कर लेते हैं। वही प्रकरण समस्त उत्तेजनों तथा कल्पनाओं को संश्लिष्ट बनाकर एक निश्चित अर्थ को उत्पन्न करता है। यही अर्थ-प्रक-

जे. एस. मूर का मत

---

१. "The child's "gestures are no longer merely passive signs of his mind's activities, but active indications of his feelings and desires."—Dr. Parson quoted ibid P. 163.

२. "(The mind) began with meaningless sensations, and progressed to meanigful perceptions. On the contrary we must suppose that the mind was meaningful from the very outset."—Moor quoted ibid P. 174.

रण उत्तेजनों को, केवल उत्तेजनों को नहीं, अपितु भौतिक विषय के प्रतीकों को उत्पन्न करता है।"[१] उदाहरण के लिये जब हम नारंगी देखते हैं, तो उसके गंध तथा स्वाद की प्राकरणिक कल्पना के कारण हम उसे पहचान पाते हैं। मूर के इस मत को, हम इन शब्दों में और अधिक सूक्ष्म रूप में प्रकट कर सकते हैं:—

"इन समस्त दशाओं में, अनुभव या भाव का अर्थ प्राकरणिक मूर्तियों ( कल्पनाओं ) तथा उत्तेजनों के द्वारा ही प्रकट होता है, और प्रकरण के ही कारण प्रत्येक अनुभूति को अर्थवत्ता प्राप्त होती है। किंतु फिर भी यह कहना अपूर्ण ही होगा, कि एक उत्तेजन अथवा प्रतीकात्मक मूर्ति ( कल्पना ) का अर्थ पूर्णतः उससे संबद्ध कल्पनाएँ तथा उत्तेजन ही हैं, अन्य कुछ भी नहीं। क्योंकि ऐसा कहना, इस सिद्धांत का प्रतिवाद करना होगा कि मनोविज्ञान का अर्थों से कोई संबंध नहीं। इसमें वस्तुतः जो बात है, वह यही है, कि हमारे अनुभवों के अर्थ मनः प्रक्रियाओं के क्षेत्र में उन संबद्ध प्रक्रियाओं के द्वारा व्यक्त होते हैं, जो उत्तेजनों तथा कल्पनाओं के केंद्रीय वर्ग के आसपास एकत्रित हो जाती हैं। जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता का प्रश्न है, अर्थ प्रकरण ही है, किंतु तात्त्विक तथा तार्किक रूप में अर्थ-प्रकरण की अपेक्षा कुछ और भी है। दूसरे रूप में हम यों कह सकते हैं, कि अर्थ कुछ भी हो, मनोविज्ञान का उससे वहीं तक संबंध है, जहाँ तक वह प्राकरणिक मूर्ति ( कल्पना ) की शैली में व्यक्त किया जा सकता है।"[२]

---

१. "( It is this ) fringe of meaning That makes the sensations, not 'mere' sensations but symbols of a physical object" ibid P. 174.

२. "In all cases, the meaning of the perception or idea is 'carried' by the contextual images or sensations, and it is context which gives meaning to every experience, and yet it would be inaccurate to say that the meaning of a sensation or symbolic image is thorough and thorough nothing but

इसी संबंध में हम अयर की भाषा संबंधी तार्किक प्रणाली पर भी थोड़ा ध्यान दे लें। अपने प्रसिद्ध निबंध "लेंग्वेज़, ट्रूथ, एंड लॉजिक" में अयर ने बताया है कि सत्य से वास्तविक संबंध तार्किक शब्दावली का ही है। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार तर्कसम्मत शब्दावली तथा अभिप्रेत अर्थ में ही साक्षात् संबंध मानना होगा। इस तार्किकता के विषय में अयर इतने पक्के हैं कि वे तथाकथित तत्त्वज्ञान (मेटाफिज़िक्स) को भी तर्कपूर्ण मानने के पक्ष में नहीं। उनके मतानुसार तत्त्वज्ञानियों की शब्दावली का सत्य से ठीक वैसा ही संबंध है, जैसा कवि की भाषा का सत्य से। अयर तो यहाँ तक उद्घोषणा करते हैं कि तत्त्वज्ञानी वस्तुतः मार्गभ्रष्ट कवि ही हैं। इस संबंध में वे यह भी कहते हैं कि इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवियों की भाषा में सत्य का सर्वथा अभाव रहता है। वे बताते हैं कि वहाँ सत्य का तार्किक रूप में भी सन्निवेश हो सकता है, किंतु वह भी भावादि के उद्बोधन को ही लक्ष्य बना कर किया जाता

प्रो० अयर का तार्किक मत

---

its associated images or sensations, for this would be a violation of the principle that psychology is not concerned with meanings. All that is implied is that the meanings of our experiences are represented in the realm of mental processes by 'the fring of related processes that gathers about the central group of sensations or images.' Psychologically Meaning is context, but logically and metaphysically Meaning is much more than psychological context; or to put in the other way round, whatever Meaning may be, psychology is concerned with it only so far as it can be represented in terms of contextual imagery."

—J. S. Moore : 'The Foundations of Psychology' (1920). P. 103.

है ।[1] अयर के इस मत का यहाँ उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि इस दिशा में अयर, प्रो० मूर से भी एक पग आगे बढ़ जाते हैं। प्रो० मूर जहाँ अर्थ के तार्किक तथा तात्त्विक महत्त्व की ओर जोर देते हैं, वहाँ अयर तार्किक महत्त्व को एकमात्र सत्य मानते हैं। कुछ भी हो, साहित्य के विद्यार्थी के लिए प्रो० मूर तथा प्रो० अयर दोनों के ही मत अनुपादेय हैं, उसे तो आगडन और रिचर्डस् के मतानुसार मनोवैज्ञानिक तत्त्व को महत्त्व देना ही होगा ।

ऑगडन तथा रिचर्ड्स के मत का विशद उल्लेख हमने प्रबंध के प्रथम परिच्छेद में किया है, किंतु यहाँ उनके मत का संक्षिप्त रूप दे देना आवश्यक होगा। ऑगडन तथा रिचर्ड्स, शब्द एवं अर्थ के संबंध को मनःशास्त्रीय महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। उनके मतानुसार शब्द (प्रतीक सिंबल) तथा अभिप्रेत विषय (रेफ्रेंट) में कोई साक्षात् संबंध नहीं है। प्रतीकों का साक्षात् संबंध भावों से ही है। ये भाव विषय तथा प्रतीक दोनों के मध्यबिंदु बन कर दोनों को संबद्ध करते हैं। अधिक स्पष्ट रूप में, हम कह सकते हैं कि आगडन तथा रिचर्ड्स के मतानुसार अर्थ वह मानसिक तत्त्व है, जो एक ओर घटनाओं तथा विषयों के एवं दूसरी ओर उनके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले प्रतीकों तथा शब्दों के बीच का संबंध है। ऑगडन तथा रिचर्ड्स के इस मत को एक सुंदर दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है।[2] मान लीजिये, भारत के विभिन्न हिंदी समाचारपत्रों में एक ही घटना को कई रूपों से शीर्षपंक्तियों में व्यक्त किया गया है। यह घटना श्री 'क' के कारावास-दण्ड के विषय में है।

ऑगडन तथा रिचर्ड्स का मत, संक्षेप में

हिंदुस्तान—क्रांतिकारी को दंड ।
अभिनव भारत—श्री क दंडित ।
हिंदू—श्री क को एक वर्ष का कारावास ।
अजेय भारत—श्री क को बारह महीने की जेल ।

१. Ayar : Language, Truth and Logic. P. 31. Ch. II.

२. हेनरिख् स्लॉमैन के "न्यूजपेपर हेडलाइंस" के आधार पर ।

स्वतंत्र—श्री क के दंडित होने से नगर में महाशोक।

ऑग्डन तथा रिचर्ड्स के मतानुसार इस विषय में केवल एक ही प्रतिपाद्य विषय (रेफ्रेन्ट) है। यह प्रतिपाद्य विषय श्री क का कारावास है। किंतु हम देखते हैं कि उसके लिए विभिन्न शीर्षपंक्तियों में विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, शीर्षपंक्तियों तथा घटना के परस्पर संबंधों में विभिन्न प्रतिपादन पाया जाता है। यह सब तत्तत् समाचारपत्र के संपादक-मंडल के 'भावों' के कारण ही है। श्री 'क' के कारावास के कारण किस-किस के मन में क्या-क्या प्रतिक्रिया हुई, वही इस शीर्षपंक्ति के रूप में प्रतीक बन कर आई है। जैसे, श्री 'क' के प्रति 'हिंदुस्तान' की घृणा तथा क्रोध की भावना पाई जाती है। संभव है इसका कारण दोनों की राजनीतिक विचार-धाराओं का पारस्परिक विरोध हो। 'अभिनव भारत' श्री 'क' के प्रति उदासीन है, ठीक ऐसी ही भावना 'हिन्दू' की है, फिर भी वह 'एक वर्ष' के काल को विशेष महत्त्व देता जान पड़ता है। 'अजेय भारत' श्री 'क' की विचार धारा का न होते हुए भी उनके साथ विशेष सहानुभूति-पूर्ण जान पड़ता है। श्री 'क' को कारावास-दंड, वह भी बारह महीने का, उसे बुरा लगता है, और यही भावनात्मक प्रतिक्रिया 'बारह महीने' तथा 'जेल' शब्दों के द्वारा व्यक्त हुई है। 'स्वतंत्र' श्री 'क' की ही विचारधारा का पोषक है। श्री 'क' के दंडित होने से वह जनता के प्रति अत्याचार तथा जनता पर घोर आपत्ति समझता है, तभी तो वह 'नगर में महाशोक' इन शब्दों का प्रयोग करता है। इस प्रकार ऑगडन तथा रिचर्ड्स के मत से घटना तथा प्रतीक का संबंध मानसिक प्रक्रिया है।

प्रो० फ़र्थ ऑग्डन तथा रिचर्ड्स के इस मनःशास्त्रीय सिद्धांत से सहमत नहीं। इनका मत है, "हम मन के विषय में बहुत कम जानते हैं, तथा हमारा अध्ययन अनिवार्यतः सामाजिक है। अतः मैं मन तथा शरीर की, एवं विचार तथा शब्द की भिन्नता (द्वैतता) का निषेध ही करूँगा, तथा अखंड मानव से ही संतुष्ट रहूँगा, जो अपने साथियों के संपर्क में विचार एवं कार्य सदा पूर्ण रूप में

प्रो० फ़र्थ का भाषाशास्त्रीय मत

करता है ।"[1] ऑग्डन और रिचर्ड्स अर्थ को अव्यक्त मनः-प्रक्रिया में स्थित संबंध मानते हैं अतः प्रो० फ़र्थ उनके मत के पक्ष में नहीं हैं । प्रो० फ़र्थ के मत से "अर्थ" प्राकरणिक व्यवहार-शैली है । जब हम किन्हीं शब्दों का उच्चारण करते हैं तो उन ध्वनियों के कारण वायु तथा श्रोता की कर्णशष्कुलियाँ विकृत होती हैं । ये ही ध्वनियाँ तत्तत् सामाजिक प्रकरण में तत्तत् अर्थ की प्रतीति कराती हैं, जो वस्तुतः प्रकरण के अन्य तत्त्वों से संबद्ध व्यवहार-शैली मात्र है । भाषाशास्त्री प्रो० फ़र्थ के द्वारा रिचर्ड्स के मत का खंडन करना, जहाँ तक शब्दार्थ-संबंध के "लिंग्विस्टिक" दृष्टिकोण के विवेचन का प्रश्न है, उचित ही है । फिर भी जैसा हम पहले बता आये हैं, साहित्यिक दृष्टिकोण से हमें ऑग्डन तथा रिचर्ड्स का ही मत अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि प्रो० फ़र्थ चाहे मन तथा शरीर की द्वैतता स्वीकार न करें,[2] साहित्यिक के लिए तो इसे स्वीकार किये बिना काम नहीं चलेगा । जहाँ तक कला तथा साहित्य के मनः-शास्त्रीय तत्त्वों का प्रश्न है, मन की स्वतंत्र सत्ता माननी ही पड़ेगी ।

---

१. "As we know little about mind as our study is essentially social, I shall cease to respect the duality of mind and body, thought and word, and be satisfied with the whole man, thinking and acting as a whole, in association with his followers."

—J. R. Firth : 'The Technique of Semantics P. 53.

( Trans. Philo. Soci. G. B. 1935 ).

२. आपस की बातचीत में एक बार प्रो० फ़र्थ ने मुझे बताया था कि जब वे अर्थ-प्रतीति में मानसिक अर्थ की स्वतंत्र सत्ता का विरोध करते हैं, तो उनका तात्पर्य काव्यभाषा से न होकर "भाषा-सामान्य" ( Language as such ) से है, जिसका काव्य से विशेष संबंध नहीं । काव्य में तो मानसिक तत्त्वों की महत्ता को वे भी स्वीकार करते हैं ।

अब तक हमने देखा कि शब्द तथा अर्थ के संबंध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। वस्तुतः यह हो भी नहीं सकता। शब्द तथा अर्थ का संबंध भौतिक या रासायनिक तत्त्वों के पारस्परिक संबंध की भाँति नहीं है, जिससे ऐकमत्य हो सके। उदाहरण के लिए प्रत्येक रासायनिक के मत से जल में हाइड्रोजन के दो अणु तथा ऑक्सीजन का एक अणु विद्यमान है, इस अनुपात में जल की रासायनिक उत्पत्ति मानी गई है। इस आधार पर बनाया गया सूत्र $H_2O$ सभी को मान्य है। किंतु, शब्द और अर्थ के विषय में ऐसा सूत्र नहीं बनाया जा सकता, जो सर्वसंमत हो सके। इस बात से स्पष्ट होता है कि शब्द तथा अर्थ के संबंध में कुछ अर्ध-व्यक्त-तत्त्वों का हाथ है, जिन्हें भौतिक या रासायनिक तत्त्वों की भाँति पूर्णतः विश्लिष्ट नहीं किया जा सकता। यही अर्ध-व्यक्तता हमें बाध्य होकर भौतिक क्षेत्र से आगे ले जाकर मानस तथा अवचेतन के क्षेत्र का संकेत करती है। तब हमें इन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की महत्ता माननी ही पड़ती है। मनः-शास्त्र की सत्यता तथा प्रामाणिकता के प्रति लोगों को इसलिए संदेह हो जाता है कि भौतिक या रासायनिक पद्धतियों की भाँति इसका प्रयोगात्मक परीक्षण स्पष्ट रूप में नहीं हो सकता। आज भी मनः-शास्त्र को कई विद्वान् विज्ञान न समझ कर "मेटाफ़िज़िक्स" की भाँति काल्पनिकता से समवेत समझते हैं। किंतु यह मत ठीक नहीं। मनः-शास्त्र की महत्ता, सत्यता एवं प्रामाणिकता माने बिना हमारी कई पहेलियाँ नहीं सुलझ सकतीं, और उनमें से एक पहेली शब्द व अर्थ का संबंध भी है।

शब्दार्थ-संबंध में मनः-शास्त्र का महत्त्व

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण विषय पर और विचार कर लिया जाय, यह तो स्पष्ट है कि अर्थ-प्रतीति के साधन प्रतीक (शब्द) हैं, किंतु वे इसका प्रत्यायन अन्वित रूप में कराते हैं, या वैयक्तिक रूप में। दूसरे शब्दों में हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि व्यस्त प्रतीकों को अर्थ-प्रत्यायक माना जाय, या समस्त वाक्य-प्रतीकों के संघात को। इस विषय में भारत व पश्चिम दोनों ही देशों में विशेष विचार हुआ है। भारत के प्राचीन मनीषी अधिकतर इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि अर्थ-

शब्द वाक्य में प्रयुक्त होकर ही अर्थ-प्रतीति कराता है। इस विषय में पाश्चात्य मत

प्रत्यायक वाक्य ही है, शब्द नहीं पश्चिम के विद्वान् भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि हमें अर्थ-ज्ञान वाक्यरूप में ही होता है, शब्द-रूप में नहीं। हमारे यहाँ तो प्रभाकर भट्ट जैसे मीमांसकों ने इस मत का प्रतिपादन किया ही था। अन्विताभिधानवादियों[1] के इस मत का विशद विवेचन हमने प्रबंध के कलेवर में किया है। यहाँ हम इस संबंध में पाश्चात्य मत जानना चाहेंगे। पश्चिम के भाषाशास्त्री, तार्किक तथा दार्शनिक सभी विद्वानों ने वाक्य को ही अर्थ का बोधक माना है। व्यस्त शब्द कोशकारों के काम का हो सकता है, किंतु वह अर्थ-बोधक नहीं। यदि मैं "घट' कहूँ, तो जब तक इसका प्रयोग "घट है" "घट ले आओ" "घट दे दो" आदि के रूप में न करूँगा, तब तक यह किसी भी भाव या अर्थ का बोधन कराने में समर्थ नहीं होगा। वस्तुतः कोरे 'घट' शब्द का स्वतः कोई अर्थ नहीं है, अतः इसका अभिधेयार्थ वाक्य से ही प्रतीत होगा। शब्द की स्वयं की कोई सत्ता नहीं, वाक्य ही सब कुछ है, हम सदा वाक्य का ही प्रयोग भाव-विनिमय के लिये करते हैं,—इस सिद्धांत ने पश्चिम में कई नवीन वैज्ञानिक उद्भावनाओं को जन्म दिया है। भाषाशास्त्र को इसी सिद्धांत ने एक नवीन वैज्ञानिक प्रणाली दी है, जिसमें भाषा का अध्ययन अखंड वाक्यरूप में किया जाता है। भाषाविज्ञान के प्रमुख अंग ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन अब इसी आधार पर होने लगा है। परंपरागत ध्वनिविज्ञान (Phonetics) से, जिसमें ध्वनियों का अध्ययन शब्दों के व्यस्त रूप में किया जाता रहा है, इस नवीन प्रणाली की भिन्नता बताने के लिये "Phonology" नाम दिया है, जहाँ ध्वनियों का अध्ययन वाक्य के अखंड तथा संध्यात्मक (Prosodic) रूप में किया जाता है।[2] पाश्चात्य विद्वानों के इस मत के विवेचन में अधिक न

१. अन्विताभिधानवादियों तथा अभिहितान्वयवादियों के विषय में चतुर्थ परिच्छेद में "तात्पर्य वृत्ति" का प्रसंग देखिए।

२. जब हम किसी वाक्य का उच्चारण करते है, तो उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से दो तत्त्व पाए जाते हैं। एक शुद्ध ध्वन्यात्मक; दूसरे 'प्रोजोडिक'। प्रोजो-डिक या 'संध्यात्मक' तत्त्व वस्तुतः वे ध्वनियों में होनेवाले विकार हैं, जो अखंड वाक्य-प्रवाह में संधि, समास, व्याकरणात्मक संगठन, स्वर आदि के कारण पाए जाते हैं। यद्यपि 'प्रोजोडी' शब्द का साधारण अर्थ "छन्दः-

जाकर आस्ट्रियन दार्शनिक वितगेनस्तीन के इस विषय में प्रकाशित

---

शास्त्र" लिया जाता है, तथापि यहाँ यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। एक ग्रीक विद्वान् हेरोदिएनुस तेक्निकुस ने अपने ग्रंथ 'केथोलिके प्रोसोदिआ' ( Ketholike Prosodia ) ( जो अब अनुपलभ्य है ) में 'प्रोसोदिआ' शब्द का प्रयोग स्वर के आरोहावरोह आदि के लिए किया है। इसी के आधार पर इस नवीन पद्धति के संस्थापक नव्य आंग्ल भाषाशास्त्री प्रो० फर्थ ने, 'प्रोज़ोडी' तथा 'प्रोज़ोडिक' शब्दों का प्रयोग क्रमशः भाषा के शुद्ध ध्वन्यात्मक तत्त्वों से इतर तत्त्वों तथा उनके विकारों के अर्थ में किया है। मैंने इन शब्दों का अनुवाद "संध्यात्मकता" ( Prosody ) तथा "संध्यात्मक" ( Prosodic ) के द्वारा किया है। भाषा के इन अध्वन्यात्मक तत्त्वों को एक वाक्य से स्पष्ट करना ठीक होगा। वाक्य है, "उन्नदति दिग्गजः"। यहाँ पर १५ ध्वनियाँ हैं ( विसर्ग को अलग से ध्वनि न मान कर 'अ' ध्वनि का ही संध्यात्मक रूप माना है )। यहाँ दूसरी ध्वनि 'त्' तथा ग्यारहवी ध्वनि 'क्' हैं। ध्वन्यात्मक तत्त्वों की दृष्टि से इन्हें, 'न्' या 'ग्' नहीं माना जायगा। 'त्' ध्वनि 'नदति' के न्' के सम्पर्क में आकर अनुनासिक हो गई है, तथा "क्" ध्वनि "गजः" के "ग्" के संपर्क में आकर सघोष हो गई है। इस प्रकार एक में अनुनासिकीकरण, दूसरी में 'सघोषीभाव' पाया जाता है, जो ध्वन्यात्मक तत्व न होते हुए भी वाक्य के अखंड प्रवाह में स्वतः ही पाए जायँगे। यदि कोई उत् तथा नदति एवं दिक् तथा गजः के बीच में बिना रुके पूरे वाक्य का उच्चारण एक श्वास में करेगा, तो 'न्' या 'ग्' रूप ही उच्चरित होंगे, चाहे वह इन्हें बचाने की कितनी ही कोशिश करे। इस तरह के कई तत्त्व, जो ध्वनियाँ नहीं हैं, 'प्रोज़ोडिक' तत्त्व कहलाते हैं। वाक्य, पद तथा अक्षर ( Syllable ) में होने के कारण इन संध्यात्मकताओं को तीन प्रकार का माना है। ऊपर के दोनों उदाहरण 'पदगत' के हैं। इनमें मुख्य संध्यात्मकताएँ ये हैं:—स्वर (Intonation), प्राणता (Aspiration), प्रतिवेष्टितता या मूर्धन्यीभाव (Retroflexion), सघोषीभाव (Voice), अनुनासिकता ( Nasalization ), तालव्यीभाव ( Yotization ), कोमलतालव्यीभाव या कंठ्यीकरण ( Velarization ) विशेष स्पष्टीकरण के लिये प्रो० फर्थ का लेख "Sounds and Prosodies" ( Trans. Philo- Society 1948 ) देखिए।

मत को उद्धृत करना पर्याप्त होगा, जिससे इस विषय में पाश्चात्य मत-सरणि का पता चल जायगा।

"उक्ति ही भाव से अन्वित है, केवल उक्ति के प्रकरण में ही अर्थ का अभिधान होता है। भाव वहन करने वाले उक्ति के प्रत्येक अंश को मैं अभिव्यक्ति (प्रतीक) कहूँगा। (उक्ति स्वयं ही अभिव्यक्ति है)।"[1]

इस विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्यिक को भी वाक्य में ही अर्थ-प्रत्यायकता माननी चाहिए। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि, कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद तथा तात्पर्य वृत्ति के क्यों कायल थे, इसका कारण नहीं जान पड़ता। कुमारिल भट्ट का मत इस दृष्टि से वैज्ञानिक समीचीनता से उतना पूर्ण नहीं कहा जा सकता, जितना गुरु ( प्रभाकर भट्ट ) का अन्विताभिधानवाद। शाब्दबोध वाक्य से ही होता है केवल शब्द से नहीं; इस बात का उल्लेख प्रायः अन्य भारतीय विद्वानों ने भी किया है। शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश ने बताया है:—

"वाक्य-भाव में गृहीत सार्थक शब्द के ज्ञान से ही शाब्दबोध उत्पन्न होता है, केवल शब्द के जानने मात्र से नहीं।"[2] कहना न

---

१. Nur der satz hat sinn, nur in Zusammehange des satzes hat ein Name Bedeutung ( 3. 3 ). Jeden Teil des Satzes, der seinen Sinn Charakterisiert, nemme ich einen Ausdruck ( ein Symbol ).

( Der Satz selbst ist ein Ausdruck ). ( 3. 3I ).

—Wittgenstein : Logische-Philosophische Abhandlung P. 50.

मैंने Satz शब्द का अनुवाद 'वाक्य' न करके 'उक्ति' किया है, क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक उक्ति में कई छोटे-छोटे वाक्य होते हैं। तभी वितगेन्स्तीन का उक्ति के प्रत्येक अंश Jeden Teil des Satzes को भी भाव वहन करने की दशा में अभिव्यक्ति कहना सगत हो सकेगा।

२. वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका का० १२.

होगा कि यहाँ "शाब्द-बोध" से प्रसिद्ध नैयायिक जगदीश का तात्पर्य अर्थ प्रतीति ही है। एक दूसरे प्रकरण में ठीक ऐसी ही बात भर्तृहरि ने कही है। वे भी पद तथा वाक्य के खंडित रूप को नहीं मानते।

"जिस प्रकार वर्ण में अवयव नहीं, उसी प्रकार पद में भी वर्ण नहीं। वाक्य से पदों का भी कोई अधिक भेद नहीं है।"[1]

किंतु विद्वानों का दूसरा दल भी है, जो भारतीय अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की भाँति व्यस्त शब्द में अर्थ-प्रतीति मानता है। उनके मतानुसार प्रत्येक शब्द अपना अर्थ रखता है तथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। इस संबंध में रूसी भाषाशास्त्रियों का मत जान लेना आवश्यक है। मार्सं ( Mars ) नामक प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री ने परंपरागत बुर्ज्वा भाषाशास्त्रीय पद्धति का—जिसका प्रचार अमेरिका तथा इंगलैंड जैसे देशों में हो रहा है—खंडन करते हुए हमें एक नई प्रणाली दी है। मार्स की यह भाषाशास्त्रीय प्रणाली कार्ल मार्क्स तथा एंगेल्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को आधार बनाकर चली है। मार्स के प्रमुख शिष्य रूसी भाषाशास्त्री मेश्चानिनोव ने बताया है कि "प्रत्येक शब्द अपना अर्थ रखता है तथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं होता।"[2]

रूसी विद्वान् मेश्चानिनोव का मत

इसी संबंध में एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि वाणी तथा भाव; अथवा शब्द तथा अर्थ में अद्वैत संबंध है या द्वैत संबंध। यहाँ अद्वैत तथा द्वैत शब्दों का प्रयोग हम वेदांत आदि दर्शन के पारिभाषिक रूप में न कर साधारण अर्थ में ही कर रहे हैं। भाषा के दर्शन तथा मनोविज्ञान के अंतर्गत वाणी तथा भाव की इस समस्या को प्रायः दो प्रकार से मीमांसित किया गया है। कुछ विद्वानों

शब्द और अर्थ में अद्वैत संबध या द्वैत संबंध

---

१. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥
—वाक्यपदीय १. ७७.

2. "Each word has its own meaning; and there is no word without meaning."—Mescaninov quotep

के मतानुसार वाणी तथा भाव में अभिन्न संबंध है, दोनों एक ही हैं। दूसरे विद्वानों के मतानुसार वाणी भाव (विचार) नहीं, एक अभिव्यक्ति अर्थात् विचारों, भावों तथा इच्छाओं का बहिःप्रदर्शन है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री स्तीन्थाल वाणी तथा विचारों की अद्वैतता को मानते हैं। उनके मतानुसार, "वाणी स्वयं विचार है; शब्द स्वय भाव है; वाक्य स्वयं ही निर्धारण हैं। केवल एक ही समय में इनमें भाषाशास्त्रीय तथा ध्वन्यात्मक एकता स्पष्ट प्रतीत होती है।'[1] अपने प्रसिद्ध काव्य 'रघुवंश' के मंगलाचरण में महाकवि कालिदास भी वाणी तथा अर्थ को परस्पर संश्लिष्ट एवं अद्वैत मानते जान पड़ते हैं। शिव-पार्वती की वंदना करते हुए वे कहते हैं—

"मैं वाणी के अर्थ की प्रतीति के लिए संसार के माता-पिता, पार्वती तथा शिव की वंदना करता हूँ, जो एक दूसरे से उतने ही संश्लिष्ट हैं, जितने वाणी और अर्थ।"[२] यहाँ शिव-पार्वती के अर्धनारीश्वर वाले अद्वैत रूप की स्तुति की गई है, तथा उसके लिए वाणी एवं अर्थ की अद्वैतता की उपमा दी गई है। इसी को महाकवि तुलसीदास ने भी यों व्यक्त किया है—

गिरा-अरथ, जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दहुँ सीता-राम-पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
(बालकांड, दो० १८)

---

by W. K. Mathews in his article "Soviet Contribution to Linguistic Thought."
(Archivum Linguisticum. Vol II –2. P. 98)

1. "Sprach ist Gedanke selbst, Wort ist Begriffe selbst, Satz ist urteil selbst, nur Zugleich sprachleich ausgedruckt lautlich wahrnehmbar, verleiblicht."
—H. Steinthal, "Ein leitung in die Psychologie. (1881) P. 46.

२. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघुवंश १.१)

इसके प्रतिकूल लीवमान जैसे विद्वान् वाणी तथा विचारों की अद्वैतता का निषेध करते हुए कहते हैं, "शब्द विचार ( भाव ) नहीं है, विचार ( भाव ) कल्पना के आधार पर निर्मित नहीं, विचारात्मक मनन न तो आभ्यन्तर वाणी ही है, न कल्पना ही। किंतु दोनों में से एक वस्तुतः मानसिक शक्तियों से दूर है।'[१]

वाणी का अध्ययन करते समय ध्यान रखना चाहिए कि शब्द के कई प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। साहित्य के अध्ययन में तो इस बात का हमें विशेष ध्यान रखना है। "बिलियर्ड का कोई खिलाड़ी गेंद को उछालकर 'क्यू' को अपनी नाक में संतुलित कर अपने क्रीड़ा-कौशल से दर्शकों को चकित करने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार चाहे हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें, वाणी का प्रयोग करते हुए हम सब ऐन्द्रजालिक हैं।"[२] वाणी सामान्य रूप में, तथा साहित्य में तो विशेष रूप में, एक साथ एक ही नहीं कई कार्य करती है, और यदि हम इस महत्त्वपूर्ण बात का ध्यान न रखेंगे तथा इन विभिन्न प्रक्रियाओं को न समझेंगे, तो साहित्य के क्षेत्र में भ्रांत मार्ग का आश्रय लेंगे। अतः साहित्यिक के लिए प्रधान रूप से इन विशिष्ट अर्थ-प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा, ( यदि इस चौथी वृत्ति को भी माना जाय ) तात्पर्य वृत्ति का विशद ज्ञान हमारे लिए आवश्यक हो ही जाता है।

शब्द की अनोखी अर्थवत्ता

---

१. "Worter sind keine Begriffe, Begriffe keine Phantasiebilder, begriffliches Denken ist weder innerliches Sprachen noch Phantasieren, Sondern eine von beiden spezifisch verschiedene Geistes-funklion."

—O. Liebmann: "Zur Analyse de Wirklichkeit" P. 487. ( 1880 )

२. "Whether we know it or not, we are all jugglers when we converse, keeping the billiard-balls in the air while we balance the cue on our nose."—I. A. Richards : Practical Criticism, P. 180

पश्चिम के आधुनिक विद्वानों ने भी शब्दों को विशिष्ट अर्थ प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया है। डॉ० आइ० ए० रिचर्ड्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म" (व्यावहारिक आलोचन) में शब्दों की विभिन्न प्रक्रियाओं का विश्लेषण व विवेचन किया है। उसने अर्थ-प्रक्रिया के चार प्रकार माने हैं। इन्हीं चार अवस्थाओं के आधार पर वह अर्थ को भी चार प्रकार का मानता है।[1] इन चार प्रकारों को तात्पर्य (वाच्यार्थर्थ) Sense) भावना, (Feeling), काकु (tone), तथा इच्छा (Intention) कहा गया है। हम यहाँ इन चारों प्रकारों क विषय में रिचर्ड्स के विचार स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

रिचर्ड्स के मत में अर्थ के प्रकार

हम वाणी का प्रयोग किसी बात को कहने के लिए करते हैं। इसी प्रकार जब हम कोई बात सुनते हैं तो यह आशा करते हैं कि कुछ बात कही जायगी। शब्दों का प्रयोग भी श्रोताओं के ध्यान को किसी परिस्थिति की ओर आकृष्ट करने तथा उनके विचारों को किसी विषय के संबंध में उद्भावित करने के लिये किया जाता है। प्रत्येक उक्ति किसी न किसी तात्पर्य को लेकर चलती है। यही 'तात्पर्य' अर्थ का प्रथम तत्त्व है। इसके अन्तर्गत भारतीय आलंकारिकों के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य तीनों अर्थों का समावेश हो जाता है। यहाँ पर इन अर्थ-प्रकारों को समझने के लिए एक उदाहरण देकर प्रत्येक के साथ उसका स्पष्टीकरण करना ठीक होगा—

(१) तात्पर्य (वाच्यार्थर्थ)

बिरह-जरी लखि जीगननि कह्यौ न केती बार।
अरी आउ भजि भीतरै बरसत आजु अँगार॥
(बिहारी)

---

१. "For our purpose here a division into four types of function, four kinds of meaning, will suffice."

—'Practical criticism.' P. 181.

इस दोहे में सखीगण के प्रति नायिका का जो तात्पर्य है वह स्पष्ट है। सहृदय के प्रति इसमें कवि का यह तात्पर्य है कि नायक के विरह में नायिका की चेतना नष्ट-सी हो चुकी है, तभी तो वह 'जुगुनुओं' को 'अंगारे' समझ लेती है।

जब हम किसी वस्तु या परिस्थिति की चर्चा करते हैं, तो हमारे मानस में उसके प्रति कोई न कोई भावना भी होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सदा भावना उद्भूत होती ही है। कुछ दशाओं में भावना की सर्वथा उद्भावना नहीं होती, किंतु सामान्य स्थिति में भावना अवश्य पाई जाती है। उपर्युद्धृत उदाहरण में नायक के विदेश जाने पर, वर्षा काल में नायिका को खिन्न-मनस्क देखकर कवि के हृदय में उसके प्रति जो भावना उठी है, इस काव्य की अर्थ-प्रतीति में उसका भी एक विशेष स्थान है।

( २ ) भावना

यह भी देखा जाता है कि वक्ता की श्रोता के प्रति विशेष प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। विशिष्ट श्रोता के प्रति, तथा विशिष्ट अवसर के लिए वक्ता विशिष्ट प्रकार की शब्दावली तथा शब्द-संचयन का प्रयोग करता है। इस संबंध में श्रोतृ-भेद तथा प्रकरण-भेद से स्वर में भी भेद पाया जाता है। उक्त उदाहरण में कवि, दोहे का पाठ करते समय 'केती बार' 'आजु' एवं 'अँगार' इन पदों के स्वर में विशेष उदात्तता का प्रयोग करेगा। क्योंकि इनके उदात्त स्वर के कारण 'नायिका विसंज्ञ-सी होने के कारण बार-बार चिल्ला रही है', 'और दिन तो अग्निवर्षा कभी नहीं देखी', 'ये सचमुच अँगारे ही हैं, क्योंकि मुझे जला रहे हैं' इन भावों की प्रतीति होती है।

( ३ ) काकु या स्वर

तात्पर्य, भावना, तथा स्वर के अतिरिक्त चौथा तत्त्व इच्छा ( प्रयोजन ) है। किसी भी उक्ति में वक्ता का स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयोजन अवश्य होता है। उक्ति का प्रयोग प्रायः प्रयोजन के लिए ही होता है। यही प्रयोजन अर्थ-प्रतीति में प्रमुख कार्य करता है। जब तक श्रोता को वक्ता के प्रयोजन का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तब तक वह ठीक तौर पर अर्थ-प्रतीति नहीं कर पाता। उक्त उदाहरण में

( ४ ) इच्छा अथवा प्रयोजन

नायिका की इच्छा स्पष्ट है, क्योंकि वह अँगारों की वर्षा से अपनी सखियों को बचाना चाहती है; किंतु कवि की इच्छा नायिका की विक्षुब्धता तथा अत्यधिक विरह-ताप की व्यंजना कराना है, जो स्पष्ट नहीं। अस्पष्ट इच्छा का उदाहरण यह भी दिया जा सकता है, जहाँ नायिका के क्रीडाभिलाष का पता लगता है—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमालतरु मिलत मालती कुंज॥

(बिहारी)

यद्यपि वाणी के प्रत्येक प्रकार में ये चारों तत्त्व पाये जाते हैं, तथापि व्यवहार में कभी एक, और कभी दूसरा महत्त्व धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति वैज्ञानिक निबंध लिख रहा है, तो वह प्रथम महत्त्व तात्पर्य को देगा, उसकी भावनाएँ गौण हो जायँगी, उसका स्वर कुछ शास्त्रीय पद्धति का आश्रय लेगा। प्रयोजन की दृष्टि से यदि उसका विवेचन स्पष्ट तथा पूर्ण होगा तो वह सफल लेखक बन जायगा। जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, काव्य में भावना तत्त्व की प्रधानता होती है। इस संबंध में हमें तात्पर्य तथा भावना के परस्पर संबंध को समझ लेना होगा। इनका यह संबंध तीन प्रकार का पाया जाता है और इसी आधार पर हम इस संबंध के तीन वर्ग मान सकते हैं।

तात्पर्यादि का परस्पर संबंध तथा उसके प्रकार

प्रथम प्रकार के संबंध में तात्पर्य की प्रधानता पाई जाती है और भावना गौण रूप लेकर आती है किंतु भावना का सर्वथा अभाव नहीं होता। भावना की उद्भावना तात्पर्य के द्वारा तात्पर्य-प्रत्यायन के लिए होती है।

(१) प्रथम वर्ग

द्वितीय वर्ग में तात्पर्य और भावना दोनों में समान संबंध पाया जाता है। इस विषय में शब्द सर्व प्रथम एक भावना को व्यक्त करता है, तथा तात्पर्य की प्रतीति उस भावना से होती है। यदि कोई किसी से कहे 'अबे सुअर' तो सर्व प्रथम यह 'सुअर' शब्द उस व्यक्ति के प्रति घृणा तथा उसकी निकृष्टता द्योतित करेगा तब तात्पर्य प्रतीति होगी।

(२) द्वितीय वर्ग

तृतीय प्रकार के संबंध में भावना की अभिव्यक्ति प्रधान होती है और तात्पर्य तथा भावना का संबंध कम एवं केवल प्रकरणगत होता है। यहाँ तात्पर्य तथा भावना दोनों प्रकरण (देश-कालादि) के अधीन होती है। ऊपर का "घाम घरीक" दोहा इसी प्रकार के अर्थ-वर्ग में आयेगा।

(३) तृतीय वर्ग

यदि हम रिचर्ड्स के इन तीन वर्गों की तुलना अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना से करें, तो पता चलेगा कि ठीक यही बात उनमें भी पाई जाती है। अभिधा को हम प्रथम वर्ग के अंतर्गत लेंगे, क्योंकि यहाँ भावना सर्वथा तात्पर्य के अधीन रहती है। लक्षणा में भावना व तात्पर्य का संबंध समान पाया जाता है वहाँ प्रथम भावना व्यक्त होती है, तब तात्पर्य की प्रतीति होती है। दूसरे वर्ग में यही बात पायी जाती है। व्यंजना में तात्पर्य तथा भावना का यह संबंध कम पाया जाता है। इसमें भावना की अभिव्यक्ति प्रधान होती है। साथ ही भावना एवं तात्पर्य दोनों हो प्रकरणनिष्ठ होते हैं, जो तृतीय वर्ग की विशेषता है। व्यंजना की प्रकरणनिष्ठता के विषय में इसी प्रबंध में व्यंजना के प्रसंग में प्रकाश डालेंगे।

शब्द तथा अर्थ के संबंध का अध्ययन करने की दो परिपाटियाँ प्रचलित हैं। एक शुद्ध दार्शनिक, दूसरी मनोवैज्ञानिक। दार्शनिक परिपाटी को हम तार्किक भी कह सकते हैं। संस्कृत के प्राचीन विद्वानों में भी ये दो परिपाटियाँ प्रचलित देखी जाती हैं। मीमांसकों, वैयाकरणों, नैयायिकों तथा प्राच्य आलंकारिकों ने इस संबंध में तार्किक प्रणाली का ही आश्रय लिया है। मनःशास्त्रीय प्रणाली का आश्रय; जहाँ तक व्यंजना का प्रश्न है, ध्वनिवादियों की मतसरणि में पाया जाता है; किंतु अभिधा में किन मनः-शास्त्रीय तत्त्वों का हाथ है, इसका उल्लेख वहाँ नहीं मिलता। तार्किक सरणि के द्वारा शब्दों तथा उनके अर्थों का अध्ययन कोश एवं व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश भले ही डाले, किंतु उस अध्ययन से हमें भावों के व्यक्तीकरण का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता। यही बात फ्रेंच विद्वान् देमेंस्तेते ने कही है--

शब्दार्थ संबंध के अध्ययन की दो प्रणालियाँ

"शब्दों के ग्रहण अथवा नैरुक्तिक प्रवृत्ति का अध्ययन कोश एवं व्याकरण के इतिहास को प्रकट करता है, ( किंतु ) हमें भावों के प्रकाशन के दृश्य-विंदु के विषय में कोई लेखा नहीं मिलता।"[१]

शब्द तथा अर्थ के स्वरूप एवं संबंध पर फ्रेंच विद्वान् देर्मेस्तेते ने अपने छोटे, किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "शब्दों का जीवन" ( ल वी द मो— Le vie de mots ) में अच्छा प्रकाश डाला है। दर्मेस्तेते ने शब्दों के अर्थ - परिवर्तन की परिस्थितियों को दो प्रकार की माना है—तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक। प्रथम प्रकार की परिस्थितियों का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में "कोंदिशिओं लोजीके द शाँजेमाँ द साँ" (Conditions Logiques des Changements de Sens) के अंतर्गत किया गया है। वह शब्दों को भावों का प्रतीक मानता है। भाव ही शब्द का लक्ष्य है। शब्द के बिना कोई भी व्यक्ति भाव की प्रतीति नहीं करा सकता। शब्द के अभाव में भाव केवल मन में ही स्थित रहता है, तथा वह वाणी का कोई कार्य नहीं करता।[२] इसी परिच्छेद के अंतर्गत 'लाक्षणिक प्रयोग' का विवेचन करते हुए वह कहता है कि 'मेटेफर'[३] में एक विषय का नाम दूसरे विषय के लिए

देर्मेस्तेते का शब्दार्थ विवेचन

---

१. "L'etude de ces emprunts ou de ces procedes de derivation releve de l'historie du lexique ou de la grammaire, noun n'avons a tenir compte qu'au point de vie de la representation des idees."

—Dremesteter : 'Le vie de Mots'. P. 31. ch. I.

२. "Le mot est la seviteur de l'idee; sans idee point de mot, on n'a qu'un vain assemblage de sons. Mais l'idee pent exister sans mot; seulement elle reste dans l'esprit, a l'etat subjectif, et ne fait point partie du langage"

—ibid. P. 37. ch. II

३. अँगरेजी में 'लक्षणा' या 'लाक्षणिकता' के लिए 'मेटेफ़र' Metephor ) शब्द का प्रयोग होता है, जो ग्रीक शब्द 'मेताफोराइ' ( metaphorai ) का ही रूप है।

प्रयुक्त किया जाता है। इसका कारण यह है कि उन दोनों में कोई समानता पाई जाती है। 'मेटेफर' की प्रणाली में दो क्षण लगते हैं। प्रथम क्षण में 'मेटेफर' व्यक्त होता है, उसके द्वारा द्वितीय विषय को सुसज्जित करने के लिए प्रथम विषय की काल्पनिक मूर्ति सामने आ जाती है। दूसरे क्षण में प्रथम विषय की काल्पनिक मूर्ति के द्वारा द्वितीय विषय के नाम तथा गुण पूर्णतः व्यक्त हो जाते हैं।[1] उदाहरण के लिए हम भारतीय आलंकारिकों के प्रसिद्ध वाक्य "गौरागच्छति" ( बैल आ रहा है ) को ले सकते हैं। यहाँ किसी 'पंजाबी' ( वाहीक ) को आता देखकर यह प्रयोग किया गया है। यहाँ प्रथम क्षण में यह "गौः"—मेटेफर व्यक्त होकर प्रथम विषय ( बैल ) की काल्पनिक मूर्ति, तथा उसके गुणों को सामने ले आता है। इसी के द्वारा दूसरे क्षण में उस 'लाक्षणिक प्रयोग' से द्वितीय विषय ( वाहीक ) के नाम तथा गुण की प्रती.त हो जाती है।

तृतीय परिच्छेद में वह शब्दों के मनोवैज्ञानिक महत्त्व का विवेचन करता है। 'आक्शिऑं सीकोलोजिके" ( Actions Psychologiques) के अंतर्गत वह शब्दों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों; ऐतिहासिक परिवर्तनों ( शाँजेमाँ इस्तोरीके--Changements historiques ) तथा मनोवैज्ञानिक सुधारों (मोदिफिकाशिऑं सीकोलोजिके--modifications psychologiques ) का विचार करता है। यहाँ शब्दों के अर्थ - परिवर्तन के विभिन्न मनः-शास्त्रीय तत्त्वों पर जो प्रकाश डाला गया है, वह शुद्ध साहित्यिक दृष्टि का नहीं कहा जा सकता। काव्य के अर्थ की भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक महत्ता का जो संकेत हमें भारतीय आलंकारियों के व्यंजना संबंधी विचारों में मिलता

---

१. Le processus de la comprend deux moments : l'un ou la metaphore est encore visible, et ou le nom, en designant le second objet, eveille encore l'image du premier; l'autre ou par oubli de la premier image, de nom ne designe plus que la second objet et lui devient adequat."

—ibid P. 63.

है, वह यहाँ भी नहीं मिलता। पश्चिम के विद्वान् काव्य के अर्थ की भावात्मक महत्ता तो स्वीकार करते हैं, किंतु उसका पूर्ण विवेचन वहाँ नहीं हुआ है। अधिकतर विद्वान् उसे 'मेटेफर' के अंतर्गत ही मानते हैं, परंतु वह मेटेफर' से कुछ अधिक है। भारत के ध्वनिवादी आलंकारिकों ने इसको व्यंजना के अंतर्गत मानकर इसका स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है।

आगामी परिच्छेदों में हम देखेंगे कि साहित्य की दृष्टि से ध्वनि-संप्रदाय के संस्थापकों ने 'व्यंजना' नाम की नई शक्ति की कल्पना की।

'व्यंजना' की कल्पना का संकेत सांख्य वेदांत तथा शैव दर्शन में

इस शक्ति का संकेत उन्हें कहाँ मिला इस पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय। व्यजना शक्ति वस्तुतः किसी नये अर्थ की उत्पत्ति न कर उसी अर्थ को व्यक्त करती है, जो पहले से अप्रकटित दशा में विद्यमान है। ठीक ऐसी ही सिद्धां-तसरणि सांख्यों को सत्कार्यवाद सरणि में मिलती है। सांख्यों के मतानुसार कार्य कोई नई वस्तु न होकर अपने उपादन कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए घट पहले से ही अपने उपादान कारण मृत्तिका में अव्यक्त रूप में विद्यमान है। निमित्त कारण की सहायता से वह अव्यक्त काय व्यक्त हो जाता है। अतः कार्य की अव्यक्त दशा ही कारण है।[१] ठीक ऐसी ही विचारधारा वेदांतियों के मोक्ष सिद्धांत में पाई जाती है। मोक्ष उनके मतानुसार कोई नई वस्तु न होकर वह दशा है, जो आच्छादक आवरण ( माया-अविद्या ) के हट जाने पर व्यक्त हो जाती है।[२] व्यंजना के आधार पर काव्य की आत्मा 'ध्वनि' का नामकरण तथा विश्लेषण व्याकरण-शास्त्र के 'स्फोट' से भी प्रभावित हुआ है, यह हम प्रबंध में यथावसर देखेंगे। किंतु व्यञ्जना का विशेष संबंध शैव दर्शन के सिद्धांतों से है। अतः व्यंजना की प्रकृति समझने के लिए पहले हम उसकी ओर दृष्टिपात कर लें।

---

१. शक्तस्य शक्यकरणात् ( ११७ ); कारणभावाच्च। ( ११८ )

—सांख्यसूत्र १. ११७-११८.

२. सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।

—वेदांतसूत्र ४. ४. १.

शैव दर्शन के मतानुसार शक्ति, अखण्ड अव्यक्त शिव का एक अभिन्न अंग है। शिव का वास्तविक स्वरूप 'आनंद' है। शैवों के मतानुसार इस संसार में हमें जो दुःख दिखाई देता है, वह वास्तविक नहीं है। अविद्या के पर्दे के कारण हम अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, अतः हमें दुःख प्रतीत होता है। शिव की शक्ति के दो स्वरूप हैं। उसका एक रूप 'अविद्या' है, जिसका कार्य मोह उत्पन्न करना है। शिव की शक्ति का दूसरा रूप 'विद्या' है, इस विद्या के द्वारा मोह का पर्दा हटा कर साधक को वास्तविक आनंद की प्रत्यभिज्ञा कराई जाती है। इसके बाद साधक को ज्ञात होता है कि उसकी स्वयं की आत्मा ही शिवरूप है। "आत्मा ही (तुम) शिव है, बुद्धि पार्वती है, प्राण सहचर हैं, तथा शरीर घर है। विषयों का उपभोग ही शिव की पूजा है; निद्रा ही समाधि दशा है, पद-संचरण ही प्रदक्षिणा है, तथा समस्त वाणी ही स्तोत्र हैं। मैं जो भी काम करता हूँ, वह सब शिव की ही आराधना है।"[१] —इस भाव की प्रतीति हो जाती है। अविद्या के अंग, ज्ञान इच्छा तथा क्रिया शक्ति से यह विद्या-शक्ति सर्वथा भिन्न मानी गई है और इसको आनंद-शक्ति नाम दिया गया है। आत्मा के शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करा कर यह शक्ति वास्तविक आनंद दशा (तुरीय अवस्था) को व्यक्त करती है, इसलिये इसे तुरीया शक्ति भी कहते हैं।

आनंद-शक्ति और व्यंजना

यदि कोई शैव दर्शन की इन चार शक्तियों का संबंध, साहित्य की चार शब्द-शक्तियों से लगाना चाहे, तो लगा सकता है। अभिधा शक्ति में प्रमुख तत्त्व ज्ञान है, क्योंकि अर्थ के साक्षात् संबंध का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। लक्षणा में इच्छा[२] का प्रमुख हाथ है, जिस रूढिमती

---

१. आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

२. यह इच्छा मनोधर्मरूप इच्छा है। यह शिव की स्वतंत्रा इच्छा से सर्वथा भिन्न है। भास्करी के रचयिता भास्कर कण्ठ ने वैयक्तिक मनोधर्मरूप इच्छा को जगत् की आधारभूत "इच्छा" से भिन्न ही माना है।

या प्रयोजनवती इच्छा के कारण वक्ता उसका प्रयोग करता है, उस (इच्छा) का इसमें प्रमुख हाथ रहता है। तात्पर्य वृत्ति में क्रिया है, क्योंकि प्रत्येक व्यस्त पद का अर्थ ज्ञान होने पर इसी के द्वारा समस्त वाक्य में अन्वय घटित होकर, वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। रही व्यंजना, उसका संबंध आनंद-शक्ति से लगाया जा सकता है। जिस प्रकार आनंद-शक्ति के द्वारा "अनुत्तर" परम शिव तत्त्व का प्रत्यभिज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार व्यंजना शक्ति काव्य के आत्मस्वरूप, ध्वनि को (जो स्वयं शब्द ब्रह्म (स्फोट) है) अभिव्यक्त कर, साधक (सहृदय) को उस 'रसोऽहम्' (आनन्दोऽहम्) की स्थिति का प्रत्यभिज्ञान कराती है। अभिनवगुप्त का व्यंजना की स्तुति करना तथा उसकी महत्ता बताना इस बात की ओर संकेत करता है कि वे इसे आनंद-शक्ति का साहित्य शास्त्रीय रूप मानते हैं :—

"तुरीया शक्ति अर्थवैचित्र्य को प्रगट कर उसे फैलाती है, तथा प्रत्यक्ष अर्थों का निर्देश करती है। मैं उस तुरीया शक्ति (व्यंजना-शक्ति, आनंद-शक्ति) की वंदना करता हूँ।"[1]

व्यंजना तथा ध्वनि की काव्यालोचन पद्धति का आधार मनोविज्ञान

भारत के साहित्यशास्त्र तथा आलोचनशास्त्र में व्यंजना एवं इसकी भित्ति पर स्थापित ध्वनि का बड़ा महत्त्व है। इसने हमें काव्य की वास्तविक चारुता तथा मनोवैज्ञानिक तात्त्विकता का परिचय दिया है। हम पहले भी बता आये हैं, साहित्य के आलोचन की तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक दो प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। भारतीय अलंकारशास्त्र के अधिकतर ग्रंथ तार्किक शैली का ही आधार लेकर चले हैं। इनकी इस प्रवृत्ति को देखकर कभी कभी तो यह संदेह हो जाता है कि क्या ये न्याय के भी ग्रंथ तो नहीं। बाद के नव्य लेखकों में यह प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है। उदाहरण के लिये विश्वेश्वर का 'अलंकारकौस्तुभ' नव्य न्याय की 'अवच्छेदक' एवं 'अवच्छिन्न' वाली शैली में लिखा गया है। किंतु भारतीय अलंकार-

---

१. स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम्।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम्॥
—लोचन, उद्योत ४.

शास्त्र में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की कमी नहीं है। जहाँ तक भौतिक तथा भाषाशास्त्रीय तत्त्वों से आलोचना के संबंध का प्रश्न है, उसकी मीमांसा मनोवैज्ञानिक विवेचन के अन्तर्गत हुई है, क्योंकि इन दोनों का परस्पर ठीक वही संबंध है, जो शरीर तथा मन का। किंतु केवल इन्हीं का ज्ञान हमें काव्य-शक्ति का परिचय देने में समर्थ नहीं होगा। एक अँगरेज समालोचक ने कहा था—"निरुक्त, छन्दःशास्त्र, तथा वाक्यज्ञान आदरणीय विज्ञान हैं, तथा मानव-ज्ञान के विशाल क्षेत्र में उनका भी समुचित स्थान है। वे काव्य के शरीर-विज्ञान हैं। किंतु वे हमें काव्य-शक्ति के रहस्यों को समझने की सहायता वितरित नहीं करते, क्योंकि काव्य-शक्ति आकस्मिक तथा बाह्य साम्य से सर्वथा निराश्रित है।"[1] कहना न होगा ध्वनि तथा व्यंजना की मनोवैज्ञानिक काव्यालोचन-सरणि इन रहस्यों को खोलकर, उन्हें समझाती है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र से भारतीय काव्य-शास्त्र की महत्ता

यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं, कि भारत का काव्य-शास्त्र जितना प्रौढ़ तथा परिपक्व रहा है, उतना अन्य किसी देश का नहीं। प्राचीन भारत का आलोचनशास्त्र एक वैज्ञानिक रूप धारण कर चुका था, क्योंकि उसमें निर्धारित नियम एक प्रकार से सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक हैं। इन नियमों के आधार पर न केवल हम भारत के प्राचीन साहित्य की ही आलोचना कर सकते हैं, अपितु किसी भी देश के, किसी भी काल के साहित्य की मीमांसा कर सकते हैं। साहित्य या काव्य ही नहीं, ये नियम अन्य

---

(१) "Etymology, versification, syntax are respectable sciences and have their proper place in the wide field of human knowledge. They are the anatomy and physiology of poetry. But they do not help us to understand the secrets of poetic power for the simple reason that poetic power is independent of accidental and external resemblances."

—Spangern : Creative Criticism P. 11.

ललित-कलाओं की मीमांसा में भी व्यवहृत किये जा सकते हैं। ग्रीस में 'रेटोरिक्स' ( ह्रेतोरिके Rhetorike ) केवल लक्ष्य तक पहुँचने का साधन मात्र माना जाता था। यह व्याख्याताओं तथा राजनीतिज्ञों के हाथ में एक महत्त्वपूर्ण यंत्र था। इस दृष्टि से कला के बाह्य या भौतिक अंग की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता था, जिसे भारतीय आलंकारिक रीति या अंगसंस्था कहेंगे। मध्ययुग में यूरोप में आलोचन-कला ने निश्चित रूप-रंग का आश्रय तो लिया, पर यहाँ भी कला की आत्मा छिपी रही, वे केवल छाया के पीछे भ्रांत रहे। आधुनिक यूरोप में हम साहित्यिक मीमांसा के कई संप्रदायों के विषय में सुनते हैं; किंतु यह कहना पर्याप्त होगा, कि साहित्य-मीमांसा की दृष्टि से कोई निश्चित प्रौढ नीतिनिर्धारण नहीं पाया जाता, जो कला को एक सुदृढ़ स्थिति प्रदान कर सके। भारतीय साहित्यशास्त्र में इस प्रकार के दोष तथा न्यूनता का अभाव है। यूरोपीय आलोचकों की भाँति भारत का साहित्यालोचन वैयक्तिक नहीं रहा है। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक हमारा साहित्यशास्त्र एक ही मनोवैज्ञानिक रस-सिद्धांत को स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से आधार बना कर चलता रहा है।

**उपसंहार**

इस प्रकार भारत की शुद्ध साहित्यमीमांसा स्वर्णिम इतिहास से युक्त है। यदि भारत का काव्य कल्पना की उच्चतम स्फूर्ति है, तो भारत का आलोचनशास्त्र भी तर्क तथा तथ्य दोनों के ऊपर टिका है, केवल वैयक्तिक सनक नहीं। यदि काव्य हमें उच्चतम स्वर्ग तथा नन्दन-कानन का उपभोग कराता है, तो आलोचनशास्त्र उस स्वर्ग के ज्वलंत अंगों को व्यक्त करता है। आलोचन-शास्त्र मानव-बुद्धि के प्रमुख उत्पादित उपकरणों में है, क्योंकि इसका मानसिक तथा नैतिक विज्ञान, एवं जीवन से घनिष्ठ संबंध है। आलोचक का कर्त्तव्य जीवन को शुद्ध रूप में अभिव्यक्त करना है तथा भारतीय आलंकारिक ने इस कर्त्तव्य को महत्ता और सुंदरता के साथ निभाया है। इसी कारण भारत का साहित्यालोचन निर्वैयक्तिक रहा है। किसी कवि की रचना को अपूर्ण रूप में मीमांसित करना एवं उसके संप्रदाय की ओर ध्यान देना भारतीय आलंकारिक जानता ही नहीं। साहित्यालोचन भी वस्तुतः दर्शन है, तथा भारत का दर्शन, आत्म-दर्शन रहा है। अलंकार-शास्त्र के

आधारभूत रस की मनोवैज्ञानिक भित्ति का आदर आत्मा की उन्नति के ही लिये किया गया है। आलोचक का कर्त्तव्य, इसीलिए रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर सहृदय को आत्मोन्नति में सहायता वितरित करना है। व्यंजनावादी तथा ध्वनिवादी आलोचक के इस कर्तव्य को आनंदवर्धन ने एक स्थान पर यों बताया है:—

"काव्य के रसों का आस्वाद करने के लिये जिस नवीन दृष्टि की तथा वर्णित विषयों का विवेचन करने के लिये जिस बुद्धि ( बौद्धिक दृष्टि ) की आवश्यकता है, उन दोनों का आश्रय लेकर समस्त जगत् का वर्णन करते करते हम थक गये। किंतु हे समुद्र में शयन करनेवाले विष्णु भगवान्, तुम्हारी भक्ति के समान सुख उसमें नहीं मिला।"[1]

---

१ या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे चाप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता, नैव च लब्ध मब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥
—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

# प्रथम परिच्छेद

## शब्द और अर्थ

"एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सम्यक् संप्रयुक्तः,
स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" ॥—( पतंजलि )

"For one word a man is often deemed to be wise and for one word he is deemed to be foolish. We ought to be careful in what we say."
—Confucius.

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।—( दंडी )

मानव-जीवन में वाणी का महत्त्व

वाणी अथवा और अधिक स्थूल शब्द का प्रयोग किया जाय तो भाषा, उन प्रमुख भेदक तत्त्वों में से एक है, जो मानव को विश्व की इतर सृष्टि से अलग करती है। विश्व के नियंता परमेश्वर अथवा प्रकृति के विकासशील संघर्ष ने, मानव को वाणी या भाषा के रूप में एक अनोखी शक्ति प्रदान की है, जिसके कारण उसका समस्त विश्व की सृष्टि में उच्चतम स्थान है। वाणी के ही कारण वह एक सामाजिक संगठन बनाए हुए है। सामाजिक प्राणी होने के नाते एक मानव अपने विचारों एवं भावों को दूसरे मानव के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता है, साथ ही उसके भावों तथा विचारों का भी परिचय प्राप्त करता है। इस विषय में वाणी ही उसका साहाय्य संपादित करती है। समस्त मानव समाज में प्रेम या स्नेह की एकसूत्रता स्थापित करने में वाणी का प्रमुख हाथ है। यही कारण है कि मानव का क्षेत्र पशुओं की भाँति स्वनिष्ठ न होकर विस्तृत हो गया है। मानव जब योग-क्षेम की कामना करता है, तो वह कामना केवल स्वसंपृक्त न

रह कर परसंपृक्त हो जाती है। इस विषय में वाणी का विशेष महत्त्व है। मानव का मानव से ही नहीं, अपितु मानव का विश्व की इतर सृष्टि से संबंध स्थापित करने में वाणी एक प्रमुख हाथ बँटाती है। यही कारण है, कि वाणी आरंभ से ही दार्शनिकों तथा विचारकों के अध्ययन का विषय रही है। वाणी का उद्गम कैसे हुआ? भावों या विचारों तथा उनके वाहक शब्दों में परस्पर क्या संबंध है? आदि आदि—इन्हीं प्रश्नों को लेकर वैयाकरण, निरुक्तकार, मनःशास्त्री, साहित्यिक तथा भाषाशास्त्री, सभ्यता के उषःकाल से लेकर आज तक इनके हल में लगे हुए हैं। इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ पोस्टगेट ने एक स्थान पर कहा है। 'मानव-जाति के समस्त इतिहास में, शब्द तथा अर्थ के संबंध विषयक प्रश्नों के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा प्रश्न नहीं रहा है, जिसने अधिक गवेषणात्मक व्यस्तता तथा आकर्षण उत्पन्न किया हो।..........अब, यह गवेषणा शब्द तथा अर्थ के संबंध की प्रकृति के विषय में है, जो शब्दार्थ-विज्ञान की वास्तविक तथा उच्चतम समस्या है; यहाँ शब्द और अर्थ का प्रयोग दोनों के विस्तृत अर्थ में किया गया है।'[१] इन पंक्तियों का प्रयोग करते हुए डॉ॰ पोस्टगेट का यह अभिप्राय स्पष्ट था कि शब्द तथा अर्थ में वस्तुतः कोई दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक संबंध है। इस संबंध को लेकर चलने वाली सिद्धांतसरणि की अत्यधिक आवश्यकता है, और उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

---

[१] "Throughout the whole history of human race, there have been no questions which have caused more heart-searchings, tumults, and devastations than questions of the correspondence of words to facts. × × × Now, it is the investigation of the nature of correspondence between words and facts, to use these terms in the widest sense, which is the proper and highest problem of the science of meaning."—Dr. Postgate quoted by Ogden and Richards in "The Meaning of Meaning." P. 17. (8th Ed. 1949).

शब्द तथा अर्थ के संबंध के विषय में आरंभ से अब तक विद्वानों की क्या क्या धारणाएँ रही हैं, इस विषय में न जाकर सर्व प्रथम हमें शब्द क्या है, यह समझ लेना होगा। यद्यपि शब्द भाषा का अंग है, तथापि उसे उसका अविच्छेद्य अंग ही मानना ठीक होगा। इसीलिये शब्द तथा भाषा में अभेदप्रतिपत्ति की भावना उत्पन्न हो जाना सहज है। भाषाशास्त्री के मत से भाषा, (अथवा शब्द भी), ध्वनि-यंत्रों के द्वारा उत्पन्न ध्वनि-समूह है, जो किसी भाव या विचार की बोधक है। अतः सर्वप्रथम तो यह समझ लेना होगा कि "शब्द" से हमारा तात्पर्य उस ध्वनिसमूह से है, जिसमें भावबोधन अथवा अर्थ-वहन करने की क्षमता है। महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में बताया है कि "दश दाडिमाः, षडपूपाः, कुंडमजाजिनम्, पललपिंडः" आदि कोई निश्चित अर्थ का वहन नहीं करते, अतः उन शब्दों का भाषा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। भाषा का आरंभ कैसे हुआ? भाषा पौरुषेय है या अपौरुषेय? इस विषय में भाषा शास्त्रियों के अनेक मत प्रचलित हैं। अपौरुषेयवादी प्राचीनों का खंडन करनेवाले एवं डार्विन के विकास-वाद में विश्वास रखने वाले विद्वानों के मतानुसार भाषा का भी क्रमशः विकास हुआ है। भाषा का विकास सर्वप्रथम 'होमो सेपियन' (Homeo Sapien) में हुआ है, जिसका कारण उसके विकास-शील ध्वनियंत्रों तथा उसकी सामाजिक चेतना की परिपक्वता है। इसके पूर्व होनेवाले 'रोडेसियन मैन' (Rhodesian Man) अथवा 'नैंडरथालेर मैन' (Neanderthaler Man) में भाषा का सर्वथा अभाव था। किंतु, 'होमो सेपियन' में भी भाषा का विकास बड़े बाद की चीज मानी जाती है।[1] भाषा की उत्पत्ति के विषय में "अनुकरण-वाद", "मनोरागाभिव्यंजकतावाद", "प्रतीकवाद" आदि कई मत प्रचलित हैं, जो हमारे विषय से संबद्ध नहीं। हमें तो यहाँ शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक संबंध के विषय में प्राचीन काल में क्या मत प्रचलित रहे हैं, इसका अनुशीलन करना है।

भाषा और शब्द

---

१. H. G. Wells : A short History of the World. P. 45 (ch. 11), P. 47. (ch. 12).

डॉ० पोस्टगेट कहते हैं कि प्राचीन काल में, शब्द ( नाम ) किसी पदार्थ का लक्षक या वाचक रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द के विद्यमान रहने पर हम वस्तु की स्थिति के विषय में विवाद कर सकते हैं। यह धारणा बर्बर जातियों की साधारण कल्पना है।[1] प्राचीन काल में लोगों की यह धारणा थी कि प्रत्येक शब्द या नाम उस पदार्थ की समस्त उपाधियों से युक्त रहता है। नाम व उसके द्वारा अभिप्रेत या वाच्य पदार्थ में ठीक उतना ही संबंध है जितना उसकी छाया, प्रतिकृति या मूर्ति में। यह धारणा प्रायः सारी प्राचीन सभ्यताओं में पाई जाती है। यूनान, रोम, तथा भारत के प्राचीन दार्शनिकों की शब्द तथा अर्थ संबंधी धारणाओं का अनुशीलन करते समय ज्ञात होगा कि वहाँ कुछ इसी प्रकार के विचार साधारण लोगों में अवश्य प्रचलित रहे होंगे, जिनका उल्लेख कई गंभीर दार्शनिक भी करते देखे जाते हैं – भले ही इन विचारों का उल्लेख वे लोग खंडन के ही लिये करते हों। ऐसे ही प्राचीनों का खंडन करते हुए एक स्थान पर स्टाइक दार्शनिक क्रिसिपस ने कहा था "आप लोग शब्द तथा उससे अभिप्रेत वस्तु में इतना घनिष्ठ संबंध मानते हैं, कि आप के मत से शब्द स्वयं ही वह पदार्थ है। यदि ऐसा ही है, तो जब कभी आप किसी वस्तु के शब्द का उच्चारण करते हो, तो आपके मुख से वह वस्तु भी निकलती है। उदाहरण के लिए यदि आप कहें "गाड़ी", तो गाड़ी ( पदार्थ ) आपके मुँह से निकल जाती है।"[2] प्रसिद्ध दार्शनिक गोतम भी शब्द तथा अर्थ का स्वाभा-

शब्द तथा अर्थ के संबंध के विषय में आदिम विचार

---

१. "The primitive conception is undoubtedly that the name is indicative, or descriptive of the thing. From which it would follow at once that from the presence of the name, you could argue to the existance of the thing. This is the simple conception of the savage." Dr. Postgate quoted, The Meaning of Meaning." P. 2.

२. "If you say anything, it passes through your mouth : you say cart, therefore a cart passes through your mouth."—Chrysippus.

विक संबंध नहीं मानते। उन्होंने इस संबंध का खंडन करते हुए बताया है कि "शब्द या अर्थ में कोई संबंध नहीं, क्योंकि पूरण, दाह, तथा पाटन की उपपत्ति नहीं होती।"[1] अर्थात् जो लोग शब्द में अर्थ की स्थिति मानते हैं, उनका मत भ्रांत है, क्योंकि उनमें कोई संबंध नहीं। यदि इस संबंध को माना जाता है, तो उस उस वस्तु की स्थिति मुख में उस उस शब्द के उच्चरित करते समय होनी ही चाहिए। फिर तो कोइ "लड्डू" कहे और झट से उसका मुँह लड्डू से भर जायगा। इसी तरह "आग" कहते ही मुँह में "आग" भर जाय और कहनेवाला मारे जलन के चिल्लाने लगे, उसका मुख जल उठे। इसी प्रकार "फर्श" जैसी बिछाने की वस्तु का नाम ले और उसके मुँह में एकदम 'फर्श" बिछ जाय या 'तलवार' कहने पर जीभ कट जाय। ऐसा होता हो, तो शब्द व अर्थ में स्वाभाविक तथा अभेद संबंध मान भी जा सकता है।

यह धारणा यूनान व भारत में ही नहीं रोम, चीन तथा मिस्र में भी प्रचलित थी। इसी से संबद्ध वह अंधविश्वास था जिसके द्वारा वैयक्तिक नामों को गुप्त रखा जाता था। भारत में भी प्राचीन काल में अपना, गुरु का, पत्नी का, ज्येष्ठ पुत्र का नाम किसी के आगे नहीं लिया जाता था, तथा उसे गुह्य रखा जाता था।[2] इस विषय में शास्त्रों में भी उल्लेख पाया जाता है। पुत्र-जन्म के छठे दिन पिता उसका गुप्त नाम रखता था, जो बड़े दिनों तक स्वयं पुत्र से भी छिपा कर रखा जाता था। अन्य देशों में भी ऐसी प्रथा प्रचलित थी तथा प्रमुख व्यक्तियों के नाम इसलिये गुप्त रखे जाते थे कि कोई उन व्यक्तियों को हानि न पहुँचा

वैयक्तिक नामों के गुप्त रखने की भावना का आधार यही धारणा है

---

१ पूरण दाह-पाटनानुपपत्तेश्च सम्बन्धाभावः।

—न्यायसूत्र २. २. ५२

( साथ ही ) अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन्, न च प्रगृह्यन्ते। अग्रहणान्नानुमेयः प्राप्तिलक्षणः संबंधः अर्थान्तिके शब्द इति।

( वात्स्यायनभाष्य —पृ० ५६ ).

२ आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

दे।[1] यह धारणा न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, एबीसीनिया आदि देशों के आदिम निवासियों तक में पाई जाती है। इसके साथ ही यह भी प्रथा प्रचलित है कि रात के समय कई अपशकुन-सूचक पशु-पक्षियों का नाम नहीं लिया जाता। राजस्थान में रात के समय "बिल्ली", "सर्प", "उल्लू", "झाड़ू" आदि वस्तुओं का नाम नहीं लिया जाता। इसी धारणा से संबद्ध वह धारणा है, जिसके अनुसार इस विश्व के उत्पादक ईश्वर के पवित्र नाम को भी गुह्य बताया गया है—"जिसके द्वारा समस्त संसार उत्पन्न किया गया है, तथा किया जायगा, वह ईश्वर सर्वव्यापी है, उसका नाम अत्यधिक गुह्य है।"[2] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सोमस्तुति में बताया गया है कि सोम देवताओं के गुप्त नामों को प्रकट करता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में इंद्र का गुप्त नाम अर्जुन कहा गया है—"अर्जुन इंद्र का नाम है, यह इसका गुह्य नाम है।"[4] देवताओं के नाम ही नहीं, धार्मिक क्रियाकलापों से संबद्ध शब्द भी गुप्त रखे जाते थे। उनको अपरिवर्तित रूप में ग्रहण करने की धारणा चली आती थी। यह स्पष्ट घोषित किया जाता था कि उन्हें शुद्ध रूप में ग्रहण करने पर ही योग-क्षेम हो सकता है। महर्षि पतंजलि ने भी एक स्थान पर महाभाष्य में लिखा है—"(शुद्ध) शब्द से पदार्थ का अभिधान हो सकता है, अपशब्द (अशुद्ध शब्द) से नहीं,—ऐसा करने पर ही शब्द अभ्युदयकारी हो सकता है।"[5] वेदों में अथर्ववेद की भाषा अन्य संहिताओं से उन स्थलों में सर्वथा भिन्न है, जहाँ जादू-टोने आदि का प्रयोग पाया जाता है। इन मंत्रों के अपरिवर्तित रूप का ग्रहण स्पष्ट करता है कि शब्दों में वस्तु की प्रतिकृति मानी जाती थी।

---

१ देखो "Meaning of Meaning." P. 27

२ महत् तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृक् येन भूतं जनयो येन भाव्यम्।"

(ऋ० १०. ५५. २)

३ देवो देवानां गुह्यानि नामा विष्कृणोति। (ऋ० ९. ९५. २.)

४ "अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यनाम॥" (शत० ब्रा० २, १, २, ११)

५ शब्देनैवाऽर्थोऽभिधेयो नापशब्देनेत्येवं क्रियमाणमभ्युदयकारी भवतीति"

—(महाभाष्य १, १, १,)

इसी धारणा के आधार पर तंत्रशास्त्र तथा मंत्रशास्त्र में वर, शाप, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि साधन चल पड़े। तंत्रादिक का प्रचार प्रायः समस्त देशों में पाया जाता है।

इसी धारणा के कारण "सफेद जादू (white magic) तथा" काले जादू (black magic) की उत्पत्ति

भारत में प्राचीन काल से यह धारणा चली आती है कि किसी का उच्चाटन या मारण करने के लिये या तो उस व्यक्ति का नाम लिखकर उस पर कुछ तांत्रिक क्रिया की जाय या उसकी मोम की प्रतिकृति बना कर उसे होम दिया जाय।[1] आसुरी-कल्प में एक स्थान पर ऐसा ही वर्णन मिलता है—"तांत्रिक उस आकृति को शस्त्र से काट कर, उससे मिले हुए घी को, आक के इंधन की अग्नि में, होम दे।"[2] भारत में आज भी तांत्रिकों तथा मंत्र-शास्त्रियों में किसी व्यक्ति के नाम से उस व्यक्ति की मूर्ति का अविच्छिन्न संबंध मानने की धारणा प्रचलित है। इसी से संबद्ध एक धारणा वह भी है, जिसके अनुसार व्यक्ति के नामकरण में उसके भविष्य की तथा गुणों की आशा की जाती है। नवजात शिशु का नाम अच्छा इस लिये रखा जाता है कि उसमें उस नाम के अनुकूल गुणों का प्रादुर्भाव हो, उसका भविष्य उज्ज्वल हो।

"ताबू" तथा शब्द

मंत्र-तंत्र से इस प्रकार शब्द का घनिष्ठ संबंध होने के कारण कई प्राणिशास्त्री तथा पुरातत्त्वविद् शब्दों का उद्गम "जादू" ( Magic ) में ढूँढते हैं। "जादू" की भावना से ही "ताबू" ( Taboo ) की भावना संबद्ध रही है। यह भावना आज भी रेड इंडियन तथा पोलीनेशिया के आदिम निवासियों में पाई जाती है। इसके कुछ अवशेष भारत में

---

१ उच्चाटन, मारण आदि के मंत्रों में विशेष महत्त्व शब्दों का ही होता है, इन मंत्रों का एक उदाहरण यह दिया जा सकता है—"अमुकं हन हन दह दह पच पच मन्थ मन्थ तावद् दह तावत् पच यावन्मे वशमानय, स्वाहा" ( आसुरीकल्प )

२ आसुरीश्लक्ष्णपिष्टाज्यं जुहुयादाकृतिं बुधः ।
अर्कैधसाग्निं प्रज्वाल्य छित्वास्त्रेणाकृतिं तु ताम् ॥ ( आसुरीकल्प )

भी पाये जाते हैं। प्रसिद्ध आंग्ल वैज्ञानिक जे० बी० एस० हेल्डेन ने अपने लेख "द ऑरिजिन आव् लैंग्वेज" में "ताबू" को ही भाषा का आदि रूप माना है। जादू के प्रयोग में आने वाली ध्वनियाँ ही आगे जाकर भाषा तथा शब्दों के रूप में विकसित हुई हैं। फ्रॉयड जैसे मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य को मानते हैं। एक स्थान पर फ्रॉयड कहता है:—

"आरंभ में शब्द तथा जादू एक ही वस्तु थे, और आज भी शब्द अपनी जादूगरी शक्ति को कायम रखे हुए हैं। शब्द के द्वारा हम किसी को अत्यधिक सुख पहुँचा सकते हैं, तथा शब्द के ही द्वारा महान् विक्षोभ उत्पन्न कर सकते हैं। शब्द के द्वारा ही गुरु शिष्य को ज्ञान देता है। शब्द के द्वारा ही व्याख्याता श्रोतृगण को वशीभूत कर उनके निर्णय को निश्चित करता है। शब्द भावनाओं को जागृत करते हैं तथा इनके द्वारा हम अपने साथियों को प्रभावित कर पाते हैं।"[१]

इस सारे विवेचन का यह तात्पर्य है कि शब्द तथा अर्थ की शक्ति के संबंध में एक मत ऐसा भी पाया जाता था, जो दोनों में अभेदप्रतिपत्ति मानता था। यद्यपि इस संबंध में शब्द के विषय में विशेष न कह कर हमने व्यक्तियों तथा वस्तुओं के नामकरण पर प्रकाश डाला है, तथापि इससे स्पष्ट है कि शब्द तथा अर्थ की शक्ति के संबंध में किस प्रकार की अतिशय धारणा पाई जाती रही है।

---

१ "Word and magic were in the begining one and the same thing, and even today words retain much of their magical power. By words one of us can give to another the greatest happiness or bring out utter despair, by words the teacher imparts his kowledge to the student, by words the orator sweeps in the audience with him and determines its judgments and decisions. Words call forth emotions and are universally the means by which we influence our fellow-creatures."

—Freud: "Introductory lectures on Psycho-Analysis lectere I P. **13**.

शब्द तथा अर्थ की शक्ति और उनके पारस्परिक संबंध को लेने से पहले शब्द की उत्पत्ति तथा महत्ता पर कुछ भारतीय मतों का अनुशीलन कर लें। भारतीय शास्त्रों के मतानुसार शब्द की उत्पत्ति सृष्टि के भी पूर्व हुई है। इस प्रकार की धारणा का क्या कारण रहा होगा, यह प्रश्न उठाना संभव है। कदाचित् वेदों को अपौरुषेय तथा अपरिवर्तनीय मानने के साथ ही यह धारणा चल पड़ी हो। भारतीय शास्त्रों में यही अपौरुषेय मत प्रतिपादित हुआ है। शास्त्रों के द्वारा सम्मत मत पर जोर देते हुए मनु ने एक स्थान पर यहाँ तक लिखा है कि--"जो ब्राह्मण तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर इन श्रुति-स्मृति की निन्दा करे, वह जाति से बाहर कर दिया जाना चाहिए। वह नास्तिक है, वेदनिंदक है।"[1] समस्त वैदिक साहित्य में शब्द या वाणी के विषय में अपौरुषेय मत पाया जाता है। शतपथ में कहा गया है—वाणी ही ब्रह्म है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार समस्त भूत प्राणि-मात्र वाणी से जाने जाते हैं, वाणी ही परम ब्रह्म है।"[3] एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि "जो वाणी को ब्रह्म समझकर, उपासना करता है, वह वाणी के द्वारा जितने अर्थ द्योतित किये जाते हैं, उन सभी पर स्वेच्छापूर्वक अधिकार प्राप्त कर लेता है।"[4] ऋग्वेद के एक सूक्त में वाक् स्वयं अपना वर्णन करती है:—

शब्द की उत्पत्ति के विषय में अति-प्राचीन भारतीय मत

"आर्यों के शत्रु शरु को मारने के लिये मैं ही रुद्र के धनुष को तैयार करती हूँ। मैं ही 'जन' की रक्षा के लिए युद्ध करती हूँ। मैं आकाश तथा पृथ्वी में प्रविष्ट हूँ। मैं संसार के 'पिता' को उत्पन्न

---

१. योवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः॥ ( मनुस्मृति २, ११ )

२. वाग् वै ब्रह्म।--शत० ब्रा० २, १, ४, १०।

३. "सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राड्ज्ञायन्ते, वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म।" ( बृ० उ० ४, १, २ )

४. स यो वाचं ब्रह्मेति उपास्ते यावद् वाचोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति।" --( छान्दोग्य उ० ७, २, २ )

करती हूँ। मेरी योनि इस विश्व के मस्तक में तथा समुद्र के जल के अन्दर है। वहीं से मैं सारे भुवनों में व्याप्त हूँ, तथा इस आकाश को अपने शरीर से छूती हूँ। मैं समस्त भुवनों का आरंभ करती हुई हवा की भाँति वेग से बहती हूँ। मैं इस पृथिवी से तथा इस आकाश से भी परे हूँ। मेरी महिमा ऐसी है।[1]

श्रुति स्मृतियों में स्पष्ट संकेत है कि ब्रह्म ने वाणी का उच्चारण करके संसार की सृष्टि की। उसने 'भूः' इस शब्द का उच्चारण किया तथा पृथ्वी की सृष्टि की।[2] ठीक यही बात बाइबिल में भी बताई गई है कि ईश्वर ने शब्द का उच्चारण करके ही तत्तत् पदार्थ की सृष्टि की। "ईश्वर ने कहा "प्रकाश", और प्रकाश हो गया।"[3] ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने स्पष्ट बताया है कि वाणी की उत्पत्ति सृष्टि के पूर्व थी। "यह कैसे जाना कि जगत् की उत्पत्ति शब्द से हुई है, तथा वह सृष्टि के पूर्व विद्यमान था ?" पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं, इसकी प्रमिति हमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है। प्रत्यक्ष से तात्पर्य वेद से है, क्योंकि वेद को अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, अनुमान से तात्पर्य स्मृति से है, क्योंकि वह वेद पर निर्भर है। ये दोनों बताते हैं कि सृष्टि के पहले शब्द विद्यमान था।"[4]

---

१. अहं रुद्राय धनु रातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ममयोनि रप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवना नु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपा स्पृशामि ॥
अहमेव वात इव प्र वामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिमा संबभूव ॥
—( ऋग्वेद १०, १२५, ६–८)

२. स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत् ( तै० आ० २, २, ४, २ )

३. "God said light, and there was light"—Bible.

४. कथं पुनरवगम्यते शब्दात् प्रभवति जगदिति, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं हि श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः ॥
—( शारीरिकभाष्य सू० १, ३, २८; पृ० २८९ )

इसी से संबद्ध स्फोट ब्रह्म की कल्पना है। शंकराचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य में सृष्टि के उत्पादक शब्द के स्वरूप के विषय में पूर्वपक्ष रूप में जिज्ञासा उठाकर यही उत्तर दिया है कि वह "स्फोट" है।[१] शब्द तथा वाणी को महत्ता देते हुए ऐतरेय आरण्यक में यह भी कहा है कि शब्द परब्रह्म का वह साधन है, जिसके द्वारा उसने सारे संसार को सी रखा है—" उस (ब्रह्म) की वाणी सुई है, तथा शब्द (नाम) डोरे हैं। वाणी तथा शब्द के द्वारा उसने सारे संसार को सी रखा है।"[२]

हम वाणी की आध्यात्मिक महत्ता प्रतिपादित कर चुके हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त आचार की दृष्टि से भी उसका कम महत्त्व नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर वाणी की नैतिक महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि, यदि वाणी न होती तो धर्म या अधर्म, सत्य या असत्य का ज्ञान नहीं हो सकता था।"[३] ठीक इसी बात को एक आधुनिक विद्वान् ने भी कहा है—"जो व्यक्ति वाणी के सामान्य उपकरणों को समझ कर उनका प्रयोग कर सकता है, वह क्रिया, साधन तथा साध्य संबंधी नियमों का अनुमान लगा सकता है, और इसीलिए महान् नियम का भी अनुमान लगा सकता है। वह ज्ञानशील होने के कारण आचारमय व्यक्ति है।"[४]

वाणी की नैतिक (ethical) महत्ता

१. तस्य वाक् तन्तिर्नामानि दामानि, तस्येदं वाचा तन्त्या नामभि र्दामभिः सर्वं सितम्" —(ऐ० आ० २, १, ६)

२. किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्य इदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते, स्फोट मित्याह" —शारीरिक-भाष्य, पृ० २९१

यही बात भर्तृहरि ने भी कही है—

(ख) शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छंदोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ (१, २०)

३. यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतम्। (छा० उ० ७, २, १,)

४ A being who can understand and apply the general terms of which language consists, can appre-

वाणी का बौद्धिक दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। इस दृष्टि से समस्त विचार एवं ज्ञान वाणी के अधीन हैं। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि शब्दों की उत्पत्ति पहले हुई है; मन उनके पीछे दौड़ता है। इसका स्पष्ट आशय यही है कि मन से उत्पन्न होने वाले विचार, भाव तथा ज्ञान सब शब्द पर ही निर्भर हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में बताया है कि शब्दों के बिना ज्ञान ही नहीं हो सकता। उनसे संबद्ध रूप में ही समस्त ज्ञान प्रतिभासित होता है।[१] यूनानी स्टाइक दार्शनिकों का मत था कि "जिस तरह आँख के द्वारा समस्त वस्तुएँ देखी जाती हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थों का पर्यवेक्षण शब्द के द्वारा ही होता है।"[२] वाणी तथा शब्द का ज्ञान के क्षेत्र में इतना महत्त्व है कि उसके बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। वाणी ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् जे० एस० मिल ने वाणी के इसी महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"जब हम किसी तर्कप्रणाली का आश्रय लेते हैं, तो तर्कशास्त्र में किसी सामान्य सिद्धांत (प्रोपोजीशन) को मान कर चलते हैं। किन्हीं सामान्य सिद्धांतों की सहायता के बिना तर्क होना असंभव है। इसी प्रकार तर्क के क्षेत्र में वाणी का ठीक इतना ही महत्त्व है जितना सामान्य नियमों का

वाणी की बौद्धिक महत्ता

---

hend rules of Action, Means and Ends, and hence the Supreme Rule. He is a rational, and consequently a moral being.

—Whewell: "Elements of Morality" B. II. Ch. XXIV Para 430.

१ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

—(वाक्यपदीय १, १२४)

२ All things are seen through the vision of words.

वाणी अथवा उसकी सम-कक्ष किसी अन्य वस्तु के बिना, अनुभव से तर्क करना असंभव है।"[1]

काव्य में वाणी का महत्त्व

काव्य में वाणी का महत्त्व काव्यशास्त्र के विद्वानों से छिपा नहीं। स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीतकला में वाणी की आवश्यकता नहीं होती। संगीत कला में ध्वनिविशेष का उपादान होता है, पर वहाँ सार्थक शब्दों का अभाव भी हो सकता है। गले के आरोहावरोह से ही वहाँ कलात्मकता लाई जा सकती है। किंतु काव्य में एक मात्र साधन वाणी तथा शब्द है; जो कलाकार या कवि की कला का परिचय दे सकते हैं। अतः शब्द की उत्पत्ति, उसकी महत्ता, शब्द तथा अर्थ का संबंध—ये सब विषय काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उतने ही आकर्षक, गवेषणा-पूर्ण तथा महत्त्वशाली हैं, जितने एक वैयाकरण, दार्शनिक या भाषाशास्त्री के लिए।

वाणी तथा मन का संबंध

शब्द तथा अर्थ के संबंध पर विचार करते हुए हमें उसके मनः-शास्त्रीय पहलू पर सर्व प्रथम दृष्टिपात करना होगा। इस दृष्टि से शब्द (वाणी)[2] तथा मन का परस्पर क्या संबंध है यह समझना आवश्यक हो जाता है। वाणी वस्तुतः मन की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं को अभि-व्यक्त करती है। इस अभिव्यक्ति का वास्तविक आधार मन की वह स्थिति है, जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों का

---

१ "Without language, or something equivalent to it, there could only be as much of reason from experience, as can take place without the aid of general propositions."

—J. S. Mill: "A System of Logic"

B. IV. ch. III. Para 3.

२ इस परिच्छेद में यहाँ और अन्य कई स्थलों पर भी वाणी तथा मन का प्रयोग हमने व्यावहारिक अर्थ के अतिरिक्त 'शब्द' व 'अर्थ' के लिये भी किया है। वाणी का प्रयोग शब्द के लिये तो घटित हो ही जाता है तथा यास्क भी

विश्लेषण करना चाहते हैं। हम देख चुके हैं कि भारतीय दार्शनिकों में से कुछ ऐसे भी हैं, जो वाणी की उत्पत्ति मन से पूर्व मानते हैं। किंतु कई स्थानों पर मन का वाणी की अपेक्षा विशेष महत्त्व माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर बताया गया है कि एक बार मन तथा वाणी में विवाद हुआ कि उन दोनों में बड़ा कौन है। दोनों कहते थे, 'मैं बड़ा हूँ।" मन ने कहा, "सचमुच मैं तुम से बड़ा हूँ, क्योंकि तुम कोई भी ऐसी बात नहीं कहतीं, जो मुझे मालूम न हो, साथ ही तुम मेरी नकल करती हो। मैं तुम से बड़ा हूँ।" वाणी ने कहा, "मैं तुम से इसलिए बड़ी हूँ, कि जो कुछ तुम जानते हो उसे मैं सब को जनाती हूँ, सब तक पहुँचाती हूँ।" इसके बाद वे प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया।[१] छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक स्थान पर यही कहा गया है कि मन वस्तुतः वाणी से बड़ा है।[२] कौशातकी ब्राह्मण के अनुसार वाणी मन के अधीन है। जैसा कहा है, 'मेरा मन तो और जगह था, मैंने उस वस्तु को नहीं जाना', इस प्रकार ज्ञान से रहित वाणी किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं करा पाती।"[३] किंतु, बृहदारण्यक में यह भी बताया है कि मन वाणी से उद्भूत है। मन, वाणी तथा प्राण ( वायु ) के पारस्परिक संबंध को रूपक के द्वारा व्यक्त करते हुए वहाँ कहा गया है—"उस वाणी ( गौ ) का प्राण बैल है तथा मन बछड़ा है।"[४] इन सब स्थलों को देखने से यद्यपि मन तथा वाणी के महत्त्व के विषय में दो मत मिलते हैं, तथापि मन ( अर्थ ) और वाणी ( शब्द ) के विषय में दोनों मतों का यही निष्कर्ष है कि इनमें परस्पर गहरा संबंध है। यास्क के

---

निरुक्त ( १—११ ) में इन्हें पर्याय मानता है। 'मन' का प्रयोग जब 'अर्थ' के भाव का द्योतक है, तो वह 'स्थूल अर्थ' का बोधक न होकर, 'सूक्ष्म अर्थ' या 'मानसिक प्रतिकृति' ( Mental image ) का बोधक है।

१. शतपथ ब्रा० १, ४, ५, ८,

२. मनो वाव वाचो भूयः—( छा० उ० ७, ३, १ )

३. न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेद् अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहं एतान्नाम प्राज्ञासिष्यामि।—( कौ० ब्रा० उ० ३, ७ )

४. तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः।—( बृ० उ० ५, ८, १ )

टीकाकार दुर्गाचार्य ने यास्क के द्वारा वाणी के लिए प्रयुक्त 'व्याप्तिमत्त्व' की व्याख्या करते हुए कहा है कि मन में उत्पन्न ज्ञान को व्यक्त करने की इच्छा से ध्वनियंत्रों से वायु निकलता है, इस दशा में उच्चरित शब्द श्रोता के ज्ञान को व्याप्त करता है तथा अर्थ की प्रतिपत्ति होती है।[1]

शब्द व अर्थ दोनों एक ही वस्तु के दो अंग

शब्द तथा अर्थ के संबंध में, प्राचीन दार्शनिक दोनों को एक ही वस्तु के दो अंग मानते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में बताया है कि शब्द तथा अर्थ में कोई विशेष भेद न होकर स्वरूप-भेद है। इसी बात को वे यों कहते हैं—"एक ही आत्मा के भेद, शब्द और अर्थ अपृथक् होकर स्थित हैं।"[2] आधुनिक यूरोपीय विद्वान् भी शब्द तथा अर्थ को एक ही वस्तु के दो पहलू मानते हैं। इसी को मानते हुए जर्मन भाषाशास्त्री हुम्बोल्ट ने 'आभ्यंतरिक शब्द" की कल्पना की है, जो वस्तुतः अर्थ की मानसिक स्थिति है।[3]

---

१. शरीरे ह्यभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयान्तर्गताकाशप्रतिष्ठिता। तयोरभिधानाभिधेयरूपयोर्बुद्ध्योर्मध्येऽभिधानरूपतया शास्त्राभिमतविजिज्ञापयिषया पुरुषेण तदभिव्यक्तिसमर्थेन स्वगुणभूतेन प्रयत्नेनोदीर्यमाणः शब्दः उरःकण्ठादिवर्णस्थानेषु निष्पद्यमानतया पुरुषार्थाभिधानसमर्थवर्णादिभावमापद्यमानः पुरुषप्रयत्नेन बहिर्विनिक्षिप्तोविनाशिनि व्यक्तिभावमापन्नः श्रोत्रद्वारेणानुप्रविश्य प्रत्याय्यस्य बुद्धिं सर्वार्थरूपां सर्वाभिधानरूपां व्याप्नोतीत्येव व्याप्तिमाञ्शब्दः। ( दुर्गाचार्य टीका — पृ० ४७ )

२. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ( वाक्य २, ३१ )

३. Der Ursprung der Sprache. ( P. 35 )

जिस तरह हुम्बोल्ट ने शब्द के "आभ्यंतर" तथा "बाह्य" दो भेद माने हैं, वैसे ही भर्तृहरि भी शब्द के व्यंग्य तथा व्यंजक दो भेद मानते हैं।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ ( १, ४४ )

इसी संबंध में एक प्रश्न यह भी उठता है कि शब्द तथा अर्थ के संबंध को किस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त किया जाय। मन ( अर्थ ), वाणी ( शब्द ) का उत्पादक है, या शब्द अर्थ का व्यंजक या ज्ञापक है। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ के संबंध में हम तीन वादों की कल्पना कर सकते हैं—"उत्पत्तिवाद", "व्यक्तिवाद' तथा "ज्ञप्तिवाद"। शब्द तथा अर्थ के संबंध में तीनों ही मत प्रचलित रहे हैं।

शब्दार्थ संबंध के विषय में तीन वादः– (क) उत्पत्तिवाद, (ख) व्यक्तिवाद, (ग) ज्ञप्तिवाद।

कुछ लोगों के मतानुसार शब्द अर्थ[1] से उत्पन्न होता है, दूसरों के मतानुसार वह अर्थ की व्यंजना करता है, तीसरों के मतानुसार वह अर्थ का ज्ञान करा देता है। शब्द की उत्पाद्यता के विषय में हमें ऋग्वेद में एक उल्लेख मिलता है, जहाँ बताया गया है कि "विद्वानों ने मन के द्वारा वाणी को बनाया।"[2] इसके प्रतिकूल दूसरा मत हमें महाभाष्य में मिलता है जिसके अनुसार शब्द अर्थ का व्यंजक माना जा सकता है। यद्यपि महाभाष्य में स्पष्टरूप से शब्द को अर्थ का व्यंजक नहीं माना गया है, तथापि वहाँ बताया गया है कि "शब्द वह है, जो कान से सुना जाता है, जिसका ग्रहण बुद्धि करती है, जिसका स्थान आकाश है तथा जो प्रयोग से अभिज्वलित होता है।"[3] यहाँ शब्द को ही अभिज्वलित ( व्यक्त ) माना गया है, अतः यह शंका हो सकती है कि शब्द व्यंग्य होगा, व्यंजक नहीं। जब हम महाभाष्यकार के वचनों की ओर देखते हैं, तो वहाँ हमें शब्द के विशेषण रूप में "बुद्धिनिग्राह्यः" पद मिलता है। ध्यान दिया जाय तो शब्द 'श्रोत्रोपलब्धि" तो हो सकता है, "बुद्धिनिग्राह्य" नहीं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा शब्द के अर्थ वाले अंश का ही ग्रहण हो सकता है। वस्तुतः भाष्यकार

---

१. यहाँ हम "अर्थ" शब्द का प्रयोग मन या मानसिक धारणा के अर्थ में कर रहे हैं, स्थूल अर्थ के लिए नहीं, इसे हम सूक्ष्म अर्थ भी कह सकते हैं।

२. यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ( ऋ० १०, ७१, २ )

३. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। ( महाभाष्य १, १, २ )

का भाव यह है कि जब ताली पीट कर ध्वनि करते हैं तब वह कान से तो सुनी जाती है, किंतु बुद्धि से उसका कोई भाव ग्रहण नहीं होता, अतः वह शब्द नहीं है। भाष्यकार यहाँ अर्थ को ही 'व्यक्त' (अभिव्वलित) मानते जान पड़ते हैं। इन दो मतों के अतिरिक्त तीसरा वह मत हैं, जिसके अनुसार वाणी अर्थ की ज्ञप्ति कराती है। शंकराचार्य ने एक स्थान पर बताया है कि वाणी मन का चरण है। जैसे गाय आदि अपने पैर को काम में लाते हैं, वैसे ही अर्थ ज्ञप्ति कराने के लिए मन शब्द का प्रयोग करता है। इसी से संबद्ध महाभाष्यकार की यह प्रसिद्ध पंक्ति मानी जा सकती है। "शब्द का प्रयोग अर्थ को व्यक्त करने के लिए होता है।"[1] 'पद' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में कई विद्वानों का यही ज्ञप्ति संबंधी मत पाया जाता है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य के टीकाकार उवट ने 'पद' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—"इससे अर्थ का गमन या ज्ञान होता है, अतः यह पद है।"[2] कहना न होगा कि जिस अर्थ में हम यहाँ 'शब्द' का प्रयोग कर रहे हैं, उस अर्थ में संस्कृत में 'पद' शब्द का प्रयोग होता है। पद तथा शब्द का साधारण भेद यह है कि शब्द केवल रूपमात्र का परिचायक है, तथा पद विभक्तियुक्त होता है।[3] अतः अर्थ प्रतीति में पद का विशेष महत्त्व है।

भारत की भाँति पश्चिम में भी शब्द तथा अर्थ के विषय में ऐसी ही विभिन्न धारणाएँ पाई जाती रही हैं। लातो के मतानुसार "वाणी वह स्रोत है, जो मन से मुख के द्वारा निःसृत होती है।" लातो के इस मत में उत्पत्तिवाद की झलक मिलती है। दायनोसियस के मत में 'व्यक्तिवाद' के चिह्न मिलते हैं। "वाक्य गद्यात्मक वाणी का बन्ध है, जिससे पूर्ण विचार व्यक्त होता है।" अरस्तू भी संभव है इसी 'व्यक्तिवाद' को मानता है। वह बताता है कि शब्द आत्मा के अनुभवों के

---

१. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः—(महाभाष्य)

२. पद्यते गम्यते ज्ञायते अनेनार्थं इति पदम्

—(वाजसनेयी प्रातिशाख्य टीका)

३. सुप्-तिङन्तं पदम्।

प्रतीक हैं ।[1] शब्दों के ज्ञापक होने के विषय में भी यूरोपीय दार्शनिकों के मत पाये जाते हैं। ऐसा कोई शब्द नहीं, जो किसी न किसी भाव का बोध न कराता हो। डॉ॰ बॉक्स ने एक स्थान पर इसी बात को कहा है—"समस्त वाणी भावों का वहन करने के लिए होती है।"

शब्द तथा अर्थ के संबंध पर विचार करते समय एक प्रश्न यह भी उठता है कि शब्द तथा अर्थ में कोई वास्तविक संबंध है, अथवा केवल प्रतीकात्मक। प्रतीकात्मक संबंध से हमारा तात्पर्य यह है कि शब्द उस अर्थ का प्रतीक मात्र है, और उसमें उस भाव का बोधन कराने की पूर्ण क्षमता नहीं है,[2] जो किसी वस्तु विशेष के प्रति मन में उत्पन्न होती है। केवल लौकिक व्यवहार की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार उस वस्तु का बोधन कराने के लिए शब्दों को प्रतीक रूप में ग्रहण किया जाता है। प्रसिद्ध भारतीय उदाहरण को लेकर हम इस प्रकार कह सकते हैं कि 'घट' शब्द में यद्यपि अपने आप में 'कम्बु-ग्रीवादिमत्त्व' ( शंख जैसे गले वाला पात्र होना ) जैसे मन में उत्पन्न होने वाले भाव को द्योतित करने की क्षमता नहीं है, तथापि लौकिक व्यवहार के लिए इस शब्द को उस वस्तु का प्रतीक मान लिया गया है। शब्द की प्रतीकात्मकता का विवेचन करते हुए हम पहले यह समझ लें कि ऐसे संबंध में शब्द, भाव तथा वस्तु ( अर्थ ) ये तीन बातें पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए हम 'पुस्तक' को लेते हैं। इनमें एक तो 'पुस्तक' वस्तु है, जो कागज से बनी हुई पढ़ने की चीज है, और जब जब हम 'पुस्तक' शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसका अर्थ लेते हैं। दूसरा 'पुस्तक' शब्द स्वयं एक सत्ता रखता है। तीसरे, पुस्तक शब्द का प्रयोग करते समय वक्ता के मन में, तथा सुनते समय श्रोता के मन में

शब्द तथा अर्थ में प्रतीकात्मक संबंध

---

१. All speech is intended to serve for the communication of ideas.

२. "Words, as every one knows, 'mean' nothing by themselves, although the belief that they did... was equally universal."

—"The Meaning of Meaning." Ch. I. P. 9-10

जो भाव उठते हैं, वे भी इस विषय में अलग अस्तित्व रखते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है कि— 'जब शब्दों का उच्चारण होता है, तो उनका संबंध तीन रूपों में पाया जाता है, एक तो ज्ञान ( भाव ), दूसरा वक्ता के द्वारा अभिप्रेत बाह्य पदार्थ ( वस्तु ), तीसरा शब्द का स्वरूप। इन्हीं तीन रूपों में हमें प्रतीति होती है।"[1]

शब्द की प्रतीकात्मकता के विषय में ऑग्डन तथा रिचर्ड्स का मत

भाव तथा वस्तु ( अर्थ ) में परस्पर क्या भेद है? भाव ही वह वस्तु है, जिसकी प्रतीति कराई जाती है, तथा जिसका उल्लेख किया जाता है। किंतु फिर भी हम यह कहते हैं कि प्रतीक ( शब्द ) अर्थों का वहन करते हैं। इसी बात को एक सुंदर दृष्टांत से स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध आंग्ल लेखकद्वय ऑग्डन तथा रिचर्ड्स ने लिखा है—"मान लीजिये एक वाक्य है, "माली दूब काट रहा है"। जब हम वास्तविक अर्थ ( घटना या स्थिति ) से इसका मेल मिलाते हैं, तो हम देखते हैं कि दूब काटने का काम माली नहीं कर रहा है, अपितु दूब को काटने का काम 'दूब काटने का यंत्र' ( लॉन-मोअर ) करता है। इस बात को जानते हुए भी हम कहते यही हैं कि 'माली दूब काट रहा है।' ( इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग का कारण हमारे भाव हैं, जिनका उदय मन में हो रहा है। हमारे मन में इस वाक्य के कहते समय ये भाव उठ रहे हैं, कि माली साधन होने पर भी जड़ यंत्र का संचालक होने के कारण विशेष महत्त्व रखता है )। ठीक इसी तरह यह जानते हुए भी कि शब्दों का साक्षात् संबंध भावों से है, हम यही कहते हैं कि प्रतीक ( शब्द ) घटनाओं का उल्लेख करते हैं, तथा तथ्यों का वहन करते हैं।"[2]

---

१. ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां संबंधः समवस्थितः॥ ( वाक्यपदीय ३, ३, १ )

२. "But just as we say that the gardener mows the lawn when we know that it is the lawn-mower which actually does the cutting, so though we know that the direct relation of symbols is with thought, we also say that symbols record events and communicate facts."

—"The Meaning of Meaning." Ch. I P. 9.

इस प्रकार शब्द, भाव तथा वस्तु में दो संबंधों की कल्पना की गई है। एक संबंध शब्द तथा भाव में, दूसरा भाव तथा वस्तु में। भाव तथा शब्द का संबंध एक आकस्मिक संबंध ( Casual relation ) है, क्योंकि जिस प्रतीक ( शब्द ) का हम प्रयोग करते हैं, उसका आधार अंशतः वह प्रतिपाद्य ( भाव ) है, तथा अंशतः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। भाव तथा वस्तु में भी परस्पर संबंध है। यह संबंध कभी मुख्य होता है, कभी गौण। उदाहरण के लिए भाव तथा वस्तु का संबंध अभिधा में मुख्य होता है, किंतु लाक्षणिक प्रयोगों में गौण। प्रतीक ( शब्द ) का वस्तु ( अर्थ ) से कोई वास्तविक मुख्य संबंध नहीं, किंतु गौण संबंध है, जिसके अनुसार उसका प्रयोग अर्थ - बोधन के लिए होता है। इसी बात को एक रोचक दृष्टांत में उन्हीं लेखकों ने यों व्यक्त किया है:—

"इस पर विशेष महत्त्व देना अनावश्यक होगा कि 'कुक्कुर' शब्द तथा गलियों में घूमते हुए पशुविशेष में कोई मुख्य संबंध नहीं है। इनमें संबध है, तो केवल यही, कि जब हम उस पशुविशेष का बोधन कराना चाहते हैं, तो इस शब्द का प्रयोग करते हैं।"[१]

किंतु, इसका यह तात्पर्य नहीं, कि किसी भी भाव का बोधन कराने के लिए चाहे किसी प्रतीक का प्रयोग किया जा सकता है। यदि कोई 'कुक्कुर' के लिए "गौः" प्रतीक का प्रयोग करना चाहे, तो ठीक न होगा। इसीलिए प्रतीकों को दो प्रकार का माना जा सकता है, सच्चे प्रतीक ( योग्य प्रतीक ) तथा झूठे प्रतीक ( अयोग्य प्रतीक )। शब्द वह प्रतीक है, जो योग्य हो। अतः पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति कराने की क्षमता योग्य प्रतीक में ही है। नैयायिकों के द्वारा शब्द तथा वाक्य के जो तीन संबंध ( आकांक्षादि ) माने गये हैं, उनमें एक संबंध

---

१. It may appear unnecessary to insist that there is no direct connection between say 'dog', the word, and certain common objects in our streets, and that the only connection which holds is that which consists in our using the word when we refer to the animal. —ibid Ch. I P. 12.

'योग्यता' भी है ।[1] इसलिए "आग से सींचता है" ( अग्निना सिंचति ) इस वाक्य में सच्ची प्रतीकात्मकता नहीं। सच्चे प्रतीक ( शब्द ), भाव तथा उसके द्वारा अभिप्रेत वस्तु के पारस्परिक संबंध को ऑग्डन एवं रिचर्ड्स ने निम्न रेखाचित्र के द्वारा व्यक्त किया है:—
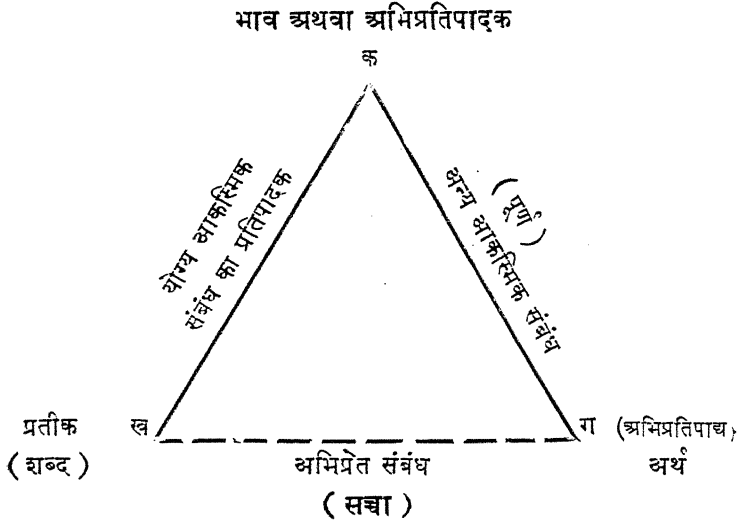
इस चित्र में 'क', त्रिकोण क ख ग का शीर्ष ( Vertex ) है; यह 'भाव' का सूचक है जिसका शब्द, भाव तथा वस्तु के परस्पर संबंध में उतना ही महत्त्व है, जितना त्रिकोण में शीर्ष का । 'क' का 'ख' ( प्रतीक शब्द ) से साक्षात् संबंध है, जो क ख रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार 'क' का 'ग' ( प्रतिपाद्य अर्थ ) से भी साक्षात् संबंध है, जो क ग रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है । 'ख' ( शब्द ) तथा ग' ( अर्थ ) में संबंध तो है, किंतु वह साक्षात् संबंध नहीं है, यही कारण है कि इस संबंध को ख ग इस त्रुटित रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है।

---

१. "आकांक्षायोग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणप्रयोगाणां······"

( काव्यप्रकाश उ० २ )

( साथ ही ) 'योग्यतार्थगताकांक्षा शब्दनिष्ठानुभाविका"

( शब्दशक्तिप्रकाशिका पृ० ११ )

इसी प्रतीकात्मकता के सिद्धांत से उस मत का संबंध है, जिसके अनुसार शब्द-समुदाय में समस्त भावों का बोधन कराने की क्षमता नहीं है। शब्दों के द्वारा कतिपय भावों का ही बोध कराया जा सकता है। यही कारण है कि कभी-कभी शब्द के साथ साथ हमें चेष्टादि का भी प्रयोग करना पड़ता है। यूरोपीय विद्वान् लॉक ने इसी बात को यों बताया है:—

शब्द समस्त भावों का बोध कराने में असमर्थ

'यदि प्रत्येक भावविशेष का बोध कराने के लिए अलग से शब्द होता, तो शब्द असंख्य होने चाहिए।''[१]

यास्क ने भी सारे भावों का बोध कराने की शब्दों की अक्षमता को पूरा समझा था। उन्होंने निरुक्त में इस बात पर प्रकाश डालते हुए कहा है:—"( यदि ) जितने भावों का प्रयोग किया जाता है, उतने ही नाम होते तो "थूणी" ( स्थूणा ) को "दरशया" ( खड्डे में रहने वाली ) तथा "संजनी" ( कड़ी को रोकनेवाली ) भी कहना चाहिए।"[२] इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार दुर्गाचार्य ने दूसरा दृष्टांत यह दिया है कि "किसी व्यक्ति का अभिधान, उसके प्रमुख कार्य के आधार पर ही होता है, चाहे वह अन्य कार्य भी करता हो। एक बढ़ई अन्य कार्य भी करता है, किंतु उसका अभिधान उन अन्य कार्यों के आधार पर नहीं होता।"[३] शब्द की इसी अपूर्णता पर प्रकाश डालते

१. "If every particular idea that we take in should have a distinct name, names must be endless."

—Locke.

"An Essay on the Human Understanding."
Book III. Ch. I. P. 321

२ यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्, तत्रैव स्थूणा दरशया वा सञ्जनी च स्यात्''—निरुक्त १. १२.

३ पश्यामोनेकक्रियायुक्तानामप्येकक्रियाकारितोनामधेयप्रतिलम्भ स्तद्यथा तक्षा परिव्राजक इत्येतान्येवोदाहरणानि। तक्षा हि अन्यान्यपि कर्माणि करोति। न पुनस्तस्य तत्कृतो नामधेयप्रतिलंभोस्ति।

—दुर्गाचार्यकृत टीका पृ० ११०—११.

हुए विश्वनाथ ने भी अपने "साहित्यदर्पण" में एक स्थान पर बताया है कि यदि "गौः" शब्द से "गच्छतीति गौः" (जो जाता है वह गो है) इस व्युत्पत्ति वाले अर्थ में ही मुख्यार्थ प्रतिपत्ति मानी जायगी तो "गौः शेते" (गौ सोती है) आदि स्थलों पर लक्षणा शक्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि लेटे हुए सास्नादिमान् पशुविशेष के लिए "गौः" (चलता हुआ) का प्रयोग साक्षात्प्रतिपादक शब्द न होगा।[1]

**अभाववाची शब्द और अर्थप्रतीति**

ऐसे भी शब्द देखे जाते हैं, जो किन्हीं अभावात्मक वस्तुओं का बोध कराते हैं, 'शशविषाण', 'वन्ध्यापुत्र', 'खपुष्प', आदि। इन प्रयोगों में भाव तथा अभिप्रेत वस्तु में बड़ा भेद है। ऐसे स्थलों में अभिप्रेत वस्तु की स्थिति ही नहीं है। अरस्तू ने एक एक स्थान पर इसी तथ्य का संकेत करते हुए कहा था—"जो वस्तु है ही नहीं, उसके विषय में कोई भी कुछ नहीं जानता किंतु उस शब्द से जो अर्थ ज्ञात होता है, उस अर्थमात्र का ही बोध होता है। उदाहरण के लिए जब मैं 'गोटस्टेग' के बारे में कहता हूँ, तो यह जानना असंभव है कि 'गोटस्टेग' क्या वस्तु है।"[2] इतना होते हुए भी अभावात्मक अर्थ को अर्थ-कोटि में माना गया है। न्याय तथा वैशेषिक दार्शनिकों ने अभाव को अलग से पदार्थ मान कर इससे अर्थ प्रतीति भी मानी है।[3] 'घटाभाव', 'पटाभाव' आदि शब्दों की वहाँ स्वतंत्र शब्दों के रूप में सत्ता है। इसी कारण वहाँ घट से भिन्न वस्तु 'घटाभाव'

---

१ "व्युत्पत्तिलभ्यार्थस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्।"
—सा० द० परि० २.

२. "As for that which is non-existent, no one knows what it is, but only what the word or formula means—as for example, when I speak of a Goatstag, but what a Goatstag is, it is impossible to know."—Aristotle.

३ "द्रव्य–गुण–कर्म–जाति–समवाय–विशेष–अभावाः सप्त पदार्थाः।"—तर्कसंग्रह (साथ ही) घटप्रतियोगी घटाभावः (वही, दीपिका टीका)

मानी गई है, यद्यपि वह घट का प्रतियोगी है।[१] शब्द तथा अर्थ में वैशेषिकों के मत से अविच्छिन्न संबंध नहीं है, क्योंकि किसी के अभाव में "वह नहीं है" ऐसा भी प्रयोग पाया जाता है।[२] न्याय में अभाव को महत्ता देते हुए कहा गया है कि किन्हीं लक्षित पदार्थों में ऐसी भी बातें पाई जाती हैं, जो लक्षण से भिन्न हैं। इसलिए इससे वे वस्तुएँ भी सिद्ध हो ही जाती हैं, जो लक्षण के अंतर्गत नहीं आतीं, और वे वस्तुएँ भी सम्यज्ञान के विषय बन सकती हैं।[3] इसी से कुछ मिलता जुलता बौद्धों का 'अपोह' सिद्धांत है। जब वे किसी पदार्थ को किसी शब्द से प्रतिपन्न कराते हैं, तो अन्य वस्तुओं का निराकरण कर उस वस्तु को रहने देते हैं। उनके मतानुसार शब्द केवल 'अभाव' (अपोह) का ही बोधन कराते हैं। जैसे 'गौः' शब्द से बौद्ध "गौ से भिन्न समस्त पदार्थों का निराकरण" ( अतद्‌व्यावृत्तित्वम् ) अर्थ लेंगे।

शब्द में संकेत ग्रह, जाति का या व्यक्ति का

शब्द सर्वप्रथम वस्तुसामान्य ( जाति ) की प्रतीति कराता है या वस्तु विशेष ( व्यक्ति ) की इस विषय पर भी दार्शनिकों ने बड़ा विचार किया है। इस संबंध में हमारे यहाँ कई भिन्न भिन्न मत प्रचलित रहे हैं। मीमांसकों के मतानुसार शब्द से केवल 'जाति' की प्रतीति होती है, व्यक्ति का बोध 'आक्षेप' ( अनुमान या अर्थापत्ति प्रमाण ) के द्वारा कर लिया जाता है। नैयायिक 'जाति विशिष्ट व्यक्ति' में शाब्दबोध मानते हैं। एक के मत में 'गाय' का अर्थ 'गाय-पन' है, दूसरे के मत में 'गाय-पन वाली गाय'। वैयाकरणों ने 'उपाधि' में अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य ( व्यक्ति ) इन चारों के सम्मिलित रूप में संकेत माना है। इस विषय का विशद विवेचन हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

---

१ 'प्रतियोगी' शब्द के न्याय में दो अर्थ होते हैं—( १ ) विरोधी ( २ ) सदृश; प्रथम का उदाहरण 'घटप्रतियोगी घटाभावः', दूसरे का 'मुखप्रतियोगी चन्द्रः'।

२ असति नास्तीति च प्रयोगात्। ( वैशे० सू० ७, २, १७ )

३ "लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वात् अलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः" ( न्याय सू० २, ७६ )

शब्द समूह के रूप में, अर्थात् वाक्य बनकर, अर्थबोध कराता है, अतः वाक्य के विषय में भी कुछ समझ लेना ठीक होगा। महाभाष्यकार के मतानुसार वाक्य शब्दों का वह समूह है, जो पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता हो। भर्तृहरि के मत से वाक्य वह है, जो एक ही क्रिया के द्वारा अभिहित अर्थ की प्रतीति कराता हो।[1] इस दृष्टि से भर्तृहरि के मत से वाक्य में क्रिया का होना अनिवार्य है। अरस्तू के मतानुसार वाक्य में क्रिया आवश्यक नहीं। वह कहता है कि बिना क्रिया का भी वाक्य हो सकता है।[2] साहित्यदर्पणकार ने बताया है कि वाक्य वह शब्द-समूह है, जिसमें योग्यता, आकांक्षा तथा सन्निधि हो।[3] योग्यता, आकांक्षा तथा सन्निधि का विशद विवेचन तात्पर्य वृत्ति के संबंध में चतुर्थ परिच्छेद में किया जायगा। वाक्य के अतिरिक्त महावाक्य भी माना जा सकता है। यह वाक्यों का वह समूह है, जो एक ही उद्देश्य का बोध कराता है। रामायण, रघुवंश, महाभारत आदि इसके उदाहरण हैं। साहित्यदर्पण के आंग्ल टीकाकार वेलेन्टाइन ने महावाक्य के विषय में विचार करते समय इसी से मिलता जुलता अरस्तू का मत भी हमें दिया है। अरस्तू के मत में भी वाक्य दो प्रकार के हैं। एक का उदाहरण 'मनुष्य की परिभाषा'

शब्दसमूह के रूप वाक्य एवं महावाक्य

---

१ वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्...तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते ॥

( वा० का० २. ३२६–२७ )

२. "And a sentence is a composite significant sound, of which certain parts of themselves signify something, for not every sentence is composed from nouns and verbs, but there may be a Sentence without verbs."—Aristotle : Poetics Ch. XX P. 450.

३ वाक्यं स्यात् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ॥

—सा० द० २ परिच्छेद

( मनुष्य ज्ञानशील प्राणी है ) वाला वाक्य है, दूसरे का उदाहरण 'इलियड' (होमर का महाकाव्य ) ।[1]

इस विषय को समाप्त करने के पूर्व शब्द के भौतिक स्वरूप पर कुछ कह देना आवश्यक होगा, क्योंकि इसके बिना विषय अधूरा रह जायगा। भारतीय दार्शनिकों ने शब्द को गुण माना है, तथा यह आकाश नामक तत्त्व का गुण है। जब कोई व्यक्ति शब्द का उच्चारण करता हैं, तो आकाश में उसकी लहरें फैलती हैं। ये लहरें केवल एक ही दिशा में न जाकर चारों ओर फैलती हैं। इसी को स्पष्ट करने के लिए भारतीय दार्शनिकों ने 'कदम्बमुकुलन्याय' तथा 'वीचि-तरंगन्याय' का आश्रय लिया है।[2] जिस प्रकार कदम्ब का मुकुल चारों ओर से विकसित होता हैं, तथा जिस प्रकार जल में तरंगें उत्पन्न होकर चक्राकार घूमती हुई सभी ओर जाती है, उसी प्रकार आकाश का शब्द नामक गुण भी चारों ओर व्याप्त हो जाता है। 'वीचीतरंगन्याय' एक और बात की ओर भी संकेत करता है। जिस प्रकार जल में एक लहर से दूसरी लहर निकलती है तथा अंतिम जाकर तट से टकराती है, उसी प्रकार शब्द के उच्चरित होने पर, उससे दूसरा, तीसरा, चौथा ··· इस प्रकार शब्दों की उद्भूति होती जाती है। इसीलिए श्रोता जब किसी शब्द को सुनता है, तो वह ठीक वही शब्द नहीं है, जो कि वक्ता के ध्वनियंत्रों से उद्भूत हुआ था। शब्द के इसी गुण तथा इसी प्रकृति के आधार पर आधुनिक भौतिक-विज्ञान ने बड़ी उन्नति की है। शब्दों को दूर-दूर फेंकने वाले ध्वनिप्रेषक यंत्र ( ट्रांसमिटर ) तथा शब्दों का

शब्द का भौतिक स्वरूप

---

१. But a sentence is one in a twofold respects, for it is either that which signifies one thing, or that which becomes one from many by conjunction. Thus the Iliad, indeed is one by conjunction, but the definition of man is one because it signifies one thing." —Ibid P. 450.

२. सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥
वीचीतरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ (कारिकावली १६५–६६)

ग्रहण करनेवाले ध्वनिग्राहक यंत्र ( रिसीवर ) इसी सिद्धांत पर बने हैं। रेडियो यंत्र भी इसी सिद्धांत के अनुसार बना है। यदि हम रेडियो के रिसीवर की सुई को उसी तरंग पर कर दें, जिस पर कोई ध्वनि या शब्द विशेष यात्रा कर रहा है, तो हम उस शब्द को पकड़ लेते हैं। शब्द की गति बड़ी तेज है। विश्व में शब्द से अधिक द्रुतगतिवाला केवल मन ही है। शब्द की द्रुतगति के विषय में आधुनिक विज्ञान का मत है कि शब्द को उत्पन्न करनेवाला उसे सब के बाद सुनता है। उदाहरण के लिए, यदि मैं 'घट' शब्द का उच्चारण करता हूँ, तो यह शब्द सब से पहले समस्त विश्व में फैल जायगा, उसके बाद मेरी कर्ण-शष्कुली के द्वारा गृहीत होकर सुनने में आयगा। शब्द के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का एक मत वह भी है, जो मीमांसकों के "नित्य-वाद" से मिलता है। उनके अनुसार शब्द 'नित्य' है, तथा उच्चरित होने के बाद वह शब्द कभी विनष्ट नहीं होता, अपितु वह आकाश ( ईथर ) में घूमा करता है। इस मत को यहाँ तक विस्तृत किया गया है कि अतीत काल में जितनी ध्वनियाँ, जितने शब्द उच्चरित हुए हैं, वे सब अभी भी आकाश में विद्यमान हैं। वैज्ञानिक इस गवेषणा में व्यस्त हैं कि किसी ऐसे यंत्र का आविष्कार किया जाय, जिससे इन ध्वनियों का ग्रहण हो सके।

शब्द नित्य है या अनित्य, इस विषय को लेकर भारतीय दर्शन में बड़ा वाद-विवाद चला है। मीमांसकों के मतानुसार शब्द नित्य है,

शब्द के विषय में, नित्यवाद, अनित्यवाद तथा नित्यानित्यवाद

उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। वेदों को मानव-जनित न मानने के कारण शब्दों को नित्य मानना आवश्यक था। नैयायिकों ने मीमांसकों के 'नित्यवाद' का खंडन किया है। उनके अनुसार शब्द नित्य नहीं, अपितु अनित्य है। शब्द मुख आदि के द्वारा उत्पन्न होता है, अतः कार्य होने के कारण, और कार्यों की भाँति वह भी अनित्य है, क्योंकि विश्व में प्रत्येक कार्य ( जैसे मिट्टी से बना घड़ा ) अनित्य होता है।[1] वैयाकरणों ने मीमांसकों तथा नैयायिकों दोनों का खंडन करते हुए एक तीसरे ही मत की स्थापना की है। वैयाकरणों के इस मत को हम

---

१. "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्"—तर्कभाषा।

'नित्यानित्यवाद' कह सकते हैं। इन्होंने शब्दों को दो कोटियों में विभक्त किया है। एक शब्द नित्य है, दूसरा अनित्य है। इन्हीं शब्दों को ध्वन्यात्मक शब्द तथा वर्णात्मक शब्द कहा जाता है।[1] वैयाकरणों के मतानुसार ध्वन्यात्मक शब्द (स्फोट) नित्य है, तथा वर्णात्मक शब्द अनित्य है। वर्णात्मक शब्द का ही वस्तुतः उच्चारण होता है, इसी का लिखने-पढ़ने में लौकिक व्यवहार होता है। ध्वन्यात्मक शब्द तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वैयाकरणों ने इसी वाणी की परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी चार अवस्थायें मानी हैं। पीछे के समस्त विद्वान् ये चार अवस्थायें मानते हैं, पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी इन तीन भेदों को ही माना है, वे लिखते हैं:— "यह आश्चर्ययुक्त व्याकरणशास्त्र वैखरी, मध्यमा तथा पश्यंती के अनेक भेदों में विभक्त वाणी का ही परम पद है।"[2] ऋग्वेद में वाणी की चार अवस्थायें स्पष्टरूप में मानी गई हैं:—"ज्ञानी विद्वान् वाणी के चार परिमित पदों (परा, पश्यंती, मध्यमा, और वैखरी) को जानते हैं। इनमें से तीन तो गुहा में स्थित होने के कारण कोई भाव इंगित नहीं करतीं, मनुष्य चौथी (वैखरी) का उच्चारण करते हैं।"[3] मनुष्य के मूलाधार से, भाव का बोधन कराते समय व्यान वायु उठता है। यही वायु भिन्न-भिन्न स्थितियों तथा अवस्थाओं में होते हुए नाद को व्यक्त करता है। पहले-पहल नाद की स्थिति मूलाधार में (परा), फिर नाभि में (पश्यंती), फिर हृदय में (मध्यमा) होती है, और सब के

---

१. वस्तुतः वैयाकरणसिद्धांत में 'स्फोट' अखंड तथा नित्य है, अतएव शब्दार्थ संबंध की नित्यता के विचार में 'बौद्धार्थ' को लेकर ही शब्द-अर्थ का संबंध नित्य माना है। किंतु अखंड स्फोट से कार्यनिर्वाह न होने से पद-पदार्थ-प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की कल्पनामूलक ही अनित्यता है। इस प्रकार वर्णात्मक शब्द अनित्य हो जाता है।

२. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यंत्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥ (वाक्यपदीय १, १४४)

३. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयंति तुरीयां वाचं मनुष्या वदंति ॥
—(ऋग्वेद १, १६४, ४५)

अंत में वह ( नाद ) गले से ( वैखरी ) उच्चरित होता है। वाणी की इसी अंतिम अवस्था की हमें स्पष्ट प्रतीति होती है। योगी को मध्यमा तथा पश्यंती का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, किंतु परा तो स्वयं नाद ब्रह्म है। यही परा ध्वन्यात्मक वर्ण या स्फोट है। स्फोट का विशेष विवेचन हम ध्वनि तथा स्फोट का संबंध बताते हुए आगे करेंगे।

सार्थक शब्द के तीन प्रकार—प्रकृति, प्रत्यय एवं निपात

यह सार्थक शब्द कतिपय भारतीय विद्वानों के मतानुसार चार प्रकार का होता है—प्रकृति, प्रत्यय, निपात, और उपसर्ग। यास्क ने भी नाम, आख्यात, निपात तथा उपसर्ग ये चार ही प्रकार माने हैं। ऋग्वेद के भी एक प्रकरण के[1] उद्धरण में महाभाष्यकार पतंजलि ने सारे मंत्र को व्याकरणशास्त्र पर घटाते हुए 'चत्वारो श्रृंगाः' ( इस बैल के चार सींग हैं ) इसका अर्थ 'नाम, आख्यात, निपात तथा उपसर्ग ही किया है।[2] नैयायिकों ने शब्द को तीन ही प्रकार का माना है—प्रकृति, प्रत्यय, तथा निपात।[3] प्रकृति वह शब्द है जो किसी अर्थ की प्रतीति कराने में हेतु हो तथा अपने द्वारा अभिप्रतिपाद्य अर्थ का बोधन कराने में निश्चित हो।[4] उदाहरण के लिए "घट", "पट" शब्दों में यदि कोई प्रत्यय भी लगा दिया जाय तो वे पहले अपने प्रतिपाद्य पदार्थ को बोधित कर फिर अन्वय के द्वारा कर्तृत्व या कर्मत्व का बोध कराते हैं। प्रत्यय वह शब्द है, जो स्वयं

---

१. चत्वारो श्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे मूर्धा सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥
—ऋग्वेद

२. चत्वारि श्रृंगाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः।
—( महाभाष्य १, १, १ )

३. प्रकृतिः प्रत्ययश्चेति निपातश्चेति स त्रिधा।
—( शब्द-शक्ति प्र० कारिका ६, पृ० २९ )

४. स्वोपस्थाप्ययदर्थस्य बोधने यस्य निश्चयः।
तत्त्वेन हेतुरथवा प्रकृतिः सा तदर्थिका॥
—( वही का० ८, पृ० ४१ )

अपने आप में किसी अर्थ का बोधन कराने में असमर्थ है। वह तभी किसी अर्थ का बोध कराता है, जब किसी दूसरे अर्थ ( प्रकृत्यर्थ ) से युक्त होता है। अतः प्रत्यय का अर्थ तभी प्रतीत होता है, जब वह किसी अन्य शब्द से संबद्ध होकर वाक्यादि में प्रयुक्त हो।[१] यह प्रत्यय सुप् ( कारक ), तिङ्, कृदंत, तद्धित चार प्रकार का माना गया है। प्रकृति तथा प्रत्यय का परस्पर भेद बताने के लिए हम यह उदाहरण ले सकते हैं:—"राम की पुस्तक", यहाँ 'राम की' इसमें दो शब्द हैं, एक प्रकृति तथा दूसरा प्रत्यय। "राम" प्रकृति है तथा अपने आप में अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है, "का" सुप् ( कारक ) प्रत्यय है, तथा यह तभी अर्थ-व्यक्ति करा सकता है, जब किसी प्रकृति के अर्थ से संबद्ध हो। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में इस बात को बताते हुए कहा है "एक शब्द के अर्थ का दूसरे शब्द के अर्थ से अन्वयबोध कराते समय, जिन शब्दों की आवश्यकता होती है, उनमें प्रथम प्रकृति तथा द्वितीय प्रत्यय होता है।"[२] यहाँ दिये गये उदाहरण में राम' तथा 'पुस्तक' में परस्पर अन्वयबोध कराने के लिये 'राम' तथा 'की' इन दो शब्दों की आवश्यकता हुई है, इनमें प्रथम ( राम ) प्रकृति है, द्वितीय ( की ) प्रत्यय।

नैयायिकों द्वारा सम्मत तीसरा शब्द निपात है। "जो शब्द किसी भी अन्य अर्थ के साथ तादात्म्य करके, ( जैसे ऊपर के उदाहरण में 'राम' और 'की' में तादात्म्य पाया जाता है ) अपना अन्वयबोध कराने में समर्थ नहीं, वह निपात है।"[३] समुच्चयादि बोधक अव्ययादि तथा अन्य प्रकार के संबंधबोधक अव्ययादि का ग्रहण निपात के ही अंतर्गत होता है। ये तीनों ही प्रकार के शब्द अर्थ-प्रतीति तभी करा पायेंगे, जब वाक्य में प्रयुक्त हों, इनमें अपने आप में शाब्दबोध

---

१. इतरार्थानवच्छिन्ने स्वार्थे यो बोधनाक्षमः।
तिङ्ङर्थस्य निभाद्यन्यः स वा प्रत्यय उच्यते॥
—( वही का० १०, पृ० ५१ )

२. यः स्वेतरस्य यस्यार्थे स्वार्थस्यान्वयबोधने।
यदपेक्ष स्तयोरेकः प्रकृतिः प्रत्ययः परः॥ —वाक्यपदीय

३. "स्वार्थे शब्दान्तरार्थस्य तादात्म्येनान्वयाक्षमः"
—( शब्द श० प्र० का० ११ पृ० ५३ )

कराने की सामर्थ्य नहीं है, ऐसा नैयायिकों का मत है। इसी बात को जगदीश ने कहा है:—

"वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द के ज्ञान से ही शाब्दबोध होता है कोरे शब्द के ही जान लेने से नहीं।"[१]

एक शब्द से एक ही निश्चित भाव का बोध न होकर कई भावों का बोध होता है। हम देखेंगे, कि इसीलिए शब्द की एक से अधिक शक्तियाँ मानी जाती हैं, जिनके द्वारा वह शब्द विभिन्न अर्थों का बोध कराता है। एक "बैल" (गौः) शब्द ही "सास्नादिमान् पशुविशेष" (वाच्यार्थ), "पुरुषविशेष" (लक्ष्यार्थ) तथा "मूर्खत्व" (व्यंग्यार्थ) का बोधन करा सकता है, और प्रत्येक दशा में उसकी एक विशेष शक्ति होगी। एक दशा में वह सीधा अर्थ सूचित करता है, दूसरे तथा तीसरे में टेढ़ा। इन्हीं संबंधों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना व्यापार माना गया है। इनका विशद विवेचन हम अगले परिच्छेदों में करेंगे। इन शक्तियों में से कुछ विद्वान् केवल दो ही शब्दशक्तियाँ मानते हैं। मीमांसकों के मतानुसार अभिधा व लक्षणा दो ही शब्द शक्तियाँ हैं। यही नैयायिकों को भी सम्मत है। भाट्ट मीमांसक तथा नैयायिक तात्पर्य वृत्ति नाम की एक शक्ति जरूर मानते हैं, जो वस्तुतः शब्द की शक्ति न होकर वाक्य की शक्ति है। प्राचीन वैयाकरण स्पष्ट रूप से दो ही शब्दशक्तियाँ मानते हैं, नव्य वैयाकरण अवश्य व्यंजना को अलग से शब्दशक्ति मानने के पक्ष में हैं। भरत, भामह,[२] दंडी,

उपसंहार

१. वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
संपद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥
—(वही, कारिका १२)

२. भामह तो अपने 'काव्यालंकार' में व्यंग्यव्यंजक - संबंध को लेकर चलने वाले, वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत का स्पष्ट रूप से खंडन करते ही हैं, जिसको व्यजना शक्ति आधार बना कर चली है। अतः भामह को 'व्यंजना' जैसी शक्ति अभिमत हो ही कैसे सकती थी। वे 'स्फोट' के विषय में कहते हैं:—

शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभःकुसुममस्तीति श्रद्दध्यात् कः सचेतनः॥
—(काव्यालंकार ६, १२)

वामन आदि प्राचीन आलंकारिकों ने यद्यपि शब्दशक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डाला है, तथापि यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वे भी अभिधा व लक्षणा इन दो शब्दशक्तियों को ही मानने के पक्ष में थे।

---

# द्वितीय परिच्छेद

## अभिधाशक्ति और वाच्यार्थ

शब्द की विभिन्न शक्तियाँ

हम देख आये हैं कि शब्द समुदाय में प्रत्येक भाव का बोध कराने की क्षमता न होने से, किसी भी भाव का बोध कराने के लिए हमें उन्हीं शब्दों को ग्रहण करना पड़ता है, जो व्यवहार में चल पड़ते हैं। शब्द जब अपने साक्षात्संकेतित अर्थ का बोध कराता है, तो उस अर्थ की प्रतीति अभिधा व्यापार के द्वारा होती है, तथा अर्थ अभिधेय या वाच्य कहलाता है।[1] यदि कोई शब्द अपने मुख्यार्थ का बोध न कराकर उससे संबद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है, तो वहाँ लक्षणा व्यापार होता है, तथा उससे प्रतीत अर्थ लक्ष्य (लाक्षणिक अर्थ) कहलाता है। काव्य की दृष्टि से तीसरे प्रकार का वह व्यापार माना जाता है, जहाँ प्रकरणवश शब्द वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ की प्रतीति मुख्य रूप से न कराकर सर्वथा नवीन अर्थ को विशेष महत्त्व देता जान पड़ता है। यह व्यापार व्यंजना शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है, तथा इसका अर्थ व्यङ्ग्य या प्रतीयमान कहलाता है। तात्पर्य नामक चौथी शक्ति (वृत्ति), वस्तुतः शब्द की शक्ति न होकर वाक्य की शक्ति है, अतः उसका समावेश शब्दशक्तियों में उपचार रूप से ही किया जाता है। इस परिच्छेद में हम अभिधा पर, तथा आगामी परिच्छेदों में लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्ति पर भारतीय दार्शनिकों एवं आलंकारिकों के मतों का पर्यालोचन करते हुए इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी उल्लेख

---

१ शब्द वचन ते अर्थ कढ़ि, चढ़े सामुहै चित्त।
ते दोउ वाचक वाच्य हैं, अभिधा वृत्ति निमित्त ॥

—देवः काव्यरसायन (लेखक के पास की हस्तलिखित प्रति)

करेंगे। व्यंजना शक्ति साहित्य-शास्त्र से प्रमुखतः संबद्ध होने के कारण हमारे प्रबंध का वास्तविक विषय है, अतः उसका विशद विवेचन इस ग्रंथ के शेष परिच्छेदों में किया जायगा।

अभिधा एवं वाच्यार्थ संकेत

जिस शक्ति के द्वारा शब्द के साक्षात्संकेतित अर्थ की प्रतीति हो, वह शक्ति अभिधा कहलाती है और उससे युक्त शब्द वाचक।[1] उदाहरण के लिए "गौः" (गाय) शब्द 'सास्नादिमान् पशुविशेष" (वह पशु जिसके गल कम्बल है) का बोधक है। अतः यहाँ "गौः" शब्द में अभिधा व्यापार है, तथा यह शब्द "सास्नादिमान् पशुविशेष" इस वाच्यार्थ का वाचक है। वाचक शब्द सदा अपने वाच्यार्थ की ही प्रतीति कराता है। यही नहीं, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के पूर्व भी शब्द से सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, किंतु उसके पूर्णतः संगत न होने पर अर्थात् उसका बाध होने पर फिर दूसरे अर्थ का द्योतन होता है। अतः अभिधा शक्ति में "संकेत" का प्रमुख हाथ है। अब प्रश्न यह उठता है, कि इस संकेत को बनानेवाला कौन है? अमुक शब्द का अमुक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए इस बात का निर्णय सर्वप्रथम किसने किया है। भारतीय दार्शनिकों ने इस संकेत का आधार ईश्वरेच्छा माना है। उनके मतानुसार ईश्वर ने ही सृष्टि करते समय शब्दों तथा उनके साक्षात्संकेतित अर्थों एवं उनके मुख्य संबंध की स्थापना कर दी है। पारिभाषिक शब्दों के संकेत ग्रहण के विषय में उनका मत यह है कि उनका संकेत-ग्रहण ईश्वर की इच्छा पर निर्भर न होकर शास्त्रकारों की इच्छा पर है। शक्ति (अभिधा व्यापार) का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध नव्य नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य ने अपने "शक्तिवाद" में इसी बात पर जोर देते हुए कहा है।

---

१ साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः (का० ७, पृ० ३१)
(साथ ही) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥
(का० ८, पृ० ३९)
—मम्मटः काव्यप्रकाश

"किसी शब्द की शक्ति या वृत्ति से हमारा तात्पर्य उस इच्छा से है, जिसके कारण उस शब्द से किसी अर्थ विशेष का संकेत लिया जाता है। इस संकेत का आधार यह इच्छा है, कि अमुक पद से अमुक अर्थ की प्रतीति हो, इस पद से यह अर्थ समझा जाय। इस प्रकार की संकेत-विधायक इच्छा से ही सर्वप्रथम अर्थ-प्रतीति आरंभ होती है। यह संकेत परंपरागत तथा आधुनिक दो तरह का होता है। परंपरागत शब्द-संकेत अनादि है। किंतु आधुनिक संकेत का उदाहरण कोई भी पारिभाषिक शब्द दिया जा सकता है। पारिभाषिक शब्दों को शास्त्रकार अपने लिए विशेष अर्थ में गढ़ लेते हैं। उदाहरण के लिए हम 'नदी' और 'वृद्धि' वैयाकरणों के दो पारिभाषिक शब्द ले सकते हैं। 'नदी' का पारिभाषिक अर्थ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्द हैं[1], जिनके लिए इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है, जैसे बहुश्रेयसी शब्द की नदी संज्ञा होगी। 'वृद्धि' का पारिभाषिक अर्थ वह ध्वनि परिवर्तन है, जहाँ इ, उ, ऋ, क्रमशः ऐ, औ, आर् हो जाते हैं।[2] इन शब्दों के इन विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में 'आधुनिक संकेत' पाया जाता है। वह शक्ति जिसका प्रयोग परंपरागत संकेत वाले अर्थ में होता है, ईश्वरनिर्मित है, उदाहरण के लिए इसी 'नदी' शब्द का साधारण अर्थ ( सरिता )। सर्वप्रथम ईश्वर ने ही इस पद से यह अर्थ लेना चाहिए ऐसा निर्णय कर दिया है, जो अनादि काल से चला आ रहा है। इस शक्ति के द्वारा जो पद अर्थप्रतीति कराता है, वह वाचक कहलाता है। जैसे "गौः" पद "गोत्व जाति से विशिष्ट" ( गाय-पन वाले ) गो-विशेष ( गो-व्यक्ति ) का बोध कराता है, और इससे जिस 'गाय' अर्थ की प्रतीति होती है, वह इसका मुख्यार्थ है।"[3]

संकेत का आधार ईश्वरेच्छा वाला मत

---

१ यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ २ वृद्धिरादैच् ॥

३ 'इदं पदममुमर्थं बोधयत्विति, अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति चेच्छा संकेतरूपा वृत्तिः। तत्राधुनिकसंकेतः परिभाषा, तया चार्थबोधकं पदं पारिभाषिकं यथा शास्त्रकारादिसंकेतितनदीवृद्ध्यादिपदम्, ईश्वरसंकेतः शक्तिस्तया चार्थबोधकं पद वाचकं यथा गोत्वादिविशिष्टबोधकं गवादिपदं तद्बोध्योऽर्थो गवादिर्वाच्यः स एव मुख्यार्थ इत्युच्यते।"

—गदाधरः शक्तिवाद पृ० ५-६ ( चौ० सं० सी० )

डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत को माननेवाले इस ईश्वरेच्छात्मक संकेत का प्रतिवाद करेंगे, तथा संकेत का निर्धारण समाज की इच्छा पर मानेंगे। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, जो डार्विन के विकासवाद को किसी सीमा तक स्वीकार करते हैं, शब्द अर्थ, उनके संबंध तथा उनकी आधारभूत मानवचेतना का विकास समाज के आर्थिक विकास के साथ साथ मानते हैं। मानव की सामाजिक स्थिति का निर्धारण उसकी आर्थिक स्थिति, दूसरे शब्दों में उसके उत्पादन के साधन तथा प्रणालियों के द्वारा, होता है। यह सामाजिक स्थिति ही मानव की चेतना को विकसित करती है। इन सब में श्रम-विभाजन ( division of labour ) का एक विशेष हाथ है।[१] इसी बात को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर स्वर्गीय आंग्ल विद्वान् कॉडवेल ने कहा है—"हम देखते हैं कि मानव तथा प्रकृति का संघर्ष आर्थिक उत्पादनों के रूप में विकसित होकर मानव के उत्पादनों को समृद्ध बनाता है। आर्थिक उत्पादन में 'संपर्क' ( association ) की आवश्यकता होती है, यही संपर्क आगे चलकर शब्द की अपेक्षा करता है।...अतः शब्द के द्वारा आर्थिक उत्पादन के समय में होनेवाला जनसंपर्क अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जगत् में भी परिवर्तन उत्पन्न करता रहता है, और इस प्रकार दोनों को समृद्ध बनाता है।"[२] द्वन्द्वात्मक सिद्धांत को लेकर चलने

अनीश्वरवादी मत ; संकेत का आधार सामाजिक चेतना का विकास

---

१. Karl Marx and Frederick Engels : Literature and Art PP. 1, 3.

२. We saw that man's interaction with Nature was continuously enriched by economic production. Economic production requires association which in turns demands the words......Hence, by means of words, man's association in economic production continually generates changes in their perceptual private worlds and the common world, enriching both."

—Caudwell : Illusion and Reality ch. VIII PP. 144 45.

वाले भौतिकवादी विद्वान् शब्दार्थ तथा मानव-जीवन दोनों में परस्पर प्रतिक्रिया मानते हैं। जिस प्रकार एक ओर मानव, आर्थिक विकास के कारण शब्दार्थ को विकास तथा परिवर्तन देता है, ठीक उसी प्रकार शब्दार्थ भी मानव के सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य जीवन को विकास तथा परिवर्तन देते हैं।

संकेतग्रह

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब हम किसी खड़ी हुई गाय का बोध कराने के लिए ''गाय खड़ी है'' इस वाक्य का प्रयोग करते हैं, तो 'गाय' शब्द किस अर्थ की प्रतीति कराता है ? क्या वह पहले पहल ही उस खड़ी हुई गाय का बोध कराता है, जिससे हमारा तात्पर्य है, अथवा प्रथम गाय मात्र ( गो-जाति ) का बोध करा कर फिर उस गाय का बोध 'आक्षेप' ( उपमान या अर्थापत्ति ) आदि किसी अन्य संबंध के द्वारा कराता है ? अर्थात् शब्द सर्व प्रथम केवल सामान्य ( abstract ) अर्थ की प्रतीति कराता है, या विशिष्ट ( concrete ) अर्थ की। भारतीय दार्शनिकों में इसी प्रश्न को लेकर कई मतसरणियाँ प्रचलित हैं। एक ओर मीमांसकों का वह मत है, जिसके अनुसार शब्द सर्वप्रथम 'जाति' की प्रतीति कराता है। दूसरा मत नैयायिकों का है, जो जाति-विशिष्ट व्यक्ति में संकेत मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो केवल ज्ञान मात्र में पदों की शक्ति मानते हैं। बौद्धों के मतानुसार संकेत 'अपोह' में होता है। वैयाकरण तथा नव्य आलंकारिक शब्द का संकेत उपाधि ( जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य ) में मानते हैं।

व्यक्तिशक्तिवादी का मत

( १ ) व्यक्तिशक्तिवादी का मतः—जब हम कहते हैं 'घड़ा ले आओ'' या 'घड़ा ले जाओ', तो हम देखते हैं कि जिससे हमने घड़ा लाने या ले जाने को कहा है, वह किसी एक निश्चित घड़े ( घटविशेष ) को ही लाता या ले जाता है। अर्थात् व्यवहार में घटविशेष ( घट-व्यक्ति ) का ही प्रयोग पाया जाता है। अतः शब्द से सदा 'व्यक्ति' का ही अर्थ निकलता है, उसी में संकेत मानना उचित है। व्यक्तिशक्तिवादियों के इस मत को स्पष्टरूप में किसी आचार्य के नाम से उद्धृत न कर, खंडन के प्रकरण में क्या मीमांसकों, क्या

वैयाकरणों,[1] क्या नैयायिकों सभी ने इसका संकेत किया है। व्यक्ति-शक्तिवादियों के द्वारा संकेतग्रह के विषय में की गई शंकाओं और तत्तत् दार्शनिकों के द्वारा अपने मतानुसार किये गये समाधानों को हम अनुपद में देखेंगे।

(२) ज्ञानशक्तिवादियों का मतः—संकेतग्रहण के विषय में एक मत ज्ञानशक्तिवादियों का है। इस मत को उद्धृत करते हुए भी किसी आचार्य का नाम नहीं लिया गया है, पर 'शक्तिवाद' के रचयिता गदाधर ने इस मत का उल्लेख किया है। इन लोगों के मतानुसार शब्द का संकेत, जाति, केवल व्यक्ति, या जाति-विशिष्ट व्यक्ति में न होकर 'ज्ञान' में होता है।[2] ज्ञानशक्ति को मानने वाले आचार्यों के मतानुसार व्यवहार की दृष्टि से पद में व्यक्ति का संकेत मानने में कोई विरोध नहीं। यदि किसी विषय में ये 'व्यक्ति-शक्तिवादियों' का विरोध करते हैं, तो शक्तिज्ञान के कारण के संबंध में। उदाहरण के लिए 'घड़ा' (घट) शब्द कहने पर सर्वप्रथम शक्ति 'घट' शब्द के शक्तिज्ञान मात्र में है, उसके स्थूल विषय में नहीं, जो व्यवहार में आता है। स्थूल विषय की प्रतीति तो बाद में अभिधा के द्वारा होती है। पर यह ज्ञान मात्र कराने वाली शक्ति अपना पूरा काम नहीं कर पाती, अर्थात् साथ ही साथ व्यवहार में आने वाले घट-व्यक्ति का बोध नहीं करा पाती, इसलिए "कुब्जा" (कुबड़ी) शक्ति कहलाती है। ज्ञानशक्तिवादियों के मत से शब्द या पद का वाच्य (अर्थ) तथा व्यवहार में आने वाला स्थूल विषय दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। शब्द या पद का वाच्य 'ज्ञान' है, "घटव्यक्ति" नहीं। कोई भी वस्तु इसीलए वाच्य नहीं बन जाती, कि शब्द सुनने के बाद वह हमारी बुद्धि का विषय

ज्ञानशक्तिवादियों का मत—कुब्जाशक्ति

---

१. व्यक्तिवादिनस्तु आहुः—शब्दस्य व्यक्ति रेव वाच्या।

—कैयटः—महाभाष्य-प्रदीप पृ० ५३

२. "···ज्ञाने पदानां शक्तिरित्येतन्मते···"

—शक्तिवाद, परिशिष्ट काण्ड, पृ० २०१

हो जाती है। क्योंकि अन्वय के बिना कभी भी कोई वस्तु बुद्धि का विषय नहीं बन सकती।[1]

अतः ज्ञान का बोध पहले पहल कुब्जा शक्ति कराती है। पर यह कुब्जा शक्ति है क्या? यह वह शक्ति है जो वाच्य के एक अंश का ही बोध करा पाती है, संपूर्ण वाच्य का बोध कराने में असमर्थ है। यही कारण है कि वाच्य के व्यवहार में इसका ठीक वही व्यापार नहीं होता, जो अभिधा का। इसी बात को शक्तिवाद के टीकाकार आचार्य-प्रवर दामोदर गोस्वामी ने बताया है कि "कुब्जा से हमारा तात्पर्य यह है कि वह शक्ति वाच्यत्व के व्यवहार में (घटविशेष के सामाजिक तथा सांसारिक प्रयोग में) प्रयोजक नहीं होती।"[2] इस पर 'व्यक्ति-शक्तिवादी' यह शंका करते हैं कि व्यवहार में तो घटविशेष से ही काम चलता है, अतः व्यक्ति वाले वाच्यांश में भी किसी न किसी शक्तिज्ञान की आवश्यकता होगी, इसी शक्तिज्ञान से उसकी भी प्रतीति हो जायगी। तब शक्ति "कुब्जा" कैसे रहेगी, क्योंकि इस दशा में तो शक्ति उसका भी बोध करायेगी ही।[3] इस शंका का समाधान यों किया गया है, कि जब शब्द (कारण) से ज्ञान (कार्य) उत्पन्न होता है, तो उस ज्ञान में व्यक्ति का अंतर्भाव नहीं रहता। अर्थात् जब "गौः" पद (कारण) का प्रयोग करते हैं, तो इससे जिस कार्य की उत्पत्ति होती है, वह केवल "गौः" का ज्ञान मात्र है, गो-व्यक्ति नहीं। अतः गो-व्यक्ति की प्रतीति में वह शक्ति कुब्जा मानी ही जायगी।

---

१. अतएव न व्यक्तेर्वाच्यता, न हि शक्तिधीविषयतामात्रेणैव वाच्यता, तादृशविषयताया अन्वयसाधारण्यात्।

—वही पृ० २०१

२. कुब्जेति—वाच्यत्वव्यवहाराप्रयोजिका।

—विनोदिनी (शक्तिवादटीका) पृ० २०२

३. न चैवं व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानस्यापेक्षिततया तदंशे शक्तेः कुब्जत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्।

—शक्तिवाद पृ० २०४

बौद्धों का मत—अपोह

( ३ ) अपोहवादियों का मतः—बौद्धों के 'अपोहवाद'[1] का संकेत हम पहले कर आये हैं। इनके मतानुसार शब्द का संकेत 'अपोह या अतद्व्यावृत्ति' में माना जाता है। इस अपोह को यों स्पष्ट किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति कहता है 'गाय", तो हम "गाय" के अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थों का निराकरण ( व्यावृत्ति ) कर देते हैं। इस प्रकार हमें केवल उस बचे हुए पदार्थ में ही शब्द का अर्थबोध हो जाता है। इसी को 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् उस पदार्थ का निराकरण न करते हुए बाकी समस्त पदार्थों का निराकरण करना कहा जाता है। बौद्ध लोग 'सामान्य' या 'जाति' जैसी वस्तु में विश्वास नहीं करते, क्योंकि जाति मानने पर एक स्थिर पदार्थ की सत्ता माननी पड़ती है, जो उनके क्षणिकवादी सिद्धांत के विरुद्ध पड़ता है, ( बौद्ध तो आत्मा तक को क्षणिक तथा परिवर्तनशील मानते हैं )। अतः वे 'जाति' में शाब्दबोध मान नहीं सकते। इसके साथ ही उनके मतानुसार व्यक्ति क्षणभंगुर अर्थात् परिवर्तनशील है, अतः उसमें भी शाब्दबोध नहीं माना जा सकता, क्योंकि दस बजे वाला घट ठीक वही नहीं है, जो आठ बजे वाला। इसीलिए वे "अपोह" रूप अर्थ में ही शब्द का संकेत मानते हैं। अन्य पदार्थों का निराकरण करने पर वे ही पदार्थ बचे रहते हैं, जिनमें क्षणिकता तथा परिवर्तन विद्यमान होने पर भी 'दीपकलिका' या 'नदीप्रवाह' की भाँति अखंडता होने के कारण 'स्थिरता' ( अपरिवर्तनशीलता ) की भ्रांति हो जाती है।[2]

---

१. "अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति"

—काव्यप्रकाश पृ० ३७ द्वितीय उल्लास

( साथ ही ) गोशब्दश्रवणात्सर्वासां गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्मात् अश्वादितो व्यावृत्तिदर्शनाच्च अतद्व्यावृत्तिरूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम् ॥

—बालबोधिनी पृ० ३८

२. "व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद् भावस्य च देशकालानुगमाभावात् तदनुगतायां अतद्व्यावृत्तौ संकेत इति सौगताः"

—( गोविन्द ठक्कुरः प्रदीप, द्वितीय उल्लास )

(४) नैयायिकों का मतः—नैयायिकों के मत में संकेतग्रहण न केवल जाति में तथा न केवल व्यक्ति में ही होता है; अपितु 'जाति-विशिष्ट-व्यक्ति' में। अपने न्यायसूत्र में इसी मत का उल्लेख करते हुए महर्षि गोतम ने कहा है—"किसी पद का अर्थ वस्तुतः किसी वस्तु की व्यक्ति, आकृति तथा जाति सभी (के सम्मिलित तत्त्व) में है।"[1] नैयायिकों के मत में 'व्यक्ति' तथा 'आकृति' में कोई विशेष भेद नहीं है। यहाँ महर्षि गोतम द्वारा 'पदार्थः' इस प्रकार एकवचन का प्रयोग करना इसी बात को द्योतित करता है कि वे व्यक्ति तथा जाति के सम्मिलित तत्त्व (जातियुक्तव्यक्ति) में संकेत मानते हैं। जगदीश तर्कालंकार ने अपनी 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में कहा है—"पद का प्रयोग जाति से युक्त (अवच्छिन्न) संकेत वाले व्यक्ति के लिए होता है और वह संकेत वाली संज्ञा नैमित्तिकी कहलाती है। यदि केवल जाति में हो संकेत माना जायगा, तो व्यक्ति का भान प्राप्त करना कठिन होगा।"[2] इसी कारिका को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जाति-विशिष्ट व्यक्ति में संकेत वाले नाम या शब्द को ही हम नैमित्तिकी संज्ञा कहते हैं। जैसे गाय के लिए "गौः" शब्द का प्रयोग तथा किसी लड़के के लिए "चैत्र" का प्रयोग। जब कभी यह नैमित्तिकी संज्ञा उन उन पदार्थों का बोध करायेगी, तो वह बोध जाति-विशिष्ट रूप का ही होगा। जैसे इन्हीं दो उदाहरणों में "गौः" शब्द 'गो-त्व' (गो-जाति) से विशिष्ट गो-विशेष (गो व्यक्ति) का बोध करायेगा तथा "चैत्र" शब्द "चैत्रत्व" (चैत्र-जाति) से विशिष्ट 'चैत्र-व्यक्ति'

नैयायिकों का मत, जातिविशिष्ट-व्यक्ति में संकेत

---

(साथ ही) जातेरदृष्टत्वेन विचारासहत्वात् व्यक्तेश्च क्षणिकत्वादुभयत्रापि संकेतस्य कर्तुमशक्यत्वात् गवादिशब्दानामगवादिव्यावृत्तिरूपोऽर्थं इति वैनाशिकमतमित्यन्यत्रापि व्याख्यातम्।

—(झलकीकरः बालबोधिनी पृ० ३८)

१. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। —न्यायसूत्र,

२ जात्यवच्छिन्नसंकेतवती नैमित्तिकी मता।
जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम्॥

—शब्दश० प्र० का० १९ पृ० ७९

का, कोरी गो-जाति या चैत्र-जाति का नहीं। यदि मीमांसकों की तरह 'गो' का संकेत ग्रहण, कोरी जाति ( गोत्व ) में माना जायगा, तो फिर जाति से व्यक्ति का अर्थ कैसे घटित होगा ? क्योंकि काम तो व्यवहार में व्यक्ति से ही लेना होगा, और एक शक्तिग्रहण जाति और व्यक्ति दोनों का बोध नहीं करा सकेगा। क्योंकि शब्द, बुद्धि तथा कर्म का व्यापार केवल एक क्षण तक रहता है। अतः शक्तिग्रहण जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही मानना ठीक है।[1]

मीमांसकों के 'जातिशक्तिवाद' का सबसे अधिक खण्डन करनेवाले नैयायिक ही हैं। 'आक्षेप' (अनुमान या अर्थापत्ति) से व्यक्ति ग्रहण मानने वाले मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए, ये बताते हैं, कि यदि कोई व्यक्ति 'गाय लाओ' ऐसा कहता है, तो यहाँ अर्थप्रतीति में आक्षेप मानने की कोई आवश्यकता नहीं। 'लाओ' क्रिया से, स्पष्टरूप में 'गाय' कर्म का अन्वय घटित हो जाता है। अन्वय के अनुभव के साथ साथ ही अर्थप्रतीति भी हो जाती है। इस बात का प्रमाण हमारा अनुभव है। इसके अतिरिक्त यदि हम मीमांसकों की भाँति "गाय जाती है", ऐसे वाक्यों में, शुद्ध गो-जाति ( गोत्व ) अर्थ लेंगे, तो वह "जाती है" क्रिया के साथ संगत नहीं बैठता। जाति का भाव तो एक सूक्ष्म भाव है, जो केवल बुद्धिगत हो सकता है, किंतु व्यवहार में उसका कोई स्थूल अस्तित्व नहीं पाया जाता। इसलिए यहाँ 'गोत्व' व 'जाना' क्रिया में परस्पर अन्वय होने का अनुभव ही नहीं होता। यदि अन्वय मानकर 'गोत्व जाता है' यह प्रतीति करेंगे, तो फिर यह आपत्ति होगी कि 'गोत्व' के स्वयं के पदार्थ होने पर, उसकी भी जाति ( गोत्वत्व ) माननी पड़ेगी। ऐसे स्थलों पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि 'गाय' में स्वयं में ऐसी बात विद्यमान है, जिसके कारण उसके साथ 'जाती है' का प्रयोग पाया जाता है, अर्थात् "उसके पैर हिलते हैं, उसकी देह आगे बढ़ती है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि गाय 'गतिमान्' है, अतः यदि 'आक्षेप'

---

१ 'यन्नाम जात्यवच्छिन्नसंकेतवत् सा नैमित्तिकी संज्ञा, यथा गोचैत्रादिः। सा हि गोत्वचैत्रत्वादिजात्यवच्छिन्नमेव गवादिकमभिधत्ते न तु गोत्वादि-जातिमात्रम्, गोपदं गोत्वे संकेतितमित्याकारकग्रहाद् गामानयेत्यादौ गोत्वा-दिना गवादेरन्वयानुभवानुपपत्तेः एकशक्तत्वग्रहस्यानुभावकत्वेऽतिप्रसंगात्।

—वही, पृ० ७९–८०

से व्यक्ति का ग्रहण मानेंगे, तो यह वास्तविकता के विरुद्ध है। व्यवहार में शब्द से व्यक्ति का संकेत साथ-साथ ही हो जाता है।[1]

नैयायिकों का जातिविशिष्ट-व्यक्ति-संबंधी मत संक्षेप में यों है—किसी भी शब्द से अर्थ का संकेत होते समय पहले पहल 'व्यक्ति-अवगाहित्व'[2] अर्थात् जाति के साथ ही व्यक्ति का भी ग्रहण मानना होगा। क्योंकि किसी भी पद के सुनने के बाद जो बुद्धि होती है, उसका साक्षात् संबंध उस व्यक्ति से है, जिसमें जाति भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार के संबंध का 'शाब्दबोध' में ठीक वही महत्त्व है, जो अनुमान में परामर्श का। धुएँ को देखकर 'आग' का अनुमान करने में धुएँ तथा आग के साहचर्य संबंध का स्मरण ( परामर्श )—'जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ आग है''—एक विशेष महत्त्व रखता है, इसके बिना अनुमान हो ही नहीं सकता। जब हम 'गाय' कहते हैं, तो यह पद स्वयं ही सारे (जातिविशिष्ट व्यक्ति वाले अर्थ को व्यक्त करता है इसके जाति वाले अंश को अभिहित करनेवाली अलग से अभिधा नामक शक्ति है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं।

( ५ ) मीमांसकों का मत--मीमांसकों में दो संप्रदाय हैं—एक कुमारिल भट्ट का, दूसरा प्रभाकर का। दोनों ही मीमांसक अभिधा के द्वारा 'जाति' में संकेतग्रहण मानते हैं। अतः हम प्रारंभ में मीमांसकों का साधारण मत देकर उनके संप्रदायगत तथा वैयक्तिक मतों पर बाद में प्रकाश डालेंगे। मीमांसकों के मतानुसार "पदों से जाति का ही संकेत होता है, व्यक्ति का नहीं[3]।' जब हम 'घड़ा' कहते हैं, तो उससे हम सारे घड़ों में पाई जाने वाली जाति, घटसामान्य का ही अर्थ लेंगे; घटविशेष, अर्थात् लाल या काले घड़े का नहीं।

मीमांसकों का मत—जाति में संकेत, व्यक्ति का 'आक्षेप' से ग्रहण

१ तन्मन्दम्, विनाप्याक्षेपं गामानयेत्यादितो गवादिकर्मताकत्वेनानयनादेरन्वयबोधस्याऽऽनुभाविकत्वात्, गौर्गच्छतीत्यादौ शुद्धे गोत्वे गतिमत्त्वाद्यन्वयस्यानुभवेनास्पर्शात् गोत्वत्वाद्यनुपस्थित्या च गोत्वं गच्छतीत्याद्यनुभवस्यासंभवात् स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धेन गतिमत्त्वादिहेतुना गवादौ साक्षात्संबंधेन गतिमत्त्वाद्याक्षेपस्य व्यभिचारदोषेण दुःशक्यत्वाच्च।—शब्दशक्तिप्रकाशिका: पृ० ८५

२ गवादिव्यक्तिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयत्वमित्यर्थः

३ मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः।
—शक्तिवाद, परिशिष्टकाण्ड, पृ० १९५.

(शङ्का) इस विषय में व्यक्तिवादी यह शङ्का करता है कि यदि 'घड़ा' शब्द से घट-जाति का अर्थ लेंगे, तो घट-विशेष का बोध कैसे होगा? लौकिक व्यवहार में तो सूक्ष्म जाति का बोध न लेकर स्थूल व्यक्ति का ही बोध मानना पड़ेगा। साथ ही यह भी शंका होती है कि यदि 'घड़ा' का अर्थ 'घड़ापन' (घटत्व) लेंगे, तो उसके भी भाव (घड़ापनपन; घटत्वत्व) की कल्पना करनी पड़ेगी। इस शंका का उल्लेख हम नैयायिकों की मतसरणि में भी कर आये हैं, जो मीमांसकों के खण्डन में उठाई गई है।

(समाधान) मीमांसक इसका उत्तर यों देते हैं। व्यक्तिवादियों के मत में एक दोष पाया जाता है। व्यक्ति का स्वरूपतः ग्रहण नहीं होता, अतः वहाँ भी स्वरूप की पहचान कराने वाली जाति मानने को जरूरत होती है। 'घड़ा ले आओ' कहने पर कोई व्यक्ति 'कपड़ा' न लाकर घड़ा ही लाता है, अतः घड़े में कोई सूक्ष्म भाव ( जाति ) अवश्य है, जो उसके स्वरूप का ज्ञापक है। साथ ही एक से स्वरूप वाले कई पदार्थों में उसी एक नाम, 'घड़े', का प्रयोग होता है, अतः उनमें कोई ऐसी वस्तु अवश्य है, जो समानता की भावना को द्योतित करती है। इसलिये 'व्यक्ति' में संकेत न मानकर 'जाति' में ही संकेत मानना उचित है। जहाँ तक व्यवहार में व्यक्ति के ज्ञान का प्रश्न है, यह 'आक्षेप' के द्वारा गृहीत होता है। आक्षेप से तात्पर्य "अनुमान या अर्थापत्ति" प्रमाण से है। जैसे धुएँ को देखकर उसके साहचर्य-संबंध के कारण आग का अनुमान हो जाता है, वैसे ही "जहाँ जहाँ घड़ापन ( जाति ) है, वहाँ वहाँ घड़ा ( व्यक्ति ) है; क्योंकि जहाँ जहाँ घड़ा नहीं पाया जाता, वहाँ घड़ापन भी नहीं है, जैसे कपड़े में"[1], इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा व्यक्ति का भी ज्ञान हो जायगा। अथवा, जैसे "मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता"[2] इस वाक्य से "रात में खाता है" यह प्रतीति अर्थापत्ति प्रमाण से होती है, वैसे ही "गायपन जाता है" का अर्थ "गाय जाती है"[3] हो जायगा।

---

१ "यत्र यत्र घटत्वं, तत्र तत्र घटः, यत्र घटोन, तत्र घटत्वं अपि न, यथा पटे"

२ पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते।

३ गोत्वं गच्छति, अर्थात् गौर्गच्छति।

(क) भाट्ट मीमांसकों का मत—भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार पदों से व्यक्ति का स्मरण या अनुभव नहीं होता (जैसा प्रभाकर मानते हैं) अपितु व्यक्ति का ज्ञान 'आक्षेप' से होता है। यह आक्षेप जाति के द्वारा होता है। आक्षेप का अर्थ है अनुमान या अर्थापत्ति प्रमाण।[1] प्रसिद्ध भाट्ट मीमांसक पार्थ सारथि मिश्र ने "न्यायरत्नमाला" में बताया है—"हमारे मत से शब्द से सर्व प्रथम जाति की ही प्रतीति होती है, उसके बाद वह किसी व्यक्ति विशेष का आरोप कर लेती है।"[2] इसी को स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं कि शब्द वस्तुतः जाति का ही वाचक है, तथा उसी का बोध कराता है, व्यक्ति का बोध कराने में वह असमर्थ है। यदि कोई (व्यक्तिशक्तिवादी) व्यक्ति में शक्ति माने, तो वह अभिधेय होनी चाहिए। यदि इसका उत्तर पूर्वपक्षी यह दे कि शब्द के जाति वाले अर्थ में स्वाभाविकी शक्ति है, तथा व्यक्ति वाले अर्थ में नैमित्तिकी (हम देख चुके हैं, नैयायिक व्यक्ति में नैमित्तिकी संज्ञा मानते हैं), तो इस विषय में क्या प्रमाण है कि शब्द की स्वाभाविकी तथा नैमित्तिकी दो शक्तियाँ होती हैं। अतः शब्द जाति का ही वाचक है, तथा उसी का बोध कराता है। बाद में जाति ही व्यक्ति का भी बोध करा देती है।[3]

भाट्ट मीमांसकों का मत—पार्थ सारथि मिश्र

---

१ अथ भाट्टाः—पदान्न व्यक्तेः स्मरणमनुभवो वा किं त्वाक्षेपादेव व्यक्तिधीः, आक्षेपिका च जातिरेव। आक्षेपश्चानुमानमर्थापत्तिर्वा।

—शक्तिवाद, प० का० पृ० २०७

२ व्यक्तिप्रतीतिरस्माकं जातिरेव तु शब्दतः।
प्रथमावगता पश्चाद् व्यक्तिं यां कांचिदाक्षिपेत्॥

—न्यायरत्नमाला, वाक्यनिर्णय का० ५, ३८ पृ० ९९

३. तस्माज्जात्यभिधायित्वाच्छब्दस्तामेव बोधयेत्।
सा तु शब्देन विज्ञाता पश्चाद् व्यक्तिं प्रबोधयेत्॥

(वही, ५-४१, पृ० १००)

( ख ) श्रीकर का मतः—भाट्ट मत से ही मिलता जुलता श्रीकर का मत है। वे भी शाब्दबोध जाति में ही मानते हैं। श्रीकर का मत है कि जाति वाचक 'गवादि' पद का संकेत तो जाति (गो-जाति) में ही होता है, किंतु उपादान से व्यक्तिबोध हो जाता है। अतः वे व्यक्तिबोध 'औपादानिक' ( उपादान-जनित ) मानते हैं।[1]

श्रीकर का मत—उपादान से व्यक्ति का ग्रहण

जहाँ कोई बात किसी पूरे अर्थ का बोध न कराये, किंतु उसके अंश मात्र का ही बोध कराये, तथापि अंश के आधार पर अंशी का भी भान हो जाय, उसे 'उपादान' ( ग्रहण ) कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'लाल पगड़ी' शब्द से 'लाल पगड़ी वाले सिपाही' का अर्थ ग्रहण किया जाय, तो यह 'उपादान' ही है, जो यहाँ उपादानलक्षणा ( अजहल्लक्षणा ) का बीज है। इसी प्रकार 'गोत्व जाता है' इस वाक्य से "गोत्व वाला ( व्यक्ति ) जाता है" यह भान हो जायगा। श्रीकर का मत वस्तुतः भाट्ट मत का ही दूसरा रूप है, क्योंकि उपादान भी अर्थापत्ति का ही प्रकार विशेष है।

( ग ) मंडन मिश्र का मतः—मीमांसकों में तीसरा मत मंडन मिश्र का है। वे शब्द-संकेत सर्वप्रथम जाति में मानकर, फिर ( उपादान- ) लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है—"गाय पैदा होती है, गाय मरती है", इस प्रकार सभी स्थानों पर "गाय" पद सर्वप्रथम "गोत्वादि" जाति का बोध कराता है। इसीलिए वह पद जाति का अर्थ बोध कराने में 'शक्त' है।

मंडन मिश्र का मत—लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का ग्रहण

इसके बाद लक्षणा के द्वारा यही शब्द गो-जाति वाले गो-विशेष का बोध करा देता है। व्यक्तियाँ तो एक न होकर कई हैं, अतः किस 'व्यक्ति' में संकेत माना जाय ? इससे व्यक्ति में संकेत मानने में दोष है। साथ ही कोरे जाति वाले अर्थ से तात्पर्य ठीक नहीं बैठता, अतः

---

१. "···जातिवाचकपदाज्जातिबोधः शाब्दो व्यक्तिबोधस्त्वौपादानिक एवेति श्रीकरमतम्..." ( शक्तिवाद, प० का० पृ० २११ )

लक्षणा के द्वारा ही व्यक्ति का बोध मानना होगा।"[1] इसी बात को मंडन मिश्र ने अपनी प्रसिद्ध कारिका में कहा है:—

"वक्ता जब 'गौः' के अस्तित्व या नास्तित्व ( गाय है - गौरस्ति, गाय नहीं है—गौर्नास्ति ) का प्रयोग करता है, तो उसका अभिप्राय वहाँ जाति की सत्ता या अभाव से नहीं है। वस्तुतः जाति तो नित्य है, अतः उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ये अस्तित्व या नास्तित्व व्यक्ति के ही विशेषण हैं, जो उस जातिगत संकेत के द्वारा लक्षित होती है।"[2]

मंडन मिश्र के मत का मम्मट के द्वारा खंडनः—काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने भी एक स्थान पर मंडन मिश्र के मत का उल्लेख कर खंडन किया है। मंडन मिश्र का कहना है कि कई वेदवाक्य ऐसे हैं, कि उस प्रकरण में जाति वाला अर्थ लेने से, अर्थ संगत नहीं बैठता। जैसे "गाय का बलिदान करो" ( गौरनुबन्ध्यः ) यह एक वाक्य है। यहाँ पर वेदवाक्य होने के कारण यह प्रभुसम्मित आदेश है, अतः इस वाक्य के विषय में शंका तो की नहीं जा सकती। अब यदि 'गाय' का अर्थ 'गो-जाति' लिया जाय, तो उस जाति जैसे सूक्ष्म भाव का वध कैसे हो सकता है। चूँकि वेद का यह आदेश ( विधि वाक्य ) झूठा नहीं हो सकता, अतः यहाँ जाति से व्यक्ति का ( लक्षणा के द्वारा ) आक्षेप हो जायगा, वैसे शब्द के द्वारा व्यक्ति का अभिधान कभी नहीं हुआ है। "अभिधा शक्ति सदा विशेषण ( जाति ) का बोध कराती है। उसका बोध कराने पर वह क्षीण हो जाती है। क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म का व्यापार केवल एक ही क्षण तक रहता है। अतः एक क्षण में जाति का बोध करा कर क्षीण हो जाने पर वह

इस मत का मम्मट के द्वारा खंडन

---

१. गौर्जायते गौर्नश्यति इत्यादौ सर्वत्र गोत्वादिजातिशक्तेनैव गवादिपदेन लक्षणया गोत्वादिविशिष्टा व्यक्तिर्बोध्यते, व्यक्तीनां बहुत्वेनान्यलभ्यत्वेन च तत्र शक्तेरकल्पनात् तात्पर्यानुपपत्तेरपि लक्षणायां बीजत्वात् ॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका पृ० ८७

२. जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति ।
नित्यत्वाल्लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे ॥ —मंडन मिश्र

अभिधाशक्ति विशेष्य ( व्यक्ति ) का बोध नहीं करा पाती," यह बात मानी हुई है। इसलिए व्यक्तिबोध के लिए कोई दूसरी शक्ति माननी पड़ेगी। अतः "गाय का वध करो" वाक्य का अभिधा से "गायपन ( गोत्व ) का वध करो", तथा दूसरे क्षण में उपादान-लक्षणा से "गोत्व विशिष्ट-गो-व्यक्ति का वध करो" यह अर्थ लेना होगा।[1]

(खंडन) इस तर्क को देकर मंडन मिश्र यहाँ ('गाय का वध करो' में) लक्षणा मानते हैं। यह ठीक नहीं। यह उदाहरण उपादानलक्षणा का है ही नहीं। लक्षणा सदा रूढि या प्रयोजन को लेकर चलती है। "गौः" से 'गोव्यक्ति' अर्थ लेने में यहाँ न रूढि है, न कोई प्रयोजन ही। जाति तथा व्यक्ति में ठीक वैसा ही अविनाभाव संबंध है, जैसा क्रिया के साथ कर्त्ता या कर्म का पाया जाता है। जैसे "इस काम को करो" ( क्रिया ) से 'तुम' कर्त्ता का आक्षेप हो जाता है, अथवा 'करो' क्रिया से 'इस काम को' कर्म का बोध ( आक्षेप से ) हो जाता है, ठीक इसी तरह 'गौः' से ही 'गो-व्यक्ति' का बोध हो जाता है। अतः इस व्यक्त्यंशवाले अर्थ में लक्षणा जैसी दूसरी शक्ति का व्यापार मानना उचित नहीं।[2]

( घ ) प्रभाकर का मतः—प्रभाकर के मत से भी शक्तिज्ञान जाति का ही होता है, किंतु व्यक्तिविषयक शाब्दबोध के विषय में वे अन्य मीमांसकों की भाँति आक्षेप, उपादान या लक्षणा नहीं मानते। उनके मतानुसार जाति से व्यक्ति का स्मरण हो जाने पर अर्थप्रतीति होती है। प्रभाकर का कहना है, जब कोई व्यक्ति, "गाय जाती है", यह कहता है, तो श्रोता को कोरी निर्विकल्पक जाति का ज्ञान नहीं होता। निर्विकल्पक ज्ञान वह ज्ञान कहलाता है, जहाँ ज्ञातव्य पदार्थ की कोई आकृति,

प्रभाकर का मत—जाति के ज्ञान के साथ ही व्यक्ति का स्मरण

---

१. "गौरनुबंध्यः" इत्यादौ श्रुतिसंचोदितमनुबंधनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इति न्यायात् ( इति उपादानलक्षणा...)।

२. "...इति उपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्याव्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामत्र कर्त्ता, कुर्विंत्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च।"

—काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास पृ० ४४–५

रूप, रंग, नाम का पता बिलकुल नहीं होता। उदाहरण के लिए मैं किसी लेख के लिखने में व्यस्त हूँ। मेरे पीछे से कोई व्यक्ति मेरे पास होकर निकलता है। लेख लिखने में तन्मय होने के कारण मुझे वह व्यक्ति कौन था, इसका भान नहीं, केवल इतना ही पता है कि कोई मेरे पीछे से निकला है। ऐसा ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। कोरी सूक्ष्म जाति का ज्ञान ऐसा ही निर्विकल्पक ज्ञान है। ऐसा ज्ञान शाब्द-बोध के संबंध में संगत नहीं बैठता; इसलिए यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति के संबंध-ज्ञान का स्मरण भी जाति के साथ ही साथ ठीक उसी क्षण हो जाता है, जब पद श्रवणगोचर होता है।[1] इस विषय में प्राभाकरों ने एक शंका उठा कर उसका समाधान किया है।

(शंका) जिस समय शब्द सुनने पर जाति का बोध होता है, उस समय तो श्रोता को जाति तथा व्यक्ति के परस्पर संबंध का ज्ञान नहीं होता। अतः इस संबंध के ज्ञानोदय के बिना व्यक्ति का स्मरण भी नहीं हो सकता।

(समाधान) जब हम कोई शब्द सुनते हैं तो जिस ज्ञान से जाति का बोध होता है, उसी से व्यक्ति का भी भान हो जाता है। दोनों में भिन्न-भिन्न ज्ञान की प्रक्रिया नहीं पाई जातीं। उदाहरण के लिए यदि कोई 'हस्तिपक' (हाथी का रखवाला, महावत) शब्द का प्रयोग करे, तो 'हाथी के रखवाले' का 'हाथी' की जाति से कोई संबंध नहीं है। लेकिन 'हाथी के रखवाले' का जब ज्ञान होता है, तो उसके बल से हमें उससे संबद्ध 'हाथी' का भी स्मरण हो आता है, और उसके साथ ही साथ हाथीपन' (हस्ति-जाति, हस्तित्व) का भी भान हो जाता है। ठीक इसी प्रकार चाहे हमें व्यक्ति और जाति के संबंध का ज्ञान न हो, जाति के स्मरण के साथ इसलिए व्यक्ति का बोध हो जाता है, कि वह जाति का विशेष्य है।

---

१. प्राभाकरास्तु—जातिज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्तेः स्मरणं शाब्द-बोधश्च, न तु निर्विकल्पकरूपं जातिस्मरणं, निर्विकल्पकानभ्युपगमात्।

—शक्तिवाद १० का० पृ० २१६

( दूसरी शंका ) स्मरण के लिए पहले के ज्ञान का संस्कार होना आवश्यक है। अतः व्यक्ति का स्मरण तभी हो सकता है, जब कि एक बार व्यक्ति का भान हो गया हो।[१]

( समाधान ) व्यक्तिज्ञान के स्मरण के लिए किसी अन्य व्यक्ति विषयक ज्ञान की आवश्यकता अवश्य होती है, इसे हम भी मानते हैं, और उसी ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से व्यक्ति का स्मरण होता है।[२]

प्रभाकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'बृहती' ( शबरभाष्य की टीका ) में इस विषय पर विचार किया है। प्रथम अध्याय के प्रथमपाद के तेतीसवें सूत्र के भाष्य की टीका में बताया गया है कि शब्द से जाति का ही बोध होता है। वेदवाक्यों में प्रयोजनसिद्धि इसके ही द्वारा होती है। उदाहरण के लिए, श्येन-याग के प्रकरण में, "श्येन के समान वेदी बनाई जाय" इस विधिवाक्य में यदि 'श्येन' का अर्थ 'श्येन-व्यक्ति' लिया जायगा, तो वेदी का श्येनविशेष के समान बनाया जाना असंभव है। अतः 'श्येन' शब्द से हम 'श्येन-जाति' का ही बोध करेंगे। इस पर पूर्व-पक्षी यह शंका करते हैं कि उपर्युद्धृत वाक्य में तो 'जातिबोध' मानना ठीक है पर ऐसे भी उदाहरण दिये जा सकते हैं,जहाँ जाति का बोध मानना ठीक नहीं, जैसे 'श्येन उड़ रहा है', इस वाक्य में। ऐसी स्थिति में शाब्दबोध का प्रश्न समस्या बना रहता है, तथा निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक बोध जाति का होता है या व्यक्ति का। प्रभाकर इसका समाधान यों करते हैं। वेद के प्रत्येक विधि वाक्य में सबसे पहले जाति का सामान्य भावग्रहण माने बिना उद्दिष्ट विधि नहीं हो सकती, क्योंकि वेद में समस्त प्रयोजन जाति से ही संबंध रखता है, व्यक्ति से नहीं। जहाँ भी कहीं व्यक्ति के भाव का ग्रहण करना पड़ता है, जाति

---

१. जातिशक्तिज्ञाने नियमतो जातिप्रकारेण व्यक्त्यभानात् तज्जन्यसंस्कारादेव व्यक्तिस्मरणसम्भवात्, नियमतो व्यक्तिस्मरणासम्भव इति चेत् ?

—वही पृ० २१६

२. का क्षतिः, व्यक्तिविषयकज्ञानान्तरस्यावश्यकतया तज्जन्यसंस्कारादेव व्यक्तिस्मरणसम्भवात्। —वही पृ० २१६

तथा व्यक्ति के अविनाभाव संबंध के कारण उसका स्मरण गौण रूप से हो ही जाता है।[1]

( ६ ) वैयाकरणों का मतः—वैयाकरणों के मतानुसार शब्द का संकेतग्रह उपाधि में होता है। व्यक्तिवादी का खंडन करते हुए उपाधिवादी वैयाकरणों का कहना है कि किसी भी शब्द का प्रयोग करने पर प्रवृत्ति या निवृत्ति व्यक्ति की ही होती है। जैसे हमने 'घड़ा लाओ' या 'घड़ा ले जाओ' कहा तो बोद्धव्य-व्यक्ति घटविशेष को ही लाता या ले जाता है, फिर भी व्यक्ति में संकेत न मानने में दो कारण हैं। एक तो व्यक्ति में संकेत मानने में आनन्त्य दोष आता है, क्योंकि व्यक्ति तो अनेक हैं। जब हम 'घड़ा लाओ' कहते हैं, तो विश्व के समस्त घड़ों को तो लाया नहीं जा सकता। इसके साथ दूसरा इसमें 'व्यभिचार' दोष पाया जाता है। क्योंकि जब 'घट' शब्द का प्रयोग उस घटाविशेष के लिए किया गया है, जिसे लाने या लेजाने को हम कह रहे हैं, तो अन्य घड़ों में 'घट' शब्द संगत नहीं होगा, और उनमें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग शब्द ढूँढ़ने पड़ेंगे। इससे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है, कि यदि व्यक्ति में संकेत माना जायगा तो 'घट' शब्द का प्रयोग जो 'रामू के घड़े' के लिए किया जा रहा हैं, वह 'श्यामू के घड़े' के लिए न होगा, उसके लिए कोई दूसरा शब्द गढ़ना होगा। अतः व्यक्ति में संकेत मानना ठीक नहीं। जब हम किसी भी पदार्थ का बोध कराते हैं तो केवल जाति, या व्यक्ति का ही बोध न करा कर पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य ( व्यक्ति ) चारों का बोध कराते हैं। अतः इन चारों के सम्मिलित तत्त्व ( उपाधि ) में संकेत मानना उचित है। ध्यान से देखा जाय तो ये चारों बातें एक ही पदार्थ में इतने संश्लिष्ट रूप में पाई जाती है, कि इनका एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जैसे "गौः शुक्लश्चलो डित्थः" ( गाय, सफेद, जाता हुआ, डित्थ ( नाम वाला )। यदि व्यक्ति में संकेत माना जाय तो इन

वैयाकरणों का मत—उपाधि में संकेत-यही मत नव्य आलंकारिकों को अभिमत

---

१. बृहती ( १, १, ३३ ) का उद्धरण निम्न पुस्तक से,

Dr. Ganganath Jha : Purva Mimansa.

चारों शब्दों का अर्थ एक ही 'गो-व्यक्ति' होगा, और फिर तत्तत् भाव का बोधन न हो सकेगा। अतः शब्द का संकेत 'उपाधि' में होता है।[1]

इस उपाधि के दो भेद माने गये हैं:—एक तो वह जो पदार्थ के धर्म के रूप में पाया जाता है ( वस्तुधर्म ), दूसरा वह जो बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है, अर्थात् वक्ता उसकी इच्छा के अनुसार नाम रख लेता है ( वक्तृयदृच्छासंनिवेशित )। वस्तुधर्म वह है, जो उस पदार्थ में पाया जाता है, जिसका बोध कराना होता है। वस्तुधर्म पुनः दो प्रकार का होता है, सिद्ध तथा साध्य। सिद्ध, पदार्थ में पहले से ही रहता है, जैसे "डित्थ नाम वाला सफेद बैल चल रहा है", यहाँ बैल में "बैलपन" और "सफेदी" पहले से ही विद्यमान ( सिद्ध ) है। साध्य क्रिया रूप होता है। इसी उदाहरण में 'चलना' क्रिया साध्य है। सिद्ध भी दो तरह का होता है। एक तो उस पदार्थ का प्राणाधायक होता है, अर्थात् वह उस कोटि के समस्त पदार्थों में पाया जाता है ( जाति ), दूसरा उसको उसी जाति के दूसरे पदार्थों से अलग करने वाला होता है। जैसे 'बैलपन' बैल का प्राणप्रद है, जब कि 'सफेद' उसे वैसे ही दूसरे काले या लाल बैलों से विशिष्ट बताता है। इस प्रकार वक्तृयदृच्छा संनिवेशित, साध्य वस्तुधर्म, विशेषाधानहेतु सिद्ध, तथा प्राणप्रद सिद्ध वस्तुधर्म क्रमशः द्रव्य ( डित्थ ), क्रिया ( चलना ), गुण ( सफेद ) तथा जाति ( बैलपन ) हैं। पदार्थ को प्राण देने वाला धर्म जाति है। इसी बात को भर्तृहरि ने कहा है, कि कोई भी गाय अपने आप गाय नहीं बन जाती, न कोई घोड़ा आदि जो गाय नहीं है, अपने स्वरूप से ही "अगौः" ( गो से भिन्न ) है। गाय और गोभिन्न पदार्थ की पहचान कराने वाला 'गोत्व' ( गो जाति ) है, जिसमें वह पाया जाता है, वह गाय है, जिसमें वह नहीं पाया जाता, वह गाय नहीं। अतः 'गोत्व' से संबद्ध होने के कारण ही "गौः" का व्यवहार पाया जाता है।[2] उसी

---

१. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः ॥

—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास. पृ० ३२-३३

२. "न हिः गौः स्वरूपेण गौ नाप्यगौः गोत्वाभिसंबंधात्तु गौः"

—भर्तृहरि

जाति के दूसरे पदार्थों से किसी अन्य पदार्थ की विशेषता बताने वाला गुण है, जैसे शुक्ल गुण। साध्य का अर्थ क्रिया है। क्रिया में पदार्थ के अंगों (अवयवों) में हलचल पाई जाती है। भर्तृहरि कहते हैं—"जितने भी व्यापार हैं, वे चाहे अतीत काल के (सिद्ध) हों, या भविष्यत् काल के (असिद्ध) हों साध्य ही कहलायेंगे। सभी व्यापारों में एक क्रम पाया जाता है। इसी क्रम के कारण समस्त व्यापार क्रिया कहलाते हैं। उसे 'साध्य' की पारिभाषिक संज्ञा भी दी गई है।"[1] यदृच्छासंनिवेशित वह प्रयोग है, जिसमें वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल किसी का बोध कराने के लिए नाम रख लेता है, जैसे किसी बच्चे का, या कुत्ते का छुन्नू, मुन्नू कुछ भी नाम रख लिया जाय। महाभाष्यकार इन्हीं चारों में शब्दों की प्रवृत्ति; शब्दों का संकेत मानते हैं। वे कहते हैं:—"गाय, सफेद, चलता हुआ, डित्थ इत्यादि में शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है।"[2]

जातिशक्तिवादी गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों को जाति में ही सम्मिलित कर लेते हैं। उनके अनुसार वहाँ भी शुक्लत्व, चलत्व, डित्थत्व जाति मानना ठीक होगा। बर्फ, दूध तथा शंख में अलग-अलग प्रकार का 'शुक्ल' गुण पाया जाता है, इसी तरह गुड़, चावल, आदि को अलग अलग तरह से पकाया जाता है। डित्थ शब्द का उच्चारण जब बालक, बुड्ढे या तोता-मैना करते हैं, तो अलग-अलग तरह का पाया जाता है। इसलिए इनमें शुक्लत्व, पाकत्व तथा डित्थत्व जाति की स्थिति माननी चाहिए। वैयाकरण गुण, क्रिया, यदृच्छा में जाति नहीं मानते। वस्तुतः गुण, क्रिया तथा यदृच्छा में अनेकता नहीं पाई जाती, वे एक ही हैं। बर्फ की सफेदी तथा शंख की सफेदी अलग-अलग न होकर एक ही है, केवल अलग-अलग मालूम पड़ती है, अतः यहाँ 'सफेदीपन' (शुक्लत्व) जैसी कोई चीज नहीं मानी जा सकती। जाति की कल्पना तो वहीं हो सकती है, जहाँ अनेक पदार्थों में एक सामान्य पाया जाता हो, इसीलिए

---

१. यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥ —भर्तृहरि

२. गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।
—(महाभाष्य १, १, १)

आकाश जैसे एक पदार्थ की जाति ( आकाशत्व ) नहीं मानी जाती। इसी बात को दृष्टांत से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग में लंबा, दर्पण में थोड़ा बड़ा तथा उलटा, एवं तैल में चिकना और हिलता हुआ प्रतीत होता है ठीक इसी प्रकार गुड़ की तथा चावल की पाक क्रिया; दूध की सफेदी और शंख की सफेदी एक ही है, जो आश्रय के भिन्न होने से भिन्न प्रतीत होती है।[1] अतः गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में जाति की कल्पना कर कोरी जाति में संकेतग्रह मानना ठीक नहीं।

नव्य आलंकारिकों को भी वैयाकरणों का ही मत स्वीकार है। मम्मटाचार्य ने इसी मत को प्रधानता दी है और हेमचंद्र, विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ ने मम्मट के ही मार्ग का आश्रय लिया है। मम्मटाचार्य ने वैसे तो सभी मतों का उल्लेख काव्यप्रकाश में किया है, ( कुछ लोगों के मत से ) "संकेतित जाति आदि चार प्रकार का है, अथवा ( कुछ के मत में ) जाति ही है"[2] के द्वारा वे वैयाकरणों तथा मीमांसकों के मतों पर विशेष प्रकाश डालते हैं। वृत्ति में वे विशद रूप से वैयाकरणों के मत का विश्लेषण करते हैं, अतः ऐसा जान पड़ता है कि मम्मट को महाभाष्यकार का मत अभिप्रेत है। टीकाकारों ने स्पष्ट लिखा है कि काव्यप्रकाशकार को 'उपाधि वाला' मत ही सम्मत है।[3]

संकेत के प्रकार

नैयायिकों के अनुसार संकेत पारिभाषिक, नैमित्तिक तथा औपाधिक तीन प्रकार का माना गया है। किसी को पुकारने के लिए हम कुछ भी नाम रख लें, या शास्त्र की दृष्टि से किसी वस्तु का कोई भी पारिभाषिक नाम रख लें, तो वह पारिभाषिक संकेत कहलाता है। जैसे कोई पिता अपने पुत्र का नाम "चैत्र" रख लेता है, अथवा शास्त्रकार किसी

---

१. गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालंबनभेदात्।

—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास पृ० ३७

२. "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा"

– का० प्र० का० ७ ( उल्लास २ )

३. वस्तुतस्तु महाभाष्यकारोक्तपक्ष एव ग्रंथकृदभिमतः।

—बालबोधिनी पृ० ३९

शास्त्रीय सिद्धांत के लिए कोई नाम रख लेते हैं, जैसे अलंकारशास्त्र में ही रीति, रस, गुण, दोष आदि का पारिभाषिक प्रयोग पाया जाता है। जाति वाली शक्ति नैमित्तिक शक्ति है, जैसे बैल, घोड़ा, मनुष्य आदि में। जहाँ कोई संकेत उपाधि में हो, वह औपाधिक है। (नैयायिकों के 'उपाधि' का तात्पर्य वह है, जहाँ कई जातियाँ एक शब्द में सन्निविष्ट होकर बोध्य हों) जैसे पशु में गाय, घोड़ा आदि सभी जाति के चतुष्पदों का संकेत होता है।[1] भर्तृहरि ने संकेत दो ही प्रकार का माना है—आजानिक तथा आधुनिक। आजानिक से भर्तृहरि का ठीक वही तात्पर्य है, जो नैयायिकों का नैमित्तिक से। भर्तृहरि बताते हैं आजानिक नित्य होता है, अर्थात् उस शब्द का प्रयोग वैसे पदार्थ में सदा पाया जाता है, इसमें जाति का समावेश होता है)। आधुनिक संकेत का प्रयोग 'यदा-कदा' (कादाचित्क) होता है, तथा इसका प्रयोग शास्त्रकार परिभाषा आदि में करते हैं।[2]

पाश्चात्य विद्वान् और शाब्दबोधः—शब्द के संकेतग्रह के विषय में भारत की भाँति पश्चिम में भी विचार हुआ है, किंतु इन दोनों मतों के मूल उद्भव में एक भेद अवश्य है। भारत में संकेतग्रह के विषय पर विशद विचार व्याकरण, दर्शन तथा तर्क तीनों में हुआ है, किंतु पश्चिम में इस विषय में विशेष विचार तर्कशास्त्र की दृष्टि से ही किया गया है। अरस्तू ने शब्द के संकेत पर तर्कशास्त्र की दृष्टि से विचार किया है।

पाश्चात्य विद्वान् और शाब्दबोध अरस्तू तथा ग्रीस्कियन

---

१. यत्रार्थे यन्नामाधुनिकसंकेतवत्तदेव पारिभाषिकम्, यथा पित्रादिभिः पुत्रादौ संकेतितं, चैत्रादि, यथा वा शास्त्रकृद्भिः सिध्यभावादौ पक्षतादि। जातिवाच्यताशक्तिमन्नाम नैमित्तिकम्, यथा गो-गवयादि, यदुपाध्यवच्छिन्न-शक्तिमन्नाम तदौपाधिकम्—यथाकाशपश्वादि।"

—शब्दशक्तिप्रकाशिका

२. आजानिकस्त्वाधुनिकः संकेतो द्विविधो मतः।
नित्य आजानिकस्तत्र या शक्तिरिति गीयते।
कादाचित्कस्त्वाधुनिकः शास्त्रकारादिभिः कृतः॥

—(भर्तृहरि)

व्याकरणात्मक तर्क की दृष्टि से क्रिया ही "मैं खाता हूँ", "मैं खा रहा हूँ", "मैं खाता था" आदि के भेद का विश्लेषण करती है। क्रिया के ही कारण पुरुष, काल तथा लकार का ज्ञान होता है। स्कैलिगर के मतानुसार शब्द में स्पंदनशीलता या क्रिया का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से स्कैलिगर का मत ठीक जान पड़ता है। उसने क्रिया की परिभाषा यों मानी है:—"वह शब्द जो कर्ता से कर्म का संबंध स्थापित कर दोनों में विद्यमान रहता है, क्रिया है।"[१]

लॉक का मत

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जॉन लॉक ने अपने ग्रंथ "मानवबोध पर निवन्ध" (एसे ऑन् द ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग) की तृतीय पुस्तक में शब्द तथा उसके भावों का विशद विवेचन किया है। लॉक के मतानुसार व्यक्तिगत नामों को छोड़ कर प्रायः समस्त नाम (शब्द), सामान्य तथा सूक्ष्म भाव (जाति) का बोध कराते हैं।[२] व्यक्तिगत नामों का विवेचन करते हुए वह बताता है, कि मनुष्य तथा देश के

---

१. "...de definir la verbe, "un mot ayant pour fonction d'attribuer a un subjet une action exercee ou subie par lui. —ibid P. 10.

२. Since all (except proper) names are genaral, and so stand not particularly for this or that single thing, but for sorts and ranks of things, it will be necessary to consider, in the next place, what sort and kinds, or, if you rather like the latin names, what the 'species' and 'genera' of things are, wherein they consist, and how they come to be made."

—Essay on Human Understanding. III. 1. 6, ( Page 322 ).

अतिरिक्त नगरों, पर्वतों, नदियों आदि के व्यक्तिगत (भारतीय मत में यदृच्छाजनित) नाम होते हैं। घोड़े, कुत्ते आदि पशुओं के भी यदृच्छा नाम देखे जाते हैं।[१] शब्दों की जातिबोधकता पर विचार करते हुए उसने बताया है कि शब्द सामान्य भावों के बोधक होने के कारण 'सामान्य' हो जाते हैं। जब भाव देश काल का परित्याग कर देते हैं, तो वे 'सामान्य' बन जाते हैं और इस प्रकार किसी विशेष सत्ता वाले भाव से भिन्न हो जाते हैं। वे एक व्यक्ति से अधिक को प्रकट करने में सक्षम हो जाते हैं।[२] इसी तरह शब्द भी 'सामान्य' (जाति) का बोध कराते हैं। इसी संबंध में लॉक ने प्राकृत सामान्यों को उन सामान्यों से भिन्न किया है जो ज्ञेय वस्तुओं के उपमान के आधार पर स्थापित हैं। दूसरे प्रकार के सामान्य वे हैं, जिन्हें लॉक कृत्रिम सामान्य मानता है। इनका संबंध केवल ज्ञान (हम इसे निर्विकल्पक ज्ञान कह सकते हैं) के उत्पादन से है, उदाहरण के लिए 'सत्य', 'पुण्य' 'पाप' आदि शब्द। लॉक की भाँति काँडिलेक भी जाति को ही विशेष महत्त्व देता है—'समस्त भाव उतने ही हैं, जितने कि सूक्ष्म भाव।'[३]

---

१. वही, III. 3. 5. Page 327.

२. Words become general by being made signs of general ideas; and ideas become general by separating from them the circumustance of time, and place, and any other ideas that may determine them to this or that particular existence. By this way of abstraction they are made capable of representing more individuals than one."

—ibid III. 3. 6. Page 328.

३. Condillac, de son cote, affirme que "toutes les idees generales sont outent d'idees abstraites."

—Regnaud P. 12.

पाश्चात्य तर्कशास्त्री जे० एस० मिल ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ए सिस्टम आव् लॉजिक' में इस विषय पर विचार प्रतिपादित किये हैं। उसने बताया है कि शब्द तथा उनके संकेत का विचार करते समय उसके अंतस्तल में जाने पर पता चलता है, कि संकेत में तीन वस्तुओं का ग्रहण होता है, एक तो व्यक्ति का व्यक्तिगत नाम, (प्रॉपर नेम) दूसरा सामान्य अभिधान अथवा जाति (स्पिसी) तीसरा उसका विशेषण (एट्रिब्यूट)[1]। वैयक्तिक नामों के विषय में मिल का कहना है कि वे किसी वस्तु का तत्त्वतः बोध नहीं कराते। वस्तुतः इन शब्दों से कोई भाव की प्रतीति नहीं होती।[2] वैयक्तिक नाम बिना किसी अर्थ वाले चिह्न हैं, जो किसी एक पदार्थ के लिए रख लिये जाते हैं। असल में, हम किसी एक पदार्थ के भाव के लिए अपने मन में कोई चिह्न गढ़ कर उसका उस पदार्थ से संबंध स्थापित कर लेते हैं। जब जब वह चिह्न हमारी आँखों के सामने आता है या बुद्धिगम्य होता है, तो हम उस पदार्थ के बारे में सोच सकें, इस सुविधा के लिये ही यह संबंध स्थापित किया जाता है।[3]

जेम्स स्टुअर्ट मिल का मत; व्यक्तिगत नाम, सामान्य अभिधान तथा विशेषण में संकेत

जातिवाचक सामान्य शब्द अनेक का बोध कराते हैं। इन सामान्य शब्दों को मिलने 'संकेतक' (कोनोटेटिव) की पारिभाषिक संज्ञा दी

---

१. J. S. Mill : A system of Logic. Book I Ch. II.

२. "The only names of objects which connote proper thing are proper names; and these have, strictly speaking no significance."

—ibid, I. II. 5. Page 21.

३. "A proper name is but an unmeaning mark which we connect in our minds with the idea of the object, in order that whenever the mark meets our eyes or occurs to our thoughts, we may think of that individual object."

—ibid I. II. 5. Page 22.

है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम वह शब्दों के दो भेद करता है, 'संकेतक' (कोनोटेटिव) तथा 'अ-संकेतक' (नॉन-कोनोटेटिव)।[१] प्रथम कोटि में 'सामान्य नामों' (जनरल नेम्ज़--जाति) का ग्रहण होगा। दूसरे में व्यक्तिगत नामों (प्रॉपर नेम--द्रव्य) तथा विशेषणों (एट्रिब्यूट्स) का ग्रहण होगा। व्यक्तिगत नाम तथा विशेषण किसी पदार्थ के 'संकेतक' नहीं। अ-संकेतक शब्द या तो केवल पदार्थ का ही बोध करा पाता है, या केवल गुण का ही। किंतु मिल का यह 'एट्रिब्यूट' ठीक वही गुण नहीं है, जो भारतीय दार्शनिकों का, यह हम आगे देखेंगे। विशेषण (एट्रिब्यूट) के प्रकार के विषय में मिल का मत जानने से पहले हम 'सामान्य नामों' (जाति) के विषय में उसके मत को समझ लें। जिन नामों के प्रयोग से हमें अनेक व्यक्तियों का बोध हो, वह जाति हैं, जैसे 'मनुष्य' शब्द।[२] 'मनुष्य' शब्द के द्वारा राम, श्याम, पीटर, जेन, जॉन, आदि समस्त मनुष्य व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है। इसी संबंध में मिल ने एक ऐसी बात भी कही है, जो भारतीय मत से कुछ विरुद्ध पड़ती है। सफेद, लम्बा, काला जैसे शब्दों को मिल 'संकेतक' मानता है, एट्रिब्यूट' नहीं। उसके मतानुसार सफेद-पन, लम्बाई, कालापन, जैसे शब्द 'अ-संकेतक' हैं, और वे 'एट्रिब्यूट' हैं।[३] भारतीय मीमांसक 'सफेद-पन' (शुक्लत्व), तथा कालापन (कृष्णत्व) जैसी जाति (सामान्य भाव) मानते हैं। इस तरह तो ये इनके मत में 'संकेतक' भी सिद्ध होंगे। हम इसी परिच्छेद

---

१. This leads to the consideration of a third great division of names, into 'connotative' and 'non-connotative', the latter sometimes, but improperly, called 'absolute.'

—ibid Page 19.

२. The word 'man', for example, denotes Peter, John, Jane, and an indefinite number of other individuals, of whom, taken as a class, it is the name."

—ibid Page 19.

३. "Whiteness, length, virtue, signify an attribute only."

—ibid P. 19.

में देख आये हैं कि वैयाकरण इस सफेद-पन, या कालेपन को जाति नहीं मान कर सफेद, लंबा, काला इन शब्दों में अनेकता नहीं मानते। मिल भी इनमें भिन्नता नहीं मानता है। वह कहता है--'सफेद' यह शब्द बर्फ, कागज, समुद्र का फेन जैसे समस्त श्वेत पदार्थों को अभिहित करता है, और 'सफेदी' इस 'एट्रीब्यूट' को लक्षित करती है।'[१] इस तरह वैयाकरणों की भाँति वह बर्फ या कागज की सफेदी एक ही मानता है, मीमांसकों की तरह अलग अलग नहीं। पर फिर भी जहाँ वैयाकरण 'शुक्लत्व' को नहीं मानते, मिल 'सफेदी' को मानता है। ऐसे गुणवाचक शब्दों के अतिरिक्त मिल के 'संकेतक' और वैयाकरणों की 'जाति' एक ही है। जैसा कि हम मीमांसकों के मत में देख आये हैं, और आगे भी देखेंगे कि बच्चा आरंभिक अवस्था में भाषा तथा शब्दों में 'जाति' के द्वारा अर्थ प्रतिपत्ति करता है। ठीक यही मत मिल का है। "जब कोई बालक 'मनुष्य' या 'सफेद' इन शब्दों का अर्थ ग्रहण करता है, तो पहले पहल वह उन शब्दों का प्रयोग कई वैयक्तिक वस्तुओं के लिए सुनता है। धीरे धीरे वह उन वस्तुओं में साधारणीकृत रूप देखकर यह समझ लेता है, कि उनमें कौन सी समानता पाई जाती है। वैसे वह स्वयं इस समानता को शब्दों में नहीं बता सकता।[२]

तीसरी कोटि के शब्दों में मिल, संख्या, मात्रा तथा संबंधबोधक शब्दों का ग्रहण करता है। मिल की इस कोटि के संबंधवाची शब्दों

---

१. But 'white', 'long', 'virtuous' are connotatives. The word white, denotes all white things, as snow, paper, the foam of the sea, and implies... the attribute 'whiteness.' —ibid P. 19.

२. A child learns the meaning of the words 'man' or 'white', by hearing them applied to a variety of individual objects, and finding out, by a process of generalization and analysis which he could not himself describe, what those different objects have in common." —ibid P. 23.

में क्रियाबोधक शब्दों का भी समावेश हो जाता है। उसी के अनुसार इन्हें हम वे संबंधवाची मानेंगे, जिनमें कार्यकारणसंबंध पाया जाता है। इन तीनों भेदोंके साथ हम महाभाष्यकार के 'गाय, शुक्ल, चल, डित्थ" की तुलना कर सकते हैं। महाभाष्यकार का "गौः" तथा "शुक्लः" दोनों मिल के संकेतक हैं। "चलः" उसका 'एट्रीब्यूट' है, तथा "डित्थः" 'प्रॉपर नेम'। इस प्रकार यदि यह कह दिया जाय कि मिल भी वैयाकरणों की भाँति 'उपाधि' में संकेत मानता है, तो अनुचित न होगा। केवल व्यक्ति (एक वस्तुविशेष) में शक्ति माननेवाले पाश्चात्य दार्शनिकों का खंडन करते हुए मिल ने भी ठीक उसी पद्धति का आश्रय लिया है, जिसका प्रयोग भारतीय दार्शनिकों ने किया है। मिल ने एक स्थान पर कहा है, कि यदि शब्द से किसी व्यक्ति विशेष का ही संकेत लिया जाय तो फिर प्रत्येक पदार्थ के लिए अलग अलग शब्द होगा।[१] इसी युक्ति का प्रयोग करते हुए भारतीय दार्शनिक कहते हैं, "यदि घट शब्द से एक घट-विशेष का ही ग्रहण होगा, तो फिर अन्य घटों के लिए और शब्द होने चाहिए।"

अभिधा के संकेतग्रह के विषयमें प्राच्य एवं पाश्चात्य मतों की विवेचना के उपरांत हम पुनः अभिधा के प्रकरण पर आते हैं। अभिधा

अभिधा की परिभाषा
बालक को वाच्यार्थ का ग्रहण कैसे होता है—ब्लूमफील्ड का मत

शक्ति उस शब्दव्यापार को कहते हैं, जहाँ अर्थ का शब्द में, अथवा शब्द का अर्थ में साक्षात् संबंध हो।[२] अब एक प्रश्न यह उठता है कि अभिधा के द्वारा जो संकेतग्रह होता है उसका ज्ञान किन कारणों से होता है। इस 'शब्द' का यही अर्थ लेना है, अन्य अर्थ नहीं लेना है, इस प्रकार की प्रतिपत्ति बोद्धा को कैसे होती है? इस विषय में हमें पहले यह जानना होगा कि बालक आरंभ में भाषा

---

१ J. S. Mill.—'ibid' II. 213.

२ "शक्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा संबंधविशेषोऽभिधा।"

—रसगंगाधर पृ० १४०

कैसे सीखता है ? प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने अपनी पुस्तक "लेंग्वेज" में इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है—"किसी न किसी वर्ग में उत्पन्न प्रत्येक बालक, अपने जीवन के प्रथम वर्षों में ही वाणी एवं उसके अर्थ को सीख जाता है।"[1] ब्लूमफील्ड ने इस भाषा-शिक्षण की पाँच अवस्थायें मानी हैं। प्रथम अवस्था में शिशु दा-दा, वा-वा, पा-पा, मा-मा आदि ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। दूसरी अवस्था में वह किन्हीं बड़ों के द्वारा व्यवहृत अपनी ध्वनियों के समान ध्वनि सुनता है। तीसरी स्थिति में वह किसी वस्तु के लिए बार बार उसी परिचित शब्द को सुनता है। इस स्थिति में वह उस वस्तु तथा उस ध्वनि के संबंध को भी साथ साथ समझता जाता है। चौथी स्थिति वह है जब वह यह समझने लगता है कि अमुक वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर अमुक संबद्ध ध्वनि को उत्पन्न करे। धीरे धीरे पाँचवीं स्थिति में वह कोई शब्द कह कर उसके परिणाम को देखकर अमुक शब्द का अमुक अर्थ लेना चाहिए, यह साहचर्यज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस दशा में वह शिशु वक्ता और श्रोता दोनों का कार्य साथ साथ करता जाता है।[2]

भारतीय विद्वानों ने शब्द के शक्तिग्रह के आठ साधन माने हैं। इनमें से कोई भी एक साधन शब्द की शक्ति का ग्रहण कराता है। ये साधन आठ हैं:—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति तथा सिद्धपदसान्निध्य।

**प्राच्य विद्वानों के मत से—शक्तिग्रह के साधन**

(१) व्याकरण—वाक्य में प्रयुक्त पद के सुप्, तिङ् प्रत्यय, प्रकृति आदि व्याकरणिक प्रयोगों का शक्तिग्रह 'व्याकरण' के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए वर्तमान में लट् का प्रयोग ( वर्तमाने लट् ) शक्तिग्राहक ही है।

---

१. "Every child that is born into a group acquires these habits of speech and response in the first years of life."

—Language P. 29.

२. Side by side he also acts as a hearer."

—ibid P. 30.

( २ ) उपमानः—नील गाय को गाय के समान देखकर उसका नाम 'गवय' ( गोसदृशः गवयः ) रख दिया है। उपमान के ही द्वारा हम 'गवय' शब्द का अर्थ 'नील गाय ले लेते हैं।

( ३ ) कोशः—किसी विशेष अर्थ में कोश में किसी शब्द का प्रयोग देखकर उससे भी शक्तिग्रह हो ही जाता है। यथा "बिडौजा' ( इंद्र ) शब्द का कोश में अर्थ देखकर शक्तिग्रह हो जाता है।

( ४ ) आप्तवाक्यः—कोई आप्तव्यक्ति किसी बच्चे का नाम 'टुल्लू' रख देता है, तो इस शब्द से तत्तत् संकेतग्रह होने लगता है। पारिभाषिक संज्ञाओं में भी हम आप्तवाक्य से ही संकेतग्रह मान सकते हैं। सिद्धांतमुक्तावलीकार इसका उदाहरण 'पिक' शब्द देते हैं, जहाँ आप्त वाक्य के कारण 'कोयल' में संकेतग्रह होता है।[2]

( ५ ) व्यवहारः—किसी किसी शब्द का संकेत, बालकको व्यवहार से होता है। कोई वृद्ध व्यक्ति किसी से 'घड़ा' लाने या ले जानेको कहे तो, बालक को 'घड़ा' शब्द का संकेत ग्रह व्यवहार देखकर हो जाता है।

---

१, शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदंति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

( सि० मु० दिनकरीस पृ० ३५६ )

( साथ ही )

संकेतस्य ग्रहः पूर्वं वृद्धस्य व्यवहारतः।
पश्चादेवोपमानाद्यैः शक्तिधीपूर्वकैरसौ॥

( शब्दशक्ति प्रका० का० २० पृ० १०३-४ )

२. ',पिक" शब्द की व्युत्पत्ति अमरकोष के टीकाकार भानुजि दीक्षित ने रामाश्रयी ( पृ० १९४ ) में "अपि कायति" ( अपि + का + क ) ( जो शब्द करता हो ) की है; किंतु शब्द तो सभी प्राणी करते हैं, अतः कोकिल के संकेतग्रह में आप्तवाक्य ही मानना होगा।"

( ६ ) वाक्यशेषः—जहाँ किसी दूसरे वाक्य से एक वाक्य के शब्द का संकेतग्रह हो। जैसे मीमांसा का वाक्य है:—"यव से चरु बनता है" ( यवमयश्चरुर्भवति )। यहाँ यव का अर्थ आर्य लोग 'जौ' लेते हैं, म्लेच्छ लोग "कंगु" लेते हैं। पर एक वाक्य है कि "सारी औषधियाँ म्लान हो जाती हैं, ये नहीं होते, बसंत में सब शस्यों के पत्ते गिर जाते हैं, पर जौ फैले हुए रहते हैं।" इसके आधार पर 'यव' का संकेतग्रह "जौ" में ही होगा।

( ७ ) विवृति—जहाँ समानार्थक पद से संकेतग्रह हो, जैसे 'कलश' कहने पर 'घट' का संकेत हो।

( ८ ) सिद्धपदसान्निध्यः—जहाँ एक पद को देखकर दूसरे पद का संकेतग्रह हो, जैसे "अत्र मधूनि मधुकरः पिबन्ति" में 'मधूनि' का अर्थ "शराब" न होकर "पराग या शहद" होगा। यह "मधुकर पद के सान्निध्य के कारण है।

अभिधा शक्ति तीन प्रकार की होती है—रूढ़ि, योग तथा योग-रूढ़ि। इन्हीं को क्रमशः केवल समुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति तथा समुदायावयवशक्तिसंकर भी कहते हैं।[1] रूढ़ि वहाँ होती है, जहाँ शब्द पूरे समुदाय रूप में अर्थ प्रतीति करावे। यहाँ शब्द की अखंड शक्ति से ही एक अर्थ की प्रतीति होती है।[2]

अभिधा के तीन भेद—
१ ) रूढि

यह रूढि या तो उस शब्द के अवयवों ( अंगों ) के अलग अलग अर्थ का सर्वथा भास न होने के कारण होती है, या इसलिए कि अवयवार्थ का भान होने पर भी उसका बाध हो जाता है। उदाहरण यथा,

अजौं तर्‍यौना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यौ बसि मुकुतन के संग॥

( बिहारी )

---

१. सेयमभिधा त्रिविधा, केवलसमुदायशक्तिः, केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति।

—रसगंगाधर पृ० १४१.

२. अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढ़िः।

—वृत्तिवार्तिक ( अप्पयदीक्षित पृ० १. )

यहाँ तर्योना स्रुति, नाक, बेसर तथा मुकुतन का अर्थ क्रमशः 'कान के झुमके', कान, नासिका, 'नाक का भूषण', तथा मोती लिया गया है। इन अर्थों में रूढ़ि है। इसी दोहे के मुक्तिपक्ष वाले अर्थ की प्रतीति में, "तर्यौ ना" के "जिस व्यक्ति की मुक्ति (मोक्ष) नहीं हो सकी है" इस अर्थ में अवयव शक्ति है। अतः यहाँ रूढ़ि नहीं है। ऐसे स्थलों पर योग शक्ति मानी जायगी।

योगात्मक अभिधा वहाँ होती है, जहाँ किसी अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द की अवयवशक्ति की आवश्यकता होती है। योग शक्ति में पद की अवयवशक्ति के बिना अर्थ प्रतीति नहीं हो सकती।[1] यह या तो समुदाय वाले अर्थ के भास न होने के कारण होती है, या उसका भास होने पर भी बाध हो जाता है। उदाहरण यथा,

(२) योग

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥
(बिहारी)

यहाँ 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर' में योगात्मक अभिधा है।

योगरूढ़ि वहाँ होगी, जहाँ एक ही अर्थ की प्रतीति में अवयवशक्ति तथा समुदायशक्ति दोनों की आवश्यकता हो।[2] इसीलिए इसमें अवयवशक्ति तथा समुदायशक्ति दोनों का संकर माना गया है। यथा,

(३) योगरूढ़ि

पक्षद्वयकृशिमपोष विभाव्यमानचांद्रायण व्रतनिषेवण एवनित्यम्।
कुर्वन् प्रदक्षिणमुपेन्द्र सुरालयं ते; लिप्सुर्मुखाब्जरुचिमेपतपस्यतींदुः॥

"हे इंद्र के छोटे भाई विष्णु, यह चंद्रमा तुम्हारे मुख की शोभा पाने की इच्छा से तपस्या करता है। देखो, यह प्रतिदिन; शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष में बढ़-घट कर, चांद्रायण व्रत का आचरण कर रहा है, तथा सुरालय (सुमेरु पर्वत) की प्रदक्षिणा कर रहा है।";

---

१. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।
—वही पृ० २.

२. अवयव समुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढ़िः।
—वही पृ० २।

किसी मनौती को लेकर कोई व्यक्ति नाना प्रकार के चांद्रायण जैसे व्रत करता है, और तीर्थस्थानों की प्रदक्षिणा करता है, इसी तरह विष्णु के मुख की शोभा प्राप्त करने के लिए चंद्रमा चांद्रायण व्रत कर रहा है और 'सुरालय' की परिक्रमा कर रहा है। यहाँ 'सुरालय' का अर्थ 'सुमेरु' पर्वत लिया जायगा। इनमें योगरूढ़ि है। पहले पहल यह शब्द 'सुर' तथा 'आलय' इन अवयवों के द्वारा 'देवताओं का घर' इस अर्थ की प्रतीति कराता है। फिर समुदाय शक्ति से 'सुमेरु' का अर्थ निकलता है। इस योगरूढि के वर्गीकरण के संबंध में आचार्यों ने यह भी विचार किया है कि 'पंकज' जैसे शब्दों में कौनसी अभिधा है। 'पंकज' का साधारण व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तो 'कीचड़ में पैदा होनेवाला' है। कीचड़ में तो कमल के अतिरिक्त कुमुदिनी आदि भी उत्पन्न होते हैं। फिर यहाँ कमल के अर्थ में 'पंकज' में रूढ़ि मानना ठीक होगा या नहीं। यह माना जा सकता है कि जहाँ 'पंकज' का प्रयोग कमल, कुमुद आदि सबके लिए किया जाय, वहाँ योग शक्ति होगी। नैयायिक 'पंकज' में रूढ़ि या योग दोनों ही नहीं मानते। उनके मत से कमल तो 'नाभिकमल' (विष्णु की नाभि का कमल) भी है, 'तथा कीचड़ में' कुमुदिनी आदि भी उत्पन्न होते हैं। इतना होनेपर भी 'पंकज' शब्द से 'कमल' की प्रतीति इसलिए हो जाती है कि वह "कीचड़ में उत्पन्न सारी वस्तुओं में श्रेष्ठ है"। किंतु इससे नाभिकमल जैसे स्वतंत्र कमल की भी तो प्रतीति होती है. अतः यहाँ लक्षणा शक्ति है।[1] नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं। हमारे मतानुसार 'कमल' के अर्थ में योगरूढ़ि वाली अभिधा होती है, जैसे 'सुरालय' से 'सुमेरु' वाले अर्थ में।

---

१. नैयायिकास्तु—पंकजादिशब्दरूपैकपदोपादानरूपयांतरंगप्रत्यासत्त्या नाभिकमलकुमुदान्वयात्प्रागेव पंकजनिकर्तृत्ववैशिष्ट्येनोपस्थितस्य पद्मस्य पद्माश्रवत्वेनोपस्थितस्य पकजनिकर्तृत्वस्य च नाभिकमलकुमुदाद्यन्वये नाकांक्षा; न च विशिष्टस्य तदन्वय विपयिणी शाब्दधीः, इति तदन्वयार्थं स्वतंत्र पद्मत्व पंकजनिकर्तृत्वोपस्थितये पंकजादिपदस्य लक्षणैवाभ्युपगंतव्या, न तु रूढ़िर्योगो वा।

—वही पृ० ५

कभी कभी ऐसा होता है कि एक ही शब्द के कई मुख्यार्थ होते हैं। ऐसे स्थानों में किस अर्थ को प्रधानता दी जाय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में बताया है कि शब्द तथा अर्थ के संबंध में विशिष्ट स्मृति करानेवाले संयोगादि १४ या १५ नियामक होते हैं। ये हैं:- संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध अर्थ, प्रकरण, लिंग (चिह्न), अन्य शब्द की समीपता, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, आदि चेष्टा)![1] आचार्य हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में इनके अतिरिक्त 'आदि शब्द से' अभिनय, अपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित तथा आकार को शब्दार्थ संबंध में नियामक (विशेषस्मृतिहेतु) माना है।[2] वे संयोगादि किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने में अभिधाशक्ति के नियामक का काम करते हैं।[3] फ्रेंच विद्वान् रेञो (Regnaud) ने अपने ग्रंथ 'ला रेतोरीके सॉंस्क्रीत' (La Rhetorique Sanskrite) में भर्तृहरि के इस नियामक विभाजन को विशेष तर्कपूर्ण नहीं माना है। वह कहता है-- यहाँ इस तथ्यपूर्ण उल्लेख की कटु आवश्यकता होगी कि यह वर्गीकरण विशेष तर्कपूर्ण नहीं है। इनमें से कई प्रकरणों की अभेदप्रतिपत्ति उन अन्य प्रकरणों के साथ हो सकती है, जिनका ये आधार हैं।"[4] हमारी

(हाशिया: अनेकार्थवाची शब्दों में मुख्यार्थ के नियामक तत्वों के विषय में भर्तृहरि का मत— रेञो के द्वारा किये इसके खंडनका उल्लेख रेञो के मत का खंडन)

---

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥—भर्तृहरि

२. आदिग्रहणादभिनयापदेशनिर्देशसंज्ञेंगिताकारा गृह्यन्ते॥
—काव्यानुशासन १-२३ पृ० ६५

३. सा चानेकशक्तिकस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियम्यते।
—वृत्तिवार्तिक पृ० ६

४. "Il est a peine besoin de faire remarquer que cette enumeration n'est pas d'une grand exactitude

समझ में रेन्वों का यह आक्षेप ठीक नहीं। भर्तृहरि के इस विस्तार का तात्पर्य यह नहीं है कि एक स्थान या प्रकरण में एक ही नियामक होता हो कई स्थानों पर एक से अधिक नियामक भी पाये जा सकते हैं। अरस्तू ने भी एक स्थान पर यह बताया है कि जहाँ एक शब्द से कई अर्थ निकलते हों, वहाँ कौन कौन प्रकरण उस शब्द के किसी विशेष अर्थ का निर्धारण करने में समर्थ होते हैं।[1] इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक तथा अरस्तू एक ही मत को मानते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

अनेक अर्थ वाले शब्द का एक निश्चित अर्थग्रहण कभी कभी दूसरी वस्तु के संयोग के कारण होता है। यहाँ संयोग का भाव किसी शब्द से न मानकर वस्तु से मानना ठीक होगा। जैसे, "शंखचक्रवाला हरि" (सशंखचक्रो हरिः) इस वाक्यांश में 'हरि' शब्द का 'विष्णु' अर्थ लेना होगा। शंख चक्र के साथ विष्णु का ही संयोग रहता है। वैसे, 'हरि' शब्द के इन्द्र, सिंह, बन्दर, घोड़ा आदि अनेक अर्थ होते हैं, वैसे कुछ स्थलों पर दोनों अर्थ लेने पड़ते हैं, यह हम व्यंजना के प्रकरण में देखेंगे। इसी 'हरि' शब्द का 'विचरत हरि सिंहिनि सहित' में 'सिंह' अर्थ लेना होगा। यहाँ सिंहिनी का संयोग इस विशिष्ट अर्थ में नियामक है।

(१) संयोग

इस विशिष्ट अर्थ का दूसरा नियामक—विप्रयोग (जुदाई) है। यह संयोग का ठीक उलटा है। जैसे "बिना शंख चक्र वाला हरि" (अशंखचक्रो हरिः) में शंख चक्र की जुदाई के कारण विष्णु अर्थ लेना होगा। किसी वस्तु से उसी की जुदाई हो सकती है, जो उसके साथ रहता है। इसी तरह 'हंस मानसर बिन लखे" में मानसरोवर' के

(२) विप्रयोग

---

logique. Il est telle des circonstances indiquees qui est presque identique a telle autre, dont elle est precedee ou suivie."—'La Rhetorique Sanskrite.'

( footnote 3. ) Page 33.

१. देखिये—अरस्तू-काव्यशास्त्र परिच्छेद २५.

विप्रयोग के कारण 'हंस' का अर्थ 'पक्षिविशेष' लेना होगा। वैसे इसके अर्थ आत्मा तथा सूर्य भी होते हैं।

हम देखते हैं कि कोई दो वस्तुएँ सदा साथ रहती हैं। उनमें एक शब्द अनेकार्थवाची है। ऐसे स्थल पर दूसरे शब्द के वाच्य के साहचर्य के कारण पहले शब्द का भी विशिष्ट अर्थ ले लेंगे। जैसे "राम-लक्ष्मण" ( रामलक्ष्मणौ ) में लक्ष्मण के साहचर्य के कारण राम का अर्थ दशरथ पुत्र राम ही लेना पड़ेगा। वैसे 'राम' का प्रयोग परशुराम तथा बलराम के लिए भी होता है। अथवा जैसे,

( ३ ) साहचर्य

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कली ही तैं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥
( बिहारी )

यहाँ 'पराग' तथा 'कली' के साहचर्य के कारण 'अली' का अर्थ 'भँवरा' लेना होगा, सखी या पङ्क्ति नहीं।

जब हम जानते हैं कि एक व्यक्ति का अन्य व्यक्ति से विरोध ( वैर ) है, तो एक के प्रयोग को देखकर उसी प्रकरण में प्रयुक्त अनेकार्थ शब्द के अर्थ को निश्चित कर सकते हैं। जैसे "उनका बर्ताव राम और अर्जुन जैसा है" ( रामार्जुनगतिस्तयोः ) इस उदाहरण में राम के विरोध के कारण अर्जुन का अर्थ 'कार्तवीर्यार्जुन' लेना होगा, 'कुन्ती-पुत्र अर्जुन' नहीं, तथा इसी के विरोध के कारण 'राम' का अर्थ 'परशुराम' लेना होगा। अथवा जैसे,

( ४ ) विरोध

मत्त-नाग-तम-कुंभ विदारी। ससि-केहरी गगन-वन-चारी॥

यहाँ 'केसरी' ( सिंह ) के विरोध के कारण 'नाग' शब्द का अर्थ 'हाथी' होगा, 'सर्प' नहीं।

वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ, जहाँ दूसरे अनेकार्थ शब्दों के खास अर्थ ज्ञान का कारण बने, वहाँ अर्थ को नियामक माना जायगा। जैसे "संसार का दुख मिटाने के लिए स्थाणु का भजन करो" (स्थाणुं भज भवच्छिदे) इस वाक्य में 'स्थाणु' का अर्थ शिव लिया जायगा, ठूँठ' नहीं। संसार का दुख मिटाने के अर्थ का अन्वय 'शिव'

( ५ ) अर्थ

के साथ ही ठीक बैठता है, ठूँठ के साथ नहीं। अथवा जैसे 'वृक्ष के दल झरे'', यहाँ वृक्ष के अर्थ के कारण 'दल' का अर्थ 'पत्ते' लेना पड़ेगा, 'सेना' नहीं।

( ६ ) प्रकरण

जहाँ प्रसंग को देख कर अर्थ नियमन किया जाय. वहाँ प्रकरण अर्थ नियामक होगा। जैसे रसोई के प्रसंग में कोई कहे 'सैन्धव लाओ'' ( सैन्धवमानय ), तो वहाँ 'सैन्धव' से 'नमक अर्थ लेना होगा घोड़ा नहीं।

( ७ ) लिंग

लिंग का अर्थ यहाँ चिह्न है। जहाँ कोई चिह्न ( विशेषण या क्रिया ) देख कर अनेकार्थ वाची शब्दका कोई विशिष्ट अर्थ लिया जाय, वहाँ लिंग अर्थ नियामक होगा। जैसे 'मकरध्वज क्रुद्ध हो गया' ( कुपितो मकरध्वजः ) इस उदाहरणके कारण 'क्रुद्ध होना' यह लिंग ( चिह्न ) 'मकरध्वजः 'का' 'कामदेव' अर्थ करानेमें नियामक है। वैसे इसका अर्थ 'समुद्र' भी है। अथवा जैसे, ''अलि, बरसत घनश्याम' में 'बरसत' इस चिह्न के कारण 'घनश्याम' का अर्थ 'बादल' होगा, कृष्ण नहीं। इसी उदाहरण में 'अलि' में 'सखी' अर्थकी प्रतीति कराने में नियामक तत्त्व 'प्रकरण' है।

( ८ ) अन्यशब्द सान्निध्य

कभी कभी किसी दूसरे शब्द के सान्निध्य से, उसके बलपर एक विशिष्ट अर्थ लिया जाता है। जैसे 'देवस्य पुराराते:' इस उदाहरण में 'पुराराति' ( त्रिपुर के शत्रु ) के सान्निध्य से 'महादेव' अर्थ लेना होगा। वैसे इस का अर्थ राजा तथा अन्य देवता भी हो सकता है।

( ९ ) सामर्थ्य

जहाँ किसी वस्तु में किसी कार्य करने के सामर्थ्य के आधार पर अर्थ नियमन किया जाय, वहाँ 'सामर्थ्य' अर्थ नियामक होगा। जैसे 'मधुसे मत्त कोकिल' ( मधुना मत्तः कोकिलः ) में कोयल को मत्त बनाने के सामर्थ्य से, 'मधु का अर्थ 'बसंत' होगा। वैसे इस शब्द के पराग, शराब तथा शहद अर्थ भी होते हैं।

औचित्य के आधार पर जहाँ अर्थ नियमन हो, वहाँ 'औचिती' है। जैसे 'हरि बैठो तरु डार पर' में 'हरि' का

( १० ) औचिती

अर्थ औचित्य के कारण 'बन्दर' लेना होगा। अथवा जैसे 'अर्क जवास पात बिन भयऊ' में औचिती के कारण ही 'अर्क' का अर्थ 'सूर्य' न होकर 'आक' का वृक्ष है।

जहाँ देश के आधार पर अर्थ का नियमन हो, जैसे 'यहाँ परमेश्वर सुशोभित हैं' ( भात्यत्र परमेश्वरः ) इस वाक्य का प्रयोग यदि कोई राजधानी में करे, तो इस देश के

( ११ ) देश

प्रकरण से 'परमेश्वर' का अर्थ राजा लेना होगा। अथवा जैसे, 'मरु में जीवन दूरि है' में मरुस्थल के देश के कारण 'जीवन' का अर्थ 'जल लेना होगा।

जहाँ काल के आधार पर अर्थ का नियमन हो, जैसे 'चित्रभानु प्रकाशित हो रहा है' ( चित्रभानुर्विभाति ) का अर्थ रात में 'आग जलती है' तथा दिन में सूर्य चमक रहा है' लेना

(१२) काल

होगा। अथवा जैसे होत भोर कुवलय विकसाने में कुवलय का अर्थ 'कमल' होगा, किंतु 'कुवलय निसि फूले' में निशा के उपादान से 'कुवलय' का अर्थ कुमुदिनी लेना होगा।

अर्थ का अन्य नियामक तत्व व्यक्ति है जैसे 'मित्रं भाति' में नपुंसक लिंग के प्रयोग से "सुहृद् है" किंतु

(१३) व्यक्ति

'मित्रो भाति' में पुल्लिंग व्यक्ति के प्रयोग से "सूर्य चमकता है" यह अर्थ लिया जायगा।[१]

स्वर-भेद के द्वारा काव्य में काकु आदि के प्रयोग से अर्थ बदल जाता है, किन्तु वहाँ शब्द के दो अर्थ नहीं होते। वैसे स्वर का विशेष महत्त्व वेद में है जहाँ स्वर ( उदात्त, अनुदात्त

( १४ ) स्वर

तथा स्वरित ) के भेद से 'इन्द्रशत्रु' के 'इन्द्र का शत्रु' ( तत्पुरुष समास ) तथा 'जिसका शत्रु इन्द्र है' ( बहुव्रीहि समास ) ये दो भिन्न अर्थ लिए जाते हैं। काव्य में इसका इतना महत्त्व नहीं है।

---

१. संस्कृत में 'मित्र' शब्द के दो रूप पाये जाते हैं, एक पुल्लिंग, दूसरा

भर्तृहरि की कारिका के "स्वरादयः" पद के "आदि" शब्द से चेष्टा को भी अर्थ नियामक माना गया है।

( १५ ) चेष्टा

चेष्टा वहाँ है, जहाँ हाथ आदि के इशारे से कुछ लक्षित करते हैं। जैसे 'इती तनिक-सी छोहरी' में हाथ से किये गये संकेत से लघुता का ज्ञान होगा। 'आदि' शब्द से वृत्तिवार्तिककार अभिनय ( चेष्टा ) तथा उपदेश का ग्रहण करते हैं।[१] हेमचंद्र भी और कई नियामकों का ग्रहण करते हैं, यह हम बता आये हैं। वैसे ये सब 'चेष्टा' में अंतर्भूत हो जाते हैं, अतः इन्हें अलग मानना ठीक नहीं।

अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ का महत्त्व काव्य में ही नहीं, अन्य सभी शास्त्रों में तथा लौकिक व्यवहार में भी है। सत्यासत्य

उपसंहार

का निर्णय करने वाले शास्त्रों में अभिधा शक्ति तथा इसके वाच्यार्थ का कितना महत्व है, इसका संकेत हम पहले कर आये हैं। साधारण लौकिक व्यवहार में भी इसका बड़ा महत्व है, यह अनुभव गम्य है ही। लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यंजना इन अन्य तीन शक्तियों की आधार भित्ति अभिधा ही है। हम वाच्यार्थ के ज्ञान के बाद ही लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तक पहुँचते हैं। अतः लक्षणा आदि में बीज में अभिधा अवश्य रहती है।

———

नपुंसक। पुल्लिंग वाची 'मित्र' शब्द का अर्थ सूर्य होता है। नपुंसकलिंग वाची 'मित्र' शब्द का अर्थ 'सखा' ( सुहृद् ) होता है।

१ आदिशब्देनाभिनयोपदेशौ गृह्येते। अभिनयो विवक्षितार्थाकृति-प्रदर्शको हस्तव्यापारः। वृत्तिवार्तिक पृ० ८

## ४

## लक्षणा और लक्ष्यार्थ

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष प्रसंग में मुख्यार्थ ठीक नहीं बैठता। ऐसे स्थलों पर उसी मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के अर्थग्रहण करने में या तो कोई लौकिक व्यवहार (रूढि) कारण होता है, या वक्ता की किसी विशेष बात को व्यंजित करने की इच्छा (प्रयोजन)। इस प्रकार प्रतीत अर्थ किसी शब्द का लक्ष्यार्थ होता है। इस अर्थ का बोध करानेवाली शक्ति लक्षणा कहलाती है, और इसका शब्द लाक्षणिक। उदाहरण के लिए, यदि मैं कहूँ "हम सितार सुनने जा रहे हैं", तो इस वाक्य में सितार के प्रसंग में 'सुनने' क्रिया का मुख्यार्थ ठीक नहीं बैठता। सितार का वास्तविक मुख्यार्थ एक वाद्य-यन्त्र विशेष है, जिसके नीचे तूँबी है, ऊपर एक लम्बा डंडा है, जिस पर पर्दे लगे हैं, तथा तूँबे से ऊपर तक तार हैं, और बीच में खूँटियाँ। अतः यहाँ हम सितार का मुख्यार्थ नहीं ले सकते, क्योंकि सितार नाम से अभिहित पदार्थ देखने की चीज है, सुनने की नहीं। मुख्यार्थ लेने पर सितार के साथ केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष ही हो सकता है, श्रावण सन्निकर्ष नहीं। अतः मुख्यार्थ के संगत न बैठने पर हमें "सितार से उत्पन्न ध्वनि" यह अर्थ लेना होगा, जिसका 'सुनने' क्रिया के साथ अन्वय ठीक बैठ जाता है। 'सितार" शब्द का उससे उत्पन्न ध्वनि के अर्थ में लौकिक प्रयोग चल पड़ा है। अतः यहाँ 'सितार' के प्रयोग में कहने वाले का कोई विशेष अभिप्राय नहीं है, और इसलिए इसका कारण प्रयोजन न होकर रूढि है। इस तरह लक्षणा के लिए हम तीन तत्त्वों की आवश्यकता मान सकते हैं, जिनके अभाव में लाक्षणिकता संभव नहीं होगी।

लक्षणा एवं लक्ष्यार्थ
लक्षणा की परिभाषा

(१) मुख्यार्थबाधः—वाच्यार्थ की संगत न बैठना,

(२) तद्योगः—वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का संबद्ध होना,

लक्षणा के तीन तत्त्व

(३) रूढ़ि या प्रयोजनः—लक्ष्यार्थ का प्रयोग या तो व्यवहार में चल पड़ा हो, या उस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग में वक्ता का कोई विशेष प्रयोजन हो।

इसी बात को मम्मट ने काव्यप्रकाश की इस कारिका में कहा है—"वाच्यार्थ के बाध होने पर; लक्ष्यार्थ के उससे संबद्ध होने पर, तथा रूढि या प्रयोजन के कारण, जहाँ अन्य अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ आरोपित क्रिया रूप लक्षणा होती है।"[1] स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ शब्द का वास्तविक अर्थ न होकर आरोपित अर्थ है। लक्षणा के हेतुभूत इन तीनों तत्त्वों के एक साथ होने पर ही लक्षणा होगी। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि लक्षणा के हेतु लक्षणा से 'तृणारणि-मणिन्याय'[2] से संबद्ध न होकर 'दण्डचक्रादिन्याय'[3] से संबद्ध हैं। इसीलिए काव्यप्रकाश के टीकाकार ने इनको लक्षणा का हेतु बताते समय एकवचन (हेतुः) का ही प्रयोग किया है।[4] वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित ने 'मुख्यार्थ के संबंध के द्वारा शब्द

---

१ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा रोपिता क्रिया॥
(का० प्र० उल्लास २ का० ९, पृ० ४०)

(साथ ही) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथान्योर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥
(सा० द० परि० २ पृ० ४८)

२ जहाँ किसी वस्तु के कई हेतुओं में से कोई भी एक कार्योत्पत्ति कर सकता है, वहाँ यह न्याय माना जाता है, जैसे आग घास, लकड़ी या मणि किसी से भी उत्पन्न हो सकती है।

३. जहाँ सारे हेतु मिलकर कार्योत्पत्ति करें, वहाँ यह न्याय होता है, जैसे घड़ा दंडा, चाक, सूत्र, कुम्हार, मिट्टी सभी के मिलने पर बन सकता है।

४. मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थयोगः, रूढिप्रयोजनान्यतर च्चेति त्रयं लक्षणाया हेतुः।

—का० प्र० बालबो० पृ० ४१.

का प्रतिपादक होना' लक्षणा माना है।[1] वृत्तिवार्तिककार की परिभाषा का तात्पर्य भी ठीक वही है, जो मम्मट का। पर मम्मट की परिभाषा विशेष स्पष्ट है। नैयायिकों के मत से लाक्षणिक पद की परिभाषा यों है। प्रत्येक शब्द अपने वाच्यार्थ को द्योतित कराने वाली शक्ति से संपन्न होता है। इस अर्थ को हम उस शब्द का विशिष्ट धर्म मान सकते हैं। इस प्रकार के विशिष्ट धर्मवाली शक्ति कभी-कभी किसी दूसरी शक्ति से भी संबद्ध रहती है। जब शब्द उस दूसरी शक्ति तथा उसके धर्म के ज्ञान का बोध कराता है तो वह लक्षक होता है।[2] दूसरे शब्दों में अभिधा के संगत न बैठने से जहाँ अभिधा से ही संबद्ध किसी शक्ति के द्वारा, जो शब्द अर्थ का निरूपक हो, वह लक्षक है।

निरूढा तथा प्रयोजनवती लक्षणा

उदाहरण के लिए 'वह व्यक्ति काम में कुशल है' (कर्मणि कुशलः) तथा 'गंगा में आभीरों की बस्ती है' (गंगाया घोषः) इन दो वाक्यों में 'कुशल' तथा 'गंगा में' इन दोनों पदों में लक्षणा है। कुशल का मुख्यार्थ कुशा को ले आनेवाला तथा 'गंगा' का अर्थ 'गंगा प्रवाह' है। ये दोनों अर्थ क्रमशः 'काम' तथा 'आभीरों की बस्ती' के साथ संगत नहीं बैठते हैं। अतः लक्षणा से इनका अर्थ "चतुर" तथा "गंगातट" लिया गया है। यहाँ 'चतुर' तथा 'गंगातट', ये लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से संबद्ध भी हैं ही। कुशा को जंगल से उखाड़ कर अपने हाथ में बिना लगाये हुए वही ला सकता है, जो उसे जड़ के पास से उखाड़ कर अपनी चतुरता का परिचय दे। अतः कुशल का रूढि से 'चतुर' अर्थ हो गया। यहाँ पर निरूढा या रूढिमती लक्षणा है। 'गंगा' से 'गंगातट' वाले अर्थ लेने में प्रयोजन है। यहाँ "गंगातट पर बसे घोष में ठीक उतनी ही ठंडक व पवित्रता है, जितनी स्वयं गंगा के प्रवाह में" इस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के लिए 'गंगा में' का प्रयोग किया गया

---

१. सा च मुख्यार्थसंबंधेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्—वृत्तिवार्तिक पृ० १५

२. 'यादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं, यद्धर्मविशिष्टयन्निरूपितशक्तिशून्यत्वे सति, यद्धर्मविशिष्टयन्निरूपितसंबंधवन्निरूपितशक्तिनिरूपकं तद्धर्मप्रकारतद्विशेष्यकबोधतादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं लक्षकमिति पर्यवसितम्।"

— कृष्णकांती टीका (श० श० प्रका०) पृ० १२३

है। यह प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती में प्रयोजन स्वयं व्यंग्य होता है, इसे हम आगे बतायँगे। पहले उदाहरण में कुछ लोगों के मतानुसार लक्षणा मानना ठीक नहीं। विश्वनाथ तथा हेमचंद्र दोनों 'कुशल' का चतुर अर्थ मुख्यावृत्ति (अभिधा) से मानते हैं, लक्षणा से नहीं।[1] वृत्तिवार्तिककार इस विषय में मम्मट का मत मानते जान पड़ते हैं। एक स्थान पर वे शुद्धा निरूढा का यह उदाहरण देते हैं।—

क्वणद्विरेफावलिनीलकंकणं, प्रसार्य शाखाभुजमाम्रवल्लरी।
कृतोपगूढा कलकंठकूजितै, रनामयं पृच्छति दक्षिणानिलम्॥

"आम्रलता, झणझण शब्द करते हुए द्विरेफों की पंक्ति के नीले कंकण वाली शाखारूपी बाहु को फैला कर, (वायु के द्वारा) आलिंगित किये जाने पर, दक्षिण वायु को कोकिला की कुहू के द्वारा कुशल पूछ रही है।"

इस उदाहरण के 'द्विरेफ' शब्द से गृहीत 'भ्रमर' अर्थ में उन्होंने लक्षणाशक्ति ही मानी है।[2] इस प्रकार रूढिगत तथा प्रयोजनगत होने से लक्षणा के दो भेद माने जा सकते हैं:—निरूढा तथा प्रयोजनवती। इन्हें ही निरूढलक्षणा तथा फललक्षणा भी कहा जाता है। हम प्रयोजनवती लक्षणा का यह उदाहरण ले सकते हैं:—

लहरें व्योम चूमतीं उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में, बूँदें निज-संसृति रचतीं॥

(कामायनी, १ सर्ग)

इस पद्य में लहरों के लिए 'व्योम चूमने' का प्रयोग लाक्षणिक है। यहाँ 'चूमने' का लक्ष्यार्थ 'स्पर्श करना' है। इस प्रयोग से 'प्रलय

---

१. "केचित्तु कर्मणि कुशल इति रूढावुदाहरंति। तदन्ये न मन्यन्ते, कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्"

(सा० द० परि० २ पृ० ५१)

(साथ ही) "कुशल-द्विरेफ-द्विकादयस्तु साक्षात्संकेतितविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिर्लक्ष्यस्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता।"

(काव्यानुशासन, अ० १ पृ० ४६)

२. "अत्र द्विरेफशब्दस्य 'द्वौ रेफौ यस्य" इति व्युपत्त्या भ्रमरशब्दवृत्ते स्तद्वाच्ये रूढिलक्षणा।" —(वृत्तिवार्तिक पृ० १६)

कालीन सागर की उत्ताल तरंगों की ऊँचाई तथा भयंकरता' व्यंजित होती है, जो इस प्रयोग का प्रयोजन ( फल ) है।

'कुशल' में रूढा लक्षणा न मानते हुए भी हेमचंद्र तथा विश्वनाथ रूढा को अवश्य मानते हैं। वे मम्मट की समस्त रूढा का समावेश अभिधा में नहीं करते। विश्वनाथ ने रूढा का उदाहरण "कलिंग साहसी है" ( कलिंग: साहसिकः ) यह दिया है। यही रूढा लक्षणा यहाँ भी है, "पंजाब वीर है"। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं; जो रूढा जैसे लक्षणाभेद को नहीं मानते। मुरारिदान के यशवंतयशोभूषण के संस्कृत अनुवादक पं० रामकरण आसोपा ने अपना मत देते हुए लिखा है: —"बिना किसी प्रयोजन के बाधितान्वय-वाक्य का प्रयोग उन्मत्त-प्रलपित-सा है। अतः इस दोष को हटाने के लिए लक्षणा में प्रयोजन रूप बीज मानना ही पड़ेगा।"[1] आगे जाकर वे बताते हैं, कि 'कलिंग देश साहसिक है' तथा "सफेद दौड़ रहा है ( श्वेतो धावति )" जैसे वाक्यों में भी प्रयोजन विद्यमान है। यहाँ लोग रूढा लक्षणा मानते हैं। परंपरा से ऐसा चल पड़ा है, इसलिये अर्वाचीन विद्वान् भी ऐसा मानने लग गये हैं। पर इसमें भी प्रयोजन अवश्य है। "कलिंग देश वीर" है इसमें 'समस्त कलिंग निवासी वीर हैं" यह प्रतीति प्रयोजन है। इसी तरह "सफेद दौड़ता है" इससे 'घोड़े की तेजी' बताना प्रयोजन है। अतः लक्षणा के प्रयोजनवती तथा अप्रयोजनवती ये दो भेद मानना ठीक नहीं।[2]

रूढा को लक्षणा मानना उचित है या नहीं

---

१. "प्रयोजनं विना बाधितान्वयवाक्यप्रयोगस्योन्मत्तप्रलापरूपत्वाद्दोषत्वम्। उक्तदोषवारणं च प्रयोजनेनैव संभवतीति सप्रयोजनमेव बाधितवाक्यं लक्षणाया मूलम्।"

—यशवन्तयशोभूषण ( रामकरण आसोपा )

२. मम तु मतम्, परंपरागतोक्तोदाहरणाभिप्रायपरिज्ञानादर्वाचीना अत्र रूढां लक्षणां मन्यन्ते। तन्न विचारचारु। प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि—कलिंगदेशसाहसिकपुरुषविषये "कलिंग : साहसिक" इति लाक्षणिकशब्द-प्रयोगे कलिंगदेशजाः सर्वेऽपि साहसिका इति प्रयोजनम्।......'श्वेतो धावति' इति लाक्षणिकशब्दप्रयोगे वेगातिशयः प्रयोजनम्। उक्ताश्ववेगातिशयादन्यथा

पं० आसोपा के इस मत से हम सहमत नहीं। हम इतना तो मान सकते हैं कि इन उदाहरणों में कोई व्यंग्यप्रतीति होती है, किंतु वक्ता को वह प्रतीति प्रधानतया अभीष्ट नहीं होती। सामाजिक विकास की दृष्टि से देखा जाय, तो आरंभिक दशा में ऐसे प्रयोग किसी प्रयोजन को आधार बना कर अवश्य चले होंगे, किंतु धीरे-धीरे वे लौकिक व्यवहार में इस ढंग से प्रयुक्त होने लग गये, कि उस प्रयोजन की ओर वक्ता और श्रोता का ध्यान ही नहीं जाता। इस तरह ये लाक्षणिक प्रयोग तत्तत् अर्थ में रूढ हो गये हैं। इस स्थिति में इन्हें वास्तविक प्रयोजनवती प्रणाली से भिन्न न मानना अवैज्ञानिक होगा। प्रयोजनवती लक्षणा हम वहाँ मानते हैं, जहाँ वक्ता का कोई विशेष अभिप्राय छिपा रहता है। साथ ही फल रूप व्यंग्य ( प्रयोजन ) की प्रतीति केवल 'सहृदयों' को ही होती है। जब कि रूढा वाले अर्थ को साधारण लोग ( असहृदय ) भी समझ लेते हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ ने लक्षणा का यह श्रेणी-विभाजन 'काव्य' के लिए किया है। अतः यह उचित, तर्कसम्मत तथा युक्तिसंगत है। 'सफेद दौड़ता है' में पं० आसोपा 'वेगातिशय' को प्रयोजन मान लेंगे, किंतु "सफेद खड़ा है" ( धोलो खड़ो है ) - अर्थ बैल खड़ा है, तथा 'नीला तुझे बलिहारी है' ( ए नीले घोड़े, तुझे बलिहारी है ) इन उदाहरणों में 'वेगातिशय' प्रयोजन नहीं हो सकेगा। ऐसे स्थलों पर तो रूढा ही माननी होगी। अतः रूढा का विरोध युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता।

लक्षणा में सदा मुख्यार्थ का तिरस्कार होता है। अतः मुख्यार्थ का तिरस्कार उसमें कहाँ तक पाया जाता है, इस दृष्टि से लक्षणा के दूसरे ढंग के भेद किये जाते हैं।

उपादानलक्षणा ( अजहल्लक्षणा ) एवं लक्षणलक्षणा ( जहल्लक्षणा )

एक भेद वह है, जिसमें मुख्यार्थ का पूरा तिरस्कार नहीं होता। यहाँ मुख्यार्थ के साथ ऊपर से कुछ और भी जोड़ दिया जाता है। यहाँ शब्द अपने खास अर्थ को नहीं छोड़ता ( अजहत् ); तथा दूसरे अर्थ का ग्रहण ( उपादान ) करता है। अतः इसे अजहल्लक्षणा, या उपादानलक्षणा कहते हैं। जिस लक्षणा में

---

न लक्ष्यन्ते। केवलश्वेतरेखाया एव नयनगोचरत्वात्। × × × ततश्च प्रयोजनवती अप्रयोजनवतीति लक्षणाप्रकारकथनं सुतरां वक्तुमशक्यम्। —वही।

मुख्यार्थ का पूरी तरह तिरस्कार कर दिया जाता है, वह जहल्लक्षणा या लक्षणलक्षणा कहलाती है। यहाँ शब्द अपने खास अर्थ को छोड़ देता है (जहन्); तथा केवल दूसरे लक्ष्य अर्थ की ही प्रतीति कराता (लक्षण) है। मम्मट ने इसी भेद को बताते हुए कहा है:—"कहीं पर तो शब्द अपने मुख्यार्थ को संगत बनाने के लिए दूसरे अर्थ (लक्ष्य) का आक्षेप (उपादान) कर लेता है; और कहीं लक्ष्यार्थ के बोध के लिए अपने अर्थ का समर्पण (जहन्) कर देता है। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा ये दो भेद होते हैं।"[1] जैसे, "भाले प्रवेश करते हैं" (कुंताः प्रविशन्ति) इस उदाहरण में "भाले' से "भाले वाले लोग" अर्थ लिया जायगा, क्योंकि अचेतन भाले प्रवेश नहीं कर सकते। प्रवेश करना चेतन का धर्म है। इस उदाहरण में 'भाले' शब्द स्वयं का अर्थ न छोड़ कर कुछ और जोड़ लेता है। यहाँ उपादानलक्षणा है।

लक्षणलक्षणा का उदाहरण हम 'गंगा में घोष है' (गंगायां घोषः) ले सकते हैं। यहाँ 'गंगा' का मुख्यार्थ 'गंगाप्रवाह' 'गंगातट' के अर्थ में अपने वाच्य अर्थ का त्याग कर देता है। उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के क्रमशः निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(१) नीला बलिहारी थई, हल टापाँ खल झुण्ड।
पहली पडियौ टूक ह्वै, खडै धणी रै रुण्ड ॥[2]

(उपादानलक्षणा)

(२) व्यक्त नील में चल प्रकाश का कम्पन सुख बन बजता था।
एक अतीन्द्रिय स्वप्न लोक का मधुर रहस्य उलझता था ॥

(कामा०, आशा)

(उपादानलक्षणा)

---

१. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धेव सा द्विधा ॥

—काव्यप्रकाश उल्लास २, का० १०, पृ० ४३

२. ए घोड़े तुझे धन्य है। तूने शत्रुसमूह का टापों से नाश किया। अपने स्वामी के रुण्ड के पहले ही तू टूक टूक होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। (इससे क्षत्रिय-युवा की अतिशय शूरता तथा घोड़े की स्वामि-भक्ति की व्यंजना होती है।)

( ३ ) मेरे सपनों में कलरव का संसार आँख जब खोल रहा।
अनुराग समीरों पर तिरता था इतराता-सा डोल रहा ॥
( कामायनी, लज्जा )
( लक्षणलक्षणा )

प्रथम पद्य में 'नीला' का प्रयोग 'नीले अश्व' के लिए हुआ है। दूसरे पद्य में "नील" का प्रयोग "नील आकाश" के लिए तथा "चल प्रकाश" का प्रयोग "प्रकाशमय चंचल चन्द्रमा" के लिए हुवा है। अतः यहाँ उपादान लक्षणा है। इन शब्दों ने अपने मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया है। अपितु, ऊपर से अश्व, आकाश तथा चन्द्रमा का क्रमशः आक्षेप कर लिया है। तीसरे पद्य में "कलरव के संसार का आँख खोलना" तथा "अनुराग का इतराता-सा डोलना" भी लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। यहाँ "आँख खोल रहा" का अर्थ "उद्बुद्ध होना" तथा "डोलने" का अर्थ "स्पन्दित होना" है। यहाँ लक्षणलक्षणा है।

मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के कई संबंध

लक्षणा के तीन हेतु में से एक 'तद्योग' है। अर्थात् लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से संबद्ध होता है। इन दोनों का यह संबंध कई तरह का हो सकता है:—सामीप्य संबंध, अंगांगिभाव संबंध, तात्कर्म्य संबंध, सादृश्य संबंध, स्वामिभृत्य-संबंध, तादर्थ्य संबंध आदि। इन संबंधों के आधार पर लक्षणा को दो कोटियों में विभक्त किया गया है। एक, सादृश्य संबंध को लेकर चली है, दूसरी, अन्य संबंधों को लेकर। साधर्म्य संबंध या सादृश्य संबंध को लेकर चलने वाली लक्षणा समान गुण को आधार बनाकर चलती है, जो मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों में पाया जाता है। इसी समान गुण के आधार पर निर्मित होने के कारण वह "गौणी" कहलाती है। दूसरी लक्षणा, अन्य संबंधों पर आश्रित रहने के कारण 'शुद्धा' कहलाती है। इस लक्षणा में 'गुण' का मिश्रण नहीं पाया जाता, अतः साधर्म्य के न होने से यह शुद्ध है। इसीलिए इसे 'शुद्धा' कहते हैं। प्राभाकर मीमांसकों के मतानुसार गौणी शक्ति लक्षणा शक्ति से भिन्न है। प्रतापरुद्रीय के रचयिता विद्यानाथ ने प्रभाकर मीमांसकों के इस मत का उल्लेख करते हुए

खण्डन किया है।[1] विद्यानाथ ने बताया है कि गौणी कोई अलग शक्ति न होकर लक्षणा का ही भेद है। दोनों में मुख्यार्थ का बाध पाया जाता है; तथा दोनों ही मुख्यार्थ व लक्ष्यार्थ के परस्पर संबंध पर आश्रित है। गौणी को अलग से शक्ति मानने पर तो प्रत्येक संबंध के लिए अलग अलग शक्ति माननी पड़ेगी। नैयायिक भी गौणी को अलग से मानने के पक्ष में नहीं हैं।[2] वस्तुतः गौणी को लक्षणा के अन्तर्गत मानना ही उचित है। मुरारिदान के यशवन्तयशोभूषण के दोनों संस्कृत अनुवादक—पं० रामकरण आसोपा, और सुब्रह्मण्य शास्त्री गौणी तथा शुद्धा वाले भेद को नहीं मानते। वे यह दलील देते हैं, कि साधर्म्य संबंध के आधार पर अलग भेद मानने पर, अलग अलग संबंध के लिए अलग अलग भेद मानना पड़ेगा।[3] हम इस मत से सहमत नहीं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साधर्म्यगत लक्षणा (गौणी) का लक्षणा के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा महत्त्व है। जितना चमत्कार इस प्रकारविशेष में पाया जाता है, उतना दूसरों में नहीं। साथ ही यह लक्षणा समस्त साधर्म्यमूलक अलंकारों का बीज है। साधर्म्य संबंध वाले 'एनेलोगस मेटेफर' को यवनाचार्य अरस्तू ने सर्वोत्कृष्ट माना है, यह हम इसी परिच्छेद में आगे देखेंगे। साधर्म्यमूला गौणी का लक्षणा में विशाल क्षेत्र होने के कारण,

---

१. "गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः। तदयुक्तम्। तस्या लक्षणायामन्तर्भावात्।"

—प्रतापरुद्रीय (के० पी० त्रिवेदी सं०) पृ० ४४.

२. "शक्तिलक्षणाभ्यामतिरिक्तैव गौणी वृत्तिरिति मीमांसकाः। सा च तदतिरिक्ता नेति नैयायिका आहुः।"

—(वही, त्रिवेदी की आंग्ल टिप्पणी में न्या० सि० म० से उद्धृत)

३. "एतादृशप्रकारांगीकारोऽर्वाचीनानां प्रमादः संबंधभेदाद्भेदांगीकारे संबंधं संबंधं प्रति भेदांगीकारापत्तेः अन्यच्च अस्य भेदयुगलस्यांगीकारे युक्तिविरहात्।"

(पं० आसोपा)

(साथ ही) "मम मते तन्न समीचीनम्। एवं संबंधभेदेन लक्षणा भेदांगीकारे संबंधानामनेकत्वाल्लक्षणाया अप्यानन्त्यं प्रसज्येत।"

(सुब्रह्मण्य शास्त्री)

तथा अतिशयचमत्कारकारी होने के कारण, इसे अलग स्थान देना उचित है। तात्कर्म्य, तादर्थ्य, सामीप्य, अंगांगिभाव आदि संबंधों में से न तो प्रत्येक लक्षणा का इतना विशाल क्षेत्र है, न उतना उत्कृष्ट चमत्कार ही वहाँ पाया जाता है।

गौणी लक्षणा तथा शुद्धा लक्षणा—'उपचार' के आधार पर यह भेद

गौणी तथा शुद्धा लक्षणा का भेद 'उपचार' के आधार पर किया जाता है। गौणी में 'उपचार' ( साधर्म्य ) पाया जाता है, शुद्धा में वह नहीं होता। 'उपचार' ( साधर्म्य ) के आधार पर, "यह बालक शेर है" ऐसे उदाहरणों में, गौणी लक्षणा के द्वारा "शेर" शब्द से बालक का लक्ष्यार्थ ले लिया जाता है। उपचार का तात्पर्य दो वस्तुओं में विद्यमान भिन्नता कोछिपा देना या हटा देना है। यह अभेद उन दोनों भिन्न वस्तुओं में पाये जाने वाले अतिशय सादृश्य ( समानता ) के कारण होता है।[1] जैसे, "यह बालक शेर है" इस उदाहरण में बालक में वीरता पाई जाती है, शेर में भी वीरता पाई जाती है। इस बालक तथा शेर दोनों को कोई नहीं दबा सकता है, ये दोनों 'दुष्प्रधर्ष' हैं। इस समानता के कारण दो भिन्न वस्तुओं—बालक तथा शेर, में भिन्नता छिपा दी गई है। कुछ लोगों के मतानुसार गौणी तथा शुद्धा का भेद उपचार के आधार पर मानना ठीक नहीं। मुकुल भट्ट का यह मत है, कि गौणी लक्षणा में तो वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में सादृश्य संबंध के कारण अभेद प्रतीति होती है, किंतु शुद्धा में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में भेद बना रहता है। अतः इन दोनों विभेदों का आधार वस्तुतः यह है, कि एक में अभिन्नता की प्रतीति कराई जाती है, दूसरे में भेद ही बना रहता है। मम्मट ने इस मत का खंडन किया है। वे कहते हैं, शुद्धा में भी वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में भिन्नता नहीं रहती। इस प्रकारविशेष में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद मान कर, उन्हें तटस्थ समझना ठीक नहीं। जब 'गंगातट' के लिए, 'गंगा पर आभीरों की बस्ती में 'गंगा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वक्ता का अभिप्राय वहाँ 'गंगा' की

---

१. उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद-प्रतीतिस्थगनमात्रम्।　　—सा० दर्पण परि० २ पृ० ६७

प्रतिपत्ति कराने का भी है। अर्थात् वह गंगा तथा गंगातट में अभेद की प्रतिपत्ति कराना चाहता है। ऐसा करने पर ही तो "शैत्यपावनत्वादि" (शीतलता, पवित्रता) की प्रतीति होगी। यदि ऐसा न होता, और 'गंगा' से केवल 'गंगातट' की ही प्रतीति कराना अभीष्ट होता, तो सीधा साधा 'गंगातट' न कह कर 'गंगा' के टेढ़े प्रयोग में वक्ता का क्या अभिप्राय है?[1] अतः, शुद्धा तथा गौणी, दोनों ही लक्षणाओं में अभेद-प्रतिपत्ति अवश्य होती है। भेद है तो केवल यही, कि एक (गौणी) में वह अभिन्नता 'उपचार' के कारण प्रतीत होती है, दूसरी (शुद्धा) में किसी अन्य संबंध के कारण। शुद्धा के उदाहरण हम दे चुके हैं। 'द्विरेफ', 'व्योम चूमना', 'नीला', 'चल प्रकाश' 'आँख खोल रहा' आदि ऊपर के सभी उदाहरण शुद्धा लक्षणा के हैं। गौणी का प्रसिद्ध उदाहरण "यह पंजाबी बैल है" (गौर्वाहीकः) अथवा "वह गधा है" लिये जा सकते हैं। यहाँ पहले तथा दूसरे दोनों वाक्यों में 'अतिशय मूर्खता' को व्यंजित करने के लिए लाक्षणिक प्रयोग पाया जाता है। पंजाबी में उतनी ही मूढ़ता है, जितनी बैल (पशु) में। इसी तरह वह इतना ही मूर्ख तथा बुद्धिहीन है, जितना गधा। दोनों स्थानों पर वाच्यार्थ (बैल, तथा गधा) तथा लक्ष्यार्थ (पंजाबी, तथा वह) में समान गुण पाये जाते हैं। इन्हीं समान गुणों (सादृश्य) के कारण 'बैल' तथा "गधा" का प्रयोग लाक्षणिक है।

इस विषय में एक प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि "गौर्वाहीकः" में "बैल" (गौः) शब्द वाहीक की प्रतीति कैसे कराता है? इस विषय में तीन मत प्रचलित हैं।

सादृश्यमूलक लाक्षणिक शब्द से लक्ष्यार्थ प्रतीति कैसे होती है — इस विषयमें तीन मत

(१) प्रथम मतः—"गौर्वाहीकः" इस उदाहरण में सर्व प्रथम अभिधा से "गौः" शब्द "बैल" अर्थ की प्रतीति कराता है। फिर इसी वाच्यार्थ से संबद्ध उसके सहचारी गुण जड़ता, मूर्खता आदि जो बैल में पाये जाते हैं, 'गो' शब्द से लक्षित होते हैं। ये जड़ता मूर्खता आदि गुण वाहीक में भी पाये जाते हैं। अतः वाहीक के अर्थ को द्योतित करने में यह शब्द अभिधा का प्रयोग करता है। अर्थात् पहले अभिधा,

१. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गंगा-

फिर लक्षणा, फिर अभिधा इस प्रकार तीन व्यापारों से 'वाहीक' रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है।[1] इसमें दो दोष हैं। पहले तो इस मत को मानने वाले 'गौ' शब्द से वाहीक अर्थ की प्रतीति में तीसरे क्षण में एक और अभिधा मानते हैं, जिसकी कोई प्रक्रिया नहीं पाई जाती, क्योंकि वाहीक में 'गो' का संकेत नहीं है। दूसरे जब एक बार 'गो' शब्द से जड़ता, मूर्खता आदि गुण लक्षणा से लक्षित हो गये, तो फिर अभिधा के द्वारा प्रासंगिक अर्थ का ग्रहण कैसे होगा? किसी शब्द का व्यापार एक ही बार होता है (शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः)।[2] इन्हीं दो दोषों के कारण नव्य आलंकारिकों को यह मत सम्मत नहीं।

(२) द्वितीय मत—दूसरे विद्वानों के अनुसार 'गौ' तथा वाहीक दोनों में एक से ही गुण, जड़ता, मूर्खता आदि, पाये जाते हैं। इन दोनों कोटि के गुणोंमें कोई भेद नहीं है। गौ में होनेवाली जड़ता, मूर्खता ठीक वही है, जो वाहीक में पाई जाती है। अतः 'गौः' शब्द के मुख्य अर्थ 'बैल' में पाये जानेवाले जाड्यादिगुण अभेद के कारण लक्षणा शक्तिसे वाहीक में होनेवाली जड़ता, मूर्खता आदि को लक्षित करते हैं। 'यह वाहीक बैल है' इस प्रयोग में अभिधा शक्ति के द्वारा वाहीक वाला अर्थ कभी भी प्रकट नहीं होता।[3] यह मत भी नव्य आलंकारिकों को स्वीकार्य नहीं।

---

दिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः गंगा-संबंधमात्रप्रतीतौ तु गंगातट घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

—काव्यप्रकाश, उल्लास २, पृ० ४६

१. 'अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यामान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।'

—का० प्र० उल्लास २, पृ० ४६

२. 'केचिदित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजं तु गोपदस्य वाहीके संकेता-भावरूपम्। जाड्यादिगुणानां लक्ष्यत्वात् अशक्यतया प्रवृत्तिनिमित्तत्वा-संभवश्च।

—बालबोधिनी, पृ० ४६

३. अन्ये च पुनः—गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थ-सहचारिगुणसजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते।'

सा० दर्पण, द्वितीय परि० पृ० ६५

हमने देखा कि 'गौः' शब्द अपने स्वयं के मुख्यार्थ बैल ) में स्थित गुणों को लक्षित करता है। वही शब्द 'वाहीक' के भी वैसे ही गुणों को लक्षित कर देता है, क्योंकि दोनों में पाये जाने वाले गुण एक ही हैं। ध्यान से देखा जाय, तो दोनों 'धर्म' ( गुण ) --जड़ता, मूर्खता आदि, अलग अलग धर्मी ( गुणी ) वाहीक तथा बैल में पाये जाते हैं, अतः एक गुणी ( बैल ) के मुख्यार्थवाची शब्द से दूसरे ( वाहीक ) में पाये जानेवाले गुणों का लक्षित होना असंभव है, क्योंकि यह तभी हो सकता है जब धर्मी ( गुणी ) भी एक ही हों। इस तरह तो एक ही वाक्य में समान रूप में प्रयुक्त 'गौः' तथा वाहीक में सामानाधिकरण नहीं हो सकेगा।[1]

( ३ ) तृतीय मत—नव्य आलंकारिकों के मत में 'गो' शब्द का अन्वय जब मुख्या वृत्ति से वाहीक के साथ संगत नहीं बैठता, तो लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। दोनों में एक से ही गुण अज्ञता, जड़ता आदि पाये जाते हैं। इस तरह उनमें समानता है। वे एक दूसरे से साधर्म्य या सादृश्य संबंध द्वारा संबद्ध हैं। इस संबंधके कारण 'गो' से वाहीक के अर्थ लेने में, लक्षणा घटित हो जाती है। 'गो' का वाहीक अर्थ में मुख्यार्थबाध है ही, दोनों में सादृश्य संबंध के कारण 'तद्योग' हो गया, तथा दोनों में समान मूर्खता है, यह लक्षणा का प्रयोजन है। समान जड़ता तथा मूर्खता के कारण 'गो' के मुख्यार्थ बैल और वाहीक में सादृश्य संबंध स्थापित होने पर, 'गो' शब्द ही लक्षणा व्यापार से वाहीक को लक्षित कर देता है।[2] अतः यहाँ प्रथम या द्वितीय मत की भाँति कोई दूरारूढ़ कल्पना नहीं करनी पड़ती।

---

१. अन्ये इत्यस्मिन्नपि पक्षे, अस्वरसोद्भावनम्, तद्बीजं तु एकधर्मिबोधकत्वाभावात् गौर्वाहीक इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः।

बालबो० पृ० ४६

२. साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे।'

का० प्र० उ० २, पृ० ४९

( साथ ही ) 'तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति।'

सा० द० परि० २, पृ० ६७

गौणी लक्षणा वस्तुतः वहीं होती है, जहाँ लक्षित होते हुए गुणों के संबंध के द्वारा लक्ष्यार्थ प्रतीति हो। ठीक यही बात कुमारिल भट्ट ने तन्त्र-वार्तिक में कही है:--

"लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में अविनाभाव की प्रतीति होती है। जिस लक्षणा में लक्षित होते हुए गुणों का योग होता है, वहाँ गौणी वृत्ति होती है।"[1]

गौणी के उदाहरण गौणी लक्षणा के उदाहरण हम यों ले सकते हैं—

( १ ) रजत कुसुम के नव पराग-सी उड़ा न दे तू इतनी धूल।
इस ज्योत्स्ना की अरी बावली! तू इसमें जावेगी भूल॥
( कामायनी, आशा )

( २ ) इस अनंत काले शासन का वह जब उच्छृंखल इतिहास।
आँसू औ तम घोल लिख रही तू सहसा करती मृदु हास॥
( कामायनी, आशा )

इन उदाहरणों में "धूल", "आँसू" तथा "तम" में गौणी लक्षणा है। ज्योत्स्ना के साथ धूल का संबंध अभिधा से ठीक न बैठने से हमें लक्षणा से 'धूल' का अर्थ 'प्रसार' लेना होगा। 'धूल' तथा 'ज्योत्स्ना-प्रसार' दोनों में किसी वस्तु को व्याप्त करने का तथा छिटकने का समान गुण पाया जाता है। इसी साधर्म्य को लेकर यहाँ गौणी लक्षणा है। 'आँसू' तथा 'तम' का भी 'लिख रही' क्रिया के साथ ठीक तौर पर अन्वय नहीं बैठता। अतः इस प्रकरण में 'आँसू' का अर्थ 'जल' ( दूसरा अर्थ ओस की बूँदें ) 'तम' का अर्थ 'मसी' ( स्याही ) लेना होगा, जिनमें क्रमशः 'द्रवत्व' तथा 'कृष्णत्व' जैसे समान गुण पाये जाते हैं। प्रथम में, ज्योत्स्ना ( आरोपविषय; उपमेय ) तथा 'धूल' ( विषयी; उपमान ) दोनों का एक साथ प्रयोग होने से "सारोपा गौणी लक्षणा" है। दूसरे में 'आँसू' तथा 'तम' रूप विषयी ने 'जल' तथा 'मसी' रूप विषय का निगरण कर लिया है, अतः यहाँ 'साध्यव-साना गौणी' है। इसी 'आरोप' ( विषय तथा विषयी दोनों का प्रयोग करते हुए विषयी को विषय पर थोप देना ), तथा 'अध्यवसाय' ( विषय

१. अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥
( तन्त्रवार्तिक )

की सर्वथा अवहेलना कर वाक्य में विषयी विषय को निगल जाय अर्थात् कोरे विषयी का प्रयोग हो ) के आधार पर आचार्यों ने गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद किये हैं।

इस प्रकार गौणी लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद होते हैं। जहाँ लक्ष्यार्थ तथा मुख्यार्थ दूसरे शब्दों में विषय तथा विषयी दोनों का सामानाधिकरण्य[१] करते हुए एक साथ निर्देश हो, वहाँ सारोपा होती है।[२] जैसे "भरत शेर है" में भरत के लिए "शेर" का प्रयोग करते हुए, दोनों का एक साथ उपादान किया गया है। रूपक अलंकार का मूल यही सारोपा गौणी होती है। 'मुख-कमल', 'पाद-पद्म', 'केश-व्याल', आदि में यही सारोपा है। साध्यवसाना में विषयी ( उपमान ), विषय ( उपमेय ) का निगरण कर जाता है।[3] अर्थात् यहाँ केवल लक्ष्यार्थ वाची शब्द का ही प्रयोग होता है। जैसे भरत के लिए केवल इतना ही कहा जाय "शेर है", तो साध्यवसाना होगी। यहाँ शेर ( विषयी ), भरत ( विषय ) को निगल गया है। अतिशयोक्ति अलंकार में यही साध्यवसाना बीज रूप में विद्यमान रहती है। इसका चरम उत्कर्ष 'भेद में अभेद वाली' ( भेदे अभेदरूपा ) अतिशयोक्ति में पाया जाता है। अतिशयोक्ति के इस भेद को हिन्दी के आलंकारिक 'रूपकातिशयोक्ति' कहते हैं। साध्यवसाना गौणी, जैसे;

सारोपा तथा साध्यवसाना गौणी

कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम्।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात्॥

१. जहाँ दो वस्तुओं में समानता या अभेद स्थापित करने के लिए उनका एक ही वाक्य में विशेषण-विशेष्यरूप में प्रयोग हो वहाँ सामानाधिकरण्य होता है। इसे अँगरेजी में 'Case in apposition' कहते हैं।

२. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयी स्तथा।

३. विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥

( का० प्र० उ० पृ० ४७–४८ )

"सबसे ऊपर मयूर का कलाप ( केशपाश ) सुशोभित हो रहा है। उसके नीचे अष्टमी के चन्द्रमा का टुकड़ा ( ललाट ) है। उसके बाद दो चंचल कमल नेत्र ) हैं। तब तिलकुसुम (नासिका) है, और उसके नीचे प्रबाल ( ओठ ) सुशोभित है।'[1]

इसमें 'कलापिकलाप', 'अष्टमीन्दुखण्ड', 'कुवलययुगल', 'तिलकुसुम' तथा 'प्रवाल' के साध्यवसाना गौणी लक्षणा से क्रमशः केशपाश, ललाटतट, नेत्रयुगल, नासिका तथा अधर रूप लक्ष्यार्थ गृहीत होते हैं। अथवा जैसे,

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल॥
( कामायनी, आशा )

इस उदाहरण में 'अंचल' तथा 'मणिराजी' से क्रमशः 'आकाश' तथा तारकसमूह' लक्ष्यार्थ लेना होगा।

लक्षणा के १३ भेदोपभेदों का संक्षिप्त विवरण

सारोपा तथा साध्यवसाना ये दोनों भेद केवल गौणी के ही न होकर शुद्धा के भी होते हैं। यहाँ आरोप या अध्यवसान का आधार सादृश्य से भिन्न कोई दूसरा संबंध होता है। जैसे, हम लोग घी को बलवर्धक समझते हैं। घी की आयु तथा बल बढ़ाने की शक्ति के कारण हम कभी-कभी कह देते हैं "घी आयु है" ( आयुर्घृतम् )। यहाँ सारोपा है। घी और आयु का यह संबंध कारण और कार्य का है। इसी तरह घी को देख कर हम कहें "आयु है", तो साध्यवसाना हो जायगी, जहाँ आयु ( विषयी ), घी ( विषय ) को निगल जाता है। इस तरह लक्षणा के शुद्धा, गौणी, उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना ये ६ भेद हुए। इनमें शुद्धा के पहले रूढिगत तथा प्रयोजनवती ये दो भेद होते हैं। रूढिगत का कोई भेद नहीं होता। प्रयोजनवती शुद्धा के पहले उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा फिर प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना ये भेद होते हैं। गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो ही भेद हुए। कुछ लोगों के मत में गौणी के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा वाले भेद मानना उचित है। यहाँ हम मम्मट का ही भेदोपभेद मान रहे हैं। इस तरह

रूढा १, गौणी २, तथा शुद्धा प्रयोजनवती ४ हुई। अब समस्त प्रयोजनवती में प्रयोजन दो तरह का पाया जाता है। कभी तो यह गूढ़ होता है, कभी प्रकट। इस लिए इनके गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या ये दो दो भेद फिर हुए। इस तरह रूढा १, गौणी ४ और शुद्धा प्रयोजनवती ८, कुल मिला कर तेरह तरह की लक्षणा होती है।

वृत्तिवार्तिककार ने प्रयोजनवती लक्षणा के सात भेद माने हैं— जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना, शुद्धा एवं गौणी।[1] वृत्तिवार्तिककार का यह भेदीकरण स्थूल कोटि का है। हम देखते हैं कि अप्पय दीक्षित ने जहदजहल्लक्षणा नामक नये भेद को माना है। यह कल्पना अप्पयदीक्षित की स्वयं की न होकर, पुराने अद्वैत वेदान्तियों की है। अद्वैत वेदान्ती 'तत्त्वमसि', एतद्वै तत्' जैसे वाक्यों में इस देश में रहने वाले, 'त्वं' या 'एतत्' ( आत्मा ) तथा उस देश में रहने वाले 'तत्' ( ब्रह्म ) की अभेदप्रतिपत्ति के लिए लक्षणा मानते हैं। यहाँ न तो "लाल दौड़ता है" ( शोणो धावति—लाल घोड़ा दौड़ता है ) जैसी स्थिति है, न 'गंगा में घोष' ( गंगायां घोषः ) जैसी ही स्थिति है। पहले उदाहरण में अपने अर्थ को रखते हुए दूसरे अर्थ का आक्षेप ( उपादान ) होता है, दूसरे में पहले अर्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। 'तत्त्वमसि' ( तू वही है ) में 'तू' का अर्थ इस देश वाली आत्मा ( एतद्देशविशिष्ट आत्मा ) है, तथा 'वह' का अर्थ उस देश वाली आत्मा ( तद्देशविशिष्ट आत्मा; ब्रह्म ) है। इस वाक्य में, अभिधा शक्ति से दो भिन्न देशों में स्थित आत्माओं में 'सामानाधिकरण्य' नहीं हो पाता। अतः यहाँ एक नये ढंग की लक्षणा माननी पड़ेगी। यह लक्षणा उपादान तथा लक्षण दोनों की खिचड़ी है। इसमें आधा अर्थ तो रख लिया जाता है, और आधा छोड़ दिया जाता है। इसके मुख्यार्थ में से "एतद्देशविशिष्ट' तथा "तद्देशविशिष्ट" इस अंश को छोड़ने पर, दोनों में "आत्मा" वाला अंश बचा रहता है। इस संबंध से उनमें सामानाधिकरण्य हो जाता है। कुछ अंश छोड़ने

जहदजहल्लक्षणा जैसे भेद की कल्पना

---

१. जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। सारोपा साध्यवसाना च। शुद्धा च गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फललक्षणा। —वृत्तिवा० पृ० १६

और बाकी अंश रखने के कारण इसे 'जहत्-अजहत्-लक्षणा' कहते हैं।[१] "यह वही देवदत्त है" ( सोऽयं देवदत्तः ) इस वाक्य में भी यही लक्षणा है। बाद के आलंकारिकों ने वेदान्तियों के इस लक्षणाभेद को भी मान लिया है। एकावलीकार ने लक्षणा के इस भेद का उल्लेख किया है।

विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं।[२] उन्होंने गौणी के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा ये भेद माने हैं। उनके मतानुसार शुद्धा, गौणी, उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, तथा सारोपा एवं साध्यवसाना इनके आधार पर ८ रूढि के तथा ८ प्रयोजनवती के भेद होते हैं। प्रयोजनवती के फिर गूढव्यंग्या तथा अगूढ-व्यंग्या यों १६ भेद होते हैं। यह प्रयोजन कभी तो धर्म में होता है, कभी धर्मी में। अतः ३२ तरह की प्रयोजनवती हुई। इसमें ८ तरह की रूढिगत लक्षणा मिलाने पर ४० लक्षणाभेद होते हैं। फिर लक्षणा के वाक्यगत तथा पदगत होने के कारण ८० तरह के कुल भेद होते हैं। प्राचीन विद्वान् वाक्यगत या पदगत ये दो लक्षणा नहीं मानते। वाक्य में न तो अभिधा ही होती है न लक्षणा ही ( वाक्ये न वा शक्तिर्न वा लक्षणा )। विश्वनाथ का इतना भेदोपभेद कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मम्मट का वर्गीकरण इससे विशेष अच्छा है।

विश्वनाथ के मत में लक्षणा के भेद

प्रसंगवश हम प्रयोजनवती के गूढव्यंग्या तथा अगूढव्यंग्या इन दो भेदों का वर्णन कर आये हैं। हम बता चुके हैं कि प्रयोजनवती में लक्ष्यार्थ के द्योतन कराने के लिए लक्षक पद का प्रयोग करने में वक्ता का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। यह प्रयोजन सदैव उस शब्द का व्यंग्यार्थ होता है। इस विषय का विशेष विवेचन व्यंजना के अंतर्गत किया जायगा। यह व्यंग्यार्थ कभी तो स्पष्ट होता है, और कभी अस्पष्ट ( गूढ )। विशेष चमत्कार

गूढव्यंग्या तथा अगूढव्यंग्या

१. वेदान्तसार, पृ० १०।

२. एवमशीतिप्रकारा लक्षणा। —सा० द० पृ० ७४ (लक्ष्मी संस्करण)

गूढ व्यंग्यार्थ में ही होता है। इसी आधार पर इसके गूढव्यंग्या तथा अगूढव्यंग्या ये दो भेद किये जाते हैं। गूढव्यंग्या का उदाहरण हम यह दे सकते हैं।

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं,
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥

यौवन से युक्त किसी नायिका को देख कर, उसके यौवन के नूतन प्रादुर्भाव की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है। इस चंद्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन का उद्गम प्रसन्न हो रहा है। यौवन सचमुच अहोभाग्य है कि वह इस चंद्रमुखी के शरीर में प्रविष्ट हुआ है, इसीलिये यौवन फूला नहीं समाता। यौवन के प्रादुर्भाव के समस्त चिह्न इस नायिका में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसके मुख में मुसकराहट विकसित हो रही है। जिस तरह फूल के विकसित होने पर सुगंध फूट पड़ती है वैसे ही इसके मुख में सुगंध भरी पड़ी है। इसकी चितवन ने बाँकेपन को भी वश में कर लिया है। इसकी टेढ़ी चितवन सबको वश में करती है। जब यह चलती है, तो ऐसा जान पड़ता है कि विलास और लीला छलक रहे हैं। इसमें विलास तथा लीला का प्राचुर्य है। अतः इसका प्रत्येक अवयव मनोहर है। इसकी बुद्धि एक जगह स्थिर नहीं रहती। यौवन के आगमन के कारण इसका मन अत्यधिक अधीर तथा चंचल है। पहले तो भोलेपन के कारण बड़े लोगों के सामने प्रियतम को देख कर इसकी बुद्धि मर्यादित रहती थी, किंतु अब वैसी नहीं रहती। गुरुजनों के सामने अब भी वैसे तो मर्यादापूर्ण रहती है, किंतु प्रियतम को देख कर मन से अधीर हो उठती है। इसके वक्षःस्थल में स्तन मुकुलित हो गये हैं। कली की तरह ये स्तन भी कठिन तथा आलिंगनयोग्य हैं। इसके जघनस्थल के अवयव उभर आये हैं। इसका जघन अत्यधिक रमणीय हो गया है। इन सब बातों को देख कर यह जान पड़ता है कि इस नायिका ने यौवन में पदार्पण कर लिया है। यह बड़े हर्ष की बात है।

यहाँ यौवन के साथ 'प्रसन्न होना' ( मोदते ), मुख के साथ 'विकसित', चितवन के साथ 'वशित', गति के साथ 'छलकना'

( समुच्छलित ) मति के साथ 'स्थिरता छोड़ देना' ( अपास्तसंस्था ), उर के साथ 'मुकुलित' तथा जघन के साथ 'उद्धुर' का प्रयोग लाक्षणिक रूप में ही हुआ है। प्रसन्न कोई चेतन व्यक्ति होता है, यौवन जैसा अचेतन नहीं। कली विकसित होती है, मुख का स्मित नहीं। किसी को वश में चेतन व्यक्ति ही करता है, चितवन नहीं। छलकता कोई अधिक भरा पात्र ही है, गति नहीं। किसी वस्तु को कोइ व्यक्ति ही छोड़ता है। 'मुकुलित' सदा कोई वृक्ष ही होता है, क्योंकि उसी में कलियाँ आती हैं। किसी बोझे को सहने वाला ही 'उद्धुर' होता है। इस प्रकार मुख्या वृत्ति से अर्थ ठीक नहीं बैठता। अतः यहाँ लक्षणा माननी पड़ेगी। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों से जिस-जिस व्यंग्य की प्रतीति हो रही है, वह अस्पष्ट ( गूढ ) है। इन व्यंग्यों का विशदीकरण हम ऊपर, पद्य की व्याख्या में कर आये हैं।

अगूढव्यंग्या में व्यंग्यार्थ प्रतीति तो होती है, पर वह व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है। जैसे, कोई व्यक्ति किसी के साथ बुराई कर दे और वह उससे कहे "तुमने हमारे साथ बड़ा उपकार किया है", तो यहाँ उस व्यक्ति द्वारा की गई बुराई व्यंग्य है। इसकी प्रतीति के लिए लक्षणा का प्रयोग होता है।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

"आपने हमारे साथ बड़ी भलाई की। उसका वर्णन कहाँ तक करें। आपने सज्जनता की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। मित्रवर, ऐसी सज्जनता हमेशा करते रहें। आप सैकड़ों वर्ष तक सुखी रहें।"

इस पद्य में विपरीत लक्षणा है। पद्य के तत्तत् पद से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। उपकृतं, सुजनता, सखे, सुखितं, इन पदों से क्रमशः विपरीत लक्षणा से आपने बड़ा अपकार किया है; आप दुर्जनता से भरे हैं; आप मित्र नहीं, हमारे शत्रु हैं; तथा आप दुखी रहें–इन लक्ष्यार्थों की प्रतीति होती है। इस पद्य की उक्ति किसी अपकारी के प्रति कही जा रही है, अतः उपकारादि वाले

वाच्यार्थ की संगति नहीं बैठ पाती; उसका बाध (मुख्यार्थबाध) हो जाता है। इस लक्ष्यार्थ का प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ उस व्यक्ति का अपकारातिशय है। हमारे मत से प्रत्येक पद में व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) अलग अलग मानना होगा। 'उपकृतं' का वाच्यार्थ उपकार, लक्ष्यार्थ अपकार तथा व्यंग्यार्थ अपकारातिशय है। सुजनता का वाच्यार्थ सज्जनता, लक्ष्यार्थ दुर्जनता तथा व्यंग्यार्थ दुर्जनतातिशय है। सखे का वाच्यार्थ मित्र, लक्ष्यार्थ शत्रु, तथा व्यंग्यार्थ अत्यधिक शत्रु है। सुखितं का वाच्यार्थ सुखी रहना, लक्ष्यार्थ दुखी रहना, तथा व्यंग्यार्थ अतिशय दुखी रहना है। इसी का संकेत मम्मट ने शब्दव्यापार-विचार में दिया है।[1]

क्या वाक्यगत लक्षणा भी होती है ?

इसी संबंध में एक प्रश्न उठता है। मम्मट के मत से यहाँ लक्षणा पदों में है। यही मत प्रदीपकार का है, जो कहते हैं कि इस पद्य में अपकारी मनुष्य के साथ अन्वयायोग्य (जिनका अन्वय ठीक नहीं बैठ पाता) उपकृतादि पदों के द्वारा अपने वाच्यार्थ से विपरीत लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रदीपकार के मतानुसार व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) यह है 'कि तेरे अपकार करने पर भी मैं प्रिय ही कह रहा हूँ" और इस प्रकार वक्ता अपनी साधुता (सज्जनता) व्यंजित करना चाहता है।[2]

इस पद्य के संबंध में विश्वनाथ का मत कुछ भिन्न प्रतीत होता है। विश्वनाथ इसे पदगत लक्षणा नहीं मानते। मम्मट तथा प्रदीपकार दोनों यहाँ लक्षणा पद में ही मानते हैं, और हमने किस किस पद में लक्षणा है, इसे ऊपर स्पष्ट कर दिया है। पर विश्वनाथ यहाँ वाक्यगत लक्षणा मानते हैं। लक्षणा के समस्त भेदों का विवेचन कर चुकने पर विश्वनाथ कहते हैं:–"ये सब फिर से पदगत तथा वाक्यगत होने के कारण

---

१. मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिव वक्तृमहिम्ना अपकारिदुर्जनत्वादि अत्र लक्ष्यते।" —शब्दव्यापारविचार

२. अत्रापकारिण्यन्वयायोग्यैरपकारादिपदैः स्वार्थविपरीतं लक्ष्यते।... त्वयैवमपकारेऽपि क्रियमाणे मया प्रियमेवोच्यत इति स्वसाधुत्वं व्यङ्ग्यम् ॥ —प्रदीप. पृ० ९६. (पूना संस्करण)

दो-दो तरह की हो जाती हैं।"[१] और इसके बाद वाक्यगत के उदाहरण रूप में विश्वनाथ "उपकृतं" वाला उदाहरण देते हैं। हमें विश्वनाथ का मत नहीं जँचता। वस्तुतः लक्षणा केवल पदगत होती है। वाक्यगत जैसा भेद मानना समीचीन नहीं। विश्वनाथ का यह उदाहरण भी पदगत लक्षणा का ही है। अतः लक्षणा में ये दो भेद मानना ठीक नहीं। टीकाकारों ने विश्वनाथ के दोष को बचाने के लिए कुछ दलीलें दी हैं। वे कहते हैं—"जहाँ बहुत से पदों में लक्षणा हो, वहाँ उसे उपचार से वाक्यगत मान लेते हैं।" पर टीकाकारों की यह दलील हमें ठीक नहीं जँचती। इसका संकेत हम पहले भी दे चुके हैं:— "वाक्ये न वा शक्तिर्न वा लक्षणा।"

लक्षणा पद में तो होती है, किन्तु वाक्य में दो तरह के पद होते हैं। कुछ पद विधेय होते हैं, कुछ उद्देश्य। तो लक्षक पद विधेयांश होता है, या उद्देश्यांश भी हो सकता है? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। विधेयांश वाक्य का वह अंश है, जो हमारा अभीष्ट है। उद्देश्यांस उस अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रयुक्त होता है। वाक्य में क्रिया प्रायः विधेय मानी गई है, किंतु कभी कभी वह उद्देश्य भी हो सकती है। उद्देश्य या विधेय का निर्णय प्रकरणगत होगा। प्राचीन आचार्यों ने इस विषय पर कोई संकेत नहीं किया है कि लक्षणा प्रायः विधेयांश वाले पद में ही होती है। हमें कुछ ऐसा ही जँचता है कि लक्षणा वाक्य के विधेयांश में ही होती है।[२] इसके लिए कुछ उदाहरण लेकर उन्हें देखना होगा।

---

१. पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
वाक्यगतत्वेन यथा "उपकृतं बहु तत्र" इति
—सा० द० पृ० ७४. (लक्ष्मीसंस्करण)

२. पाश्चात्य विद्वान् भी मेटेफर वाले अंश को विधेयांश ही मानते हैं। उर्बान (Urban) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Language and Reality में बताया है कि "वाक्यों में उद्देश्यांश या विधेयांश की गड़बड़ी के कारण ही, वे आपाततः निरर्थक प्रतीत होते हैं।...जहाँ तक लाक्षणिक या प्रतीकात्मक वाक्यों का प्रश्न है, इनमें यह गड़बड़ी विधेयांश के ही साथ होती है। यह गड़बड़ी प्रतीकात्मक (लाक्षणिक) वाक्य की विशेष प्रकृति—विधेयांश की

( १ ) 'गंगायां घोषः" ( गंगा में आभीरों की बस्ती ) में 'गंगा' पद में लक्षणा है, यह हम देख चुके हैं। यहाँ आभीरों की बस्ती के बारे में तो हम जानते ही हैं। यह बस्ती कहाँ है, यह अभीष्ट है। यही इस उक्ति का विधेयांश है। अतः यहाँ लक्षणा विधेयांश में ही है।

( २ ) "उपकृतं बहु तत्र' वाले उदाहरण में भी उपकृतं आदि विधेयांश ही है। इसी पद्य के "सखे" में भी हमें विधेयांश ही जँचता है, तभी तो उससे "शत्रो' ( हे शत्रु ) वाला लक्ष्यार्थ ठीक बैठेगा।

( ३ ) उपादान लक्षणा के बारे में कुछ लोग इस सिद्धांत को ठीक बैठता हुआ न मानें। पर हमें वहाँ भी कोई अड़चन नजर नहीं आती। उपादानलक्षणा का पहला उदाहरण हम लेते हैं:—"श्वेतो धावति" ( सफेद दौड रहा है; सफेद घोड़ा दौड़ रहा है ), यहाँ विधेयांश "धावति" को मानना ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः यह तो हम पहले से ही जानते हैं कि कोई चीज जरूर दौड़ रही है। पर क्या दौड़ रहा है ? यह जानना हमें अभीष्ट है। अतः 'श्वेतः' में विधेयांश ठीक बैठ जाता है। यहाँ 'श्वेत' में उपादानलक्षणा से 'श्वेत घोड़ा' अर्थ लेना होता है।

( ४ ) उपादान लक्षणा का एक और उदाहरण ले लें:—"मंचाः क्रोशन्ति" ( खाट चिल्ला रही हैं ) इसका लक्ष्यार्थ है "खाट पर सोये बालक चिल्ला रहे हैं।" यहाँ चिल्लाना तो हम पहले ही सुन रहे हैं, अतः वह तो विधेय होगा नहीं। मान लीजिये, हमने चिल्लाना सुना; फिर पूछाः—कौन चिल्लाता है ( कः क्रोशति ) और उत्तर मिला "खाट चिल्ला रही हैं" ( मंचाः क्रोशन्ति ); तो यहाँ विधेयांश 'मंचाः' ही हुआ इस तरह यहाँ लक्षणा विधेयांशरूप 'मंचाः' पद में है।

---

अस्पष्टता के कारण होती है। ऐसे स्थलों पर विधेयांश सदा दुहरा संबंध रखता है।"

( "The difficulty in this case is with the predicate···This difficulty arises, it is clear, from that which is precisely the unique character or the symbol sentence, namely the ambiguity of predicate." p. 439 )

भट्ट मुकुल, महिम भट्ट तथा कुन्तक अभिधा शक्ति को ही शब्द-व्यापार मानते हैं, वे लक्षणा को शब्दव्यापार नहीं मानते। भट्ट मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका में अंत की कारिका में यह संकेत मिलता है कि वे लक्षणा को अभिधा का ही अंग मानते हैं:—"हमने इस प्रकार अभिधा के दस प्रकारों का विवेचन कर दिया है।"[१] अभिधा के इन्हीं दस प्रकारों में वे लक्षणा के भेदों का समावेश करते हैं। ग्रंथ में लक्षणा के विशद वर्णन का कारण भी वे यों बताते हैं।—"ध्वनिवादी तथा सहृदय जिस व्यंजना ( ध्वनि ) को नई चीज मानते हैं, वह लक्षणा में ही अंतर्भावित हो जाती है, इसलिए यह स्पष्ट करने को यह सब कहा गया है।[२] मुकुल भट्ट के इस मत का विशद विवेचन "लक्षणावादी और व्यंजना" नामक परिच्छेद में किया जायगा। यद्यपि मुकुल भट्ट अभिधावादी ही हैं, तथापि वहाँ उन्हें हमने इसलिए लिया है कि वे ध्वनि तथा व्यंजना व्यापार का समावेश 'लक्षणा वाले' अंग में मानते हैं। इसे हम आगे देखेंगे।

दूसरे अभिधावादी महिम भट्ट हैं। ये शब्द की शक्ति केवल अभिधा ही मानते हैं:—'शब्द में केवल एक ही शक्ति होती है'; वह है अभिधा। इसी तरह अर्थ में केवल लिंगता ( हेतुता ) होती है।[3] जैसा कि हम आगे ("अनुमानवादी तथा व्यंजना" नामक परिच्छेद में ) देखेंगे महिम भट्ट लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ रूप हेतु से अनुमित मानते हैं। वे कहते हैं:—"गंगायां घोषः" में जब हम "गंगातट पर आभीरों की बस्ती" अर्थ लेते हैं, तो यह अर्थ अनुमितिगम्य है।" इसी तरह "गौ र्वाहीकः" जैसी गौणी लक्षणा में भी वे लक्षणाव्यापार न मान कर लक्ष्यार्थ को अनुमित मानते हुए कहते हैं:—"वाहीक में गोत्व का आरोप करने से उन दोनों की समानता की अनुमिति होती है। यदि

---

१. इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्।

—अभिधावृत्तिमात्रिका, का० १२

२. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मूलयितुमिदमत्रोक्तम्। — वही, पृ० २१

३. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।

—व्यक्तिविवेक १, २६ पृ० १०५

ऐसा न हो, तो कौन विद्वान् उससे भिन्न असमान वस्तु में उसी का व्यवहार करेगा।"[1] आगे जाकर वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि कोई भी शब्द अभिधावृत्ति को कभी नहीं छोड़ता।[2]

तीसरे अभिधावादी कुंतक हैं। कुंतक स्पष्ट रूप से कहीं भी लक्षणा का निषेध नहीं करते। किंतु उनके अभिधावादी मत का संकेत वहाँ ढूँढा जा सकता है, जहाँ वे वक्रोक्ति को "विचित्रा अभिधा" ही मानते हैं।[3] मुकुल भट्ट के साथ ही कुंतक का भी समावेश हमने "लक्षणावादी और व्यंजना" नामक परिच्छेद में किया है। इसका भी एक कारण है। कुंतक ने कुछ ध्वनि भेदों का समावेश "उपचारवक्रता" में किया है, जो 'लक्षणा' है। इससे कई विद्वान् यह समझते हैं कि कुंतक व्यंजना को "उपचारवक्रता" (भक्ति या लक्षणा) में अन्तर्भावित करते हैं।[4] इसलिए कुंतक को हमने वहीं लिया है।

अभिधावादियों की यह दलील है कि शब्द (गौः) सुनने पर पहले तो "गाय या बैल" वाला अर्थ प्रतीत हुआ। शब्द तो क्षणिक है, अतः आशुविनाशी होने के कारण नष्ट हो गया। तब द्वितीय क्षण में प्रतीत लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से ही प्रतीत हो सकेगा, शब्द से नहीं। फिर वह शब्द व्यापार कैसे होगा। इस शंका का समाधान हम यों कर सकते हैं कि वाच्यार्थ प्रतीति शब्दज्ञान से विशिष्ट होकर होती है:—गौः का अर्थ वस्तुतः 'गोशब्दविशिष्टसास्नादिमान् व्यक्ति लेना होगा। फिर शब्द विद्यमान रहता ही है।

ध्वनिवादी आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज को उपर्युक्त अभिधावादियों का मत संमत नहीं। वे लक्षणा ही नहीं, तात्पर्य तथा व्यंजना को भी शब्द का ही व्यापार

---

१. गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद्बुधः॥
—वही १, ४६ पृ० ११६ (चौ० सं०)

२. मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते। —वही, प्रथम विमर्श

३. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० २१ (ड द्वारा संपादित १९२५)

४. देखिये—रुय्यकः अलंकारसर्वस्व पृ० ३-४

मानते हैं। मीमांसक तथा नैयायिक भी लक्षणा को शब्दशक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

## पाश्चात्य विद्वान् और शब्दशक्ति

भारतीय विद्वानों ने शब्द तथा अर्थ के विभिन्न संबंधों का विवेचन करते समय जैसे सूक्ष्म तथा तर्कपूर्ण तथ्यों की खोज की है, वैसा सूक्ष्म विवेचन पाश्चात्य विद्वानों में नहीं मिलता। फिर भी पाश्चात्यों ने इस विषय में कुछ गवेषणा अवश्य की है, तथा वे उसी निष्कर्ष पर पहुँचते प्रतीत होते हैं, जिस पर भारतीय विद्वान् पहुँचे हैं। यूनानियों, लैतिनों (रोमनों) तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने शब्द के विभिन्न अर्थों को साक्षात् अर्थ (प्रॉपर सेन्स) तथा आलंकारिक अथवा लाक्षणिक अर्थ (फीगरेटिव ऑर मेटेफ़ोरिक सेन्स) इन दो कोटियों में विभक्त किया है।

अरस्तू के मतानुसार साक्षात् शब्द वह है, जिसका प्रयोग सभी लोग करते हैं, तथा उससे संबद्ध अर्थ साक्षात् अर्थ है।[1] सिसरो तथा

पाश्चात्य विद्वान् तथा मुख्यार्थ

क्विन्तीलियन 'वाचक' शब्द की जो परिभाषा देते हैं, वह भारतीय परिभाषा से मिलती-जुलती है। उनके मतानुसार 'वाचक' शब्द, पदार्थों का साक्षात् बोधक है, उसका उन पदार्थों से नियत संबंध होता है। 'वाच्य' अर्थ उस शब्द का नियत अर्थ है। क्विन्तीलियन के ही आधार पर दुमार्से ने कहा है, "वाच्य अर्थ, शब्द का प्राथमिक संकेत है। साक्षात् अर्थ में प्रयुक्त शब्द इस बात को द्योतित करता है कि उसी अर्थ को प्राथमिकता क्यों दी गई है।"[2]

---

१. अरस्तू : काव्यशास्त्र परि० २१.

२. "Le sens propre d'un mot; dit-il, c'est la premiere signification du mot. Un mot est pris dans le sens propre lorsqu'il signifie ce porquoi il a ete premierement etabli."—Dumarsais quoted by Regnaud P. 47

दूसरे शब्दों में डुमार्से के मत में वाच्यार्थ वह है, जिसके ज्ञान में विशेष परिश्रम नहीं होता। यह वह अर्थ है, जिसको शब्द सर्वप्रथम द्योतित करते हैं।

अरस्तू ने आलंकारिक अथवा लाक्षणिक अर्थ के विषय में विशेष विचार किया है। किंतु उसका यह भेद उतना सूक्ष्म तथा विस्तृत नहीं हो सका है, जितना भारतीयों की लक्षणा का।

अरस्तू के मत में शब्दों के प्रकार

साक्षात् वाचक शब्द तथा लाक्षणिक शब्दों के भेद का संकेत अरस्तू ने "अलंकारशास्त्र" (रेटोरिक्स) की तृतीय पुस्तक के द्वितीय परिच्छेद में पद्यात्मक तथा गद्यात्मक शैली पर प्रकाश डालते समय किया है। वह कहता है:—"साधारण प्रयोग के शब्द, साक्षात् अर्थ में प्रयुक्त शब्द तथा लाक्षणिक प्रयोग (शब्द) केवल गद्यात्मक शैली में ही पाये जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि केवल इन्हीं शब्दों का प्रयोग सब लोग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा बातचीत करता है, मुख्यार्थ में शब्दों का प्रयोग करता है, एवं साधारण प्रयोग के शब्दों का व्यवहार करता है।"[१] अरस्तू के इन्हीं शब्दों को हम क्रमशः भारतीयों के रूढ शब्द, वाचक शब्द, तथा लाक्षणिक शब्द कह सकते हैं। इसी संबंध में अरस्तू के आंग्ल अनुवादक थ्योडोर बफले ने पादटिप्पणी में बताया है कि शब्दों को चार प्रकार का माना जा सकता है। वे कहते हैं 'कुरिआ' (Kuria) वे शब्द हैं, जिनका प्रयोग साधारण रूप में पाया जाता है। दूसरी कोटि के शब्द

---

१. Words however of ordinary use, and in their original acceptations and Metaphors, are alone available in the style of prose, a proof that these are the only words which all persons employ, for every body carries on conversation by means of metaphors, and words in their primary sense, and those of ordinary sense." —Aristotle : Rhetoric : B. III. ch. II. Para 6. P. 209.

'ग्लोत्ताइ' ( Glottai ) वे वाचक शब्द हैं, जिनका क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। साक्षात् संकेत तथा मुख्यार्थ में प्रयुक्त वाचक शब्द 'ओइकेइआ' ( Oikeia ) हैं। जिन शब्दों में मुख्यार्थ का बाध होता है, तथा औपमानिक प्रणाली पाई जाती है, वे लाक्षणिक शब्द ( Metaphorai ) हैं।[1] कितने ही शब्द ऐसे हैं, जो साधारण रूप में प्रयुक्त होने पर भी वाचक नहीं होते। वस्तुतः प्रथम तीन प्रकार के शब्दों में वाचक शब्द बहुत कम होते हैं। व्यक्तिगत पदार्थों का साक्षात् वाच्यत्व वाणी के समस्त क्षेत्र में पर्याप्त रूप से व्यवहृत नहीं हो सकता। अतः इनके मूल में लाक्षणिक परिवर्तन पाया जाता है। ये लाक्षणिक शब्द समय बीतने पर इतने स्वाभाविक हो जाते हैं, कि इनके प्रयोग करने पर श्रोता को लाक्षणिकता का भान ही नहीं होता। ये शब्द ठीक वाचक शब्दों की ही भाँति श्रोता के मन में अन्य भाव बोध के बिना ही उन भावों की साक्षात् प्रतीति कराते हैं, जिनसे वक्ता का आशय है।[2] इस कोटि के शब्दों में लाक्षणिकता का स्पष्ट पता न चलने

---

१. 'Kuria' are words in general use, opposed to 'glottai' outlandish expressions, 'oikeia', words in their primary and literal acceptations, opposed to 'metaphorai', words transferred from their primary meaning to some analogous meaning.'

—ibid footnote 10, P. 209.

२. Many words are 'kuria', which yet are not 'oikeia', In fact, of the three divisions the 'oikeia', are necessarily the fewest, since the proper and original designations of individual objects cannot extend to a number sufficiently great to answer all the purposes of language; the resources of which must therefore be augumented by metaphorical transfer. Even these words in time become so naturalised by common use as no longer to have any thing "of the effect of metaphor upon

के कारण इन्हें 'मेताफोराइ' से भिन्न माना जाता है। संस्कृत विद्वानों में से कई लोगों की 'द्विरेफ', 'कुशल', आदि शब्दों के विषय में ऐसी ही धारणा है, जिनका मूल आधार लाक्षणिक ही रहा है। भारतीय विद्वानों ने लक्षणा के रूढिगत तथा प्रयोजनगत दो भेद किये हैं। यूरोपीय विद्वान् लक्षणा के अंतर्गत रूढि का समावेश नहीं करते। उनके मत से ऐसे शब्द, जिनमें भारतीय विद्वान् 'रूढिगत लक्षणा' मानते हैं; 'कुरिआ' तथा 'ग्लोत्ताइ' में अंतर्भावित हो जायँगे।

पाश्चात्यों के मत से लाक्षणिक प्रयोग की विशिष्टता

यूरोपीय विद्वानों का 'मेताफोराइ' हमारी प्रयोजनवती लक्षणा है। भारतीय विद्वानों के मतानुसार प्रयोजनवती लक्षणा, विशिष्ट व्यंग्यार्थ का बोध करा कर, विशेष चमत्कार ( आनंद ) का उद्बोध कराती है। यूरोपीय विद्वान् भी मेटेफर को अर्थव्यक्ति का साधन तथा चमत्कारोत्पादक मानते हैं। बॉजवेल ने एक स्थान पर बताया है:—"लाक्षणिक अभिव्यक्ति शैली का एक महान् गुण है। किंतु यह तभी शैली का गुण बन सकती है, जब कि इसका प्रयोग ठीक तौर पर किया गया हो। इस प्रकार के प्रयोग एक भाव के स्थान पर दो भावों का बोधन कराते हैं; अधिक स्फीत रूप में अर्थ व्यक्ति कराते हैं, तथा आनंद के प्रत्यक्ष के साथ भावबोध को व्यंजित करते हैं।"[१] कहना न होगा कि लाक्षणिक प्रयोग से प्रतीत ये

---

the hearer." On the contrary, "like proper terms 'oikeia' they suggest directly to his mind, without the intervention of any image, the ideas which the speaker proposed to convey by them."

( Philo. Rheto. vol. I P. 185-86, quoted by the translator. footnote 10; ibid P. 209 ).

१. "As to metaphorical expression, that is a great excellence in style, when it is used with propriety, for it gives you two ideas for one; conveys the meaning more luminously; and generally with perception of delight."

—Boswell § 68

दो अर्थ ( भाव ) — लक्ष्यार्थ ( गंगातट ) तथा 'प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ' ( शीतलता, पवित्रता आदि ) ही हैं। अतः बॉज़वेल दूसरे शब्दों में हमें व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु का भी संकेत देता जान पड़ता है।

"लाक्षणिकता का प्रयोग भाषा के दारिद्र्य के कारण होता है। जब लोग प्रत्येक अवसर पर अपने भावों को वहन करने वाले शब्दों को नहीं पाते, तब वे औपमानिक शब्दों का आश्रय लेते हैं, उन शब्दों को उनके मुख्यार्थ से हटाकर अभिप्रेत अर्थ की ओर ले जाते हैं।"[१]

पाश्चात्यों के मतानुसार लाक्षणिकता के दो तत्त्व

इस प्रकार लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार दो तत्त्वों की अपेक्षा होती है:—( १ ) शब्द का मुख्यार्थ से हट कर दूसरे अर्थ की ओर जाना, तथा ( २ ) उपमान का आधार। ये दोनों हमारे मुख्यार्थबाध तथा तद्योग से ठीक ठीक मिलते हैं। रूढि का तो इनकी लक्षणा में कोई स्थान ही नहीं, यह हम बता चुके हैं, अतः रूढि अथवा प्रयोजन जैसे तीसरे तत्त्व को मानने की वहाँ आवश्यकता नहीं है।

अरस्तू के ४ प्रकार के लक्षणा के भेद

लाक्षणिकता को अरस्तू ने चार प्रकार का माना है—( १ ) जाति से व्यक्तिगत; ( २ ) व्यक्ति से जातिगत; ( ३ ) व्यक्ति से व्यक्तिगत; तथा ( ४ ) साधर्म्यगत।[२] अरस्तू का यह भेद बाद के यूरोपीय विद्वानों से

१. Metaphor took its rise from the poverty of language. Men not finding upon every occassion words ready made for their ideas, were compelled to have recourse to words analogous, and transfer them from their original meaning, to the meaning of the required."

—Philolo. Inq. P. II. C. 10.

२. But a metaphor is the transposition of a noun, from its proper signification, either from the genus to the species, or from the species to the genus; or from the species to species, or according to the analogous. —Aristotle : Poetics P. 452.

भिन्न है। बाद के यूरोपीय विद्वान् केवल तीसरे व चौथे प्रकार में ही लाक्षणिकता मानते हैं।[1] अरस्तू के इस भेद को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक होगा।

( १ ) जाति से व्यक्तिगतः—लाक्षणिकता के प्रथम भेद में लाक्षणिक शब्द किसी 'जाति' के वाच्य का बोध कराता है, किंतु प्रसंग में ठीक न बैठने से उससे व्यक्ति का बोध ( लक्ष्यार्थ ) लिया जाता है। भारतीय विद्वानों की परिभाषा में हम इस प्रकार के शब्द के मुख्यार्थ को सामान्य अर्थ तथा लक्ष्यार्थ को विशिष्ट अर्थ कह सकते हैं। इसका निम्न उदाहरण दिया जा सकता है।

जाति से व्यक्ति

"उस बन्दरगाह में मेरा जहाज सुरक्षित खड़ा है"
( Secure in yonder port my vessel stands. )

इस उदाहरण में 'खड़ा होना' सामान्य क्रिया है। इसके द्वारा 'बन्दरगाह में जहाज के बाँधे जाने' रूप विशिष्ट क्रिया का बोध होता है। हिंदी से इसका उदाहरण यों दिया जा सकता है:—

निकल रही थी मर्मवेदना करुणा-विकल कहानी-सी।
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही हँसती-सी पहचानी-सी॥
( कामायनी-चिंता )

यहाँ भी मर्मवेदना के लिए 'निकलने' क्रिया का प्रयोग 'अंतस्तल से प्रकट होने' के विशिष्ट अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार 'जहाज का बंदरगाह में बँधा होना' "खड़े होने" में समाहित हो सकता है, उसी प्रकार 'अंतस्तल से प्रकट होना' ( अवचेतन मन से व्यक्त होना ) 'निकलने' में समाहित हो सकता है। एक सामान्य का बोध कराता है,

---

१. Aristotle understands metaphor in more extended sense than we do, for we only consider the third and fourth of the kinds enumerated by him, as metaphors.

—footnote 7; Poetics. Ch. XXI P. 452.
( Tr. Theodore Buckley )

दूसरा विशिष्ट का। इसी उदाहरण में 'करुणाविकल कहानी-सी', 'हँसती-सी' तथा 'पहचानी-सी' में साधर्म्यगत लाक्षणिकता analogous metaphor ) भी पाई जाती है।

जहाँ विशिष्ट से सामान्य का बोध हो, वहाँ अरस्तू दूसरे प्रकार की लाक्षणिकता मानता है। जैसे,

(२) व्यक्ति से जाति वाली लाक्षणिकता

यूलिसीज ने पराक्रम के दस सहस्र कार्य किये। ( Ten thousand valient deeds, Ulysses have achieved. )

यहाँ 'दस सहस्र' इस विशिष्ट अर्थ का 'अनेक, असंख्य' इस सामान्य अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसी का यह भी उदाहरण दिया जा सकता है—"उर में उठते शत शत विचार" ( पंत ) जिसमें "शत शत" का प्रयोग "असंख्य" अर्थ में हुआ है। यहाँ कवि को क्रमशः यूलिसीज की अतिशय वीरता, तथा अनेक विचारों से हृदय की भाराक्रांतता की व्यंजना कराना अभीष्ट है।

(३) व्यक्ति से व्यक्तिगत

जहाँ एक विशिष्ट अर्थ के लिए दूसरे विशिष्ट अर्थ के वाचक का प्रयोग किया गया हो, वहाँ तीसरी लाक्षणिकता होती है। जैसे "उसके जीवन को कांसे के खड्ग ने खेंच लिया" ( The brazen falchion drew away his life) तथा "क्रूर खड्ग से काटा हुआ" ( Cut by ruthless sword ) इन उदाहरणों में। प्रथम में 'काटने' के लिए 'खींच लेने' तथा दूसरे में 'खींच लेने' के लिए 'काटने' का प्रयोग हुआ है। 'काटना' तथा 'खींच लेना' दोनों किसी वस्तु को एक से पृथक् कर दूसरी ओर ले जाने के भाव को द्योतित करते हैं। इस सामान्य भाव के ये दोनों विशेष भाव हैं। इसी का यह भी उदाहरण दिया जा सकता है:—

नव कोमल आलोक बिखरता हिमसंसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग॥
( कामायनी-आशा )

यहाँ 'बिखरने' का प्रयोग 'फैलने' के अर्थ में हुआ है, वैसे दोनों विशेष भाव किसी वस्तु को 'आवेष्टित कर लेने' के सामान्य भाव के

अवांतर रूप हैं। साथ ही पिंग पराग के लिए 'क्रीड़ा करता' का प्रयोग 'वायु के झोंके से इधर उधर उड़ने' के अर्थ में हुआ है, ये दोनों 'चंचलता' रूप सामान्य भाव के विशिष्ट रूप हैं। अतः इन दोनों में एक विशेष ( व्यक्ति ) से दूसरे विशेष ( व्यक्ति ) का द्योतन कराने वाली लाक्षणिकता है। आलोक का बिखरना, पटवास के बिखरने का स्मरण कराता है, तथा पिंग पराग का क्रीड़ा करना, बालक की क्रीड़ा का स्मरण कराता है। इस प्रकार ये दोनों लाक्षणिक प्रयोग आह्लाद के व्यंजक बन कर आशा के उदय से प्रफुल्लित मनु की मनःस्थिति तथा प्रातः काल के उल्लास की व्यंजना कराते हैं।

( ४ ) साधर्म्यगत

अब अरस्तू का अंतिम किंतु महत्त्वपूर्ण भेद रहा है। यह भेद साधर्म्य के आधार पर है। इसको हम भारतीयों की गौणी लक्षणा से अभिन्न मान सकते हैं। किंतु गौणी लक्षणा जहाँ रूपक, तथा अतिशयोक्ति को ही अपने क्षेत्र में लेती है, अरस्तू का 'एनेलॉगस मेटेफर' उपमा, मूर्तीकरण आदि सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का बीज है। अरस्तू के मतानुसार साधर्म्यगत लाक्षणिकता वहाँ होती है, "जहाँ प्रथम वाचक का द्वितीय वाचक से ठीक वही संबंध होता है, जो तृतीय का चतुर्थ से; ऐसी दशा में द्वितीय का प्रयोग चतुर्थ के लिए, अथवा चतुर्थ का द्वितीय के लिए किया जाता है।"[1] इसे हम यों समझा सकते हैं:—
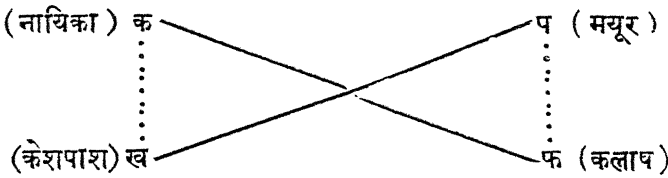
इस रेखाचित्र में 'क' का 'ख' से ठीक वही संबंध है, जो 'प' का 'फ'

१. But I call it analogous, when the relation of the second term to the first is similar to that of the fourth to the third, for then the fourth is used instead of the second, or the second instead of the the fourth.

—Poetics. ch. XXI. P. 452.

से। इसी आधार पर 'ख' को द्योतित करने के लिए हम 'क' के साथ 'फ' का प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह 'फ' को द्योतित करने के लिए 'प' के साथ 'ख' का प्रयोग कर सकते हैं। 'नायिका' से 'केशपाश' का वही संबंध है, जो मयूर का कलाप से; अतः 'नायिका के केशपाश' को हम 'नायिका का कलाप' तथा 'मोर की पूँछ' को 'मयूर का केशपाश' कह सकते हैं। अरस्तू का प्रसिद्ध उदाहरण यह है। मार्स से ढाल का वही संबंध है, जो बेकस से कटोरे का। अतः ढाल को मार्स का कटोरा तथा कटोरे को बेकस की ढाल कह सकते हैं।[1] अथवा संध्या के साथ दिन का वही संबंध है, जो बुढ़ापे का जीवन से। अतः हम संध्या को दिन का बुढ़ापा, तथा बुढ़ापे को जीवन की संध्या कह सकते हैं। इसके अन्य उदाहरण हम यों ले सकते हैं:—

"अस्त हुआ रवि तेरा अब रे चला गया मधुमय वसंत"
( Thy sun is set, thy spring is gone ).
"जीवन की रजनी मेरी, फिर भी रखती कुछ स्मृतियाँ"
( Yet hath my night of life some memory ).

यहाँ "रवि के अस्त होने" तथा "वसन्त के चले जाने" से 'सुख के अन्त होने' का तात्पर्य है। रवि का दिवस से वही संबंध है, जो कवि से सुख का, इसी प्रकार वसन्त का संवत्सर से वही संबंध है, जो कवि के जीवन से सुख का। अतः 'तेरा रवि', 'तेरा वसन्त' यह प्रयोग किया गया है। दूसरे उदाहरण में भी दिवस का रजनी से वही संबंध है, जो जीवन का वृद्धावस्था से, अतः कहा है "जीवन की रजनी"। हिन्दी से हम इसका उदाहरण यों दे सकते हैं।

जब कामना सिंधुतट आई ले सन्ध्या का तारा दीप।
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू क्यों हँसती अरी प्रतीप॥
( कामायनी, आशा )

इस उदादरण में, 'सन्ध्या का तारा-दीप' तथा 'सुनहली साड़ी उसकी' में साधर्म्यगत लाक्षणिकता है। प्रथम में सन्ध्या के साथ तारे का वही संबंध है, जो प्रिय की कुशलकामना के लिए सागरतट पर

---

१. मार्स तथा बेकस यूनान के पौराणिक देवता हैं। मार्स वीरता के देवता हैं, बेकस शराब के देवता।

पूजादीप को बहाने आती हुई नायिका से दीपक का। साथ ही उसी नायिका से सुनहली साड़ी का ठीक वही संबंध है, जो सन्ध्या से उसकी अरुणिमा का। अतः 'सान्ध्यतारक' के लिए 'सन्ध्या का तारा-दीप' का प्रयोग 'मार्स का ढाल-कटोरा' के समान है। यहाँ प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ तीन शब्दों (क, ख, फ) का प्रयोग एक साथ हुआ है। 'उसकी सुनहली साड़ी' का प्रयोग सान्ध्य अरुणिमा के अर्थ में है। इसमें ध्यान से देखने पता चलेगा कि क-ख के संबंध को बताने के लिये यहाँ प-फ का प्रयोग है। अरस्तू ने इस ढंग का भेद नहीं माना है, वह क-फ, या प-ख का प्रयोग ही मानता है। अतः यह निगरण-मूलक लाक्षणिकता ठीक इसी रूप में अरस्तू में नहीं पाई जाती। भारतीयों के मत में पहले में 'सारोपा गौणी' (रूपक अलंकार) तथा दूसरे में, 'साध्यवसाना गौणी' (अतिशयोक्ति) अलंकार होगा। दोनों का आधार साधर्म्य ही है।

अरस्तू के द्वारा निर्दिष्ट लाक्षणिक प्रयोग के ५ परमावश्यक तत्त्व या गुण

लाक्षणिक प्रयोग के विषय में अरस्तू का मत भारतीय मत से मिलता जुलता है। लाक्षणिक प्रयोगों के लिए पाँच परमावश्यक गुण माने गए हैं:—(१) लाक्षणिक प्रयोग बिलकुल ठीक हो, अर्थात् उनमें लक्ष्यार्थ का बोध कराने की क्षमता हो। किसी भी लाक्षणिक प्रयोग में लक्ष्यार्थ का बोध कराने की शक्ति तभी हो सकती है, जब कि उनमें कोई संबंध अवश्य हो। यह संबंध उपर्युक्त चार संबंधों में से किसी एक तरह का होना ही चाहिए। जैसे नायिका का मुख, तवे के पेंदे जैसा है। यहाँ लाक्षणिक प्रयोग ठीक नहीं है। (२) यदि किसी का उत्कर्ष द्योतित करना हो, तो उसका ग्रहण उन्नत मूल से किया गया हो, और यदि अपकर्ष द्योतित करना हो, तो निम्न मूल से। जैसे किसी की वीरता का उत्कर्ष बताने के लिए शेर का प्रयोग करना, तथा मूर्खता बताने के लिए "गधे" का प्रयोग। (३) लाक्षणिक प्रयोगों में ध्वनि-माधुर्य का भी ध्यान रखा जाय। जैसे "ले संध्या का तारा-दीप" में तारा-दीप की कोमल, अल्पप्राण ध्वनियाँ भी इस लाक्षणिकता की सुंदरता बढ़ा रही है। (४) लाक्षणिक प्रयोग दूरारूढ न हों। भारतीय आलंकारिकों ने भी दूरारूढ लाक्षणिक प्रयोगों में दोष माना

है। इस दोष को 'नेयार्थ' कहा जाता है।[1] 'वक्राओं ने कमललौहित्यों से शरीर को भूषित किया (उद्यत्कमललौहित्यै र्वक्राभिर्भूषिता तनुः) इस वाक्य से अभीष्ट लक्ष्यार्थ, "कामिनियों ने पद्मराग मणियों से शरीर को भूषित किया", दूरारूढ है। यहाँ "कमललौहित्य" का 'पद्मराग' तथा 'वक्रा' का 'कामिनी' (वामा), रूप अर्थ मानने में न कोई रूढ़ि है, न प्रयोजन ही। (५) उनका ग्रहण सुंदर पदार्थों से किया जाय। इस दृष्टि से लाक्षणिक प्रयोगों में अरस्तू ने सौंदर्य-प्रसाधन पर विशेष महत्त्व दिया है। एक स्थान पर उसने कहा है कि "गुलाब के समान अंगुलियों वाली अरोरा (rosy fingered Aurora) के प्रयोग में रक्तांगुलि (The purple-fingered) अथवा 'लोहितांगुलि' (The crimson-fingered) वाले प्रयोगों की अपेक्षा महान् अंतर है।[2]

समस्त लाक्षणिक प्रयोगों में साधर्म्यंगत की उत्कृष्टता

लाक्षणिक प्रयोगों के उपर्युद्धृत चारों प्रकारों में अरस्तू ने साधर्म्यगत को सबसे सुंदर तथा चमत्कारजनक बताया है। उपमानोपमेय भाव को लेकर चलने के कारण इस प्रकार के प्रयोगों में एक विशेष चमत्कार पाया जाता है। अरस्तू कहता है—"किंतु चार प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों में वह प्रकार-भेद उच्चतम कोटि का है. जिसका आधार समान अनुपात (साधर्म्य) है। जैसे पेरिक्लीज ने कहा था, "जिस प्रकार संवत्सर से वसंत छीन लिया गया हो, उसी प्रकार युद्ध में मारे हुए नवयुवक

---

१ "नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्"

—सा० द० परि० ७ पृ० ५९१,

२. The four essentials of metaphor :—(1) Must be appropriate, (2) From a better class if to embellish, from a lower if to debase, (3) The emphony must be attended to, (3) Must not be far-fetched, (5) They must be borrowed from beautiful objects,

—Rhetoric. Book III. ch. II.

नगर से अंतर्हित हो गये।"[1] अरस्तू के मत से निम्न लाक्षणिक प्रयोग उच्चतम कोटि का होगा।

उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई॥
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से॥
(कामायनी, आशा)

जिस प्रकार कोई राजा अपने वैरी को पराजित कर देता है, तथा उस विजयी राजा की जयलक्ष्मी बाणों की वृष्टि करती हुई पराजित राजा को ध्वस्त कर देती है; वैसे ही प्रलय निशाको ध्वस्त करती हुई उषा अपनी स्वर्णिम किरणें बरसाती हुई प्रकट हुई। पराजित राजा अपनी रक्षा के लिए कहीं जाकर छिप जाता है, उसी तरह काल-रात्रि भी समुद्र के जल में छिप गई। जब दुष्ट राजा की पराजय हो जाती है, तथा सन्नृप विजयी होता है, तो वह प्रकृति (मंत्री, प्रजा आदि) जो दुष्ट राजा के अत्याचार से म्लानमुख थी, फिर प्रसन्न हो जाती है, ठीक इसी प्रकार प्रलयनिशा में ध्वस्त प्रकृति अब उल्लासमय हो गई। शोक का अन्त हुआ तथा उल्लास का संचार हो गया। संसार में वर्षा का अंत हो गया, नये ढंग से शरद् ऋतु आई। यहाँ 'वर्षा' शोक तथा मलिनता की द्योतक है, 'शरदविकास' उल्लास तथा निर्मलता का। इस उदाहरण में 'प्रकृति' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग ने एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। यहाँ विजयी राजा से पराजित राजा, बाण तथा मंत्रियों का ठीक वही संबंध है, जो उषा से रात्रि, किरणें तथा प्रकृति

१. But of metaphor, which is fourfold, that species is in the highest degree approved which is constructed on similar ratios; just as Pericles said, "that the youth which had perished in the war, had so vanished from the city, as if one were to take the spring from the year.

—Aristotle : Rhetoric. Bk. III. ch. X. P. 236.

का। इसी प्रकार उषा से रात्रि का वही संबंध है, जो शरत् से वर्षा का। ये समस्त प्रयोग मनु के मन से चिंता के मालिन्य के नष्ट होने तथा वहाँ आशा के उल्लास का उदय होने की व्यंजना करते हैं।

**साधर्म्यगत लाक्षणिकता के दो तरह के प्रयोग**

जिस प्रकार साधर्म्यगत गौणी लक्षणा को भारतीयों ने सारोपा तथा साध्यवसाना इन दो भेदों में विभाजित किया है, उसी प्रकार अरस्तू भी साधर्म्यगत लाक्षणिकता दो प्रकार की मानता है। सारोपा में आरोपक तथा आरोप्यमाण दोनों का एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जैसे "यह बालक शेर है" में। किंतु साध्यवसाना में आरोपक आरोप्यमाण का निगरण कर जाता है, जैसे बालक के लिए "शेर है" इस प्रयोग में। अरस्तू के मतानुसार भी लाक्षणिक प्रयोगों में कभी कभी वाचक का प्रयोग, लाक्षणिक के साथ साथ ठीक उसी तरह किया जाता है, जैसे बालक और शेर का साथ साथ प्रयोग। इस प्रकार के प्रयोग का कारण उसी अर्थ को बतलाने के लिए किया जाता है, जिससे लाक्षणिक प्रयोग से अप्रासंगिक अर्थ न ले लिया जाय।[1]

**यही प्रकार पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के समस्त साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार है**

यूरोपीय साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी (साधर्म्यगत) अलंकार—इसी लाक्षणिक प्रयोग के अंतर्गत आते हैं। उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि सभी अलंकार जो साधर्म्य को लेकर चलते हैं, इसी कोटि में अंतर्भूत होते हैं। उपमा (Simile) के विषय में अरस्तू का कहना है, कि उपमा लाक्षणिक प्रयोग ही है। क्योंकि उपमा में रूपक की भाँति दो प्रकार के

---

१. In the Poetics he says that, in the case of the analogical metaphor, "sometimes the proper term is also introduced, besides its relative term," and this, with a view to guard the metaphor from any incidental harshness or obscurity; with such an adjunct the metaphor ceases to be 'aplous';

वाचक पाये जाते हैं।[१] अतिशयोक्ति ( Hyperbole ) भी इसी साधर्म्यगत लाक्षणिकता की कोटि में आती है।[२] यही नहीं, मूर्तीकरण या मानवीकरण ( Personification ) में भी इसी साधर्म्यगतत्व का विशेष हाथ होता है। अरस्तू ने कहा है कि "अचेतन में चेतन का आरोप इसी कोटि के अंतर्गत है। होमर ने कई स्थानों पर लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा अचेतन वस्तुओं को चेतन के रूप में चित्रित किया है।"

मेटेफर के विषय में सिसरो, क्विंतीलियन तथा दुमार्से का मत

सिसरो के मतानुसार समस्त लाक्षणिक प्रयोग साधर्म्यमूलक ही होते हैं। यह साधर्म्य किसी शब्द के वाच्य ( साक्षात् अर्थ ) तथा लक्ष्य ( लाक्षणिक अर्थ ) इन दो पदार्थों में पाया जाता है। क्विन्तीलियन की लाक्षणिकता की परिभाषा भारतीयों की परिभाषा से मिलती जुलती है। उसके मतानुसार लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त शब्द, उस अर्थ से भिन्न अर्थ द्योतित करता है, जो उसके साधारण प्रयोग पर आश्रित है। यह प्रयोग निःसंदेह अन्य संबद्ध शब्दों तथा प्राकरणिक अर्थों का निर्धारक होता है। फ्रेंच विद्वान् दुमार्से ( Dumarsais ) के मतानुसार लक्ष्यार्थ

---

e. g. 'phiale Areos'—thus expressed, the metaphor is 'Oux aplous', but if stated simply 'phiale', it is 'aplous'.

—Footnote 16, Rhetoric. Bk. III. ch. XI. P. 244.

१. Similes, also, are in some way approved metaphors; for they always are expressed in two terms; like the analogical metaphor.

—Ibid, Bk. III. ch. XI. Para 11.

२. Again, hyperboles, which are recognised as metaphors, as that about a person with a black eye, "you would have thought him a basket of mulberries."

—Ibid Para 15, P. 245.

वह अर्थ है, जो मुख्यार्थ से सर्वथा विपरीत है। इस प्रकार यह विपरीत लक्षणा में ही लाक्षणिकता मानना जान पड़ता है।

ऑग्डन तथा रिचर्ड्स ने लाक्षणिकता वहीं मानी है, जहाँ एक संबद्ध पदार्थ का प्रयोग, दूसरे संबद्ध पदार्थ के लिए किया जाता है। यह प्रयोग इसलिए किया जाता है कि दूसरे वर्ग की वस्तुओं से सादृश्यसंबंध स्पष्ट हो जाता है।[1] 'साहित्यालोचन के सिद्धांत' ( Principles of Literary Criticism ) नामक पुस्तक में 'मेटेफर' के विषय में रिचर्ड्स का कहना है कि, "लाक्षणिकता एक अर्धगूढ प्रणाली है, जिसके द्वारा बहुत से तत्त्व अनुभव के क्षेत्र में आ जाते हैं।"[2] लाक्षणिकता को अर्धगूढ प्रणाली मानकर क्या रिचर्ड्स भारतीयों के ( अर्धगूढ ) व्यंग्य का तो संकेत नहीं देते, जो लाक्षणिकता में सर्वदा निहित रहता है।

मेटेफर के संबंध में ऑग्डन तथा रिचर्ड्स का मत

पाश्चात्य विद्वान् व्यंजना जैसी अलग से कोई शब्दशक्ति नहीं मानते, किंतु प्रतीयमान ( व्यंग्य ) अर्थ की महत्ता को वे भी मानते जान पड़ते हैं। प्रतीयमान अर्थ के विषय में उनके मत का उल्लेख हम व्यंजना शक्ति का विवेचन करते समय आगे करेंगे।

उपसंहार

———

१. Metaphor, in the most general sense, is the use of one reference to a group of things between which a given relation holds, for the purpose of facilitating the discrimination of an analogous relation in another group."

—Meaning of Meaning ch. X. P. 213.

२. Metaphor is a semi-surreptitious method by which a greater variety of elements can be wrought into the fabric of experience.

—Principles of Literary Criticism ch. XXII. P. 240.

# चतुर्थ परिच्छेद

## तात्पर्य वृत्ति और वाक्यार्थ

अभिधा और लक्षणा शब्द की शक्ति हैं, जो व्यस्त पद की अर्थ प्रतीति कराती हैं। लक्षणा के संबंध में हम बता चुके हैं कि कुछ विद्वानों ने वाक्य लक्षणा जैसा भेद माना है, पर वह ठीक नहीं जान पड़ता। ध्वनिवादी के मत से अभिधा तथा लक्षणा केवल व्यस्त शब्द की ही अर्थप्रतीति करा पाती हैं, समस्त वाक्य की नहीं। यही कारण है, समस्त वाक्य का अर्थ लेने के लिए उन्हें अन्य शक्ति (वृत्ति) की शरण लेनी पड़ती है, जो अभिधा के द्वारा प्रतिपादित अर्थों को अन्वित कर एक अभिनव (विशेषवपु) अर्थ की प्रतीति कराती है, और यह अर्थ वाच्यार्थों का योग-मात्र न होकर कुछ विलक्षण 'वाक्यार्थ' (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः) होता है। इसी वृत्ति को ध्वनिवादी तात्पर्य वृत्ति कहता है। ध्वनिवादी के इस मत पर कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवादी सिद्धांत का प्रभाव है। अतः तात्पर्य वृत्ति की प्रकृति समझने के लिये हमें कुमारिल भट्ट के ही मत को नहीं, किंतु उनके पूर्वपक्षी मतों को भी जानना जरूरी हो जाता है। साथ ही यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाय कि ध्वनिवादियों ने कुमारिल के मत में कुछ मौलिक उद्भावना भी की है, और यद्यपि कुमारिल वाक्यार्थ के लिए (अभिधा से) अन्य शक्ति मानते हैं, तथापि कुमारिल के बहुत बाद तक भी अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों के ग्रंथों में तात्पर्य वृत्ति का नाम तक नहीं मिलता। मीमांसा के ग्रंथों में तात्पर्य वृत्ति का संकेत खण्डदेव के 'मीमांसाकौस्तुभ तक में नहीं मिलता,[1] जो १३वीं या १४वीं शती की रचना है। इससे पूर्व के भाट्ट मीमांसकों के ग्रंथों में भी वाक्यार्थ-प्रतीति का साधन लक्षणा को माना गया है, जैसा कि हम आगे

(हाशिया: तात्पर्य वृत्ति)

---

१. देखिये—मीमांसाकौस्तुभ, पृ० १३४.

देखेंगे। तो तात्पर्य वृत्ति की कल्पना ध्वनिवादियों को कहाँ से मिली ? यह प्रश्न अभी समस्या ही बना हुआ है, इस समस्या को सुलझाने का संकेत हम करेंगे, किंतु मीमांसा के किसी ऐसे ग्रंथ के अभाव में, जो ध्वनिवाद से पुराना होते हुए भी तात्पर्य वृत्ति का संकेत करता हो, हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। संभवतः मीमांसकों के एक दल की यह मान्यता हो, पर उनके ग्रंथ हमें उपलब्ध नहीं।

वाक्य-परिभाषा तथा वाक्यार्थ

वाक्यार्थ की मीमांसा करने के पूर्व हम वाक्य की परिभाषा समझ लें। पतंजलि ने महाभाष्य में वाक्य की परिभाषा निबद्ध करते समय कुछ लक्षणों का संकेत किया है। उनके मतानुसार अव्यय, कारक और विशेषण में किसी एक या सभी से युक्त क्रिया वाक्य की निष्पत्ति करती है।[१] इस लक्षण में क्रिया-विशेषण को भी संमिलित किया जा सकता है।[२] विशेषण युक्त केवल क्रिया भी वाक्य हो सकती है।[3] और कभी-कभी वाक्य केवल क्रिया (तिङ्) रूप भी हो सकता है।[४] वैसे वैयाकरणों के मतानुसार वाक्य के पद-पदांश का प्रकृति-प्रत्यादि विभाग केवल व्यावहारिक हैं, और वे वाक्य को अखंड तत्त्व मानकर वाक्यस्फोट की कल्पना करते हैं।[५] नैयायिक साकांक्ष पदों के समूह को वाक्य मानते हैं।[६] विश्वनाथ के वाक्य संबंधी मत का उल्लेख हम प्रथम परिच्छेद में कर आये हैं, जो योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

---

१. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।—महाभाष्य २. १. १.

२. सक्रिया विशेषणं च।—वही २. १. १.

३. आख्यातं सविशेषणम्।—वही २. १. १.

४. एकतिङ्।—वही २. १. १.

५. तदस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तद्बुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति।—वाक्यपदीय टीका (पुण्यराज) २. ५८.

६. मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका १३.

इसके साथ ही एक दूसरा प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि वाक्यार्थ का स्वरूप क्या है। विद्वानों ने इस संबंध में निम्न मतों का संकेत किया है।

( १ ) वाक्य का अर्थ ज्ञान है।

( २ ) वाक्य में क्रिया मुख्य होने के कारण, क्रिया ही वाक्य का अर्थ है।

( ३ ) वाक्य का अर्थ फल है, क्योंकि किसी भी फल-प्राप्ति के लिए क्रिया की जाती है।

( ४ ) वाक्य का अर्थ पुरुष ( ईश्वर ) है, क्योंकि क्रिया का फल उसी के लिए होता है।

( ५ ) वाक्य का अर्थ भावना, अर्थात् किसी इष्ट स्वर्गादि के प्रति कर्ता का व्यापार है।

( ६ ) वाक्य का अर्थ शब्द-भावना या विधि है।

( ७ ) वाक्य का अर्थ नियोग या प्रेरणा है।

( ८ ) वाक्य का अर्थ उद्योग है।

( ९ ) वाक्य का अर्थ प्रतिभा है।

इन मतों में नैयायिक वाक्य का अर्थ फल को मानते हैं, वैयाकरण प्रतिभा को।[1] ध्वनिवादी का वाक्यार्थ स्वरूप संबंधी मत कहीं नहीं मिलता, किंतु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वे भी प्रतिभा को ही वाक्यार्थ मानते हैं। वैयाकरणों का प्रतिभा संबंधी मत संक्षेप में यों है। जब हम किसी शब्द का प्रयोग करते हैं, या उसका ग्रहण करते हैं, तो उसमें प्रतिभा ही कारण होती है। अतः प्रतिभा को ही वाक्यार्थ माना जा सकता है। प्रतिभा के अभाव में वाक्यार्थ-प्रतीति हो ही न सकेगी। किसी भी शब्द को सुनकर जिस व्यक्ति के हृदय में जैसी प्रतिभा उद्बुद्ध होगी, वह उस शब्द ( या वाक्य ) का वैसा ही अर्थ लेगा। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा एक-सी नहीं है, अतः सब व्यक्तियों को शब्द का ज्ञान एक सा नहीं होगा। इस दृष्टि से शब्दादि के द्वारा अभिप्रेत तथ्य के निश्चित स्वरूप का निर्णय करना सरल नहीं। वाक्यार्थ

---

१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी—अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन में उद्धृत जयन्त भट्ट का वाक्यार्थ संबंधी विवेचन" पृ० ३०६.

अखंड होता है, तथा श्रोता की प्रतिभा पर निर्भर है।[1] कहना न होगा यह मत ध्वनिवादियों को मान्य है। वैयाकरणों के मतानुसार यह प्रतिभा अभ्यासादि से उद्बुद्ध होती है। यह अभ्यास इस जन्म का भी हो सकता है, पूर्व जन्म का भी। काव्यादि के प्रणयन में साहित्य-शास्त्रियों ने प्रतिभा को प्रमुख हेतु माना है।[2] किंतु काव्य रचना के लिए ही नहीं, काव्यास्वाद के लिए भी प्रतिभा अपेक्षित है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, व्यंजना वृत्तिगम्य अर्थ की प्रतीति प्रतिभा के बिना नहीं हो पाती, और साहित्यिक इस बात को भी मानता है कि प्रतिभा के भेद के ही कारण एक ही वाक्य को सुनकर विभिन्न श्रोता भिन्न-भिन्न अर्थ की प्रतीति करते हैं। व्यंजना के प्रसंग में दिये गये उदाहरणों से यह बात और अधिक पुष्ट हो जायगी। व्यंजना के संबंध में "कस्य न वा भवति रोषः" इत्यादि गाथा की व्याख्या में इस अर्थभेद का संकेत व्यंजना वृत्ति वाले परिच्छेद में देखा जा सकता है।

वाक्य से वाक्यार्थ प्रतीति कराने में साधन क्या है, किस निमित्त के कारण किसी वाक्य को सुनकर वाक्यार्थ प्रतीति होती है, इस विषय में विद्वानों के अनेक मत मिलते हैं।

**वाक्यार्थ का निमित्त**

प्रसिद्ध मीमांसक वाचस्पति मिश्र ने "तत्त्वबिंदु" में इन सब मतों का उल्लेख करते हुए अंत में भाट्ट मीमांसकों के वाक्यार्थ निमित्त-संबंधी मत की प्रतिष्ठापना की है। तत्त्वबिंदु के आधार पर ही हम यहाँ उन पूर्वपक्षों को रखते हुए भाट्ट मीमांसकों के मत का संकेत कर रहे हैं। वाचस्पति मिश्र ने इस संबंध में पाँच मतों का संकेत किया है।

( १ ) स्फोटवादी वैयाकरणों के मतानुसार वाक्यार्थ का निमित्त अखंड वाक्य है, और वाक्य का पदवर्ण विभाग केवल अविद्या-जनित है।[3]

---

१. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः कश्चित् । यां विना काव्यं प्रसृतं न स्यात् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् ।

—काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास पृ० ८.

२. वाक्यपदीय २. ११६–१२० तथा २. १४५–१५४.

३. अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्याऽनिमित्तमिति केचित् ।

--तत्त्वबिंदु पृ० ६ ( अन्नामलाइ विश्वविद्यालय प्रकाशन )

( २ ) प्राचीन मीमांसकों तथा प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वाक्यार्थ का निमित्त उस अंतिम वर्ण का ज्ञान है, जो पारमार्थिक ( वास्तविक ) पूर्व पूर्व पदों के अर्थानुभव के संस्कार से युक्त होता है।[1]

( ३ ) कुछ प्राचीन मीमांसक वाक्यार्थ का कारण उस वर्णमाला को मानते हैं, जो हमारी स्मृति के दर्पण पर तत्तत् पद-पदार्थ के अनुभव की भावना के साथ प्रतिबिंबित रहती है।[2]

( ४ ) आकांक्षा, योग्यता, तथा संनिधि के कारण अन्य पदों से अन्वित पदों का अभिधेयार्थ ही वाक्यार्थ है। अन्वित पद ही वाक्यार्थ के अभिधायक हैं।[3] यह मत अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसकों का है।

( ५ ) आकांक्षा, योग्यता तथा संनिधि आदि से युक्त पदार्थ; जिनकी प्रतीति प्रयुक्त पदों से होती है; वाक्यार्थ बुद्धि को उत्पन्न करते हैं।[4] अर्थात् पहले पद पदार्थों की प्रतीति कराते हैं, फिर आकांक्षादि से युक्त पदार्थ वाक्यार्थ को प्रत्यायित करते हैं। यह मत भाट्ट मीमांसकों का अभिहितान्वयवाद है। वाचस्पति मिश्र को यही मत स्वीकृत है। तभी वे अन्य मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख कर, इस मत के बाद "इत्याचार्याः" कह कर कुमारिल का संकेत करते हैं। इसी मत का पल्लवन कर लोगों ने तात्पर्य वृत्ति की कल्पना की है।

इन पाँचों मतों को ही हम यहाँ कुछ विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

प्रथम मत—वाक्यार्थ संबंधी प्रथम मत स्फोटवादी वैयाकरणों

---

१. पारमार्थिकपूर्वपूर्वपदपदार्थानुभवजनितसंस्कारसहितमन्त्यवर्णविज्ञानमित्येके। ( पृ० ६ )

२. प्रत्येकवर्णपदपदार्थानुभवभावितभावनानिचयलब्धजनमस्मृतिदर्पणारूढा वर्णमालेत्यन्ये॥ ( वही पृ० ७ )

३. पदान्येवाकांक्षितयोग्यसन्निहितपदार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायीनीत्यपरे॥ ( वही पृ० ७ )

४. पदैरेव समभिव्याहारवद्भिरभिहिताः स्वार्था आकांक्षा योग्यताऽऽसत्तिसध्रीचीना वाक्यार्थधीहेतव इत्याचार्याः॥ ( वही पृ० ८ )

का है। वैयाकरणों के स्फोटवाद को स्फोटायन नामक ऋषि (वैयाकरण) से संबद्ध माना जाता है, जिनका उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में मिलता है।[1] स्फोटवादी मत मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी से भी पुराना है, यद्यपि इसको प्रौढा दार्शनिक भित्ति देने में भर्तृहरि (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) का हाथ है। शबर स्वामी ने वैयाकरणों के स्फोटवाद का संकेत किया है।[2] कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में 'स्फोटवाद' का खंडन किया है, जिसका विवेचन हमने आठवें परिच्छेद (अभिधावादी तथा व्यंजना) में किया है, वहीं द्रष्टव्य है। स्फोट के संबंध में वैयाकरणों की कल्पना का विशेष पल्लवन भी वहीं किया गया है।[3] अखंड वाक्यस्फोट को माननेवाले वैयाकरण वाक्य में पद-पदांश-वर्णादि-विभाग नहीं मानते। उनके मतानुसार वक्ता अखंड वाक्य का प्रयोग करता है, और श्रोता की प्रतिभा भी अखंड रूप में ही उसका अर्थप्रत्यायन करती है। किसी वाक्य में पद-पदांशादि का कोई पारमार्थिक आस्तित्व नहीं होता।[4]

प्रथम मत—अखंड वाक्य अर्थ प्रत्याय है

वाचस्पति मिश्र ने स्फोटवादी वैयाकरणों तथा वर्णवादी प्राच्य मीमांसकों के वाद-विवाद के द्वारा स्फोटवाद का खंडन किया है। यहाँ हम पहले स्फोटवादियों की दलीलें दे देते हैं:—

वाक्यार्थ का निमित्त कारण अखंड स्फोट है। जब स्फोट को हम 'अखंड शब्द' मानते हैं, तो व्यावहारिक पद-वाक्यादि विभाग को 'अखंड शब्द' नहीं मान सकते। वर्णवादी वाक्यार्थ का निमित्त वर्णों को मानते हैं। पर उनसे यह पूछा जा सकता है कि वर्ण 'व्यस्त रूप में वाक्यार्थ-प्रतीति कराते हैं, या समस्त रूप में। यदि वर्णवादी व्यस्त

---

१. अवङ् स्फोटायनस्य ॥

२. स्फोटवादिनो वैयाकरणाः। —शबर भाष्य १. १. ५.

३. वैयाकरणों के स्फोट तथा आलंकारिकों के ध्वनि की अत्यधिक विस्तृत तुलना हम इस प्रबंध के द्वितीय भाग में करेंगे, जो अभी प्रकाशित होना बाकी है।

४. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ —वाक्यपदीय १. ७७

वर्णों को वाक्यार्थ प्रत्यायक मानते हैं, तो अन्य वर्ण निरर्थक माने जायँगे।[1] यदि वे समस्त वर्णों को वाक्यार्थप्रत्यायक मानते हैं, तो इसमें फिर दो विकल्प उपस्थित होते हैं। वे इन वर्णों का समूह वास्तविक मानते हैं, या औपाधिक। भाव यह है, क्या वर्ण एक दूसरे से स्वभावतः ( वस्तुतः ) संबद्ध रहते हैं, या वे संबद्ध तो नहीं होते, किंतु हमें उनके संबद्ध होने का अनुभव होता है, और इस प्रकार श्रोता के अनुभव की उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण वे संबद्ध हो जाते हैं। चूँकि वर्ण नित्य तथा विभु हैं, इसलिए वे एक दूसरे से संबद्ध हो ही नहीं सकते, तथा प्रत्येक वर्ण का अनुभव हमें भिन्न भिन्न समय पर होता है, इसलिए उनका अनुभव भी संबद्ध नहीं माना जा सकता।[2]

आगे चलकर वह वर्णवादियों के इस मत का भी खंडन करता है कि पहले वर्णों के संस्कार से युक्त अंतिम वर्ण वाक्यार्थ प्रतीति कराता है। स्फोटवादी इस 'संस्कार' शब्द को पकड़ता है, और यह जानना चाहता है कि वर्णवादियों के 'संस्कार' शब्द का क्या भाव है ? संस्कार के दो अर्थ होते हैं, या तो पुराने अनुभवों के अवशिष्ट 'स्मृतिबीज', या फिर प्रोक्षणादि के द्वारा यज्ञ में किया गया व्रीह्यादि संस्कार (यज्ञादि में आनीत सामग्री को जलादि से प्रोक्षण कर शुद्ध करना संस्कार कहलाता है )। यहाँ दूसरे ढंग का संस्कार तो नहीं माना जा सकता। यदि आप स्मृतिबीज को संस्कार मानते हैं, तो स्मृति स्वतः कोई वस्तु न होकर वासना है, जो कुछ नहीं, आत्मा की शक्ति है, फिर तो वाक्यार्थ प्रतीति की शक्ति संस्कार की न हुई, आत्मा की हुई।[3] स्फोट-

---

१ न तावत्प्रत्येकम्, अनुपलंभविरोधात्, वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसंगात्।
—तत्त्वबिंदु पृ० २५,

२ नापि मिलिताः, तथाभावाभावात्। तथाहि—वास्तवो वा समूह एतेषामाश्रीयते ? अनुभवोपाधिको वा ? तत्र सर्वेषामेव वर्णानां नित्यतया विभुतया च वास्तवी संगतिरति प्रसंगिनी केषांचिदेव पदवाक्यभावं नोपपादयितुमर्हति। अनुभूयमाना नवनवानुभवानुसारिणी तत्पर्यायेण पर्यायवती न समूहभाग्भवति। न खल्वेकदेशकालानवच्छिन्नाः समूहवंतो भवन्ति भावाः, अतिप्रसंगात्। —वही पृ० २५.

३. कोऽनु खल्वयं संस्कारोऽभिमत आयुष्मतः— किं स्मृतिबीजं, अन्योवा प्रोक्षणादिभ्य इव व्रीह्यादेः। —वही पृ० २५

वादी आगे यह भी दलील देता है कि नदी, 'दीन' 'सर' 'रस' जैसे प्रयोगों में वर्ण एक-से हैं, किंतु उनका अर्थ भिन्न भिन्न होता है। अतः ये प्रयोग अखंड रूप में ही अर्थप्रतीति कराते हैं। वर्णवादी अपनी जिद छोड़कर अखंड पद-वाक्य को ही अर्थप्रत्यायक स्वीकार कर लेना चाहिए, तथा यह समझना चाहिए कि श्रोता की (वक्ता की भी) बुद्धि अखंड पद-वाक्य को ही अपना विषय बनाती है[1]। आगे चलकर स्फोटवादी 'गौः' शब्द के उदाहरण को लेकर अपने सिद्धांत की प्रतिष्ठापना करने लगता है। वह कहता है, 'गौः' शब्द का अनुभव हमें यह बताता है, कि इस शब्द में एकता और अखंडता है, यदि हम केवल वर्णों को ही अनुभव का विषय मानेंगे, तो यह अनुभव विरुद्ध होगा।[2] यदि आप यह कहें कि जैसे अनेक सिपाही मिलकर 'सेना' बनती है। और अनेक पेड मिलकर 'बन' बनता है, वैसे ही अनेक वर्ण मिलकर 'पद' बन जाते हैं, और इस तरह पद को औपाधिक मानें, तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि आप इसे कौन सी उपाधि मानते हैं। उपाधि दो तरह की होती है—(१) 'एकज्ञान-विषयता',—एक ही अनुभव का विषय होना; (२) 'एकाभिधेयप्रत्ययहेतुता'—एक ही भाव की प्रतीति के अनुभव में कारण होना। पहली उपाधि मानने पर इसके पहले कि विषय का उपाधि के द्वारा ज्ञान हो, उपाधि का ज्ञान होना जरूरी है। इस तरह तो वर्ण के पहले पद का ज्ञान मानना पड़ेगा, जो आपके ही मत के प्रतिकूल जाता है। दूसरी तरह की उपाधि में 'इतरेतराश्रय' दोष पाया जाता है। क्योंकि एक पद से दूसरे पद की भिन्नता का आधार अर्थभिन्नता मानना पड़ेगा, जो असंगत है। वर्णों को वाक्यप्रत्यायक मानने में इतनी अडचनें हैं, अतः पद का वाचकत्व अखंड स्फोट से ही संबद्ध माना जाना चाहिए।

वर्णवादियों के द्वारा स्फोटवादी का खंडनः—वर्णवादी को उपर्युक्त दलीलें पसंद नहीं। वह स्फोट को अर्थप्रत्यायक मानने का विरोध

---

१. तस्मात् स्वसिद्धान्तव्यामोहमपहायाभ्युपेयतामनुसंहारबुद्धेरेकपद-वाक्यगोचरता। —वही पृ० ३५

२. गौ रित्येकमिदं पदमित्येकपदावभासिनी धीरस्ति लौकिकपरीक्षकाणाम्। —वही पृ० ४९

करता है। वर्णवादी का पहला प्रश्न यह है कि स्फोटवादी के द्वारा (१) अखण्ड वाक्य स्फोट को वाक्यार्थप्रत्यायक मानने में लौकिक अनुभव आधार है, या (२) वाक्य एवं पद के भावों का वह वैषम्य जिसे अन्य प्रकार से नहीं सुलझाया जा सकता।[1] यदि आपको पहला मत अभिप्रेत है, तो फिर दो विकल्प उपस्थित होते हैं, (१) आप वाक्य को अनेक पदवर्ण-रूप अंगों (अवयवों) से युक्त सम्पूर्ण अंगी (अवयवी) मानते हैं, या (२) उसमें ऐसे अवयवों का सर्वथा अभाव मानते हैं। पहला विकल्प तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि पद 'विभु' हैं (इस मत को आप भी मानते हैं); और जब वे 'विभु' (परममहान्) हैं, तो उनसे बड़ा 'अवयवी' (वाक्य) कैसे हो सकता है।[2] साथ ही शब्द को नैयायिक (न्याय दर्शन) आकाश का गुण मानते हैं, गुण तो अविभाज्य होता है, तथा किसी वस्तु का समवायि-कारण नहीं हो सकता, क्योंकि समवायि-कारण सदा 'द्रव्य' होता है। इस तरह आपके पद अखण्ड वाक्य के 'अंग' नहीं माने जा सकते।[3] दूसरा विकल्प लेने पर कि वाक्य में कोई अवयव नहीं होते; यह अर्थ निकलता है कि अर्थ प्रतीति वाक्य ही कराता है, पद या वर्ण नहीं, साथ ही भाषा में पद-वर्ण का कोई अस्तित्व नहीं। अकेले वाक्य का ही भाषा में अस्तित्व है, वह नित्य है। यह अखण्ड स्फोट ध्वनि के द्वारा व्यंजित होता है। पर यह तो वास्तविकता को छोड़कर मणि, कृपाण या दर्पण में देखे गये मुख के अवास्तविक रूप-सा है। साथ ही हम यह भी पूछ सकते हैं, कि पहली ध्वनि ही स्फोट को व्यक्त कर देती है, तो बाद की ध्वनियों की क्या जरूरत है? साथ ही आपकी अंतिम ध्वनि भी स्वतः स्फोट की पूर्णता व्यंजित नहीं कर पाती। अतः स्फोट और अखण्ड वाक्य की कल्पना में ही सारी त्रुटि की जड़ है। पिछली

---

१. स खल्वयमेको वाक्यात्मा वाक्यार्थधीहेतुरनुभवाद्वा व्यवस्थाप्यते, अर्थधीभेदाद्वा अन्यथाऽनुपपद्यमानात् ॥ —वही पृ० ९.

२. न तावत्पूर्वः कल्पः। अवयविन्यूनपरिमाणत्वादवयवानाम्। परममहतां च वर्णानां तदनुपपत्तेः। वही पृ० ९.

३. गगनगुणत्वे चाऽद्रव्यतया समवायिकारणत्वाभावेनावयवभावाभावात्। —वही पृ० १०.

ध्वनि सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ तभी प्रत्यायित करा सकती है, जब वह पहली ध्वनियों का संस्कार लेकर आये। इसलिये वाक्य की भावी या पूर्ववर्ती ध्वनियों को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। जिस तरह कोई जौहरी रत्नों को बार बार देखकर एक ऐसा संस्कार प्राप्त कर लेता है कि किसी भी रत्न पर निर्णय दे पाता है, ठीक वैसे ही एक वाक्य की पुरानी ध्वनियों के संस्कार से संपन्न श्रोता अंतिम ध्वनि को सुनकर वाक्यार्थ का निर्णय कर पाता है। यही कारण है, हम (वर्णवादी) पूर्व पूर्व वर्ण के संस्कार से युक्त अंतिम वर्ण को वाक्यार्थ-प्रतीति का कारण मानते हैं।[1]

वर्णवादी स्फोट की कल्पना का खण्डन इसलिए करता है कि वाक्यार्थ प्रतीति में इस कल्पना की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती। पदादि में प्रयुक्त वर्ण स्वयं ही अनुभव के द्वारा अर्थप्रतीति करा देते हैं। जब वे एक क्रम (सरः) में होते हैं, तो एक अर्थ की प्रतीति कराते हैं, दूसरे क्रम (रसः) में होते हैं, तो दूसरे अर्थ की प्रतीति कराते हैं। अतः क्रम, न्यूनातिरिक्तत्व, स्वर, वाक्य, श्रुति, स्मृति के आधार पर एक पद दूसरे पद से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराता है। अगर वर्णों या पदों का प्रयोग भिन्न भिन्न व्यक्ति करें, मैं 'स' कहूँ, और आप 'रः' कहें, तो अर्थ (तालाब) की प्रतीति न होगी। इसलिए यह भी जरूरी है कि एक ही व्यक्ति एक ही समय उनका उच्चारण करे। 'एकवक्तृत्व' अर्थानुभव में आवश्यक तत्त्व है, तथा उसका ज्ञापक हेतु है। अतः वाक्य या पद का अर्थज्ञान वर्णसमूह के कारण होता है, अनवयव वाक्य जैसे कल्पित तत्त्व के कारण नहीं।[2]

---

१. पूर्वपूर्वाभिव्यक्तिसंस्कारसचिवोत्तरोत्तराभिव्यक्तिक्रमेण त्वन्यो ध्वनिः स्फुटतरं विशिष्टस्फोटविज्ञानमाधत्ते इति न वयर्थ्यं द्वितीयादिध्वनीनाम्। नापि पूर्वेषां, तदभावे तदभिव्यक्तिजनितसंस्काराभावेनान्यस्य ध्वनेरसहायतया व्यक्त्यवभासवाक्यधीहेतुभावाभावात्।

—वही पृ० २०.

२. तत्सिद्धमेतदर्थापत्तेरनुमानस्य वा निवृत्तिस्तदेकगोचरपदवाक्याव-साधनीति स्थितं नानवयवमेकं वाक्यं वाक्यार्थस्य बोधकमिति।

—तत्त्वबिंदु पृ० ७६.

(२) दूसरा मतः—यह मत पहले मत से इस दृष्टि से अच्छा माना गया है कि इसमें स्फोट जैसी किसी अन्य वस्तु की कल्पना नहीं की गई है, तथा अर्थप्रतीति का निमित्त वर्णों और पदों को माना गया है। यह मत प्राच्य मीमांसकों तथा प्राच्य नैयायिकों का है। वात्स्यायन के न्यायभाष्य में भी इस मत का संकेत मिलता है। वात्स्यायन के मत से 'वाक्य में स्थित वर्णों का उच्चारण करने पर श्रोता के द्वारा उनका श्रवण किया जाता है। एक या अनेक श्रुत वर्ण पद के रूप में संबद्ध नहीं होते, अतः श्रोता उन्हें संबद्ध करके पद व्यापार के द्वारा तथा स्मृति के द्वारा अन्य पदों के अर्थों का संबंध लगा लेता है। तब पदों का परस्पर संबंध करने पर वाक्य प्रतीति होती है और संबद्ध पदार्थों को ग्रहण कर वाक्यार्थ-प्रतीति की जाती है।'[1] इस मत के अनुसार हम किसी भी वाक्य को पूरा का पूरा एक साथ नहीं सुन पाते। वक्ता एक एक वर्ण का उच्चारण करता है। वर्ण के आशुविनाशी एवं क्षणिक होने के कारण आगामी वर्ण के उच्चारण के समय पहला वर्ण लुप्त हो जाता है, ऐसी दशा में वाक्य के समाप्त होते समय श्रोता को केवल अंतिम ध्वनि ही सुनाई देती है। इसलिये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पूर्व पूर्व पद तो लुप्त हो जाते हैं, फिर श्रोता अंतिम वर्ण को सुनकर सारे वाक्य का अर्थ कैसे लगा लेता है? इसका समाधान यह है कि पूर्व वर्ण, पद या पदार्थ तो लुप्त हो जाते हैं, पर उनके ज्ञान की वासना श्रोता की चित्तवृत्ति में स्थित रहती है। अंतिम वर्ण श्रवण के साथ ही वासना स्मृति रूप में उद्बुद्ध होकर वाक्यार्थ की की प्रतीति (वाक्यार्थधी) को उत्पन्न करती है।[2]

पूर्वपद-पदार्थ-संस्कार-युक्त अंतिम वर्ण का ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का निमित्त है

---

१. वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु तावच्छ्रवणं भवति श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन न प्रतिसन्धत्ते प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति पदव्यवसानेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते पदसमूहप्रतिसंधानाच्च वाक्यं व्यवस्यति सम्बद्धांश्च पदार्थान्गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते ॥ —न्यायसूत्र-वात्स्यायन भाष्य. ३-२-६२.

२. स खल्वयमन्त्यो वर्णः पूर्वपूर्ववर्णपदपदार्थविज्ञानजनितवासनानिचयसचिवश्रवणेन्द्रियसमधिगतजन्मग्रहणस्मरणरूपसदसद्वर्णनिर्भासप्रत्ययविपरिवर्ती पदवाक्यार्थधीहेतुरुपेयते ॥ —तत्त्वबिंदु पृ० ७७.

सिद्धान्तपक्षी अभिहितान्वयवादी इसका खंडन यों करता है:—"क्या वाक्य का अंतिम वर्ण, अपने तथा वाक्य के अर्थ का संबद्ध-स्मरण कराने के बाद वाक्यार्थप्रतीति कराता है ? यदि आपको यह मत स्वीकृत है, तो जब मानसिक वासना अपने निश्चित प्रभाव—अर्थात् पदार्थों का स्मरण, पदों का प्रत्यक्ष—को स्पष्ट करती है, उस समय वासना का निमित्त विद्यमान नहीं होता; साथ ही वाक्य या पद के अंतिमवर्ण के ज्ञान की स्थिति को उस समय कोई भी स्पष्ट नहीं कर सकता, जब वह पद एवं पदार्थ के परस्पर संबंध का स्मरण करता है। अतः पूर्व-पदादि के स्मरण से युक्त अन्त्यवर्ण-श्रवण वाक्यार्थ बोधक नहीं है।"[1]

स्मृतिदर्पणारूढा वर्ण-माला वाक्यार्थप्रतीति का निमित्त है।

( ३ ) तृतीय मतः—तीसरा मत किन्हीं प्राच्य मीमांसकों का है। तत्त्वबिंदु के टीकाकार के मतानुसार यह मत किसी विशिष्ट आचार्य का नहीं है, और दूसरे तथा तीसरे दोनों मतों को वाचस्पति मिश्र ने केवल संभावना के आधार पर उपन्यस्त किया है।[2] कुछ विद्वानों के मतानुसार यह प्राचीन मीमांसक उपवर्ष का मत है। उपवर्ष शबर से भी प्राचीन हैं, तथा उनके मत का उल्लेख मीमांसा भाष्य में शबर ने भी किया है।[3] उपवर्ष के इस मत का संकेत योगसूत्र के भाष्य में व्यास ने भी दिया है। वे बताते हैं कि "गौः" में भगवान् उपवर्ष के मत से गकार, औकार, और विसर्ग ही मिलकर शब्द हैं।[4]

वर्णवादियों का कहना है कि बड़े बूढ़े लोग जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी से हमें पद-पदार्थ या वाक्य-वाक्यार्थ

---

१. नान्त्यवर्णश्रुतिः स्मृत्या नीता वाक्यार्थबोधिनी ॥ —वही पृ० ७६.

२. एतत्तु मतद्वयं संभावनामात्रेणोपन्यस्तमिति केचित् ।
—तत्त्वबिंदु टीका तत्त्वविभावना पृ० ७.

३. वर्णा एव तु शब्दा इति भगवानुपवर्षः ।—मीमांसाभाष्य १. १. ५.

४. अत्र गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः॥
—योगभाष्य ३. १७.

का ज्ञान होता है। बड़े बूढ़े लोग किसी भी लौकिक व्यवहार के लिए कोरे पद का प्रयोग न कर सदा वाक्य का प्रयोग करते हैं। यह वाक्य अखण्ड (अनवयव) तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्फोटवादी वैयाकरणों के मत का हम खंडन कर चुके हैं। ऐसी दशा में वाक्य केवल स्मृति में स्थित वर्णों[1] का समूह (वर्णमाला) ही बचा रहता है। यह वर्ण-माला ही वाक्यार्थबोध का कारण है, जो वाक्यार्थबोध रूप कार्य को उत्पन्न करती है। पदपदार्थ ज्ञान तो केवल निमित्त मात्र है, वाक्यार्थ-प्रतीति का वास्तविक हेतु तो वर्णमाला ( a group of phonemes; or a group of syllables ) है।[2]

भाट्ट मीमांसकों को यह मत स्वीकार नहीं। उनके मतानुसार इस मत में दो खास दोष हैं, जिनके कारण स्मृति-समारूढ अक्षरावलि (वर्णमाला) को वाक्यार्थ का हेतु नहीं माना जा सकता है। ये दो दोष हैं:—(१) गौरव, और (२) विषयाभाव।[3] मान लीजिये, हम आठ वाक्य कहते हैं:—अर्भक गाय लाओ, अर्भक गाय बाँधो, शिशो गाय लाओ, शिशो गाय बाँधो, बाल गाय लाओ, बाल गाय बाँधो, डिंभ गाय लाओ, डिंभ गाय बाँधो। यहाँ आठ वाक्य हैं, किंतु सभ

---

१. यहाँ यह कह दिया जाय कि 'वर्ण' शब्द का अर्थ यहाँ लिखित अक्षरप्रतीकों ( Letters ) से न होकर 'ध्वनि' ( Phoneme ) या 'अक्षर' ( Syllable ) से है। प्राचीन आचार्यों ने 'वर्ण' शब्द का पारि-भाषिक प्रयोग इन दोनों अंतिम अर्थों में किया है।

२. वृद्धप्रयोगाधीनावधारणो हि शब्दार्थसंबंधः। न च पदमात्रं व्यवहारांगं प्रयुञ्जते वृद्धाः, किंतु वाक्यमेव, तच्चानवयवं न्यषेधीति स्मृतिसमारूढा वर्णमाला परिशिष्यते। सा च नैमित्तिकं वाक्यार्थबोधमाधत्ते। पारमार्थिक-स्तु पदतदर्थबोधो निमित्तमात्रेणावतिष्ठते वर्णमालैव वाक्यार्थधीहेतुरिति ॥

— तत्त्वबिंदु पृ० ८३-४

३. गौरवाद्विषयाभावात्तद्बुद्धेरेव भावतः।
वाक्यार्थधियमाधत्ते स्मृतिस्था नाक्षरावलिः ॥

—वही पृ० ८४

वाक्यों को देखने पर पता चलेगा कि पद केवल सात हैं। अब वर्ण-वादी के मतानुसार प्रत्येक वाक्य की अलग-अलग शक्ति माननी पड़ेगी, इस तरह आठ वाक्यों की अर्थ प्रतीति के लिए आठ शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। यदि पदवादी का मत स्वीकार किया जाय तो वहाँ हर पद की एक एक शक्ति माने जाने के कारण केवल सात ही शक्तियाँ होंगी। यदि हम गाय के साथ 'सफेद' ( शुक्लां ) विशेषण जोड़ दें, तो पता चलेगा कि वर्णवादी के मत से सोलह वाक्य बनेंगे, और इस तरह उसे सोलह शक्तियाँ माननी पड़ेंगी, जब कि पदवादी के मत से केवल आठ ही रहेंगी। इस तरह वर्णवादी के मत को मानने पर शक्ति की कल्पना अधिक करनी पड़ेगी, जो व्यर्थ है। यह कल्पनागौरव वर्णवादी के मत का पहला दोष है।[1] दूसरा दोष विषयाभाव है। वाक्य की वर्णमाला वाक्यार्थ ( पदार्थसंसर्ग ) की प्रतीति तभी करा सकती है, जब पहले पदार्थों की प्रतीति हो। वाक्यार्थज्ञान में पदार्थ संसर्गी हैं, अतः संसर्ग के पहले उनका ज्ञान होना आवश्यक है। पदार्थ अन्वित होकर वाक्यार्थ प्रतीति कराते हैं, इसलिए अन्वय ( संसर्ग ) के पहले पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा है, तो वाक्यार्थ-ज्ञान हेतु पदार्थ-ज्ञान होगा, वर्णमाला कैसे ? साथ ही जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं, तो उसके पाँच छः पदों के वर्णों या अक्षरों को ही याद नहीं रख पाते, तो लंबे वाक्य में प्रयुक्त अनेक पदों वाली सारी वर्णमाला एक ही अनुसंहार बुद्धि का विषय नहीं बन पाती।[2] इन सब बातों को देखते हुए वर्णमाला को वाक्यार्थज्ञान का निमित्त नहीं माना जा सकता।

---

१. "...इत्यष्टानां वाक्यानां अष्टौ शक्तयः कल्पनीयास्तवेति कल्पनागौरवम्। पदवादिनस्तु सप्तानां सप्तैव शक्तय इति कल्पनालाघवम्। शुक्लामिति पदप्रक्षेपेण पनः पदवादिनोऽष्टानां पदानामष्टौ शक्तय इति। तव तु षोड़शापराः शक्तय इति महद् गौरवमापन्नम्।

—वही पृ० ८४-५

२. अपि च त्रिचतुरपञ्चषपदवाक्यवर्तिनी पदार्थप्रत्ययव्यवहितापि क्लेशेन वर्णमाला स्मर्यैतापि, तदभ्यधिकपदवर्ति तु वाक्ये सातिदुष्करा।

—पृ० ८९

चतुर्थ मतः—वाचस्पति मिश्रने पूर्व पक्षके रूपमें एक और मत रखा है, जो प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद है। अन्विताभिधान-वादियों के मतानुसार वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर आकांक्षित, आसन्न (समीपस्थ), तथा योग्य होने के कारण सर्वप्रथम अन्वित होते हैं, तदनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति (अभिधा शक्ति के द्वारा) कराते हैं।[1] इस प्रकार पदार्थ ही वाक्यार्थ है, तथा वाक्यार्थज्ञान के लिए स्फोटशब्द, अंतिम वर्ण, या वर्णमाला को कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आकांक्षादियुक्त अन्वित पद ही वाक्यार्थ प्रतीति कराते हैं:—अन्विता-भिधानवाद

(शंका) प्रभाकर के इस मत के संबंध में अभिहितान्वयवादी ने कुछ शंकाएँ उठाई हैं। पहले वे यह जानना चाहते हैं कि जब प्रभाकर इस बात को मानते हैं कि पद की अभिधाशक्ति पद के स्वार्थ तथा अन्वय दोनों को साथ साथ ही प्रतीत कराती है, तो वाक्य में वाक्यार्थ उनके अर्थ से प्रतीत होता है या नहीं? यदि वे यह मानते हैं कि पद वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं कराते, तो इसका यह अर्थ है कि अकेला प्रथम पद ही वाक्य के भावों की प्रतीति करता है। इस तरह तो अन्य पदों का प्रयोग व्यर्थ माना जायगा, क्योंकि वक्ता की विवक्षा एक ही पद से पूरी हो जायगी।[2] यदि दूसरा विकल्प लेकर यह कहा जाय कि अन्य पद भी वाक्यार्थप्रतीति कराते हैं, तो एक वाक्य ले लिया जाय। मान लीजिये वाक्य है:—"वह हाँडी में चावल पकाता है"[3], यहाँ

---

१. पदान्याकांक्षितासन्नयोग्यार्थान्तरसंगतान्।
स्वार्थानभिदधन्तीह वाक्यं वाक्यार्थगोचरम्॥

—वही पृ० ९०

२. तत्रानभिहितस्वार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधाने पदादेकस्मादेवोच्चारिता-द्विवक्षाप्रतीतेः वैयर्थ्यमितरेषाम्॥

—वही पृ० ९३

३. वाचस्पति मिश्र का उदाहरण "उखायां पचेत्" है, जहाँ उनके मत से 'पचेत्' की अर्थप्रतीति के पूर्व उखाधिकरण पाकक्रिया, और उखा को पाकक्रिया से अन्वित होना आवश्यक है।

चार पद हैं। यहाँ जब तक "पकाता है" क्रिया वह कर्ता, चावल कर्म तथा 'हाँडी में' अधिकरण से संबद्ध ( अन्वित ) न होगी, तब तक अर्थ-प्रतीति न हो सकेगी। इसी तरह वह, चावल, हाँडी भी अन्य पदत्रय से अन्वित हुए बिना अर्थप्रतीति नहीं करा पाते। इस प्रकार वाक्य का प्रत्येक पद एक दूसरे पर आश्रित रहेगा; आपके मत में यह 'इतरेतराश्रय' या 'परस्पराश्रय' दोष पाया जाता है।

प्रभाकर इस बात का उत्तर यों देते हैं कि ऐसा न मानने पर हमें दो शक्तियाँ— दो अभिधाशक्तियाँ—माननी पड़ेंगी, एक पदों का अपना अर्थ प्रतीत करायगी, फिर दूसरी उन्हें अन्वित कर वाक्यार्थ-प्रतीति करायगी। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि हमारे मत में कोई दोष नहीं। यद्यपि प्रत्येक शब्द अभिधा से अन्वितपदार्थों की प्रतीति कराता है, तथापि अन्य सभी पदों की प्रतीति केवल प्रथम ( एक ) पद से नहीं हो पाती, क्योंकि अभ्यास की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये केवल इतना ही मानना चाहिए कि पद अभिधा से केवल अपने अर्थ तथा अन्वय की ही प्रतीति कराते हैं, अन्य पदार्थों की नहीं। इस बात को और पुष्ट करने के लिए प्रभाकर के मतानुयायी अभिहितान्वयवादियों से एक प्रश्न पूछते हैं:—पदों से जिस ज्ञान की प्रतीति होती है, वह कौन सा ज्ञान है? शास्त्र में केवल चार ही तरह के ज्ञान माने गए हैं—प्रमाण, संशय, विपर्यय तथा स्मृत। अर्थप्रतीति को प्रमाण तो नहीं मान सकते, क्योंकि प्रमाण में तो पहले से ही विद्यमान वस्तु का ज्ञान होता है। पदार्थ पदश्रवण के पहले विद्यमान होता, तो ऐसा माना जा सकता है। पदार्थज्ञान संदेह या विपर्यय ( मिथ्याज्ञान ) भी नहीं माना जा सकता। अब कोई पाँचवा तरह का ज्ञान तो है नहीं, इसलिए पदार्थ ज्ञान को स्मृति ही मानना होगा। पद केवल संस्कारोद्बोध पर निर्भर हैं तथा उसके द्वारा पदार्थज्ञानरूप स्मृति का प्रत्यायन कराते हैं।[1]

---

१. विधान्तरानवगमात् स्मृतिलक्षणयोगतः।
अभ्यासातिशयाद्रूपस्मृतेर्नान्योन्यसश्रयः॥ ( पृ० १०० )
( साथ ही ) न च पंचमी विधा समस्तीति स्मृतिः परिशिष्यते॥
—वही पृ० १०१

अन्विताभिधानवादियों के मत का संकेत मम्मट के काव्यप्रकाश में भी मिलता है। द्वितीय उल्लास में तो केवल थोड़ा ही निर्देश किया गया है, पर पंचम उल्लास में व्यञ्जना-स्थापन के प्रकरण में मम्मट ने प्रभाकर मिश्र के मत को अधिक स्पष्ट किया है। प्रभाकर मिश्र के मत का अधिक स्पष्टीकरण (मम्मट के अनुसार) सप्तम परिच्छेद में किया जायगा। अतः यहाँ संक्षेप में दे देना आवश्यक होगा। प्रभाकर के मत से 'वाच्य अर्थ ही वाक्यार्थ है'।[1] इस मत को यों स्पष्ट किया जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त पद पहले सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं, फिर विशिष्ट अर्थ का। ये दोनों वस्तुतः एक ही वाक्य के दो अंश हैं। जैसे 'राम गाय को लाता है', इस वाक्य में 'राम', 'गाय' और 'लाना', पहले कोरे कर्तृत्व, कर्मत्व तथा क्रियात्व का बोध करायँगे; फिर राम का। गाय को लानेवाला; गाय का राम के द्वारा लाया जाता हुआ पदार्थ; तथा लाना क्रिया का 'राम कर्तृक' तथा 'गो-कर्मक' रूप विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है। यह विशिष्ट अर्थ कुछ नहीं, पदों का वाच्यार्थ ही है। प्रभाकर भट्ट के इस मत का उल्लेख, उन्हीं की कारिका को उद्धृत करते हुए पार्थ सारथि मिश्र ने किया है।

'वाक्यार्थ तो अनेक होते हैं। वैसे एक ही प्रकार के वही पद अनेक वाक्यों में पाये जाते हैं, फिर भी उनका भिन्न-भिन्न वाक्यों में उपादान होता है। अतः सबसे पहले श्रोता पदों का सामान्य अर्थ लेता है, तब किसी खास वाक्य के प्रकरण में वह उस सामान्य अर्थ का दूसरे प्रकरणों से व्यवच्छेद (निराकरण) कर लेता है। इस तरह वह किसी एक विशिष्ट अर्थ में बुद्धि को स्थिर कर लेता है।'[2]

---

१. वाच्यार्थ एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥

—काव्य प्रकाश पृ० २७०

२. तत्रानैकान्तिकानेकवाक्यार्थोपप्लवे सति ।

अन्योन्यात्मव्यवच्छेदादेकत्र स्थाप्यते मतिः ॥ —प्रभाकर मिश्र

(पार्थसारथि मिश्र के द्वारा न्यायरत्नमाला में उद्धृत)

यह आपत्ति है कि पद अपने व्यस्त अर्थ की प्रतीति कभी नहीं कराते, वे सदा अन्वित होकर ही अर्थ प्रतीति कराते हैं। यह तथ्य ही आपकी इस कल्पना में प्रधान बाधक तत्व है कि पदार्थ वाक्यार्थज्ञान के निमित्त हैं। मान लीजिये, कोई व्यक्ति केवल किसी 'प्रासाद' का स्मरण कर रहा है, ऐसी दशामें उसे पाटलिपुत्र या माहिष्मती से संबंद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई नहीं कर सकता कि वह केवल 'प्रासाद' शब्द से ही पाटलिपुत्र या माहिष्मती का प्रासाद समझ ले। अभिहितान्वयवादी इस शंका का यह उत्तर देता है कि मनोवासना स्वतः पूर्वज्ञात या पूर्व अज्ञात अनुभवों के विषयों की स्मृति को उपस्थित नहीं कर देती, वह तो केवल आकांक्षादि से अन्वित पद-समूह के पदार्थों का ही स्मरण करा पाती है। पदार्थस्मृति आकांक्षादि के द्वारा सहकृत होती है, तथा आकांक्षादित्रय सहकृत होकर ही वाक्यार्थ ज्ञान का निमित्त बनती है।

अन्विताभिधानवादी फिर दलील करते हुए कहता है कि यदि पदार्थज्ञान पदों से भिन्न किसी स्मृत्यादि निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसमें वाक्यज्ञान को उत्पन्न करने की कोई महिमा ( शक्ति ) न होगी। यदि ऐसी महिमा ( शक्ति ) की सत्ता मानी ही जाती है, तो इस शक्ति को मीमांसादर्शन में मान्य प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से भिन्न सप्तम प्रमाण मानना पड़ेगा। अथवा यह भी हो सकता है कि शाब्द प्रमाण ( आगम प्रमाण) इसी नवीन प्रमाण ( पदार्थ ) में अन्तर्भावित हो जायगा। यदि वास्तविकता ऐसी ही है, तो भाष्यकार शबर तथा अन्य आचार्यों को इसका संकेत करना चाहिए था। पर उन्होंने तो पदार्थ को अलग से प्रमाण नहीं माना; साथ ही इसे अलग प्रमाण मानने पर इसके भेदरूप, आगम प्रमाण का अलग से निर्देश करने की कोई आवश्यकता न थी जो भाष्यकार ने किया है।[1] यदि आगम प्रमाण पदार्थ का भेद है, तो

---

१. ननूक्तं न मानान्तरानुभूतानामर्थरूपाणां वाक्यार्थधीप्रसवसामर्थ्यमुपलब्धम्, उपलम्भे वा सप्तमप्रमाणप्रसंगः, आगमस्य वा तत्रैवान्तर्भावः। तदेव प्रत्यक्षादिभिः सह तुल्यकक्ष्यतयोपन्यसनीयम्, न त्वागमस्तद्भेदः।

—तत्त्वबिंदु पृ० १२०

सामान्य प्रमाणों के साथ पदार्थ को न रखकर उसका भेद रखना ठीक न था। लोग 'ब्राह्मणयुधिष्ठिर' जैसा प्रयोग नहीं करते, वे 'ब्राह्मण-राजन्य' या 'वशिष्ठयुधिष्ठिर' का प्रयोग करते हैं।[1] भाव यह है, सामान्यों का या विशेषों का ही प्रयोग एक साथ देखा जाता है। अतः स्पष्ट है आगम स्वतः प्रमाण है, पदार्थ का भेद नहीं माना जा सकता। फिर तो पदार्थ को सातवाँ प्रमाण मानना ही पड़ेगा। शायद पूर्वपक्षी यह कहे कि भाष्यकार ने छोटे प्रमाणों का संकेत करना उचित न समझा तो ऐसा कहना भगवान् भाष्यकार की विद्वत्ता और सर्वज्ञता पर संदेह करना होगा। यदि अभिहितान्वयवादियों के मत को मानकर पदार्थ-ज्ञान को वाक्यार्थज्ञान का निमित्त माना जायगा, तो या तो तीन शक्तियाँ माननी पड़ेंगी या दो। पहली शक्ति से व्यस्त पद अपने अर्थ की प्रतीति करायेगी, दूसरी शक्ति उनकी स्मृति करायेगी, तीसरी उनके द्वारा अन्वित वाक्य की अर्थप्रतीति करायेगी। अथवा एक शक्ति पदों की और एक शक्ति वाक्यार्थज्ञान की, कम से कम दो शक्तियाँ तो माननी ही पड़ेंगी। हमारे ( अन्विताभिधानवादी ) मत में केवल एक ही शक्ति सारा काम कर देती है। हमारे मत में आप जैसा कोई कल्पना-गौरव नहीं, अतः यह मत विशेष वैज्ञानिक है।[2]

अभिहितान्वयवादी विरोधी की अकेली शक्ति की जाँच पड़ताल करने लगता है। उसके मत से प्राभाकरों की अकेली शक्ति अन्वय से संबद्ध नहीं हो सकती। यदि ऐसा माना जायगा, तो अन्वय तो एक ही होता है, तथा सभी पदों में एक-सा होता है, फिर तो पदों को एक दूसरे

---

१. न हि ब्राह्मणयुधिष्ठिराविति प्रयुञ्जते, प्रयुञ्जते ब्राह्मणराजन्याविति, वशिष्ठयुधिष्ठिराविति वा लौकिकाः।

—वही पृ० १२१.

२. तथा च तिस्रः शक्तयः द्वे वा। पदानां हि तावदर्थरूपाभिधानरूपा शक्तिः, तदर्थरूपाणामन्योन्यान्वयशक्तिः, तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामेवेति। स्मारकत्वपक्षे तूक्तं शक्तिद्वयम्। अन्विताभिधानपक्षे तु पदानामेकैव शक्तिः तत् कल्पनालाघवात् एतदेव न्याय्यमिति।

—वही पृ० १२२

का पर्याय मान लेने का दोष आयगा।[1] अभिहितान्वयवादी प्राभाकरों से एक प्रश्न पूछता है:—क्या हम यह मानते हैं कि पद अपनी शक्ति के द्वारा केवल पदार्थ-स्वरूप ( meaning as such ) को ही प्रत्यायित करते हैं, उनके संबंध को नहीं, जो वाक्यार्थ को उत्पन्न करता है, अथवा वे अपनी शक्ति से पदार्थ-स्वरूप तथा उनका परस्पर संबंध (अन्वय) दोनों को व्यक्त करते हैं, जिनके बिना वाक्यार्थ का उदय ही न हो सकेगा ? किसी एक पदार्थ से अन्य पदार्थ के संबंध का ज्ञान उस पद से भिन्न किसी अन्य स्पष्ट या अस्पष्ट पदादि के कारण होता है, अतः संबंधज्ञान का हेतु पदों को नहीं माना जा सकता। वेदत्रयी में निष्णात विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं, उनके मत से क्रिया स्वतः अभिधा से कर्ता की प्रतीति नहीं करा पाती।[2] अभिहितान्वयवादी वाक्यार्थज्ञान में इसीलिए अभिधा से भिन्न अलग शक्ति--लक्षणा शक्ति--मानते हैं। उनके मत से क्या लौकिक और क्या वैदिक दोनों तरह के वाक्यों में वाक्यार्थ रूप विशिष्ट अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा होती है। वाक्यश्रवण से लेकर वाक्यार्थज्ञान तक श्रोता को किस किस पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है, इसे वाचस्पति मिश्र ने यों स्पष्ट किया है:—

"व्यक्ति वृद्ध व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त वाक्य को सुनकर उससे प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष-शोक, भय आदि की प्रतीति करता है, और इसलिए उस वाक्य को इनका कारण मान लेता है। ज्यों-ज्यों वृद्ध वाक्य में एक एक पद का प्रयोग करता जाता है, त्यों-त्यों नवीन (अनुपजात) अर्थ (पदार्थ) की प्रतीति होती है, और अन्य पूर्व पदों के होते हुए भी अनुपजात अर्थ किसी विशेष पद को सुनने के बाद ही उत्पन्न होता है, अतः व्युत्पित्सु बालक उसे उसका हेतु मान

---

१. तन्मात्रविषये तस्याविशेषात् सर्वशब्दानां पर्यायताप्रसंगः।

—वही पृ० १२३

२. 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति हि त्रैविधवृद्धाः। अतएव आख्यातादौ कर्त्राद्यभिधायितां नाद्रियन्ते।

—वही पृ० १२१

लेता है। यह ज्ञान केवल पदार्थ-मात्र का ही है, अतः यह प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष, शोक आदि की कल्पना या प्रतीति नहीं करा पाता; अतः समस्त वाक्य के विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है। वाक्य प्रयोक्ता वृद्ध का प्रयोग (व्यवहार) इस विशिष्टार्थ में जाकर अवसित होती है। भाव यह है कि वृद्धव्यवहार में प्रयुक्त पदों का लक्ष्य विशिष्टार्थ का द्योतन ही होता है, पर अभिधा से वे केवल पदार्थ मात्र का ही बोध करा पाते हैं।······इसलिए लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्यों में भी विशिष्टार्थ प्रतीति के लिए प्रयुक्त पदसमूह सामान्य अर्थ के ही अभिधायक होने के कारण विशिष्ट अर्थ की प्रतीति लक्षणा से कराते हैं।[१]"

इस प्रकार यह स्पष्टतः है कि वाक्यार्थज्ञान में भाट्ट मीमांसक लक्षणा शक्ति मानते हैं। कुमारिल भट्ट ने स्वयं वार्तिक में वाक्यार्थ को लक्ष्यमाण माना है:—'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः'। पार्थ सारथि मिश्र ने भी न्यायरत्नमाला में अन्विताभिधानवादियों का खंडन करते हुए इसी मतकी प्रतिष्ठापना की है कि यद्यपि एक ही वाक्य में अनेक पद पाये जाते हैं, तथापि संनिधि, अपेक्षा ( आकांक्षा ) तथा योग्यता के द्वारा हम वाक्य के पदों में संबंध ग्रहण कर लेते हैं। वाक्य में प्रयुक्त पदों का अन्वय आकांक्षा, योग्यता तथा संनिधि के कारण होता है।[२] उस संबंध के होनेके बाद वाक्यार्थज्ञान होता है।

---

१. तथा हि—वृद्धप्रयुक्तवाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रवृत्तिनिवृत्तिहर्षशोकभय-सम्प्रतिपत्तेः व्युत्पन्नस्य व्युत्पित्सुस्तद्धेतुप्रत्ययमनुमीयते। तस्य सत्स्वप्यने-केष्वनुपजातस्य पदजातश्रवणसमनन्तरं संभवतः तद्धेतुभावमवधारयति। न चैष प्रत्ययः पदार्थमात्रगोचरः प्रवृत्त्यादिभ्यः कल्प्यत इति विशिष्टार्थगोचरोऽ-भ्युपेयते, तद्विशिष्टार्थपरता अवसिता वृद्धव्यवहारे पदानाम्।......तस्मा-ल्लोकानुसारेण वैदिकस्यापि पदसन्दर्भस्य विशिष्टार्थप्रत्ययप्रयुक्तस्याविशिष्टार्था-भिधानमात्रेण लक्षणया विशिष्टार्थगमकत्वम्॥

—वही पृ० १५३

२. सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वैरूपलक्षणलाभतः।
आनन्त्येप्यन्वितानां स्यात् संबंधग्रहणं मम।

—न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थप्रकरण पृ० ७८.

वाक्य या पद दोनों ही अकेले, साक्षात् संबंध के द्वारा वाक्यार्थबुद्धि उत्पन्न नहीं करते। सबसे पहले पद के स्वरूप के द्वारा पदार्थ अभिहित (अभिधा शक्ति से प्रतीत) होते हैं; तब वे वाक्यार्थ को लक्षित (लक्षणा से प्रस्थापित) करते हैं।'[1] एक वाक्य में अनेक छोटे बड़े सभी तरह के पद होते हैं, किन्तु वाक्यार्थ प्रतीति में सभी पदार्थ एक-साथ उसी तरह अन्वित हो जाते हैं, जैसे बूढ़े, जवान, और बच्चे सभी तरह के कबूतर दाना चुगने के लिए एक साथ कूद पड़ते हैं।[2]

तो, स्पष्ट है कि भाट्ट मीमांसक वाक्यार्थ ज्ञान की शक्ति को लक्षणा कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने बताया है कि पदार्थों को अन्वित करनेवाली शक्ति अभिधादि से भिन्न है। हम उसे लक्षणा ही कहते हैं, किन्तु वह शुद्धा लक्षणा से भिन्न है। यदि इसे अलग से शक्ति माना जायगा, तो चार शक्तियाँ माननी होंगी—अभिधा, लक्षणा, गौणी (मीमांसक गौणी को अलग शक्ति मानते हैं) और पदार्थान्वय-शक्ति। इस गौरव से बचने के ही लिए इसे लक्षणा माना गया है।[3] संभवतः भाट्ट मीमांसकों की इस दलील से ही कुछ मीमांसकों को इस शक्ति को नया नाम देने की कल्पना मिली हो। लक्षणा से भिन्न सिद्ध करने के लिए भाट्ट मीमांसकों के ही एक दल ने इस शक्ति को तात्पर्यवृत्ति या तात्पर्यशक्ति का नाम इसलिए दे दिया कि यह शक्ति वाक्यार्थरूप तात्पर्य की प्रतीति का निमित्त है। काश्मीर के मीमांसकों की यही धारणा रही होगी और अभिनवगुप्त तथा मम्मट को यही तात्पर्यवृत्ति वाली परम्परा मिली। यही कारण है, अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने

तात्पर्य वृत्ति का संकेत

---

१. तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यते साविति सिद्धमेतत्॥
वही पृ० ७९.

२. वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत्पतन्ति।
तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति॥

३. एवं च न चेदियं पदप्रवृत्तिर्लक्षणा लक्षणमन्वेति, भवतु तर्हि चतुर्थी, दृष्टत्वात्। अस्तु वा लक्षणैव। —तत्वबिंदु पृ० १५७.

वाक्यार्थवाली शक्ति को लक्षणा न मानकर तात्पर्य वृत्ति कहा। साथ ही अभिनवगुप्त और मम्मट ने मीमांसकों की गौणी को लक्षणा का ही एक अंग माना। इस तरह उनके लिए तात्पर्यशक्ति चौथी शक्ति न होकर तीसरी ही शक्ति थी, तभी तो व्यञ्जना को तुरीया वृत्ति कहना संगत बैठता है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में तात्पर्य वृत्ति की विशेषताओं का विश्लेषण यों किया है:—

"अभिहितान्वयवादियों के मत से वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों को अन्वित करने में आकांक्षा, योग्यता, तथा संनिधि इन तीन तत्वों की आवश्यकता होती है, आकांक्षा से यह अर्थ है कि एक पद को दूसरे पद की आवश्यकता हो। जैसे 'वह···" कहने पर भावप्रतीति के लिए किसी दूसरे पद की आवश्यकता होती है। श्रोता की यह आकांक्षा बनी रहती है कि "वह क्या करता है?" इसलिए वे पद, जिनमें एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति नहीं होती, वाक्य का निर्माण करने में असमर्थ होंगे। यदि कहा जाय "गाय, घोडा, पुरुष, हाथी" (गौरश्वः, पुरुषो, हस्ती), तो यह कोई वाक्य नहीं है। दूसरा तत्त्व योग्यता है, अर्थात् एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ से अन्वित होने की क्षमता हो। जैसे, यदि कहा जाय कि "वह आग से सींचता है" ( अग्निना सिंचति ), तो इस वाक्य से कोई तात्पर्यप्रतीति नहीं होती। पानी से तो सेक-क्रिया हो सकती है, आग से नहीं। अतः यहाँ पदार्थों के अन्वय में योग्यता का अभाव है। तीसरा तत्त्व संनिधि है। पदों का उच्चारण साथ साथ ही किया गया हो। यदि "राम" का उच्चारण अभी कर घंटे भर बाद "गाँव" और फिर घंटे भर बाद "जा रहा है" कहा जाय, तो कोई तात्पर्य नहीं होगा। संनिधि के ही साथ दूसरा अंग इसमें एक-वक्तृत्व भी माना जा सकता है; सभी पदों का प्रयोग एक ही वक्ता करे। इन तीनों तत्त्वों का होना बड़ा जरूरी है। सबसे पहले हमें पदों को सुनकर अभिधा से उनके व्यस्त पदार्थ की प्रतीति होती है, तब वे आकांक्षादि हेतुत्रय के कारण अन्वित होते हैं, तदनंतर वाक्यार्थ ( तात्पर्य ) प्रतीति होती है। पहले अभिहित होने ( अभिधान-क्रिया के होने ); फिर अन्वित होने ( अन्वय घटित होने ) के कारण ही यह मत 'अभिहितान्वयवाद' ( अभिहित + अन्वय ) कहलाता है, जो प्राभाकर मीमांसकों के

'अन्विताभिधानवाद' ( अन्वित + अभिधान ) से प्रक्रिया में उलटा है। यही कारण है भाट्ट मीमांसकों को अन्वय के लिए अलग शक्ति माननी पड़ती है। प्रश्न हो सकता है, तात्पर्य शक्ति के द्वारा प्रत्यायित अर्थ तथा पदार्थों के अर्थ में क्या भेद है ? क्या वह समस्त पदार्थों का योग ( Sum total of all the individual meanings of individual words ) है, अथवा वह कोई नई चीज है ? भाट्ट मीमांसकोंके मतानुसार वह पदार्थों का योग मात्र नहीं है, इससे भी कुछ अपूर्व वस्तु है। मान लीजिए, किसी वाक्य में चार पद हैं:--न, $\text{न}_1$, $\text{न}_2$, $\text{न}_3$। इन प्रत्येक का अर्थ $\text{न}^{\text{अ}}$, $\text{न}_1^{\text{अ}}$, $\text{न}_2^{\text{अ}}$, $\text{न}_3^{\text{अ}}$ होगा। अब इसका अर्थ क्या होगा। मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि यह निम्न रूप का नहीं हो सकता।

$$\text{वाक्यार्थ} = \text{न}^{\text{अ}} + \text{न}_1^{\text{अ}} + \text{न}_2^{\text{अ}} + \text{न}_3^{\text{अ}}$$

वस्तुतः इसका स्वरूप निम्नकोटि का होगा:—

$$\text{वाक्यार्थ} = \text{न}^{\text{अ}} + \text{न}_1^{\text{अ}} + \text{न}_2^{\text{अ}} + \text{न}_3^{\text{अ}} \cdots\cdots + \text{क्ष}$$

इस बीजगणितात्मक पद्धति में हमने 'क्ष' उस तत्व को माना है, जो इस वाक्यार्थ में पदार्थ के योग से अधिक तत्व है तथा निश्चित न होने के कारण प्रत्येक वाक्य में तदनुकूल परिवर्तित स्वरूप में मिलता है। यही कारण है, हमने इसके लिए 'क्ष' ( x ) प्रतीक का प्रयोग किया है।

मम्मट ने इस बात का संकेत 'विशेषवपुः' पद के द्वारा किया है। वाक्यार्थ पदार्थों के योग से प्रतीत होने पर भी पदार्थ नहीं (अपदार्थः) है; तथापि अपदार्थ होते हुए भी किसी विशिष्टरूप वाला है।[1] इसे एक उदाहरण से स्पष्ट कर दिया जाय— वह गाँव जाता है' ( स ग्रामं गच्छति ) इस वाक्य में 'वह' का अर्थ 'अन्यपुरुष बोधक व्यक्ति',

---

१ आकांक्षायोग्यतासंनिधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।' काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास, पृ० २६

'गाँव' का अर्थ 'देहात की बस्ती' तथा 'जाता है' का अर्थ 'वर्तमान-कालिक गमन व्यापार' है। पर पूरे वाक्य में प्रयुक्त होने पर 'वह' का कर्तृत्व तथा 'गाँव' का कर्मत्व प्रतीत होता है, जो व्यस्त पद में नहीं है। इस प्रकार शब्दबोध में 'उस कर्त्ता के द्वारा गाँव कर्म के प्रति वर्तमान कालिक गमन व्यापार' अथवा 'ग्राम कर्मक—गमनानुकूल व्यापारवाला वह' ( तत्कर्तृक-ग्रामकर्मक-गमनानुकूलव्यापारः, अथवा ग्रामकर्मकगमनानुकूलव्यापारवान् सः ) की प्रतीति होती है। इस अर्थ में अन्वयवाला अंश अधिक प्रतीत होता है।'

आचार्य अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ध्वनिवादियोंको भाट्ट मीमांसकों का अभिहितान्वयवादी मत ही अभीष्ट है। टीकाकारों ने इस बात का संकेत किया है।[1] पर आगे जाकर कुछ ध्वनिवादियों ने तात्पर्य वृत्ति का निषेध भी किया, तथा प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने तात्पर्य वृत्ति का व्यंजना में ही अन्तर्भाव कर, तात्पर्यार्थ ( वाक्यार्थ ) को व्यंग्यार्थ से अभिन्न घोषित किया।[2]

आकांक्षादि हेतुत्रय

तात्पर्यवृत्ति के प्रसंग को समाप्त कर देने के पूर्व आकांक्षादि हेतुत्रय पर दो शब्द कह दिए जायँ। आकांक्षा वस्तुतः पदों की न होकर पदार्थों की होती है, तथा पदार्थ ही एक दूसरे की विषयेच्छा से युक्त रहते हैं। अपेक्षा के विषय में पतंजलि ने यही बताया है कि 'अपेक्षा शब्दों की न होकर अर्थों की होती है। यदि हम कहें 'राजा का पुरुष', तो 'राजा' किसी अन्य शब्द की अपेक्षा करता है, इसी तरह 'पुरुष' भी राजा की अपेक्षा करता है; अथवा 'यह मेरा ( है )' में मैं इस वस्तु की अपेक्षा करता हूँ, मैं इस

---

१. 'इत्यन्तग्रंथेनोपपादितस्याभिनवगुप्ताचार्यसंमतपक्षस्य बहुवचनं श्रीमम्मटाचार्यपादैः स्वसंमतत्वमुक्तमिति टीकाकारैः सर्वैरुक्तमिति दिक्।'

बालबोधिनी पृ० २७

२. तात्पर्यार्थो व्यंग्यार्थ एव न पृथग्भूतः। —प्रतापरुद्रीय पृ० ४३

३. परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा? न ब्रूमः शब्दयो रिति, किं तर्हि? अर्थयोः। इह 'राज्ञः' पुरुषः 'इत्युक्ते' राजा पुरुष मपेक्षते 'ममायम्' इति पुरुषो ( अपि ) राजानमपेक्षते' 'अहमस्य' इति।

—महाभाष्य, २.१.१.

वस्तु से संबद्ध है।[3] इस प्रकार एक पदार्थ के लिए दूसरे पदार्थ की जिज्ञासा का कारण यह ज्ञान है कि अपर पदार्थ के बिना पूर्व प्रयुक्त पदार्थ के अन्वय का ज्ञान न हो सकेगा। इसीलिए उस अन्वयबोध के उत्पन्न न होने को भी आकांक्षा कहते हैं।[1] किसी एक महावाक्य में कई खण्डवाक्य होते हैं, जब तक इस महावाक्य रूप अर्थ की विषयेच्छा पूर्ण नहीं होती, तब तक आकांक्षा बनी रहती है। पर महावाक्य की विषयेच्छा पूर्ण होने पर आकांक्षा नहीं रहती। इस स्थिति में पुनः उसी से संबद्ध पदादि का प्रयोग दोष माना जाता है। वाक्य में कारक-क्रियादि का निर्वाह इस ढंग से होना चाहिए कि वाक्य या महावाक्य के अंत तक आकांक्षा बनी रहे, और प्रत्येक आगामी पद आकांक्षित प्रतीत हो। ऐसा न होने पर काव्य में दोष आ जाता है। कभी कभी कारक-क्रियादि के निर्वाह की दृष्टि से वाक्य पूर्ण हो जाता है तथा श्रोता को सम्पूर्ण भाव की प्रतीति हो जाती है, उसे कोई आकांक्षा नहीं बनी रहती, पर फिर भी वक्ता उसी संबंध में फिर कुछ कह देता है, तो उसी जंजीर से अलग पड़ी टूटी कड़ी-सी दिखाई देती है। काव्य में इसे समाप्तपुनरात्त दोष माना गया है। जहाँ कवि समस्त भाव को व्यक्त कर, वाक्य को पूर्ण ( समाप्त ) कर देता है, पर फिर से उसका ग्रहण करना चाहता है, वहाँ यह दोष पाया जाता है। ऐसे स्थलों पर कवि निराकांक्षित प्रयोग करता है। जैसे निम्न पद्य में—

> केङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो,
> झंकारो रतिमंजरीमधुलिहां लीलाचकोरध्वनिः।
> तन्व्याः कंचुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कंकण—
> क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः॥

'कामदेव के धनुष की टंकार, सुरत केलिरूपी-कोकिलाओं की

---

१. ईदृशजिज्ञासोत्थापकं चैकपदार्थेऽपरपदार्थव्यतिरेकप्रयुक्तस्यान्वयबोधजनकत्वस्य ज्ञानमिति तद्विषये तादृशान्वयबोधाजनकत्वेऽपि 'आकांक्षा' इति व्यवहारः। —वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा पृ० ४९५.

२. समाप्तं सत्पुनरात्तम्। वाक्ये समासे पुनस्तदन्वयिशब्दोपादानं यत्रेत्यर्थः। —प्रदीप पृ० ३०१.

सरस काकली, प्रेम की मंजरी पर मँडराते भौंरों का गुंजार, लीला रूपी चकोर की ध्वनि रूप; सुंदरी के हाथों से खिसकते हुए कंकणों की झंकार,—जब वह कंचुकी को उतारने के लिए अपने हाथों को फैला रही है; आप लोगों के प्रेम को पल्लवित करे;—जो नवीन यौवन के लास्य नृत्य के लिए वेणु की तान है।

यहाँ "……प्रेम को पल्लवित करे' (……प्रेम तनोतु वः) तक महावाक्य समाप्त हो गया; तन्वी के कंकणक्वाण के लिए फिर से किसी नये उपमान के प्रयोग की आकांक्षा न थी, किन्तु वाक्य तथा वाक्यार्थ के समाप्त हो जाने पर भी मालारूपक में एक फूल और गूँथने की चेष्टा, 'नववमोलास्याय वेणुस्वनः' का प्रयोग अनाकांक्षित है। फलतः यह दोष है। यही कारण है कि कुशल कवि काव्य के अंत तक आकांक्षा बनाये रखते हैं, उसे क्षुण्ण नहीं होने देते, वे कारकक्रियादि को इतनी चुस्ती और गठन के साथ सजाते हैं कि वे एक दूसरे से सटे दिखाई देते हैं, जैसे कालिदास के निम्न पद्य में जहाँ आकांक्षापूरक 'घटोत्क्षेपणात्' 'श्वासः प्रमाणाधिकः' धर्माम्भसांजालकं' 'पर्याकुला मूर्धजाः' का बाद में प्रयोग आकांक्षा बनाये रखता है।

> स्रतांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
> द्द्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
> बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने धर्माम्भसां जालकं
> बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः॥
> (शाकुं० १. २६)

'घड़े को उठाने के कारण इसके दोनों हाथों के कंधे झुक गये हैं और हथेली अधिक लाल हो गई है; बोझे को उठाने के कारण तेजी से चलता हुआ श्वास इसके स्तनों में अभी भी कम्प उत्पन्न कर रहा है, कान में अवतंसित शिरीष पुष्प का स्पर्श करती हुई पसीने की बूँदें इसके मुख पर झलक पड़ी है, और बालों के जूड़े के ढीले होने के कारण इसने एक हाथ से अस्तव्यस्त बालों को समेट लिया है।'

दूसरा तत्त्व योग्यता है। वाक्य में प्रयुक्त पदों के पदार्थों में परस्पर अन्वित होने की क्षमता (योग्यता) होनी चाहिए। कुछ विद्वान् पदार्थों के परस्पर अन्वय में बाधनिश्चय का न होना योग्यता मानते हैं।

काव्यादि में कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कवि ऐसे पदार्थों को उपन्यस्त करता है, जो बाहर से अयोग्य प्रतीत होते हैं, यथा शश-विषाण, खपुष्प आदि; किंतु फिर भी प्रकरण में वे किसी अर्थ ( तात्पर्य ) को बोध कराते देखे जाते हैं। जैसे निम्न पद्य में कवि ने इसी तरह के तात्पर्य का निर्देश किया है:—

अस्य क्षोणिपतेः परार्द्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तय-।
गीयते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥

यह राजा बड़ा अकीर्तिशाली है। इसकी काली अकीर्ति की संख्या कहाँ तक गिनाई जाय, वह परार्द्ध की संख्या से भी अधिक है। इसकी अकीर्ति उस अंधकार के समान काली है, जिसे प्रज्ञाचक्षुओं ( अंधों ) ने देखा है। वन्ध्या के गूँगे पुत्रों का झुंड कूर्मरमणी के दूध के समुद्र के तीर पर अष्टम स्वर में इस राजा की अकीर्ति का गान किया करते हैं। भाव यह है, इस राजा में अकीर्ति का नाम निशान भी नहीं है। यहाँ निन्दा के व्याज से राजा की स्तुति की गई है।

पूर्णतः योग्यता हीन वाक्य उपहासास्पद होता है, तथा उन्मत्त-प्रलपित माना जाता है। योग्यता के साथ ही आसत्ति भी अपेक्षित है। पदों के समीप होने पर कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी शाब्दबोध कर पाता है।[1] आसत्ति के अभाव में पदों में अन्वय घटित नहीं हो सकेगा।

उपसंहार

कुछ विद्वान् तात्पर्य वृत्ति को शब्दशक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। विद्यानाथ ने इसे व्यञ्जना का ही एक अंग माना है, तो भट्ट लोल्लट का 'सोऽय मिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' वाला मत तात्पर्य वृत्ति को अभिधा का अंग मानता है। महिमभट्ट तात्पर्यार्थ को अनुमान प्रमाण द्वारा गृहीत मानते हैं। 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' ( जहर खालो पर इसके घर न खाना ) ऐसे वाक्यों के

१ आसत्तिरपि मन्दस्याविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम्।

—मञ्जूषा पृ० ५२६.

निषेध रूप तात्पर्य में महिम भट्ट तात्पर्य शक्ति को नहीं मानते ।[1] उनके मत से यह शाब्दबोध का क्षेत्र न होकर वाच्यार्थ रूप हेतु के द्वारा अनुमित अर्थ है । अतः यहाँ शाब्दी प्रक्रिया न होकर आर्थी प्रक्रिया पाई जाती है ।[2] वस्तुतः विद्वान् लोग तात्पर्य शक्ति को उपचारत शब्दशक्तियों के अंतर्गत स्वीकार करते जान पड़ते हैं ।

---

१ इस वाक्य के तात्पर्य विश्लेषण के लिए सातवाँ परिच्छेद देखिये ।

२ विषभक्षणादपि परा मेतद् गृहभोजनस्य दारुणताम् ।
वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवक्तृस्वरूपज्ञाः ।
विषभक्षणमनुमनुते न हि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः ।
तेनात्रार्थान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः ॥
—व्यक्तिविवेक १. ६७-८. पृ० १२२.

# पंचम परिच्छेद

## व्यंजना वृत्ति ( शाब्दी व्यंजना )

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यद्यत्प्रसिद्धावमवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥
—ध्वनिकार

( महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान जैसी अलग ही वस्तु पाई जाती है। जिस प्रकार कामिनियों के अंगों में लावण्य जैसी सर्वथा विलक्षण वस्तु होती है, ठीक वैसे ही काव्य में यह प्रतीयमान अर्थ काव्य के अन्य अंगों से सर्वथा भिन्न तथा अतिशय चमत्कारकारी होता है। )

काव्य में प्रतीयमान अर्थ

प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक आइ. ए. रिचर्ड्स ने एक स्थान पर काव्य तथा विज्ञान का भेद बताते हुए भाषा के दो प्रकार के प्रयोग माने हैं। इन्हीं दो प्रयोगों को उसने वैज्ञानिक तथा भावात्मक इन कोटियों में विभक्त किया है। इसी संबंध में वह बताता है कि भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग किसी सत्य अथवा असत्य संबंध का बोधन कराने के लिए किया जाता है, जिसे वह उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक या भावात्मक प्रयोग, उस संबंध से किन्हीं मानसिक भावों की उद्भावना करने के लिए होता है। "कई शब्दों का विधान, संबंध की आवश्यकता के बिना ही स्फूर्ति उत्पन्न करता है। ये शब्द संगीतात्मक शब्दसमूहों की भाँति कार्य करते हैं। किन्तु प्रायः ये संबंध, किसी विशेष प्रवृत्ति के विकास में परिस्थितियों तथा अवस्थाओं का कार्य करते हैं, फिर भी वह विशेष प्रवृत्ति ही ( उस प्रयोग में ) महत्त्वपूर्ण है, ये संबंध नहीं। इस विषय में संबंध सत्य हैं, या मिथ्या, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसका एक मात्र कार्य उन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करना तथा उनका साहाय्य संपादित करना ही है। ये

ही उसके ( शब्द के ) अंतिम प्रतिपाद्य हैं।"[1] यहाँ आइ. ए. रिचर्ड्स ने भाषा के भावात्मक प्रयोग से प्रतिपादित अर्थ के संबंध में उसके मुख्य संबंधों ( शब्द तथा अर्थ ) को गौण माना है तथा भावात्मक प्रवृत्ति को मुख्यता दी है। उसके मतानुसार काव्य में शब्द तथा अर्थ का इतना महत्त्व नहीं, जितना शब्द तथा अर्थ के द्वारा व्यंजित प्रवृत्ति ( भावात्मक व्यंजना ) का। इस प्रकार आइ. ए. रिचर्ड्स ने काव्य में 'प्रतीयमान' अर्थ की महत्ता का संकेत किया है।

व्यंजना जैसी नई शक्ति की कल्पना

यह प्रतीयमान अर्थ न तो शब्दों की मुख्या वृत्ति से ही गृहीत होता है, न लक्षणा से ही। इसीलिए साहित्यशास्त्रियों ने इस अर्थ की प्रतीति के लिए एक ऐसी शक्ति मानी है, जिसमें शब्द व अर्थ दोनों के गौण होने पर, उस अर्थ की प्रतीति होती है। इसी शक्ति को व्यंजना माना गया है। जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किंतु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देती है। यह वह शक्ति है, बाह्य सौंदर्य के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है। इसीलिए इसे "व्यंजना" माना गया है, क्योंकि यह "एक विशेष प्रकार का अंजन है, अर्थात् अभिधा तथा लक्षणा द्वारा

१. Many arrangements of words evoke attitudes without any reference required en route. They operate like musical phrases. But usually references are involved as conditions for, or stages in, the ensuing development of attitudes, yet it is still the attitudes, not the references which are important. It matters not at all in such cases whether the references are true or false. Their sole function is to bring about and support the attitudes which are the further response.

Principles of literary criticism, Ch. XXXIV. P. 267–8.

अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित कर देती है। आचार्य हेमचद्र सूरि ने व्यंजना की परिभाषा निबद्ध करते हुए कहा है—"अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को द्योतित करता है। इस नवीन अर्थ को द्योतित करनेवाली शक्ति व्यंजना है।"[1] इस प्रकार वाच्य व्यंग्यार्थ प्रतीति का आधार तो है, किन्तु वह कथन का वास्तविक लक्ष्य नहीं होता, केवल साधन मात्र है। उदाहरण के लिए, ऑफिस में बैठा हुआ कोई अफसर अपने क्लर्क से कहे "मैं जा रहा हूँ", तो इसका मुख्यार्थ इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, जितना इसका यह व्यंग्यार्थ कि अब ऑफिस का काम तुम सम्हालो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहाँ "मैं जा रहा हूँ" इस वाक्य में काव्यत्व है। यद्यपि यहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है, तथापि यह व्यंग्यार्थ रमणीय तथा चमत्कारशाली नहीं है। वस्तुतः वही व्यंग्यार्थ युक्त कथन काव्य हो सकता है, जिसमें रमणीय व्यंग्य हो। तभी तो पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादित करने वाले शब्द को काव्य माना है। कुछ लोगों के मतानुसार व्यंग्य सर्वदा रमणीय ही होता है, किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं। व्यंग्यार्थ हमारे मत से अरमणीय भी हो सकता है। जिसका उदाहरण हम अभी अभी दे चुके हैं।

हम देखते हैं कि काव्य में मुख्यार्थ व लक्ष्यार्थ से इतर एक प्रमुख अर्थ की सत्ता माननी ही पड़ेगी। इसी अर्थ को प्रकट करने वाला व्यापार व्यञ्जना शक्ति है। मम्मट ने व्यञ्जना की कोई एक निश्चित परिभाषा निबद्ध नहीं की है। वे व्यञ्जना के अभिधामूला तथा लक्षणामूला इन दो भेदों को अलग अलग लेकर उनका स्वरूप निबद्ध करते हैं। अभिधामूला के विषय में मम्मट कहते हैं:—"जहाँ संयोगादि अर्थ नियामकों के द्वारा शब्द की अभिधा शक्ति एक स्थल में नियन्त्रित हो जाती है, पर फिर भी किसी अमुख्यार्थ की प्रतीति

व्यञ्जना की परिभाषा

---

१ तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्ति-र्व्यंजकत्वम् — काव्यानुशासन १. २०. पृ० ५९

हो ही जाती है, वहाँ अभिधामूला व्यंजना होती है।"[1] लक्षणा के प्रयोजन के विषय में बताते हुए वे कहते हैं कि इस प्रयोजन की प्रतीति कराने में व्यञ्जना व्यापार ही साधन होता है। इसी के आगे वे बताते हैं कि जिस प्रयोजन या फल की प्रतीति के लिए प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग किया जाता है, वहाँ व्यञ्जना से भिन्न और कोई शक्ति नहीं है, क्योंकि फल ( प्रयोजन ) की प्रतीति लक्ष्यार्थ के लिए प्रयुक्त शब्द से ही होती है।[2] इन दोनों प्रसंगों को देखने से व्यंजना का एक निश्चित स्वरूप तो समझ में आ जाता है, किंतु फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से इसे हम व्यंजना की परिभाषा नहीं मान सकते। साथ ही व्यंजना की हम ऐसी परिभाषा चाहते हैं, जिसमें लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों का समावेश हो जाय। विश्वनाथ के द्वारा दी गई व्यंजना की परिभाषा इस दृष्टि से अधिक समीचीन कही जा सकती है। उनके मतानुसार जिस स्थान पर अभिधा तथा लक्षणा के कार्य करके शान्त हो जाने पर किसी न किसी व्यापार के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यंजना शक्ति ही होती है।[3] लाला भगवानदीन ने 'व्यंग्यार्थ-मञ्जूषा' में व्यंजना की निम्न परिभाषा दी है, जो दास के 'काव्य-निर्णय' से ली गई है।

सूधो अर्थ जु वचन को, तेहि तजि और बैन।
समुझि परे ते कहत है, शक्ति व्यंजना ऐन॥
वाचक लक्षक शब्द ए राजत भाजन रूप।
व्यंग्यारथहिं सुनीर कहि, बरनत सु कवि अनूप॥

---

१ '......तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
—का० प्र० उ० २ पृ० ५८

२ "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥
—वही पृ० ६३.

३ विरतास्वभिधाद्यास्तु ययार्थो बोध्यते परः
सा वृत्ति व्यञ्जना नाम........॥
—सा० द० परि० २ पृ० ७३.

अभिधा तथा लक्षणा से व्यंजना की भिन्नता

कोई व्यक्ति 'गंगा में घोष है" इस वाक्य का प्रयोग करता है। यहाँ वह व्यक्ति घोष की शीतलता तथा पवित्रता की प्रतीति कराना चाहता है। पहले पहल "गंगा प्रवाह में स्थित आभीरों की बस्ती" इस मुख्यार्थ के बाध का ज्ञान होता है, फिर सामीप्य संबंध से 'गंगा-तीर पर घोष" इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। तीसरे क्षण में "गंगा तट पर तथा घोष के पास शीतलता तथा पवित्रता का होना" व्यक्त होता है। कोई भी शक्ति एक से अधिक अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकती। अतः तीसरे अर्थ के लिए अलग से शक्ति माननी ही पड़ेगी। अप्पय दीक्षित ने इसी बात को अपने वृत्ति-वार्तिक में कहा है। वक्ता किसी कारण से "गंगा में घोष" इस वाक्य में गंगा पद का प्रयोग करता है। उसका प्रयोजन पहले तो काव्य की शोभा बढ़ाकर गंगा प्रवाह के साथ गंगा-तट का तादात्म्य स्थापित करना है, फिर गंगा वाली अतिशय पवित्रता तथा शीतलता का द्योतन कराना है।"[१] एक दूसरे आलंकारिक रत्नाकर ने भी कहा है—"गंगा के प्रवाह तथा तीर को एक ही शब्द से बोधित कराने से उनमें अभेदप्रतीति होती है, इसके बाद प्रवाह के शैत्य पावनत्वादि गुणों की प्रतीति तीर में होने लगती है, यही लक्षणा के प्रयोग का प्रयोजन है।"[२] व्यंग्यार्थप्रतीति सदा लक्षणा के ही बाद होती हो, ऐसा नहीं है। वाच्यार्थ से सीधी भी व्यंग्यार्थप्रतीति होती है। इस दशा में अभिधा तथा व्यंजना दो ही व्यापार वाक्य में पाये जाते हैं। व्यंजना शक्ति को न मान कर कुछ लोग प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही कराना चाहते हैं। कुछ तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा या अनुमान प्रमाण से इसकी प्रतीति मानते हैं। वस्तुतः व्यंजना का

---

१ लक्षणायां काव्यशोभातिशयाधायकतयाप्यधिकं स्तोतुकामस्य प्रवाह-तादात्म्यप्रतिपत्त्या तद्गतातिशयितपावनत्वद्योतनाय तस्मिन् गंगापदं प्रयुङ्क्ते।

—वृ० वा० पृ० २०.

२. स्रोतस्तीरयो रेकशब्दबोध्यत्वेन तादात्म्यप्रतीतेः स्रोतोधर्माः शैत्यपावनत्वादयस्तीरे प्रतीयन्त इति प्रयोजनसिद्धिः।

—वृ० वा० में उद्धृत 'रत्नाकर' पृ० २०

समावेश इनमें से किसी में भी नहीं हो सकता, इसे हम आगामी तीन परिच्छेदों में विस्तार से बतायँगे। अभिनवगुप्त ने इसी बात को लोचन में बताया है:—"अभिधा, लक्षणा, तथा तात्पर्य से भिन्न चौथा व्यापार मानना ही पड़ेगा। इस व्यापार को ध्वनन, द्योतन, प्रत्यायन, अवगमन आदि शब्दों के द्वारा निरूपित कर सकते हैं।'[१]

व्यंजना के द्वारा अर्थ प्रतीति कराने में शब्द तथा अर्थ दोनों का साहचर्य

व्यंजना के विषय में हम देख चुके हैं कि व्यंग्यार्थ का बोधन कराने के लिए कभी तो कोई शब्द विशेष प्रमुख साधन होता है, कभी कभी कोई अर्थ विशेष। इसी आधार पर व्यंजना के शाब्दी तथा आर्थी ये दो भेद किये जाते हैं। इस संबंध में एक प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि व्यंजना को शब्दशक्ति मान लेने पर फिर आर्थी व्यंजना जैसा भेद मानना क्या 'वदतो व्याघात'[२] नहीं होगा? क्योंकि व्यंजना शब्द की शक्ति है, अर्थ की नहीं। यदि आप आर्थी व्यंजना मानते हैं, तो उसे शब्दशक्ति क्यों कहते हैं, क्योंकि यह तो शब्द व अर्थ दोनों की शक्ति हो जाती है। इसी का उत्तर देते हुए मम्मट कहते हैं कि वैसे तो व्यंजना शब्दशक्ति ही है, फिर भी जिस काव्य में शब्द प्रमाण से संवेद्य कोई अर्थ पुनः किसी अर्थ को व्यंजित करता है, वहाँ अर्थ व्यंजक है, शब्द केवल सहायक मात्र है।[3] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि वही अर्थ व्यंजक होगा, जो शब्द से प्रतीत हो (न हि प्रमाणान्तर संवेद्योऽर्थो व्यंजकः) दूसरे शब्दों में जहाँ अर्थ व्यंजक हो,

---

१. तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तः चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।

—लोचन पृ० ११५ (मद्रास सं०)

२. किसी सिद्धान्त को लेकर चलने पर उसी के विरुद्ध कोई बात कह देना 'वदतो व्याघात' कहा जाता है। अंगरेजी में इसे contradictory statement कहते हैं।

३. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता॥

—का० प्र० तृतीय उ० पृ० ८१

शब्द केवल सहकारी हो, वहाँ आर्थी तथा जहाँ शब्द में ही व्यंजकत्व हो वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। यदि कोई सिनेमा का शौकीन कहे— "सूर्य अस्त हो गया" और इस वाक्य से "सिनेमा देखने चलो" इस अर्थ की अभिव्यक्ति हो तो, यहाँ आर्थी व्यंजना ही होगी। यहाँ पहले पहल 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य से मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, फिर यह मुख्यार्थ ही सिनेमा वाले अर्थ को व्यंजित करता है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति मुख्यार्थ के जान लेने पर ही होगी, पहले नहीं। शाब्दी व्यंजना में शब्द ही मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ की भी प्रतीति कराता है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में शब्द सदा ही द्व्यर्थक होगा। जैसे "चिरजीवौ जोरी जुरै" आदि इसी परिच्छेद में आगे उद्धृत दोहे में 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर के वीर' ये शब्द अमुख्यार्थ की भी व्यक्ति कराते हैं।[१] लक्षणा मूला शाब्दी में वह द्व्यर्थक नहीं होता।

**व्यंजना शक्ति में प्रकरण का महत्त्व**

व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रकरणवश होती है। कौन कहने वाला है, किससे कहा जा रहा है, कहाँ, कब, किस ढंग से कहा जा रहा है, आदि विभिन्न प्रकरणों के जानने पर जब प्रतिभाशाली सहृदय उन प्रकरणों से मुख्यार्थ की संगति बिठाता है, तभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसीलिए व्यंग्यार्थ प्रतीति में वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्य का बड़ा महत्त्व है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक ब्लूमफील्ड ने तो साधारण अर्थ की प्रतीति में भी वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य को एक महत्त्वपूर्ण अंग माना है तभी तो उसने कहा है—"यदि हमें प्रत्येक वक्ता की स्थिति तथा प्रत्येक श्रोता की प्रतिपत्ति का पूर्ण ज्ञान हो, तो केवल इन्हीं दो वस्तुओं को हम किसी शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। केवल इन्हीं के आधार पर हम अपने अध्ययन के विषय को समस्त ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से अच्छी तरह अलग कर सकते हैं।"[२]

---

१. इस दोहे को आगे इसी परिच्छेद में अभिधामूला व्यंजना के संबंध में देखिये।

२. If we had an accurate knowledge of every speaker's situation. and of every hearer's response,-

प्रकरण क्या है ? इस विषय में कुछ समझ लेना होगा। कुछ लोगों के अनुसार किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में तदनुकूल मानसिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, इन्हीं मानसिक प्रक्रिया या उनके संघात को ही प्रकरण कहते हैं। ये मानसिक प्रक्रियाएँ अपनी परिस्थितियों के द्वारा वास्तविक भावों को बोधित कराती हैं।[१] ऑग्डन तथा रिचर्ड्स भी प्रकरण को मनोवैज्ञानिक रूप में ही विश्लेषित करते हैं। "( अर्थ का ) प्रतिपादन इन प्रकरणों के कारण ही संभव है, इस बात को सभी मानते हैं। किंतु यदि इसकी परीक्षा की जाय तो यह उससे कहीं अधिक मौलिक मिलेगा, जितना कि लोग समझते हैं। कोई वस्तु किसी भाव को प्रतिपादित करती है, इसका अभिप्राय यह है कि वह किसी विशेष प्रकार के मनो-वैज्ञानिक प्रकरणों में से एक है।"[२] इस प्रकार

---

we could simply register these two facts as the meaning of any given speech-utterance and neatly separate our study from all other domains of knowledge." —Language P. 75.

१. I understand by context simply the mental process or complex of processes which accrues to the original idea through the situation in which organism finds itself. '

—Prof. Titchner
quoted by Ogden and Richard
( footnote P. 58 )

२. "Interpretation, however, is only possible thanks to these recurrent contexts a statement which is very generally admitted but which if examined will be found to be far more fundamental than has been supposed. To say, indeed, that anything is an interpretation is to say that it is a number of a psychological context of a certain kind."

—'Meaning of Meaning.' P. 55—6.

व्यंजना के इन प्रकरणों को हम भावात्मक मान सकते हैं। अब एक प्रश्न यह उठता है कि ये वक्तृबोद्धव्यादि प्रकरण केवल आर्थी व्यञ्जना में ही काम देते हैं, या शाब्दी में भी। मम्मट इनका उल्लेख आर्थी व्यंजना के प्रसंग में करते हैं। विश्वनाथ भी मम्मट के ही पदचिह्नों पर चलते हुए वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्य का वर्णन आर्थी व्यंजना के प्रकरण में ही करते हैं। तो, क्या शाब्दी व्यंजना में व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए प्रकरण ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती? काव्यप्रकाश की प्रसिद्ध टीका प्रदीप के रचयिता गोविन्दठक्कुर के सम्मुख भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। वे इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि आर्थी व्यंजना में तो वक्तृवैशिष्ट्य ज्ञान की सर्वथा अपेक्षा है ही, किंतु शाब्दी में भी कभी कभी इसकी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई साला जैसा संबंधी "आप सुरभिमांस खाते हैं।" ( सुरभि-मांस भवान् भुङ्क्ते ) इस वाक्य को कहे तो इससे द्वितीय घृणित अर्थ की प्रतीति अवश्य होगी। इस वाक्य का वाच्यार्थ आप सुगंधित मांस खाते हैं, यह है। किंतु साले जैसे वक्ता के प्रकरण के कारण, "आप गोमांस खाते हैं" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी होती है। यदि इसी वाक्य का प्रयोग गुरु या बड़ा व्यक्ति करे, तो इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। किंतु कहीं कहीं वक्तृवैशिष्ट्य के ज्ञान के बिना भी शाब्दी व्यंजना हो सकती है।[1] इस तरह गोविंद ठक्कुर कुछ शाब्दी व्यंजना में प्रकरण की महत्ता मानते हैं, पर प्रत्येक शाब्दी व्यंजना में नहीं। हमारे मतानुसार किसी भी प्रकार की व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरण की महत्ता माननी ही पड़ेगी। व्यंग्यार्थ प्रतीति सहृदय की प्रतिभा के कारण होती है। इस प्रतिभा को उद्बुद्ध करने वाले प्रकरण ही हैं। अतः प्रकरण ज्ञान के बाद ही व्यंग्यार्थ प्रतीति हो सकती है।

---

१. अर्थव्यञ्जकतायां वक्तृवैशिष्ट्यादीनामावश्यकत्वमात्रम्। न तु शब्द-व्यञ्जनायां सर्वथानुपयोगः। अत एव शालकादिप्रयुक्तात् 'सुरभिमांसं भवान् भुङ्क्ते' इत्यादितो द्वितीयाश्लीलार्थप्रतीतिः। न तु गुर्वादिप्रयुक्तात्। अस्ति शब्दव्यञ्जना क्वचित् तत्साहाय्येन विनापीत्यन्यदेतत्।

काव्यप्रदीप पृ०.

शाब्दी व्यंजना—शाब्दी व्यंजना को दो प्रकार का माना जा सकता है:—एक वाचक शब्द के आधार पर, दूसरी लक्षक शब्द के आधार पर। इस प्रकार अभिधामूला तथा लक्षणामूला ये दो भेद होंगे। अभिधामूला व्यंजना में सदा द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होता है। संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि अभिधा-नियामकों के द्वारा अभिधा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है और वही अर्थ वाच्यार्थ होता है। फिर भी शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी सहृदय को हो जाती है। यहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना होती है।[1] लक्षणामूला व्यंजना वहाँ होती है, जहाँ किसी प्रयोजन की प्रतीति के लिए लाक्षणिक पद का प्रयोग किया गया हो। यह गूढ़ व्यंग्या अगूढ़व्यंग्या दो तरह की होती है। प्रयोजनवती लक्षणा के संबंध में हम इसका विवेचन कर चुके हैं। यद्यपि व्यंजना भी शब्दशक्ति है, पर व्यंजनामूला व्यंजना जैसा भेद नहीं होता।

शाब्दी व्यंजना के दो भेद

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व एक प्रश्न उठता है कि क्या मम्मट शाब्दी व्यंजना में प्रकरणादि की आवश्यकता नहीं मानते?, इस प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। हमें ऐसा जान पड़ता है मम्मट शाब्दी व्यंजना में भी प्रकरणादि की आवश्यकता जरूर मानते हैं। पहले यह ध्यान में रख लिया जाय कि मम्मट सूत्र शैली तथा समास शैली का आश्रय लेते हैं। वे हर बात को इस तरह स्पष्ट नहीं करते मानों मोटी बुद्धि वाले को समझा रहे हों। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में जो हरिकारिका उद्धृत की गई है, उसमें 'अर्थप्रकरणं लिंग' का प्रयोग है।[2] अतः हरिकारिका के उद्धरण पर अभिधा का नियंत्रण

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया॥
—सा० द० परि० २. पृ० ७५.

२. 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
—का० प्र० ( पूना संस्करण, प्रदीप सहित ) पृ० ६३.

प्रकरणादि के कारण वाच्यार्थ में हो ही जाता है, अतः प्रकरणादि व्यंजना की प्रतीति में भी सहायक हो जाते हैं। इससे अभिधामूला शाब्दी में भी प्रकरणादि का महत्त्व मम्मट को इष्ट है, यह स्पष्ट है। इस व्यंजना में और आर्थी व्यंजना में अंतर यह है कि इसमें प्रकरणादि प्रत्यक्ष रूप से अभिधा का नियंत्रण करने में अथवा तात्पर्य निर्णय कराने में सहायक होते हैं। यह हो जाने पर अपरार्थ स्वयं व्यंग्य हो जाता है। आर्थी व्यञ्जना में प्रकरणादि को व्यंग्यार्थ का उपस्थापन करने में प्रत्यक्षकारणता है। यही कारण है कि मम्मट ने आर्थी में प्रकरणादि को कारण माना है और शाब्दी में नहीं। कार्यकारणभाव अत्यन्त समीपवर्ती पदार्थ के साथ ही होता है, दूर के पदार्थ के साथ नहीं। यहीं प्रदीपकार के मत पर भी विचार कर लें। प्रदीपकार का मत भ्रम के कारण है। वे मम्मट के उपरिलिखित रहस्य को नहीं समझ पाये हैं। प्रदीपकार के 'सुरभिमांसं भवान् भुंक्ते' में वक्ता श्यालक है, इसलिए अपरार्थ ( गोमांस वाले अर्थ ) की प्रतीति होती है, यदि वक्ता गुरु होता तो न होती—यह कहना व्यर्थ है। जिन शब्दों का जिन अर्थों में संकेतग्रह है, उन सब अर्थों की प्रतीति होगी ही, वक्ता चाहे जो हो। अभिधा का नियन्त्रण होने पर एक अर्थ वाच्य होगा, अपर अर्थ व्यंग्यार्थ; क्योंकि प्रकरण का अर्थ है 'वक्तृ-बुद्धिस्थता।' इस प्रकरण के देखने पर, यह प्रतीत होता है कि वक्ता श्यालक को बहनोई से मज़ाक करना अभीष्ट है, वक्ता की बुद्धि वहीं है। अतः उसकी बुद्धि में गोपक्षवाला ही अर्थ मुख्यार्थ है। श्यालक वाले पक्ष में अभिधा का नियंत्रण उसी अर्थ में होगा, वही वाच्यार्थ होगा। अपरार्थ ( सुगंधित मांस वाला ) अर्थ व्यंग्य होगा।

अब हमारे सामने लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना बची रहती है। क्या उसमें भी प्रकरण ज्ञान आवश्यक है ? हमारे मत से वहाँ भी प्रकरण आवश्यक है। यहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना का एक उदाहरण लेकर उस पर विचार कर लिया जाय। हम उसी उदाहरण को लेंगे जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ विपरीत लक्षणा से जिस अपकाररूप अर्थ की प्रतीति होती है, उसका व्यंग्य है 'तुम्हारे अपकार करने पर भी मेरा बर्ताव तुम्हारे साथ सज्जनतापूर्ण ही है।' इस व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए प्रकरण ( वक्तृबुद्धिस्थता ) का ज्ञान होना आवश्यक है। यहाँ बोद्धव्य व्यक्ति ने वक्ता का घोर अपराध किया है, वक्ता उससे नाराज है और उसके इस प्रकार के व्यवहार को शत्रुता समझता है—इस प्रकार का ज्ञान व्यंग्यार्थ-प्रतीति का हेतु है। जो व्यक्ति प्रकरण-ज्ञान-सम्पन्न होगा, वही इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति कर पायगा।

जहाँ भी व्यंजना होगी, वहाँ मूल में अभिधा या लक्षणा अवश्य रहती है, अतः व्यंजना सदा अभिधा या लक्षणा से मिश्रित होगी। व्यंजनामूला व्यंजना जैसे भेद के न होने का कारण यह है कि अभिधामूला व्यंजना में शब्द से दो अर्थ निकलते हैं और उनमें से एक वाच्य होता है, दूसरा व्यंग्य। यहाँ शब्द का महत्त्व है। अतएव इसे शाब्दी माना गया है। लक्षणामूला में प्रयोजनरूप व्यंग्य शब्द से ही निकलता है। यहाँ भी शब्द का महत्त्व है, अतः यह भी शाब्दी कही गई है। व्यंजनामूला मानने पर व्यंग्यार्थ से अपर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी। यहाँ अर्थ का महत्त्व होगा। अतः उसे शाब्दी में न मानकर केवल आर्थी में स्थान दिया गया है। आर्थी में व्यंग्य को भी अवश्य स्थान दिया गया है तथा वहाँ वाच्यार्थमूलक, लक्ष्यार्थमूलक तथा व्यंग्यार्थमूलक आर्थी व्यंजना मानी जाती है, इसे हम अगले परिच्छेद में देखेंगे।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना:—अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में तीन आवश्यक तत्त्व हैं:—(१) शब्द अनेकार्थ हो, (२) उस शब्द की अभिधाशक्ति किसी एक प्रकरण में नियंत्रित हो जाय, (३) उसके एक प्रकरण में नियंत्रित होने पर भी प्रतिभा के बल से सहृदय को अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती हो। अतः जहाँ दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होंगे, वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना नहीं मानी जायगी। वहाँ श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्यमूलक अलंकार ही होगा और वह भी वाच्यरूप में। श्लेष तथा शाब्दी अभिधामूला व्यंजना के भेद पर हम आगामी पंक्तियों में विचार करेंगे।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का श्लेष से भेद

यह ध्यान में रखने की बात है कि जहाँ एक ही अर्थ प्राकरणिक होगा, वहीं इस व्यंजना का क्षेत्र होगा। जैसे,

भद्रात्मना दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानांबुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

( राजा के पक्ष में ) वह सुन्दर आत्मा वाला था। उसको कोई भी शत्रु नहीं जीत सकता था। उसके जन्म के कारण उसका महान् वंश भी उन्नति को प्राप्त हुआ। वह सदा बाणों का अभ्यास करता था; और धनुर्विद्या में बड़ा दक्ष था। उसकी गति को कोई भी शत्रु नहीं रोक सकता था, किन्तु वह समस्त शत्रुओं को हराने में समर्थ था। उस वीर राजा का हाथ सदा दान-जल के सेक से सुशोभित रहता था।

( हाथी के पक्ष में ) उस हाथी की सूँड सदा मद-जल के सेक से सुशोभित रहती थी। वह भद्र जाति का हाथी था। उसकी ऊँचाई बाँस के बराबर थी, जिस पर कोई भी आसानी से नहीं बैठ सकता था। भौंरे उसके चारों ओर मँडराया करते थे। वह उत्कृष्ट हाथी धीर गति से मन्द मन्द चलता था।

इस उदाहरण में 'भद्रात्मा' आदि श्लिष्ट शब्दों की अभिधाशक्ति का नियन्त्रण राजा के अर्थ में हो गया है। वही पद्य का प्राकरणिक अर्थ है। फिर भी हाथी वाले अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी हो रही है। यहाँ व्यञ्जना व्यापार है। दोनों अर्थ प्राकरणिक न होने के कारण, श्लेष नहीं माना जा सकता। अथवा जैसे,

"कर दिये विपाटित वे भूभृत्
भारत के जिसने जैसे मृत,
उच्चता पहुँचती नभसंसत्
जिनकी गरिमा का गान महत्
गाती त्रिलोक मागध-परिषत् ॥"

( प्रताप, खण्ड-काव्य से )

इसमें अकबर ने भारत के हिन्दु राजाओं को ध्वस्त कर दिया, इस प्राकरणिक अर्थ में 'भूभृत्' तथा 'मृत' ( मृत् ) शब्द की अभिधा

नियन्त्रित हो गई है। फिर भी इन शब्दों के कारण उसने (उसकी सेना ने) पर्वतों को मिट्टी बना दिया, इस अप्राकरणिक अर्थ की भी प्रतीति हो रही है। यहाँ व्यंजना व्यापार ही है।

(१) चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥ (बिहारी)

(२) भयो अपत कै कोपयुत कै बौरो यहि काल।
मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसाल को हाल॥ (दास)

इन उदाहरणों में वृषभानुजा, हलधर, अपत, कोप, बौरो, रसाल आदि शब्दों का दुहरे अर्थों में प्रयोग हुआ है। पहले दोहे में कृष्ण व राधा वाला अर्थ प्राकरणिक है, बैल और गाय वाला अर्थ अप्राकरणिक तथा व्यंग्य। इसी तरह दूसरे दोहे में आम वाला अर्थ प्राकरणिक है, कृष्ण (नायक) वाला अर्थ व्यंग्य। इन दोनों उदाहरणों में अभिधामूला शाब्दी व्यंजना ही है, श्लेष नहीं।

अप्पय दीक्षित तथा महिम भट्ट के मतानुसार व्यंजना शक्ति का अभिधामूलक भेद मानना ठीक नहीं। कुछ विद्वान् तो शाब्दी व्यंजना को ही मानने के पक्ष में नहीं हैं।[1] उनके मत से ऐसे स्थानों पर श्लेष अलंकार मानना ही ठीक होगा। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो शब्दशक्तिमूला व्यंजना को मानते भी हैं, नहीं भी मानते। अर्थात् कुछ स्थलों पर ये लोग इसे मानने को सहमत हैं, कुछ स्थलों पर नहीं। वृत्तिवार्तिककार अप्पय दीक्षित का मत कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। वृत्तिवार्तिक में अभिधा के प्रसंग पर विचार करते हुए अप्पय दीक्षित अभिधामूला शाब्दी व्यंजना को भी लेकर उसकी जाँच पड़ताल करने लगते हैं। प्राचीन ध्वनिवादियों का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि ध्वनिवादी किसी श्लिष्ट शब्द की अभिधाशक्ति के एक प्रकरण में नियंत्रित होने पर, दूसरे प्रकरण में व्यंजना मानते हैं। ऐसे शब्द प्रकरण के एक ही अर्थ में स्थिर हो जाते हैं, अतः अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में अभिधा नहीं होती। ऐसे

शब्दशक्तिमूला जैसे भेद के विषय में अप्पय दीक्षित का मत

१. इस मत का विवेचन हम इसी प्रसंग में कुछ पृष्ठों बाद करेंगे।

स्थलों पर व्यंजना व्यापार ही मानना पड़ेगा। जैसे चन्द्रमा के प्राकरणिक वर्णन में 'असावुदयमारूढः'[1] इस पद्य में राजा से संबद्ध अप्राकरणिक अर्थ की भी प्रतीति हो रही है। यहाँ अभिधा चन्द्रमावाले प्रकरण में नियंत्रित हो गई है। लक्षणा के मुख्यार्थबाध आदि कोई हेतु यहाँ हैं नहीं। अतः यहाँ शब्दशक्तिमूलक व्यंजना व्यापार ही है।[2] अप्पय दीक्षित इस मत का खंडन करते हुए बताते हैं कि इस पद्य में प्राकरणिक ( चन्द्रमा वाला अर्थ ) तथा अप्राकरणिक ( राजा वाला अर्थ ) दोनों की प्रतीति अभिधा व्यापार से ही होती है। जिस तरह श्लिष्ट शब्द प्राकरणिक अर्थ के नियामक हैं, वैसे ही वे अप्राकरणिक अर्थ के भी नियामक हैं। अतः जिस तरह दोनों अर्थों के प्राकरणिक होने पर दोनों जगह अभिधा व्यापार होता है, वैसे ही एक अर्थ के प्राकरणिक तथा दूसरे के अप्राकरणिक होने पर भी अभिधा ही होती है।[3] प्राचीन आलंकारिक यहाँ व्यंजना क्यों मानते हैं? इस बात को अप्पय दीक्षित ने दूसरे ढंग से समझाया है। वस्तुतः प्राचीन आलंकारिक इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जहाँ अनेकार्थ शब्दों के प्रयोग से एक प्राकरणिक तथा दूसरे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ

---

१. असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥

( १ ) उदयाचल पर स्थित लाल लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकर्षित करता है, ( २ ) उन्नतिशील सुन्दर राजा, जिसने देश को अनुरक्त कर रखा है, थोड़ा कर ग्रहण करने के कारण, प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।

२. अत्र प्राञ्चः—तत्र शब्दशक्तिमूलो व्यंजनाव्यापार एव शरणम्, गत्यन्तराभावात्। ( वृ० वा० पृ० ९ )

३. वयं तु ब्रूमः—'असावुदयमारूढ' इत्यादौ प्राकरणिकेऽर्थे प्राकरणिकवदप्राकरणिकेऽपि राजकरमण्डलादिशब्दानां परस्परान्वयोग्यनृपतितद्ग्राह्यधनदेशादिवाचकानां समभिव्याहाररूपमभिधानियामकमस्तीत्यर्थद्वयस्यापि प्राकरणिकत्व इव प्राकरणिकाप्राकरणिकरूपत्वेऽप्युभयत्राभिधैव व्यापारः, यथोक्तसमभिव्याहारस्यापि शब्दान्तरसंनिधिरूपत्वेन प्रकरणवदभिधानियामकत्वात्। —वही पृ० १०

उपमा आदि साम्यमूलक अर्थालंकार प्रतीयमान रूप में अवश्य विद्यमान होते हैं। इसीलिए वहाँ व्यंजना मानी जाती है।[1]

इतना होते हुए भी अप्पय दीक्षित शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को अवश्य मानते हैं, जो वस्तुतः शब्दशक्तिमूला व्यंजना पर ही आश्रित है। अप्पय दीक्षित जब शब्दशक्तिमूला व्यंजना का निषेध करते हैं, तो उनसे एक प्रश्न पूछ बैठना सहज है। आपके मत में उसी वस्तु तथा अलंकार में व्यंजना होगी जहाँ वह वस्तु या अलंकार शब्द के प्राकरणिक अर्थ के पर्यालोचन से गृहीत होते हैं, ऐसे स्थानों पर तो सदा ही अर्थशक्तिमूला व्यंजना होगी। तो फिर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि जैसा ही ध्वनि का भेद मानना संगत है, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानना अनुचित है। अप्पय दीक्षित इस प्रश्न का उत्तर यों देते हैं। हम शब्दशक्तिमूला व्यंजना को नहीं मानते। फिर भी ध्वनि में कुछ ऐसे स्थल तथा ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, जो प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों में समान रूप से संगत बैठते हैं। ऐसे स्थलों पर हम उन शब्दों के स्थान पर दूसरे पर्यायवाची शब्द नहीं रख सकते, क्योंकि ऐसा करने से चमत्कार नष्ट हो जायगा। अतः ऐसे स्थलों में शब्द में चमत्कार होने के कारण शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को अर्थशक्तिमूलक से भिन्न मानना होगा।[2] वृत्तिवार्तिककार का इस प्रकार एक स्थान पर शाब्दी अभिधामूला व्यंजना न मानते हुए भी तन्मूलक ध्वनि को शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानना दो परस्पर विरोधी बातें हैं। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की स्वीकृति शाब्दी अभिधामूला व्यंजना की भी सिद्धि करा देती है—क्योंकि ध्वनि का कारण व्यंजना शक्ति ही है, अभिधा नहीं।

---

१. "...इत्यादिरूपेण प्रतीयमाने उपमाद्यर्थालंकारे तदवश्यंभावदृढीकरणाभिप्रायेण। न तु तत्रापि वस्तुतो व्यञ्जनाव्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।

—वही पृ० १३

२. ननु एवं प्रस्तुतार्थपर्यालोचनालभ्ययोरेव वस्त्वलंकारयोर्व्यक्त्युपगमे तत्रार्थशक्तिमूलैव व्यक्तिर्भवेदिति पृथगर्थशक्तिमूलध्वनेः शब्दशक्तिमूलो न स्यात्–इति चेत् मैवम्। तथात्वेपि प्रस्तुताप्रस्तुतोभयसाधारणशब्दसापेक्षतया प्रस्तुतमात्रापरपर्यायशब्दान्त(र)परिवृत्त्यसहिष्णुत्वेन ततस्तस्य पृथग्व्यवस्थितेः।

—वृत्तिवा० पृ० १५

कविराज मुरारिदान के अलंकार ग्रन्थ 'यशवन्तयशोभूषण' के संस्कृत अनुवादक रामकरण आसोपा भी शब्दशक्तिमूला व्यंजना को मानने के पक्ष में नहीं हैं।[1] प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ऐसे स्थलों पर श्लेष के स्थान पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि घोषित किया है।[2]

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के विषय में महिम भट्ट का मत

अप्पय दीक्षित के मत से ऐसा जान पड़ता है कि वे इस प्रकार के द्व्यर्थक पद्यों में दोनों ( प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक ) अर्थ की प्रतीति तो मानते हैं, किंतु शब्दशक्तिमूलक जैसे व्यंजना भेद का विरोध करते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो ऐसे स्थलों में दूसरे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, इसे स्वीकार करने के पक्ष में भी नहीं हैं। महिम भट्ट का मत ऐसा ही है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में एक स्थान पर इस मत का उल्लेख किया है। महिमभट्ट "दुर्गालङ्घितविग्रहो"[3] आदि पद्य में शिव वाले

---

१. धुरंधराभिप्रायाभिज्ञानात्काव्यप्रकाशकारादयोऽर्वाचीना अस्मिन् विषये भ्रान्ताः शब्दशक्तिमूलार्थशक्तिमूलेति व्यञ्जनायाः प्रकारद्वयं मन्यन्ते। स च प्रमादः श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो व्यंग्य इत्युक्ते शब्देनोक्तस्य कथं वा व्यंग्यत्वम्। ......न च शाब्दी व्यंजना वास्तवव्यञ्जनेव चमत्कारावहा ॥

—य० भू० पृ० ९०

२. देखिये—शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग के २० पद्य की टीका—"...तस्मात् प्राकरणिकार्थमात्रपर्यवसिताभिधाव्यापारेणापि शब्देनार्थान्तरधीकृद्ध्वनि रित्याहुः।" ( पृ० ९६ )

३. दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयँस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥

( १ ) महारानी उमादेवी का पति, यह राजा सुशोभित हो रहा है। इसके पास मजबूत किले हैं, जिससे यह युद्ध में अलंघनीय है, यह अपने तेज से कामदेव को भी ध्वस्त कर रहा है तथा राजाओं की शोभा से युक्त है। यह गरिमा से युक्त है तथा विलासी पुरुषों के द्वारा सेवित है राजाओं के द्वारा

दूसरे अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना नहीं मानते। इस मत का खंडन करते हुए विश्वनाथ का कहना है कि इस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति सभी सहृदयों को होती है, इस विषय में उनका अनुभव ही प्रमाण है। ऐसे अर्थ को अस्वीकार करना महिम भट्ट की "गजनिमीलिका"[1] ही है।[2] व्यक्तिविवेककार ने व्यक्तिविवेक के तृतीय विमर्श में शब्दशक्ति-मूलक व्यंजना का विरोध किया है। महिम भट्ट समस्त व्यंजना या ध्वनि को अनुमान में ही अंतर्भावित करते हैं, इसे हम आठवें परिच्छेद में देखेंगे। इसी संबंध में वे शब्दशक्तिमूलक व्यंजना में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति का निषेध करते हैं। ध्वनिकार के द्वारा शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के रूप में उदाहृत "दत्तानन्दाः प्रजानां"[3] आदि उदाहरण की

---

सेवित है तथा शिव के प्रति इसकी प्रगाढ भक्ति है। ऐश्वर्य से भूषित शरीर वाला यह राजा पृथ्वी का पालन करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

( २ ) दूसरा अर्थ शिव पक्ष में है। शिव के अर्धांग में दुर्गा है, वे तेज से कामदेव को भस्म करने वाले हैं, चन्द्रमा की कला से युक्त हैं, सर्पों से सुशोभित हैं, तथा चन्द्रमा के नेत्र वाले हैं। हिमालय के प्रति उनका प्रगाढ प्रेम है, तथा शरीर को भस्म से भूषित बनाते हैं एवं बैल पर चढ़ते हैं।

१. हाथी की आँखे अधखुली होने पर भी वह कभी-कभी अपने पास की चीज को नहीं देखता। इस प्रकार किसी चीज को देखते हुए भी न देखना "गजनिमीलिका" कहलाता है।

२. "दुर्गालंघित—इत्यादौ च द्वितीयार्थो नास्त्येव" इति यदुक्तं महिम-भट्टेन, तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव।

—सा० द० परि० ५ पृ० ३९१

३. दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥ (मयूरशतक)

( १ ) सूर्य की किरणें उचित समय पर पानी को समेट कर पुनः पानी देकर प्रजा को आनंद देती हैं। प्रातः काल के समय ये किरणें चारों ओर फैल जाती हैं और शाम को सिमट जाती हैं। संसार के अत्यधिक दुःखों के भय को पार करने में नाव के सदृश ये किरणें पवित्र व्यक्तियों ( आपकी ) की

महिम भट्ट पर्यालोचना करते हैं। महिम भट्ट यहाँ 'गो' शब्द से 'गाय' वाले अर्थ की प्रतीति नहीं मानते। वे कहते हैं "यहाँ गो शब्द के अनेकार्थवाची होने से, इस पद्य में धेनुपक्ष वाले अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।"[1] महिमभट्ट ने तो एक स्थान पर माघ कवि के एक पद्य को देते हुए बताया है कि अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना के लिए श्लिष्ट शब्द का प्रयोग काव्य का दोष है। माघ के उस पद्य में वे दूसरे अर्थ को बिलकुल नहीं मानते, अपितु वहाँ दोष मानते हैं। व्यक्तिविवेक के दूसरे विमर्श में दोषों का विवेचन करते हुए वे 'वाचस्य अवचनं' नामक दोष का उल्लेख करते हैं। इसके उदाहरण में वे माघ के पद्य को उद्धृत करते हैं। वे कहते हैं कि किसी निबन्धन ( प्रासंगिक तथ्य ) के लिए श्लिष्ट शब्द का प्रयोग तो गुण है, किंतु बिना किसी निबन्धन के ऐसा प्रयोग दोष है। "शब्दश्लेष का प्रयोग वहीं होना चाहिए, जहाँ अर्थाभिव्यक्ति दोनों स्थानों पर होती हो, अन्यथा कवि के द्वारा प्रयुक्त श्लेष व्यर्थ है। जहाँ कहीं दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने में कोई कारण विशेष न हो, वहाँ श्लेष का प्रयोग कवि के क्लेश के ही लिए है।"[2] माघ के

---

अपरिमित प्रीति उत्पन्न करें। ( २ ) उचित समय में दूध देकर गायें प्रजा को आनंद देती हैं। वे सुबह चरने के लिए जंगल में दिशा दिशा में बिखर जाती हैं और शाम को घर लौट आती हैं। संसार के अत्यधिक दुःखों के भय को पार करने में ये नावों के सदृश हैं। ये गायें आपकी प्रीति उत्पन्न करें।

१. इत्यत्र तु गोशब्दस्यानेकार्थत्वेऽप्राकरणिकार्थान्तरप्रतिभोत्पत्तौ न किञ्चिन्निबन्धनमवधारयामः।

—व्यक्तिविवेक, तृतीय विमर्श पृ० १२० ( त्रिवेंद्रम सं० )

२. उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किंचिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥ ९१ ॥
तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ कस्मिंश्च नासति
यः श्लेषबन्धनिर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ ॥ ९९ ॥

( व्यक्तिविवेक २, ९४; ९९ )

प्रसिद्ध पद्य "आच्छादितायत"[१] आदि में ध्वनिवादी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि तथा शाब्दी व्यंजना मानता है, पर महिम भट्ट यहाँ दोष मानते हैं।[२] ठीक इसी तरह "दत्तानन्दाः प्रजानां" आदि पद्य में भी वे "वाच्यस्य अवचनं" दोष मानते हैं। 'वाच्यस्य अवचनं' दोष वहाँ माना जाता है, जहाँ किसी कहने योग्य बात को न कहा जाय। श्लिष्ट प्रयोग में उस प्रकार के प्रयोग का निबन्धन आवश्यक है। निबन्धन के निर्देशाभाव में यहाँ यह दोष माना जायगा।

ऐसे स्थानों पर दूसरे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, ऐसा कहना ठीक नहीं। वस्तुतः ऐसे स्थलों में प्रतीति होती ही है।

महिम भट्ट के मत का खण्डन

साथ ही महिम भट्ट की भाँति ऐसे स्थानों पर श्लिष्टप्रयोग का कोई कारण न मानना भी अनुचित है। वस्तुतः इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोगों का कारण उपमा आदि साम्यमूलक अलंकार की व्यंजना कराना होता। प्रतीयमान अलंकार की महत्ता को तो स्वयं महिम भट्ट भी मानते हैं। यह दूसरी बात है कि वे व्यंजना शक्ति को

---

१. आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालश्रृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्॥
(माघ, ४ सर्ग)

(१) यह रैवतक पर्वत पृथ्वी से आकाश तक दिशाओं में व्याप्त हो रहा है। इसकी बड़ी बड़ी चोटियाँ हैं। यह इतना ऊँचा है कि चन्द्रमा इसके मस्तक पर सुशोभित प्रतीत होता है। इस पर्वत को देख कर पृथ्वी पर कौन विस्मित नहीं होता?

(२) दिगम्बर शिव, बड़े बड़े सींगों वाले ऊँचे बैल पर बैठते हैं। उनके सिर पर चन्द्रमा सुशोभित रहता है। पर्वत के स्वामी शिव को देखकर कौन व्यक्ति विस्मित नहीं होता?

२. अत्र ह्यावृत्तिनिवन्धनं न किंचिदुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।
—व्य० वि० द्वितीयविमर्श पृ० ९९
(त्रिवे० सं०)

स्वीकार नहीं करते। अलंकारों का विवेचन करते समय एक स्थान पर महिम भट्ट कहते हैं कि वाच्य अर्थ उतना चमत्कारक नहीं होता, जितना प्रतीयमान अर्थ।[1] यहाँ प्रतीयमान से महिम भट्ट का तात्पर्य अनुमेय से है। वैसे है यह व्यंजनावादियों का व्यंग्यार्थ ही, केवल नाम का भेद है। 'साहित्यिकों को प्रतीयमान अर्थ में वाच्य की अपेक्षा विशेष आस्वाद प्राप्त होता है। अतः साम्यमूलक अलंकारों में रूपकादि विशेष अच्छे हैं, उपमा इतनी अच्छी नहीं।'[2] किंतु उपर्युक्त पद्यों में प्रतीत उपमा तो वाच्य है ही नहीं, व्यंग्य है, अतः इस प्रतीयमान उपमा की महत्ता, पता नहीं, महिम भट्ट क्यों स्वीकार नहीं करते ? सम्भव है, ऐसे प्रकरणों में उनका अनुमान प्रमाण काम न कर सका हो, तथा इसीलिए ऐसे स्थलों में दोष बताकर छूटना उन्होंने सरल समझा हो। श्लिष्ट प्रयोगों के आधार पर, इन्हें हेतु मानकर दूसरे अप्राकरणिक अर्थ ( प्रतीयमान अर्थ ) को अनुमेय सिद्ध करने में एक दोष दिखाई पड़ता था। ये हेतु स्पष्ट रूप से 'अनैकान्तिक' हैं। अतः महिम भट्ट के पास ऐसे स्थलों में प्रतीयमान अर्थ का अस्वीकार करने के अलावा कोई चारा न था।

महिम भट्ट की भाँति इन पद्यों में दूसरे अर्थ प्रतीति का निषेध करने वाले लोगों को आइ० ए० रिचर्ड्‌स के शब्दों में हम यही उत्तर दे सकते हैं:—

"कवि अपने वर्णनों में तोड़ मरोड़ कर सकता है। वह ऐसे वर्णन कर सकता है, जो तार्किक दृष्टि से वर्ण्य विषय से कोई संबंध न रखते हों। वह लाक्षणिकता तथा अन्य प्रणाली के द्वारा भावों के लिए ऐसे विषयों को प्रकाशित कर सकता है, जो तार्किक दृष्टि से सर्वथा असंगत हों। वह तार्किक असंगति का समावेश कर सकता है, चाहे वह तार्किक दृष्टि से इतनी अधिक साधारण तथा मूर्खतापूर्ण हो, जितनी कि हो

१. वाच्यो ह्यर्थो न तथा स्वदते, यथा स एव प्रतीयमानः।

—वही पृ० ७२

२. वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलङ्कारेषु, नोपमा॥ ( २, ३९ )

—वही, पृ० ७२

सकती है। इनका प्रयोग वह अपनी वाणी की अन्य प्रक्रियाओं के लिए, भाव बोध को व्यक्त करने के लिए, अथवा स्वर (काकु) की संगति बिठाने के लिए, या अपनी अन्य अभिव्यंजना को अग्रसर करने के लिए कर सकता है। यदि इन लक्ष्यों में उसकी सफलता प्रमाणरूप में विद्यमान है, तो फिर कोई भी पाठक उसके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकता।"[१]

शाब्दी अभिधामूला व्यंजना तथा इस पर आधृत शब्दशक्तिमूलक ध्वनि पर कई वाद-विवाद हुए हैं। हम देख चुके हैं महिमभट्ट, अप्पय दीक्षित आदि इसके पक्ष में नहीं हैं।[२] इसलिए यह आवश्यक है कि

---

१ "A poet may distort his statement; he may make statements which have logically nothing to do with the subject under treatment; he may by metaphor and otherwise, present objects for thought which are logically quite irrelevent, he may perpetrate logical nonsense, be as trivial and as silly, logically, as it is possible to be; all in the interests of the other functions of his language—to express feeling or adjust tone or further his other intention. If his success in these other aims justify him, no reader can validly say anything against him."

—Practical Criticism. PP. 187-88.

२. प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलंग ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष ५३ अंक १—२ में प्रकाशित लेख "व्यंजना अर्थ का व्यापार है, शब्द का नहीं" में शाब्दी अभिधामूला व्यंजना का निषेध किया है। वे प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों ही अर्थों की उपस्थिति अभिधा से ही मानते हैं। उनके मतानुसार अप्राकरणिक अर्थ प्रतीति अभिधा से होने के बाद, प्राकरणिक-अप्राकरणिक के जिस उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है, उस अलंकारांशमात्र में ही व्यंजना है, वस्तु में नहीं।

हम ध्वनिकार से लेकर पण्डितराज तक शाब्दी अभिधामूला व्यंजना के पक्ष में, जो मत रहे हैं, उनका पर्यालोचन कर लें।

शाब्दी अभिधामूला व्यंजना और ध्वनिकार तथा आनदवर्धन

शाब्दी अभिधामूला व्यंजना तथा उस पर आधृत शब्दशक्तिमूलक ध्वनि पर ध्वनिकार ने कारिका में यह बताया है, कि जहाँ शब्द की शक्ति के द्वारा वस्तु के साथ ही अलंकार भी प्रतीत हो रहा हो तथा वह अलंकार शब्द के द्वारा वाच्यरूप में प्रतीत न हो, वहाँ शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि होती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार उन स्थलों पर जहाँ प्राकरणिक वाच्य अर्थ के प्रतीत हो जाने पर भा श्लिष्ट शब्द की महिमा के कारण अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अलंकार रूप में हो, शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं। यहाँ ध्वनिकार एवं वृत्तिकार आनंदवर्धन इस बात पर जोर देते दिखाई देते हैं कि जहाँ अलंकार व्यंजित होगा, उन्हीं श्लिष्ट प्रयोगों में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि हो सकेगी। यदि प्राकरणिक वाच्यार्थ के बाद प्रतीत अप्राकरणिक अर्थ वस्तुमात्र है, अलंकार नहीं, तो वहाँ व्यंजना तथा ध्वनि न होकर, कोरा श्लेष ही माना जायगा।[1] ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने इसी संबंध में दो तीन पद्य देकर उनमें श्लेष सिद्ध किया है तथा वहाँ व्यंजना का निषेध किया है। शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण, जो आनंदवर्धन ने दिया है, वह यह है:—

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका धवलाट्टहासो महाकालः।

यह बाण के हर्षचरित में ग्रीष्मवर्णन के अवसर पर कहा गया वाक्य है। यहाँ श्लिष्ट शब्दों की महिमा के कारण ग्रीष्म के प्राकरणिक अर्थ के बाद भगवान् महाकाल के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो

---

१. आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥ ( २, २१ )

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। —ध्वन्यालोकः पृ० २३५ ( चौ० सं० सी० )

रही है, तथा उन दोनों के उपमानोपमेय भाव मान लेने पर रूपक या उपमा अलंकार भी व्यंजित हो रहा है। इस वाक्य का अर्थ हम यों कर सकते हैः—

(प्राकरणिक वाच्यार्थ)—इसी बीच में वसंतऋतु को समाप्त करते हुए फुल्लमल्लिका रूपी धवल अट्टहास वाला भयानक समय—ग्रीष्मऋतु आरंभ होने लगा (जँभाई लेने लगा)।

(अप्राकरणिक अर्थ)—फुल्लमल्लिका के सदृश धवल अट्टहास वाला महाकाल जँभाई लेने लगा।

(व्यंग्य अलंकार)—ग्रीष्मऋतु रूपी महाकाल जँभाई लेने लगा।

इसीका दूसरा प्राकरणिक अर्थ यह भी हो सकता हैः—"इसी बीच में वसंतऋतु के दोनों महीनों को समाप्त करते हुए, फुल्लमल्लिका के कारण श्वेत एवं मनोहर बाजारों के विकास वाला, ग्रीष्म नाम का महा समय आरंभ हुआ"। यहाँ व्यंग्य अलंकार रूप में "महाकाल (देवता विशेष) के समान महाकाल (ग्रीष्म का भयंकर समय)" यह प्रतीति भी हो सकती है। इस प्रकार पहले ढंग से रूपक अलकार (ग्रीष्म एव महाकालः) व्यंजित होता है, तथा दूसरे में उपमा (महाकाल इव महाकालः)।

इस वाक्य के तत्तत् श्लिष्ट पदों की अपनी-अपनी अभिधाशक्ति ग्रीष्मऋतु वाले प्राकरणिक अर्थ में नियंत्रित हो जाती है। तदनंतर प्रतीत महाकाल (देवता) विषयक अप्राकरणिक अर्थ तथा अलंकार की प्रतीति व्यजना या ध्वननव्यापार से ही होती है, यही ध्वनिसिद्धांतियों का आकूत है।

इसी प्रसंग में अभिवनगुप्त ने 'लोचन' में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के हर्षचरित वाले उपर्युद्धृत उदाहरण में दूसरे अर्थ को व्यंजना-वृत्ति गम्य ही माना है। वे कहते हैं, "इस वाक्य में अभिधाशक्ति ऋतुवर्णन में ही नियंत्रित हो जाती है। क्योंकि वही प्राकरणिक अर्थ है, इसलिए यहाँ "रूढि योग से बलवती होती है" (रूढिर्योगाद् बलीयसी) यह नियम ठीक नहीं बैठ पाता। यद्यपि महाकाल का रूढ्यर्थ देवताविषयक है, ऋतु-विषयक अर्थ यौगिक है, तथापि ऋतु वर्णन के प्रसंग में हमें यौगिक

शब्दशक्तिमूल ध्वनि के विषय में अभिनवगुप्त का मत

अर्थ ही लेना पड़ता है। इस तरह इस उदाहरण में रूढि का अपलाप हो जाता है। अभिधाशक्ति तो ग्रीष्मवर्णन तक ही सीमित रह जाती है। उसके बाद देवताविषयक अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन-व्यापार या शाब्दी व्यंजना से ही होती है।[1]

यहाँ अभिनवगुप्त के मत में एक नई कल्पना दिखाई देती है। ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन व्यंग्य अलंकार को शाब्दी व्यंजना का विषय मानते हैं। अभिनवगुप्त अप्रकारणिक अर्थ तथा अलंकार दोनों की प्रतीति व्यंजना से मानते हैं। आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के बीच के समय में इस विषय पर काफी विचार हुआ होगा। अभिनव-गुप्त ने अपने पूर्व प्रचलित चार मतों का उल्लेख किया है, जो विभिन्न सरणि का आश्रय लेकर इन श्लिष्ट काव्यों में व्यंजना मानते थे। इन चारों मतों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक होगाः—

( १ ) प्रथम मतः—श्लिष्ट शब्दों के दो या अधिक अर्थ होते ही हैं। यद्यपि किसी प्रस्तुत पद्य में उनका प्रयोग किसी एक ही प्राकरणिक अर्थ के लिए हुआ है, फिर भी ऐसे व्यक्ति को, जिसने उन शब्दों का प्रयोग पहले अन्य अर्थ में भी देखा या सुना है, अन्य अर्थ की भी प्रतीति अवश्य होगी। पर अभिधाशक्ति तो प्राकरणिक अर्थ तक ही रह जाती है। अतः द्वितीय ( अप्राकरणिक ) अर्थ वाच्य नहीं होकर व्यंग्य होगा।[2] पर इस मत में एक दोष है कि व्यंग्यार्थ प्रतीति उसी व्यक्ति को होती है, जिसने दूसरे अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग देखा हो। वस्तुतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति का साधन तो 'सहृदयत्व' है।

---

१. अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अतएव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्। —लोचन, पृ० २४१

२. अत्र केचिन्मन्यन्ते—यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टस्तदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्' इति। — वही पृ० २४२

( २ ) द्वितीय मतः—शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण अप्रासंगिक या अप्राकरणिक ( महाकाल देवता विषयक ) अर्थ की प्रतीति भी होती तो अभिधा से ही है, किंतु फिर भी किसी कारण से उसे अभिधा न कह कर ( उपचार से ) व्यंजना कहा जाता है। हम देखते हैं कि ऐसे स्थलों में प्रायः कोई न कोई अलंकार व्यंजित होता है। उपर्युद्धृत उदाहरण में ग्रीष्मऋतु तथा महाकाल का सादृश्य प्रतीत होता है। द्वितीयार्थ की उपस्थापक दूसरी अभिधा इस अलंकार रूप व्यंग्य का सहकारी कारण है, उसके बिना ( ऐसे स्थलों में ) व्यंग्य की प्रतीति न हो सकेगी, अतः उसे भी व्यंजना या ध्वननव्यापाररूप मान लिया जाता है।[1] इस मत के उपस्थापक अभिधा को ही ( उपचार से ) व्यंजना मान लेते हैं।

( ३ ) तृतीय मतः—हम देखते हैं कि शब्द श्लेष में शब्द का प्रयोग काव्य में एक ही बार होता है, किंतु शब्द के भेद के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। ठीक इसी तरह अर्थ श्लेष में भी दूसरा अर्थ देखकर शक्ति भेद के आधार पर दूसरा शब्द मानना पड़ता है। यह कल्पना कदाचित् अभिधा व्यापार के ही कारण होती है। उदाहरण के लिए कोई पूछे "कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है—सफेद या काला" और उत्तरदाता कहे कि "सफेद दौड़ रहा है" ( श्वेतो धावति ), तो यहाँ प्रश्न तो दो हैं, किंतु इसी उत्तर से "काला नहीं दौड़ रहा है" यह अपने आप समझ में आ जाता है। यहाँ यह अर्थ उपात्त शब्द के बिना ही प्रतीत हो रहा है, किंतु यह व्यंग्यार्थ नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई चमत्कार नहीं है। वस्तुतः यहाँ वाच्यार्थ ही है तथा अभिधाशक्ति के बल पर ही दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है। ठीक इसी तरह शब्दशक्तिमूलक ध्वनि (अभिधामूला शाब्दी व्यंजना) में भी द्वितीयार्थ के कारण दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है। ऐसी दशा में इस कल्पित शब्द से अप्राकरणिक अर्थ की वाच्यार्थ रूप में ही प्रतीति होती है। तदनन्तर प्रतीयमान अलंकार के व्यंग्यत्व के कारण होने से उसे भी

---

१. अन्ये तु—साभिधैव द्वितीया अर्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापाररूपोच्यते।

—वही पृ० २४२

व्यंग्यार्थ मानना ठीक होगा।[1] इस मत में द्वितीय अर्थ की उपस्थापक है तो अभिधा ही, किंतु उस अर्थ को ( उपचार से ) व्यंग्यार्थ मानकर उस वृत्ति को भी व्यंजना मान लेते हैं।

( ४ ) चतुर्थ मतः—द्वितीय मत की व्याख्या में बताया गया है कि व्याख्यात अर्थ के सामर्थ्य से द्वितीय अभिधा उत्पन्न होती है। उससे प्रतीत द्वितीय अर्थ व्यंग्य कभी नहीं हो सकता। द्वितीय अर्थ की प्रतीति के बाद प्रथम प्राकरणिक अर्थ के साथ उसकी रूपणा की जाती है। यह रूपणा किसी अन्य शब्द से अभिहित तो होती नहीं। अतः इस रूपणांश में व्यंग्यत्व माना जायगा। इस अलंकारांश में अभिधाशक्ति की आशंका ही नहीं हो सकती। इस व्यंग्यार्थ प्रतीति का कारण द्वितीय शब्दशक्ति ( अभिधा ) ही है। उसके बिना रूपणा पैदा ही न हो सकेगी। इसीलिए इसे शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि कहना ठीक होगा।[2] यह मत दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही मानता है, वह व्यंजना को केवल अलंकारांश का साधन मानता है।

अभिनवगुप्त को ये चारों मत पसंद नहीं। वे द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी व्यंजना से मानते हैं। अलंकारांश में तो व्यंजना है ही, इसे सभी मानते हैं।

---

१. एके तु—शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय श्वेतो धावति इति प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालंकारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम् इति।

—वही पृ० २४२–३

२. इतरे तु—द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात् तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अतएवालंकारध्वनिरय मिति युक्तम्।

—वही पृ० २४३

अभिनवगुप्त का मत पूर्णतः स्पष्ट न होते हुए भी इस बात का संकेत करता है कि वे वस्तुरूप द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ में भी व्यंजना व्यापार मानते हैं। संभवतः अभिनवगुप्त का यह मत शिष्यपरंपरा से मौखिक रूप में चलता रहा, और इसका प्रकट रूप मम्मट में जाकर दिखाई पड़ता है। ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई वर्गीकरण नहीं किया है, न अभिनवगुप्त ने ही। पर मम्मट इसके स्पष्टतः दो भेद मानते हैं:—(१) अलंकाररूप, (२) वस्तुरूप। अब तक के मतों में हमने देखा कि वे लोग अलंकारांश की व्यंजना होने पर ही ध्वनि मानते हैं, अन्यथा वहाँ श्लेष मानते जान पड़ते हैं। किंतु मम्मट उस वस्तु को भी ध्वनि का क्षेत्र मानते हैं, जहाँ श्लिष्ट प्रयोग से अप्राकरणिक वस्तुरूप अर्थ की व्यंजना हो।[1] अलंकाररूप शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के हम मूलग्रंथ तथा पादटिप्पणी में दो तीन उदाहरण दे चुके हैं। यहाँ मम्मट के वस्तुरूप शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण ले लें।

इस विषय में मम्मट का मत

पन्थिअ ण एत्थ सत्थर मत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
ऊणअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥[2]

यह एक स्वयंदूती की उक्ति है। कोई राहगीर गांव के पास से निकला है। स्वयंदूती उसे अपनी ओर आकृष्ट करती हुई उपभोग के लिए निमंत्रित कर रही है। 'अरे बटोही, यह हमारा गाँव पत्थरों से भरा हुआ है, यहाँ की जमीन पथरीली है। इस गाँव में तुम्हें बिछाने के लिए कोई आस्तरण (स्रस्तर) तो मिलेगा नहीं। पर फिर भी आकाश में घिरे बादलों को देखकर (तथा मेरे उन्नत वक्षस्थल को देखकर) अगर यहाँ रात काटना चाहो तो मजे से काट सकते हो।'

---

१. अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥ (५-३९)
वस्त्वेवेत्यनलंकारं वस्तुमात्रम्। —काव्यप्रकाश पृ० १३४-३५

२. पथिक नास्ति स्रस्तर मत्र मनाक्प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं दृष्ट्वा यदि वससि तदा वस॥

इसी का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है। अरे इस गाँव में तो सब पत्थर ( मूर्ख लोग ) ही रहते हैं। यहाँ कोई शास्त्रमर्यादा भी नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर तुम रहना चाहो तो रहो। तुम्हारा स्वागत है।

यहाँ 'पयोधर' शब्द में शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना है। यह द्वितीयार्थ—वक्षःस्थलरूप अर्थ; जो वस्तु रूप है, व्यञ्जना से ही प्रतीत होता है।

जो लोग शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना केवल अलंकारांश में मानते हैं, वे मम्मट के इस मत का विरोध करेंगे तथा यहाँ श्लेष मानेंगे। किंतु यहाँ व्यञ्जना मानना ही ठीक होगा। क्योंकि इस द्वितीय अर्थ की उपस्थिति सब को न होकर केवल सहृदय को होगी।

**विश्वनाथ का मत**

विश्वनाथ का मत मम्मट से ही प्रभावित है। वे भी मम्मट की भाँति शब्दशक्तिमूलक ध्वनि दो तरह की मानते हैं।[1] अलंकाररूप व्यंग्यार्थ में वे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से मानते हैं।[2] वस्तुरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति में विश्वनाथ मम्मट की ही भाँति व्यञ्जना व्यापार मानते हैं। मम्मट के द्वारा उद्धृत उपर्युक्त उदाहरण को लेकर वे वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं। विश्वनाथ के मत में उनकी कोई नई सूझ नहीं है, न कोई वैज्ञानिक विचार ही पाया जाता है। वस्तुतः विश्वनाथ के पास कवि का हृदय था, दार्शनिक पंडित का नहीं।

---

१. वस्त्वलंकाररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

—सा० द० चतुर्थ परि० पृ० ३३८

२. "दुर्गालङ्घितविग्रहो" आदि पद्य में वे गौरीवल्लभ ( महादेव ) रूप अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से मानते हुए कहते हैं:—"व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो वोध्यते।" इस पद्य का मूल तथा अनुवाद पृ० १९७ की पाद टिप्पणी में देखिये।

मम्मट की भाँति ही पंडितराज भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि दो तरह का मानते हैं, एक अलंकाररूप, दूसरा वस्तुरूप।[1] अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के विषय में पंडितराज ने जो दार्शनिक विवेचना की है, वह मम्मटाचार्य या विश्वनाथ में नहीं मिलती। पंडितराज जगन्नाथ की शैली की एक विशेषता है। उनकी शैली व्यास प्रणाली का आश्रय लेती है। परिभाषा आदि निबद्ध करते समय वे उसमें अधिकता, न्यूनता, या संग्दिधता नहीं रहने देते। परिभाषा में ही नहीं, किसी मत को स्पष्ट करते समय भी पंडितराज प्रत्येक ग्रंथि को सुलझा कर रख देते हैं। पंडितराज की शैली नव्यन्याय का आश्रय लेने के कारण आपाततः क्लिष्ट प्रतीत हो, किंतु ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश की भाँति जटिल तथा श्लिष्ट नहीं है। मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में स्थान-स्थान पर सूत्रशैली ( समास-शैली ) का प्रयोग किया है। अतः काव्यप्रकाश के कई स्थलों में अध्येता को संदेह बना रहता है। मम्मटाचार्य अपने मत का संकेत भर देकर अध्येता को संदेह के आलवाल में फँसा कर आगे बढ़ जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मम्मटाचार्य में अपने मत का प्रतिपादन नहीं मिलता। बात यह है कि वाग्देवतावतार मम्मट जैसी शैली में बातें करते हैं, वह दार्शनिकों के लिए ही लिखी होती है। पंडितराज का युग संस्कृत साहित्य का वाद-युग था। जब किसी मत की बाल की खाल तक निकाल कर विरोधी पक्ष दोष का उद्घाटन किया करता था। ऐसे काल में शास्त्र विवेचना में स्पष्टता अपेक्षित थी। पंडितराज ने इसी प्रकार की स्पष्ट शैली का आश्रय लिया है। विश्वनाथ की पंडितराज के साथ तुलना भी करना सूर्य को दीपक दिखाना है। पंडितराज दार्शनिक पंडित तथा कवि दोनों हैं, विश्वनाथ केवल कवि। बल्कि कविता में भी वे पंडितराज की बराबरी नहीं कर सकते। विश्वनाथ ने तो केवल साहित्य शास्त्र में प्रवेश के इच्छुक छात्रों के लिए 'दर्पण' दिखा दिया है। उनमें न तो काव्यप्रकाश जैसी गहनता व गंभीरता ही है, न पंडितराज जैसी दार्शनिक उद्भावना ही। फलतः शास्त्रीय दृष्टि से रसगंगाधर का एक महत्त्व है, जिसे कोई भी साहित्य शास्त्र का ग्रंथ आच्छादित नहीं कर पाता।

पंडितराज जगन्नाथ का मत

---

१. देखिये—रसगंगाधर, पृ० १५७ व १६३

रसगंगाधर के द्वितीय आनन के आरंभ में ही पंडितराज के समक्ष शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का प्राकरणिक अप्राकरणिक अर्थ वाला झगड़ा उपस्थित होता है। हम देख चुके हैं अब तक सभी ध्वनिवादी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से मानते हैं। पर व्यञ्जना व्यापार तक पहुँचने के पहले उन्हें किस-किस प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है, इस विषय में व्यञ्जनावादियों में भी मतवैभिन्न्य देखा जाता है। अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत व्यञ्जनावादियों के चार मत हमने देखे। पंडितराज के समय भी व्यञ्जनावादियों में यह मतवैभिन्न्य था। पंडितराज इस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के विषय में हमारे सामने तीन मत रखते हैं। अंतिम ( तीसरा ) मत पंडितराज को मान्य है। व्यञ्जनावादियों के पहले दो मतों को पंडितराज ने पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त किया है, तथा तृतीय मत में इन दोनों का युक्तिपूर्वक खंडन मिलता है। पहले हम दोनों पूर्वपक्षी मतों का वर्णन कर तीसरे मत के अंतर्गत पंडितराज की प्रतिष्ठापना का विश्लेषण करेंगे।

( १ ) प्रथम मतः—जब हम किसी नानार्थक शब्द वाले वाक्य को सुनते हैं, तो वाक्य सुनते ही, तत् तत् शब्द के अनेकार्थक होने के कारण हम इस संदेह में पड़ जाते हैं कि वक्ता का तात्पर्य यहाँ किस अर्थ-विशेष में है। नानार्थक शब्द में तो सभी अर्थों में समान रूप से संकेत-ग्रह है। ( 'हरि' कहने पर इस शब्द का विष्णु, इन्द्र, बंदर, घोड़ा सभी में एक-सा संकेतग्रह है, सभी में मुख्यावृत्ति दिखाई पड़ती है। ) इस लिए अनेकार्थ शब्द के सुनते ही सारे ही संकेतित अर्थों की (मानसिक) उपस्थिति श्रोता को हो जाती है। यही कारण है कि वह प्रथम क्षण में, यह निश्चय नहीं कर पाता कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है। श्रोता जब प्रकरणादि का पर्यालोचन करता है, तो उसे एक तात्पर्य का निश्चय हो जाता है।[1] इस तात्पर्य निश्चय के बाद उसी अर्थ को विषय बनाकर वाक्य के पदों की अर्थ प्रतीति होती है; तदनंतर अन्वित रूप में अर्थ—प्राकरणिक अर्थ—की प्रतीति होती है। इस प्रकार अप्राकरणिक ( दूसरे ) अर्थ की प्रतीति, उसमें संकेतग्रह होने पर भी, इसलिए नहीं हो

---

१. जैसे खाना खाने वाला आदमी कहे "सैन्धव ले आओ" तो श्रोता को प्रकरण के कारण सेंधा नमक वाले तात्पर्य का निश्चय हो जायगा।

पाती कि प्रकरणादि ज्ञान तथा उस पर आधृत तात्पर्य निर्णय इस दूसरे अर्थ को उसी क्षण में प्रतीत होने से रोक देते हैं। दूसरे शब्दों में, दूसरे अर्थ की प्रतीति में प्रकरणादि ज्ञान तथा तदधीन तात्पर्य निर्णय ये दोनों प्रतिबंधक बन जाते हैं। अगर प्रतिबंधक की कल्पना न मानी जायगी, तो अनेकार्थ शब्दों में अनेक विषयों की एक साथ प्रतीति का दोष उपस्थित होगा, जो अनुभव से विरुद्ध पड़ता है। प्रत्येक वाक्य से एक ही शाब्दबोध होना चाहिए, अनेक नहीं।[1]

'तात्पर्य के विषय में संदेह होना' वह पहली शर्त है, जिसका उल्लेख भर्तृहरि की पूर्वोदाहृत कारिका में किया गया है। पहले मत वाला पूर्वपक्षी अपने मत की पुष्टि में बताता है कि भर्तृहरि की कारिका में "अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः" इस बात पर जोर देता है कि तात्पर्य के विषय में संदेह होने पर ( अनवच्छेदे ) एक अर्थ विशेष की स्मृति होगी, अर्थात् प्रकरणादि के कारण एक मात्र अर्थ की ( मानसिक ) प्रतीति होगी, और ये प्रकरणादि उस विशेष स्मृति के कारण हैं ( विशेषस्मृतिहेतवः । इसप्रकार जब कोई व्यक्ति सुगंधित मांस खाने वाले व्यक्ति से कहे "सुरभिमांसं भक्षयति" ( आप सुगंधित मांस खाते हैं, आप गोमांस खाते हैं ), तो प्रकरणादि ज्ञान के कारण विशेष स्मृति सुगंधित मांस वाले अर्थ में ही होगी। गाय वाले अर्थ की उपस्थिति मुख्या वृत्ति ( अभिधा ) से नहीं हो पाती। पर वह अर्थ प्रतीत अवश्य होता है। अतः उस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार मानना आवश्यक होगा।[2]

---

१. तत्र केचिदाहुः। नानार्थस्य शब्दस्य सर्वेषु संकेतग्रहस्य तुल्यत्वाच् श्रुतमात्र एव तस्मिन् सकलानामर्थानामुपस्थितौ शब्दस्यास्य कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति संदेहे च सति प्रकरणादिकं तात्पर्यनिर्णायकं पर्यालोचयतः पुरुषस्य सति तन्निर्णये तदात्मकपदज्ञानताजातायां एकार्थमात्रविषयायाः पुरः पदार्थोपस्थितेरनन्तरमन्वयबोध इति नये द्वितीयायाः पदार्थोपस्थितेः प्राथमिक्या इव न कुतो नानार्थगोचरतेति प्रकरणादिज्ञानस्य तदधीनतात्पर्यनिर्णये वा पदार्थोपस्थितौ प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। अन्यथा शाब्दबुद्धेरपि नानार्थं विषयत्वापत्तिः। —रसगंगाधर पृ० १३५–३६

२. अतएवोक्त "मनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः" इति। अनवच्छेदे तात्पर्य-सन्देहे विशेषस्मृति रेकार्थमात्र विषयास्मृतिः। इत्थं च सुरभिमांसं भक्षयती-

संभवतः इस विषय में अभिधावादी एक बात कहें। प्रथम प्राकरणिकरूप अर्थ की प्रतीति पहली अभिधाशक्ति से हो जाती है। तदनन्तर दूसरे अप्राकरणिक अर्थ ( गोमांस वाले अर्थ ) की प्रतीति दूसरी अभिधाशक्ति से हो जायगी। पर उनका यह दलील देना ठीक नहीं। यह दूसरी अभिधाशक्ति तभी तो काम कर सकती है, जब प्रकरणादिज्ञान तथा तदधीनतात्पर्य निर्णय वाला प्रतिबंधक समाप्त हो। अगर प्रतिबंधक न रहे तो प्राकरणिक अर्थ की तरह अप्राकरणिक अर्थ भी अनेकार्थ शब्द के प्रयोग का विषय बन जायगा। अगर अभिधावादी फिर यह दलील पेश करें कि प्रतिबंधक होने पर तो व्यंजना से भी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी, तो यह दलील गलत है। वस्तुतः जिस प्रमाण से व्यंजना का उल्लास होता है, उसी प्रमाण से यह भी पता चल जाता है कि प्रकरणादिज्ञान व्यंजना से भिन्न शक्ति ( अभिधाशक्ति ) से उत्पन्न अर्थोपस्थिति का ही प्रतिबंधक है। व्यंजना से प्रतीत अर्थोपस्थिति का वह प्रतिबंधक नहीं है। अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि के ही लिए तो व्यंजना व्यापार की अवतारणा की गई है।[1]

इस मत की ये विशेषतायें हैं:—

१ अनेकार्थक शब्द से अनेक अर्थ की प्रतीति होने पर तात्पर्यनिर्णय में संदेह।

२ प्रकरणादिज्ञान तथा तदधीन तात्पर्यनिर्णय के कारण अभिधाशक्ति के द्वारा प्राकरणिक अर्थ में विशेषस्मृति।

३ तदनन्तर व्यंजनाव्यापार के द्वारा अप्राकरणिक अर्थ का उल्लास।

---

त्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युपस्थितेरभावात्कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनव्यापारोऽभ्युपेयः। —वही पृ० १३६

१. अर्थैकया शक्त्या प्राकरणिकार्थोपस्थितेरनन्तरं द्वितीयया शक्त्या द्वितीयार्थोपस्थितिस्तथापि स्यादिति चेत्, न स्यादेव, प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकस्यानुपरमात्। अन्यथा प्राकरणिकार्थोपस्थितावेवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य विषयत्वं स्यात्। न च प्रकरणादिज्ञानस्य तादृशपदजन्यार्थोपस्थितिसामान्य एव प्रतिबन्धकत्वाद्व्यक्त्यापि कथमर्थान्तरोपस्थितिरिति शङ्क्यम्।

(२) द्वितीयमतः—जब हम कोई नानार्थक शब्द सुनते हैं, तो शाब्दबोध के लिए तात्पर्यज्ञान आवश्यक होता है। पर फिर भी प्रथम क्षण में ही अनेकार्थक शब्द से केवल एक ही अर्थ की प्रतीति होती है, यह कल्पना करना ठीक नहीं होगा। ऐसे शब्दों के श्रवण करने पर उसके सभी संकेतित अर्थों की उपस्थिति होती है। प्रथम क्षण में अनेकार्थप्रतीति होती ही है। तदनंतर तात्पर्यनिर्णय के कारणभूत प्रकरणादि के कारण वक्ता का जिस अर्थ में तात्पर्य होता है, उसी अर्थ में वाक्य से अन्वयबोध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पहले तो श्रोता को प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति होती है, तदनंतर प्रकरण के कारण अन्वयबोध प्राकरणिक अर्थ का ही हो पाता है, दूसरे अर्थ का नहीं। इस सरणि का आश्रय लेने पर सुगमता होती है। जो लोग एक ही अर्थ की स्मृति आवश्यक समझते हैं, तथा अप्राकरणिक अर्थ को रोकने के प्रतिबंधक की कल्पना करते हैं, उन लोगों की तरह इस मत में कोई लंबा मार्ग नहीं है। हम देख चुके हैं कि यह कल्पना प्रथम मत की है। द्वितीय मत के विद्वान् इस प्रकार की कल्पना का खण्डन करते हैं।[1]

प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के बाद जिस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यंजना व्यापार ही माना जायगा। नानार्थक शब्दों के स्थल में प्रकरणादि के कारण तात्पर्यनिर्णय हो जाता है और शाब्दबोध प्राकरणिक अर्थ में ही होता है। फिर भी अतात्पर्यरूप अप्राकरणिक अर्थ की भी प्रतीति उसी शब्द से होती है। इस द्वितीयार्थ प्रतीति में व्यंजना के अतिरिक्त और व्यापार हो ही कैसे सकता है?

---

धर्मिग्राहकमानेनाप्राकरणिकोपस्थापकतयैव तादृशव्यक्तेरुल्लासात्तदजन्योपस्थितिं प्रत्येव प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। व्यक्तिज्ञानस्योत्तेजकत्व-कल्पनाद्वा। —रसगंगाधर, पृ० १३६–३७

१. अपरे त्वाहुः—नानार्थशब्दजशाब्दबुद्धौ तात्पर्यनिर्णयहेतुतायाः अवश्य-कल्प्यत्वात्प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयहेतु-भिरुत्पादिते तस्मिन्यत्र तात्पर्यनिर्णयस्तस्यैवार्थस्यान्वयबुद्धिर्जायते, नान्य-स्येति सरणावाश्रीयमाणायां नैकमात्रगोचरस्मृत्यपेक्षा, नाप्यपरार्थोपस्थानप्रति-बन्धकत्वकल्पनम्। — वही पृ० १३७

अभिधा तो यहाँ मानी ही नहीं जा सकती। क्योंकि अभिधा से शाब्द-बोध होने में तात्पर्यज्ञान कारण होता है, जब कि व्यंजना से प्रतीत शाब्दबोध के लिए तात्पर्यज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती।[1]

पहले मत वाला यहाँ एक प्रश्न पूछ बैठता है। "इस प्रकार की सरणि का आश्रय लेने पर प्राचीनों का "विशेषस्मृतिहेतवः" कैसे संगत बैठ सकेगा? क्योंकि तुम्हारी सरणि में तो शाब्दबुद्धि के लिए एकमात्र अर्थ की स्मृति आवश्यक नहीं है। साथ ही भर्तृहरि की कारिका में यह भी बताया गया है कि संयोगादि के कारण अनेकार्थक शब्द की अभिधा एक अर्थ में नियंत्रित हो जाती है। यह नियंत्रण तभी हो सकता है, जब प्रकरणादिज्ञान प्रतिबंधक के रूप में मौजूद हो। तुम तो प्रतिबंधक की कल्पना भी नहीं करते तो प्राचीनों के मत से तुम्हारे मत की संगति कैसे बैठेगी?" द्वितीय मत वाले इसका उत्तर यों देते हैं—"विशेषस्मृतिहेतवः" का अर्थ हम यह लेते हैं कि उस वाक्य का तात्पर्यनिर्णय विशेषविषयक होता है। 'संयोगादि के द्वारा वाचकता के नियंत्रण' का अर्थ है 'एकार्थमात्र विषयक तात्पर्य निर्णय के द्वारा प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध के अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना।' इस प्रकार अवाच्यार्थ अतात्पर्यार्थ होगा। प्राचीनों के ग्रन्थ का यह अर्थ करने से संगति बैठ जाती है।

इसी संबंध में एक और प्रश्न उठता है कि व्यंजनावादी श्लिष्ट शब्दों से अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति मानता है, पर प्राकरणिक अर्थ बोध कराकर पदज्ञान तो शांत हो जाता है, फिर इस दूसरे अर्थ की प्रतीति किस सरणि से होती है? द्वितीय मत वाले इस प्रश्न का उत्तर तीन तरह से देते हैं:—

( १ ) जिस अभिधा व्यापार से प्रथम अर्थ की प्रतीति होती है, वह उपस्थित ही रहता है। उसके संबंध से एक प्रकार से पदज्ञान भी

---

१. एवं च प्रागुपदर्शितनानार्थस्थले प्रकरणादिज्ञानाधीनात्तात्पर्यनिर्णयात्प्राकरणिकार्थशाब्दबुद्धौ जातायामतात्पर्यार्थविषयापि शाब्दबुद्धिस्तस्मादेव शब्दाज्जायमाना कस्य व्यापारस्य साध्यतामालम्बताम्, ऋते व्यञ्जनात्। न च शक्तिसाध्या सेति वाच्यम्। तदधीनबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वात्। व्यक्त्यधीनबोधस्तु नावश्यं तात्पर्यज्ञानमपेक्षते। —वही, पृ० १३७

रहता ही है। उसी के सहारे व्यंजना अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति करा देगी।

( २ ) मुख्यार्थ प्रतीति के बाद चाहे पदज्ञान न रहता हो, पर पदों से प्राप्त शक्यार्थ ( वाच्यार्थ ) तो रहता ही है। उस मुख्यार्थ के साथ पदज्ञान भी विशेषण के रूप में बना रहता है। व्यंजना इसी से द्वितीय अर्थ का उपस्थापन कर देती है।

( ३ ) आवृत्ति के कारण वे पद फिर से उपस्थित हो सकते हैं। तदनंतर आवृत्त पदों से व्यंजना अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति करा सकेगी।[१]

( ३ ) तृतीय मतः—तृतीय मत का प्रतिपादन करते समय पंडितराज ने सर्वप्रथम उपर्युद्धृत दोनों पूर्वपक्षों का खंडन किया है, तदनंतर अपने विचार प्रकट किये हैंः—

( अ ) प्रथम मत का खंडनः—हम देखते हैं कि प्रथम मत वाले केवल प्राकरणिक अर्थ की ही स्मृति की कल्पना करते हैं, तथा प्रकरणज्ञानादि को अपरार्थ प्रतीति में प्रतिबंधक मानते हैं। पंडितराज इस मत को ठीक नहीं समझते। वे कहते हैं कि वाक्यार्थज्ञान के लिए एकार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थिति को कारण मानना निःसार है। हमारे विपक्षी के पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि नानार्थक शब्द से अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी प्रकरणादिज्ञान तथा तदधीनतात्पर्य निर्णय के कारण केवल एक ही ( प्राकरणिक ) अर्थ का शाब्दबोध होता है। जब दूसरे अर्थ की उपस्थापक सामग्री ( शब्द का अनेकार्थकत्व ) मौजूद है, तो उस पदज्ञान से अपर अर्थ प्रतीति होना उचित ही जान पड़ता है। अतः हमें तो दोनों ही अर्थों की प्रतीति होती दिखाई पड़ती है। हाँ, इतना माना जा सकता है कि अनेक अर्थों की उपस्थिति के बाद प्रकरणादिज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में पहले शाब्द-

---

१ अथ प्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तादृशपदज्ञानस्योपरमात् कथं व्यक्तिवादिनाप्यर्थान्तरधीः सूपपादेति चेत्। मैवम्। प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारस्य सत्त्वाददोष इत्येके। अर्थप्रतीतौ शक्यतावच्छेदकस्येव पदस्यापि विशेषणतया भानात् प्राथमिकशक्यार्थबोधस्यैव पदज्ञानत्वादित्यपरे। आवृत्त्या पदज्ञानं सुलभमिति कश्चित्।

—रसगंगाधर, पृ० १३९

बोध होता है। पूर्वपक्षी प्रकरणादिज्ञान तथा तदधीनतात्पर्यनिर्णय को अपरार्थप्रतीति में विघ्न मानते हैं। पर यह मानना ठीक नहीं। किसी शब्द तथा अर्थ के प्रयोग को बार बार सुनने से हमारे हृदय में संस्कार बना रहता है। अनेकार्थक शब्द का प्रयोग हम कई अर्थों में सुन चुके होते हैं। इन सब संस्कारों की स्थिति हमारे हृदय में होती ही है। जब हृदय में कोई संस्कार है तथा उसका उद्बोधक शब्द भी मौजूद है, तो उस शब्द से संबद्ध सभी संस्कारों की स्मृति अवश्य होगी। हम तो व्यावहारिकरूप में कभी भी ऐसी स्मृति का प्रतिबंधक नहीं पाते। पूर्वपक्षी यह दलील देगा कि अन्य संस्कार तथा उसको उद्बुद्ध करनेवाली सामग्री के होने पर स्मृति होती है; किंतु शब्द तथा अर्थ के संस्कार एवं स्मृति के बारे में यह बात लागू नहीं होती। शब्दार्थ के संस्कार से विकसित स्मृति में तो प्रतिबंधक माना ही जायगा। पर यह दलील ठीक नहीं है प्रतिबंधक की कल्पना करना निष्फल है, साथ ही यह अनुभवविरुद्ध भी है।[1]

हम एक उदाहरण ले लें। "पय रमणीय है" ( पयो रमणीयम् ) इस वाक्य में नानार्थशक्ति विषयक संस्कार वाले व्यक्तियों को "पय" के दूध तथा जल दोनों अर्थों की प्रतीति होती है। यह द्व्यर्थप्रतीति उन लोगों को भी प्रथम क्षण में होगी ही, जो प्रकरणादि के ज्ञान से संपन्न हैं। मान लीजिये, दूध पीते हुए व्यक्ति ने यह वाक्य कहा, और श्रोता जानता है कि यहाँ प्राकरणिक 'दूध' ही है, फिर भी प्रथम क्षण में तो 'जल' वाले अर्थ की भी प्रतीति होगी। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकरण

---

१. यत्तावदुक्तमेकार्थविषया पदार्थोपस्थिति स्तदन्यबोधेऽपेक्ष्यत इति तदसारम्। नानार्थादर्थद्वयोपस्थितावपि प्रकरणादिज्ञानाधीनतात्पर्यमहिम्नैव विवक्षितार्थशाब्दबोधोपपत्तेः, एकार्थमात्रोपस्थित्यपेक्षायां मानाभावात्। अपरार्थोपस्थापकसामग्र्याः पदज्ञानस्य सत्त्वेन तदुपस्थिते रप्यनौचित्या च। न च प्रकरणादिज्ञानं तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा परार्थोपस्थाने प्रतिबन्धकमिति शक्यं वक्तुम्। संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्त्वे स्मृतेः प्रतिबन्धकस्य क्वाप्यदृष्टत्वात्। अत्रैव स्मृतावयं प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः कल्पते, न स्मृत्यन्तरे इत्यप्यहृदयंगमम्। तादृशकल्पनाया निष्फलत्वात्, अनुभवविरुद्धत्वा च।

—वही पृ० १३९

ज्ञान से रहित है, तो प्रकरणज्ञानशाली उसे बता देगा कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य दूध से है, जल से नहीं। अगर पूर्वपक्ष की सरणि मान ली जाय तो प्रकरणज्ञान वाले व्यक्ति को केवल प्राकरणिक अर्थ की ही प्रतीति होती है। तब तो वह 'जल' वाले अर्थ की प्रतीति के अभाव में उस अर्थ का निषेध भी नहीं कर सकेगा। पर हम बता चुके हैं प्रकरणज्ञान वाला व्यक्ति प्रकरणज्ञान से रहित व्यक्ति से यह कहता देखा जाता है, यहाँ वक्ता का दूध वाले अर्थ में तात्पर्य है, जल वाले में नहीं। अतः अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रकरणज्ञानशाली व्यक्ति को भी 'जल' वाले अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अवश्य होती है, प्रकरणादिज्ञान के कारण वह उसका निषेध कर देता है। इस युक्ति से यह स्पष्ट है कि अपरार्थोपस्थिति को न होने देने का कारण—प्रतिबंधक—प्रकरणज्ञान को मानना ठीक नहीं।[1]

(आ) द्वितीय मत का खंडनः—द्वितीय मत वाले यह मानते हैं कि अनेकार्थ शब्द से पहले तो सभी संकेतित अर्थों की एक साथ प्रतीति होती है। तदनंतर प्रकरणादिज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में तात्पर्य विषमता निर्णीत होने पर पहले उसी प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध होता है। इसके बाद व्यञ्जनाव्यापार द्वारा अतात्पर्य विषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है। पंडितराज जगन्नाथ इस पूर्वपक्षी से प्रश्न पूछते समय दो विकल्प रखते हैं। आप समस्त नानार्थ स्थलों में व्यञ्जना का उल्लास मानते हैं, या कुछ ही स्थलों में ?[2] यदि प्रथम कल्प से सहमत हैं, तो हमें यह मान्य नहीं। नानार्थ स्थल में सर्वत्र व्यञ्जनाव्यापार होता है, यह मानना अनुचित है। हम देखते हैं प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध के लिए आप ही तात्पर्यज्ञान को कारणता देते हैं। जब दोनों—प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक—अर्थ की प्रतीति सर्वत्र होती है

---

१. यदि च प्रकरणादिज्ञानं नानार्थशब्दाज्जायमानामप्राकरणिकार्थोपस्थितिं प्रतिबध्नीयात्तत्कथमेते तदानीमुपस्थितजलाः प्रकरणज्ञा जलतात्पर्यं निषेधेयुरिति अहृदयंगम एवायमप्राकरणिकार्थोपस्थापनप्रतिबंधकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य। वही, पृ० १३९

२. तत्र किमयं नानास्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लासः, आहोस्वित्क्वचिदेवेति संमतम्। वही पृ० १४०

तो तात्पर्यज्ञान की कारणता की कल्पना निरर्थक होगी। यदि पूर्वपक्षी यह कहना चाहे कि तात्पर्यज्ञान की कारणता की कल्पना तो अभिधा-शक्ति वाले शब्दबोध ( शक्तिबोध ) के लिए की जाती है। व्यञ्जना वाला अर्थबोध ( व्यक्तिबोध ) तो उसके बिना भी हो सकता है। इस लिए शक्तिजबोध के लिए उसका उपयोग किया गया है। पर इसका उत्तर पंडितराज यों देते हैं। जब नानार्थस्थलों में सर्वत्र द्वितीयार्थ की उपस्थिति होती ही है, तो उसे भी वाच्यार्थ क्यों नहीं मान लिया जाय? यदि यह कहा जाय कि अनेकार्थ शब्द से दोनों अर्थों की उपस्थिति हो जाने पर भी बाद में प्रकरणादि के कारण जिस अर्थ में तात्पर्य निर्णय होता है, उसी अर्थ की उपस्थिति पहले हो पाती है, अप्राकरणिक अर्थ की नहीं। दूसरा अर्थ व्यञ्जना से ही प्रत्यायित होता है और उसी के लिए प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध में तात्पर्य निर्णय माना जाता है। यह उसका कारण है। अगर ऐसा न माना जायगा तो अप्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध भी पहले ही हो जायगा।[1] तात्पर्य विषयक प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध होने के बाद ही अप्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध होता है। इन दोनों में भेद करने के लिए ही हम एक को वाच्यार्थ कहते हैं, दूसरे को व्यंग्यार्थ।

पंडितराज पूर्वपक्षी के इस तर्क का उत्तर देते हुए कहते हैं कि नानार्थक शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के स्थलों में भी श्लेषकाव्य की तरह दोनों अर्थों की एक साथ प्रतीति होने में कोई बाधक नहीं होता। वस्तुतः श्लेष में जिस तरह दोनों अर्थ एक साथ प्रतीत होते हैं, वैसे ही शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि में भी। श्लेष में दोनों में तात्पर्यज्ञान होता है, व्यञ्जना वाले स्थल में केवल प्राकरणिक अर्थ में ही, यह दलील भी निःसार है। पंडितराज का मत यह है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के स्थलों में दोनों ही अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं, दोनों अर्थों की प्रतीति शक्ति ( अभिधा )

---

१. अथ नानार्थशब्दादर्थद्वयोपस्थितौ सत्यां प्रकरणादिना सत्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णये तस्यैवार्थस्य प्रथमे शाब्दबुद्धिर्जायते, न परस्यार्थस्येति नियम-रक्षणाय शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ तदर्थतात्पर्यज्ञानं हेतुरिष्यते। अन्यथा तात्पर्य विषयतया निर्णीतस्यार्थस्येवा तथा भूतस्यापरस्यार्थस्य प्रथमं शब्दधीःस्यात्।

वही पृ० १४०

से ही होती है। इस लिए द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के लिए व्यञ्जना को स्वीकार करना अनुचित ही है।[१]

पंडितराज अब वादी के दूसरे कल्प को लेते है कि व्यंजना का उल्लास किन्हीं किन्हीं अनेकार्थ स्थलों में होता है, अर्थात् वहीं व्यजना होती है, जहाँ व्यंग्यार्थ में कवि का तात्पर्य प्रतीत होता है। पर यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षी ही तात्पर्यज्ञान को व्यंग्यार्थप्रतीति का कारण नहीं मानता। हम देखते हैं कि कई स्थलों पर काव्य में अश्लीलता दोष माना जाता है,[२] इन स्थलों में अश्लीलार्थ में तो कवि का तात्पर्य है ही नहीं पर उसकी प्रतीति होती ही है। अगर विपक्षी कवि का तात्पर्य न मानकर, द्वितीयार्थ में श्रोता के शक्तिग्रह को ही व्यंजना के उल्लास का कारण माने, तो भी ठीक नहीं। वस्तुतः श्रोता का शक्तिग्रह तो नियंत्रित अभिधा को ही उद्बुद्ध करने का कारण जान पड़ता है। अपरार्थ की प्रतीति तो उसे ही होती है, जिसने दोनों अर्थों में शब्द का संकेत देखा है।

कुछ पूर्वपक्षी यह भी कहें कि जहाँ दोनों अर्थों की प्रतीति बाधित नहीं हो, वहाँ तो दोनों अर्थ शक्ति ( अभिधा ) से ही प्रतीत हो सकते हैं। लेकिन अप्राकरणिक अर्थ के बाधित होने पर तो वह वाच्यार्थ न हो सकेगा, वहाँ तो वह व्यंग्यार्थ ही होगा। जैसे "जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः" इस वाक्य को ले लें। यहाँ प्राकरणिक अर्थ है— "यह ब्राह्मण जैमिनि मुनि के मीमांसाशास्त्र को जिह्वाग्र पर रखता है।" यहीं इस जुगुप्सित अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी हो रही है:— "यह ब्राह्मण जैमिनि के मल को जीभ पर धारण करता है।" यहाँ यह जुगुप्सित ( द्वितीय ) अर्थ "आग से सींचता है" ( वह्निना सिंचति )

---

१. इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथिलीभवन्त्यामतात्पर्यार्थ विषयशाब्दबुद्धिसंपादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव, शक्त्यैव बोधद्वयोपपत्तेः।

वही पृ० १४१

२. जैसे, 'रुचिं कुरु' में कवि का तात्पर्य अश्लीलता में नहीं है, पर 'चिंकु' पद अश्लीलता की प्रतीति कराता ही है। 'चिंकु' का अर्थ काश्मीरी भाषा में 'योनि' होता है।

की तरह बाधित होने के कारण—इसमें योग्यताभाव होने के कारण—वाच्यार्थ नहीं हो सकता। अतः इस वाक्य का अपरार्थ तो व्यंजना-व्यापारगम्य ही होगा। क्योंकि व्यंजना तो बाधित अर्थ का भी बोध करा देती है।[1]

पंडितराज इस तर्क का उत्तर यों देते हैं। ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ वाच्यार्थ बाधित होता है जैसे "सचमुच पतंजलि के रूप में सरस्वती ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गई है" ( गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतंजलिव्याजात् ) में सरस्वती का पृथ्वी पर उतर आना बाधित अर्थ है। पर यहाँ शाब्दबोध वाच्यार्थरूप ही है। इसी तरह ऊपर के पूर्वपक्षी के वाक्य में भी द्वितीयार्थ वाच्यार्थ ही है। नानार्थस्थल में अप्राकरणिक अर्थ प्रतीति में व्यंजना मानने का प्राचीनों का सिद्धांत शिथिल है।[2]

यहाँ तक हमने पंडितराज के मत के उस अंश को देखा, जहाँ वे प्राचीन ध्वनिवादियों के शब्दशक्तिमूलक ध्वनि संबंधी विचारों से सहमत नहीं। पर काव्य में कुछ ऐसे भी स्थल पंडितराज ने माने हैं, जहाँ वे प्राच्य ध्वनिवादी के मत से संतुष्ट हैं। पंडितराज ने अनेकार्थ स्थलों में रूढ अथवा यौगिक शब्दों के प्रयोग होने पर अप्राकरणिक अर्थ को भी वाच्यार्थ माना है। किंतु योगरूढ अथवा यौगिकरूड शब्दों का नानार्थस्थल में प्रयोग होने पर पंडितराज अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजनाव्यापार ही मानते हैं।[3] इस मत को स्पष्ट करने के लिए वे निम्न उदाहरण देते हैं:—

> अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
> तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

---

१. अथास्त्वप्राकरणिकोऽप्यर्थः शक्तिवेद्य एवान्वयधीगोचरः, परंतु यत्र न बाधितः स्यात्।...............व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्ध इति व्यक्तिवादिनामदोष इति। —वही पृ० १४३

२. तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचां सिद्धान्तः शिथिल एव। —वही पृ० १४४

३. एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धया रूढ्यनभिकरणस्य योगार्थालिंगितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीतिर्दुरुपपादा। —वही पृ० १४४

( १ )—( प्राकरणिक अर्थ ) यह वह वर्षाकाल आ गया है, जब स्त्रियों के समान शोभा वाली बिजलियाँ रात-दिन बादलों के साथ रहा करती हैं।

( २ )—( अप्राकरणिक अर्थ )......जब पुंश्चली स्त्रियाँ कमजोरों के धन का अपहरण कर रात-दिन पानी ढोने वाले ( निम्न ) व्यक्तियों के साथ मौज उड़ाती हैं।

यहाँ प्रथम अर्थ,-बिजली-मेघरूप अर्थ,-की प्रतीति में रूढ शब्द हैं। किंतु पुंश्चली-वारिवाह रूप द्वितीय अर्थ में न तो रूढि ही है न योग ही। बिजली वाले अर्थ में समस्त शब्द की समुदायशक्ति ( रूढि ) ही काम करती है। दूसरे अर्थ में हम अ + बल, वारि + वाह, इस तरह शब्दों का अवयवज्ञान भी प्राप्त करते हैं, साथ ही कुछ में रूढिज्ञान भी। इस दूसरे अर्थ में कोरा अवयवलभ्य अर्थ ही नहीं, जैसा यौगिक शब्दों में होता है। वस्तुतः यहाँ दोनों का सांकर्य है। योग तथा रूढि के संकीर्ण स्थलों में पंडितराज अपरार्थ की प्रतीति व्यंजना से मानते हैं। इसके लिए वे एक संग्रह श्लोक का मत प्रमाण रूप में उपन्यस्त करते हैं:—"योगरूढ शब्दों की योगशक्ति जहाँ ( रूढिर्योगाद्बलीयसी, इस न्याय से ) रूढिशक्ति के द्वारा नियंत्रित हो जाय, वहाँ योग वाले अर्थ की बुद्धि को व्यंजना ही उत्पन्न करती है।"[1]
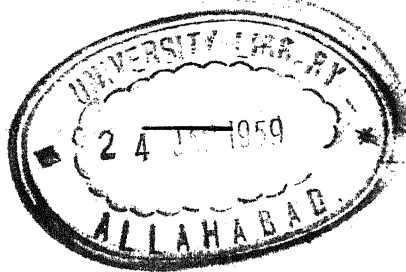


१. योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥

—वही पृ० १४७

# षष्ठ परिच्छेद

## व्यञ्जनावृत्ति ( आर्थी व्यञ्जना )

पिछले परिच्छेद में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कई विद्वान् शाब्दी व्यंजना जैसे भेद को मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मतानुसार व्यंजना सदा आर्थी ही होती है। यही कारण है कि उनमें से कुछ विद्वान् इसी आधार पर व्यंजना के शब्दव्यापारत्व का भी निषेध करते हैं, तथा व्यंजना जैसी शब्दशक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं मानते। साथ ही जब व्यंजना केवल अर्थ का ही व्यापार सिद्ध होता है, तो उसे शब्द व्यापार मानना वैज्ञानिक कहाँ तक माना जा सकता है? ध्वनिवादी इस मत से सहमत नहीं। उनके मत से आर्थी व्यंजना में भी शब्द की सहकारिता अवश्य रहती है। मम्मट ने बताया है कि आर्थी व्यंजना में व्यंग्यरूप अर्थांतर अर्थ की प्रतीति किसी विशेष शब्द के कारण ही होती है। इस अन्यार्थ प्रतीति में सहृदय का प्रमाण वह शब्द ही है। इस लिए आर्थी व्यंजना में अर्थ का व्यंजकत्व होने पर भी शब्द की 'सहकारिता' रहती है।[1] व्यंजना में आर्थी व्यंजना का क्षेत्र विशाल है, यही कारण है कि कुछ विद्वानों को शाब्दी व्यंजना के अनस्तित्व की, तथा शब्द की 'असहकारिता' की भ्रांति हो जाती है। ध्वनिवादी के द्वारा पद, पदांश, वाक्यादि में व्यंजकत्व मानकर ध्वनि के भेदोपभेद का पल्लवन करना शब्द की महत्ता स्पष्ट कर देता है। व्यंजना को शब्दव्यापार न मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

---

१. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता॥
काव्यप्रकाश तृतीय उल्लास का० ३ पृ० ८२

आर्थी व्यञ्जनाः—जिस शब्द या अर्थ में व्यञ्जना पाई जाती है, वह व्यञ्जक कहलाता है। अभिधा तथा लक्षणा से अर्थ बोधित कराने की की शक्ति केवल शब्द में ही होती है, अर्थ में नहीं। किंतु व्यंग्यार्थ को बोधित कराने की शक्ति शब्द तथा अर्थ दोनों में होती है। तभी तो ध्वनिकार के मतानुसार ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ या तो अर्थ अपने आपको गौण बना लेता है, या शब्द अपने आपको या अपने अर्थ को गौण बना लेते हैं।[1] इसके बाद जिस अभिनव अर्थ की प्रतीति इस शब्द के अर्थ के द्वारा होती है वह व्यंग्यार्थ है। इस प्रकार के अर्थ वाला काव्य ही ध्वनि है। इसमें ध्वनिकार अर्थ को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति का साधन मानते हैं। मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जना व्यापार मानते हुए कहा है—"प्रायः सारे अर्थों में व्यञ्जकत्व भी पाया जाता है[2]।" आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सर्वथा अवहेलना नहीं होती। वह भी वहाँ सहकारी रूप में पाया ही जाता है। व्यंजना का शाब्दी या आर्थी भेद प्राधान्य की दृष्टि से किया जाता है। अतः आर्थी व्यञ्जना में शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता रहती है। तभी तो विश्वनाथ ने कहा :—"व्यञ्जना में शब्द व अर्थ में से एक के व्यञ्जक होने पर दूसरा भी सहकारी व्यञ्जक अवश्य होता हैं। शाब्दी में दूसरे अर्थ का आश्रय लेकर ही शब्द व्यंग्यार्थ प्रतीति कराता है, आर्थी में व्यंग्यार्थ प्रतोति करानेवाला व्यञ्जक अर्थ भी किसी शब्द से ही प्रतीत होता है। इस तरह दोनों दशाओं में दोनों ही एक दूसरे की सहायता करते हैं।"[3] किसी शब्द के वाच्य, लक्ष्य-तथा व्यंग्य तीन तरह के अथ होते हैं, अतः जहाँ अर्थ से व्यंग्यार्थ-प्रतीति होगी वहाँ तीन तरह के भेद आर्थी व्यंजना के पाये जायँगे।

---

१. "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ" —(ध्वनिकारिका १)

२. "सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते"

—का० प्र० उ० २, पृ० २८

३. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे स्यादन्यस्य सहकारिता ॥

—सा० द० उ० २, पृ० ९७

( १ ) वाच्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति ( वाच्यसंभवा ), ( २ ) लक्ष्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति ( लक्ष्यसंभवा ), ( ३ ) व्यंग्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति ( व्यंग्यसंभवा ) ।

## ( १ ) वाच्य से व्यंग्य प्रतीति

जिस काव्य में सर्वप्रथम शब्दों का मुख्या वृत्ति से सामान्य अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु मुख्यार्थप्रतीति के बाद प्रकरणादि का पर्यालोचन करने पर उस मुख्यार्थ से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ वाच्यमूला आर्थी व्यंजना होगी, जैसे—

वाच्यसंभवा आर्थी

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं, एमेअ ण वासरो ठाइ ॥
( अंबे फिरि मोहिं कहैगी, कियो न तू गृहकाज ।
कहै सो करि आऊँ अबै मुँदौ चहत दिनराज ॥ )

इस गाथा से सर्वप्रथम साधारण रूप मुख्यार्थ की प्रतीति होती है। किन्तु जब प्रकरण से पता चलता है कि वक्त्री सच्चरित्रा नहीं है, तो फिर 'वह स्वैर विहार करना चाहतीहै'', इस व्यंग्य वस्तु की प्रतीति व्यंग्यार्थ रूप में हो जाती है। यहाँ यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रतीत होने के बाद ही ज्ञात होता है ।

कमल तंतु-सों छीन अरु, कठिन खडग की धार ।
अति सूधो, टेढो बहुरि, प्रेम-पंथ अनिवार ॥
—( रसखानि )

इस दोहे के वाच्यार्थ से प्रेम के विषय में परस्पर विरोधी बातें प्रतीत होती हैं। इसके द्वारा ही "शुद्ध प्रेम अलौकिक वस्तु है, तथा इस मार्ग में साधारण लौकिक व्यक्ति नहीं जा सकता" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

( २ ) लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति :—जहाँ सर्वप्रथम मुख्यावृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु मुख्यार्थबाध के कारण वह अर्थ संगत नहीं बैठता, फिर लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, ऐसे स्थलों में प्रयोजनवती लक्षणा में कोई न कोई प्रयोजन भी होता ही है। अतः उस लक्ष्यार्थ के प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ के साथ ही अपर व्यंग्याथ की भी

लक्ष्यसंभवा आर्थी

प्रतीति वहाँ पाई जाती है। इस प्रकार लक्ष्यसंभवा में क्रमशः तीन अर्थ की प्रतीति होती है। प्रथम क्षण में वाच्यार्थ, फिर मुख्यार्थबाध के कारण लक्ष्यार्थ, तथा फिर प्रकरणादि के ज्ञान के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूणिआसि मज्झकए।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए॥

( मुख्यार्थ ) हे सखि, प्रिय को मनाती हुई, तू मेरे लिए क्षण क्षण दुखी हो रही है। तूने सचमुच सद्भाव तथा स्नेह के उपयुक्त कार्य किया है।

( लक्ष्यार्थ ) सखि, प्रिय को अपने पक्ष में सिद्ध करके तू प्रसन्न हो रही है। तूने मेरे स्नेह तथा मैत्री के उपयुक्त आचरण नहीं किया है। फलतः तूने शत्रुता की है। ( प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ ) तूने बहुत ज्यादा शत्रुता की है। ( अपर व्यंग्यार्थ ) तूने तथा उस नायक ने मेरा अपराध किया है तथा वह प्रकट हो गया है।

इस उदाहरण में दूती का प्रकरण ज्ञात होने पर मुख्यार्थ बाध होने से यहाँ विपरीत लक्षणा से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। तूने मुझसे शत्रुता की है, इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होने पर तुम दोनों का अपराध प्रकट हो गया है, इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ लक्ष्यार्थ का व्यंग्य, तृतीय अर्थ ( व्यंग्यार्थ ) से भिन्न रूप में 'शत्रुत्वातिशय' माना जा सकता है।

लक्ष्यसंभवा आर्थी तथा पूर्वोक्त लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना में क्या भेद है, इसे समझ लेना आवश्यक होगा। मोटे तौर पर तो हम देखते हैं, कि शाब्दी में व्यंग्यार्थ प्रतीति शब्द के ही कारण होती है, जब कि लक्ष्यसंभवा में उसकी प्रतीति अर्थ के कारण होती है। एक के उदाहरण के रूप में हम "गंगायां घोषः" ले लें। यहाँ "गंगायां" हटाकर हम "गंगातटे" कर दें, तो शैत्यपावनत्वादि ( प्रयोजनरूप ) व्यंग्य की प्रतीति न होगी। अतः शैत्यपावनत्वादि गंगा से ही सम्बद्ध होने के कारण उसी शब्द से व्यञ्जित होते हैं। यह लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना है। लक्ष्यार्थमूला में यह व्यंग्यार्थ द्वितीय अर्थ रूप लक्ष्यार्थ से प्रतीत होता है, शब्द से नहीं। इन दोनों के भेद को हम इन दो रेखाचित्रों से व्यक्त कर सकते हैं:—

( १ ) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजया—

शब्द— { —अभिधा—(१) वाच्यार्थ
—लक्षणा —(२) लक्ष्यार्थ
—शाब्दी व्यंजना—(३) प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ }

( २ ) लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

शब्द— { —अभिधा—(१) वाच्यार्थ
—लक्षणा — (२) लक्ष्यार्थ—आर्थी व्यंजना—(४) व्यंग्यार्थ
—शाब्दी व्यंजना—(३ प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ }

इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना में प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति उसी शब्द से होती है, जिससे मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। मम्मट ने इसे स्पष्ट कह दिया है कि "गंगायां घोषः" में "गंगा" शब्द प्रयोजनरूप व्यंग्य शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति करा देने में "स्खलद्‌गति" ( अशक्त ) नहीं है। इस व्यंग्य की प्रतीति वही शब्द करा सकता है। अतः स्पष्ट है कि यह व्यंग्यार्थ शाब्दी व्यञ्जना से ही प्रतीत होता है, जो लक्षणा पर आश्रित है। रेखाचित्र ( १ ) में हम देखते हैं, शब्द का संबंध वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों से हैं। जब कि अर्थों में परस्पर कोई संबंध नहीं है, यदि कोई संबंध माना जा सकता है, तो शब्द के ही द्वारा। लक्ष्यार्थमूला (लक्ष्यसंभवा) आर्थी व्यंजना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द से न होकर लक्ष्यार्थ से होती है। इस पर एक प्रश्न उठता है, क्या यह लक्ष्यसंभवा वाला व्यंग्यार्थ प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ से भिन्न होता है क्योंकि यदि यह वही व्यंग्यार्थ होगा, तो फिर यहाँ भी लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना ही हो जायगी। हमारे मत से लक्ष्यसंभवा में दो व्यंग्यार्थों की प्रतीति आवश्यक है। इनमें एक प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ शब्द से प्रतीत होती है, दूसरा व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से। ऊपर के रेखाचित्र ( २ ) में हमने दो व्यंग्यार्थ बताये हैं। एक का साक्षात् संबंध शब्द के साथ बताया गया है, दूसरे का लक्ष्यार्थ के साथ। ऊपर के लक्ष्यसंभवा के उदाहरण में अर्थ करते समय हमने दो ही व्यंग्यार्थ माने हैं। वहाँ प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ है—"शत्रुत्वातिशय", तथा लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यञ्जित व्यंग्यार्थ है "तूने और उस नायक ने मेरा अपराध किया है, तथा वह प्रकट हो गया है।

कुछ लोग शायद लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना न मानना चाहें, पर हम बता आये हैं कि प्रयोजनरूप व्यंग्य में शाब्दी व्यंजना ही होती है, ऐसा ध्वनिवादियों का मत है।[1]

( ३ ) व्यंग्य से व्यंग्यार्थप्रतीतिः—कभी कभी ऐसा होता है कि सर्वप्रथम मुख्यार्थ प्रतीति होने पर प्रकरणादि से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसके बाद इस व्यंग्यार्थ से फिर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस जगह व्यंग्य-संभवा आर्थी व्यंजना होगी। इस व्यंजना में भी तीन अर्थ प्रतीत होते हैं। कभी कभी प्रथम व्यंग्यार्थ लक्ष्यसंभव भी हो सकता है। इस दशा में द्वितीय व्यंग्यार्थ की प्रतीति चतुर्थ क्षण में होगी। व्यंग्यसंभवा जैसे,

व्यङ्ग्यसम्भवा आर्थी

उअ णिच्चल णिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥

( निहचल बिसनी पत्र पर, उत बलाक यहि भाँति।
मकरत भाजन पर मनों, अमल संख सुभ काँति ॥ )

( मुख्यार्थ ) देखो, कमल के पत्तों पर निश्चल बकपंक्ति इसी तरह सुशोभित है, जैसे निर्मल मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शंख की शुक्ति।

( प्रथम व्यंग्यार्थ ) देखो तो, ये बगुले कितने निर्भय एवं विश्वस्त हैं। [ निश्चल ( निष्पन्द ) से इस प्रथम व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। ]

( द्वितीय व्यंग्यार्थ ) ( १ ) ये बगुले इसलिए निर्भय हैं कि यहाँ कोई व्यक्ति नहीं आता। अतः निर्जन स्थल होने के कारण यह स्थल सहेट ( संकेतस्थान ) है। ( २ ) तुम झूठ कहते हो, तुम यहाँ पहले कभी नहीं आये। यदि तुम पहले आये होते, तो ये बगुले भयरहित न होते।

---

१. लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याप्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥
—सा० द० २।१५ पृ० ९४

इस उदाहरण में 'निष्पन्द' ( निश्चल ) शब्द वाच्यार्थ के बाद 'निर्भयता' को व्यक्त करता है। यह 'निर्भयता' रूप व्यंग्यार्थ 'नदी तीर पर की निर्जनता' को बताता है। इसके बाद निर्जन होने के कारण यह नदी तीर संकेत स्थल है, इस बात को नायिका नायक से कहना चाहती है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रकरण-ज्ञान के बाद ही होती है। इसी गाथा का किसी दूसरे प्रकरण के कारण यह भी अर्थ लिया जाता है कि नायक नदी तीर पर जा चुकने का बहाना बनाता है। वह कहता है "मैं यहाँ पहले आ चुका हूँ, तुम नहीं आई थी।" इसका उत्तर इस उक्ति से देकर नायिका यह व्यंजित करना चाहती है कि वह झूठ बोल रहा है, वास्तव में वह पहले नहीं आया था। यदि वह पहले आया होता, तो बगुले इतने शान्त भाव से कमल के पत्तों पर न बैठे रहते।

सन सूख्यो, बीत्यो बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी हरी, अरहरि अजौं धर धरहरि हिय नारि॥ (बिहारी)

इसमें 'अरहर का हरा होना' इस वाक्य से 'अरहर की सघनता' व्यंजित होती है। सघनता पुनः सकेतस्थल को यंजित करती है। सन को सूखा हुआ, तथा कपास को चुना हुआ देखकर म्लानमुख नायिका से सान्त्वना देती हुई सखी कह रही है। "अभी तेरे लिए उपपति से मिलने का पर्याप्तस्थल है। अतः शोक करने की आवश्यकता नहीं। पहले सन के खेत तथा कपास के खेत सहेट थे, अब तो उनसे भी अधिक सघन अरहर के खेत मौजूद हैं।" यहाँ यह जान लेना आवश्यक होगा कि अन्य पौधों की अपेक्षा अरहर विशेष सघन होता है। वह ऊपर से खूब फैला होता है, किन्तु नीचे से बहुत कम स्थान घेरता है।

अर्थव्यंजकता के साधनः—जैसा कि हम पहले बता आए हैं, व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए प्रकरणज्ञान अत्यधिक आवश्यक है। इसी प्रकरण ज्ञान को कई वस्तुओं से सम्बद्ध माना गया है। इन्हें हम अर्थ व्यंजकता के साधन मान सकते हैं। वक्ता, बोद्धव्य ( जिससे कहा जा रहा है ), काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि ( वक्ता तथा बोद्धव्य व्यक्ति से भिन्न व्यक्ति का समीप होना ), प्रस्ताव, देश, काल, आदि के वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यंग्यार्थ प्रतीति

अर्थव्यंजकता के साधन

होती है। यह अर्थ प्रतीति किसी दूसरे अर्थ के द्वारा होती है तथा इसकी प्रतीति में व्यंजना व्यापार पाया जाता है।[1] ऊपर प्रयुक्त 'आदि' शब्द से यह तात्पर्य है कि चेष्टा भी अर्थव्यञ्जक होती है।[2] जैसा कि आर्थी व्यञ्जना के इन साधनों के विषय में ऊपर कहा गया है, व्यंग्यार्थ प्रतीति प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही होती है। वाच्यार्थ की प्रतीति के लिए केवल शब्दार्थज्ञान की ही आवश्यकता होती है। दार्शनिक ग्रन्थों को समझने के लिए पांडित्य अपेक्षित होता है, किन्तु काव्य में व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये पाण्डित्य उतना अपेक्षित नहीं जितनी प्रतिभा। यह प्रतिभा क्या है? पुराने जन्म में विश्वास करनेवालों के मतानुसार प्रतिभा पुराने जन्मों का संस्कार है, जिसके कारण काव्य की रचना तथा अनुशीलन हो सकता है। यह प्रतिभा कवि तथा पाठक (सहृदय) दोनों के लिए आवश्यक है। पाण्डित्य के अभाव में भी व्यक्ति प्रतिभाशाली हो सकता है। प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही "सहृदय" भी कहा जाता है। जिन व्यक्तियों का मनो-मुकुर काव्य के अनुशीलन तथा अभ्यास के कारण स्वच्छ हो जाता है, तथा जिन व्यक्तियों में काव्य के वर्ण्य विषय में तन्मय होने की क्षमता होती है, वे ही लोग 'सहृदय' होते हैं।[3] सहृदयता का कारणभूत काव्याभ्यास इसी जन्म का हो, इस विषय में ध्वनिवादी विशेष जोर नहीं देते। वे तो पुराने जन्म के काव्यानुशीलन के कारण वासना रूप में स्थित प्रतिभा को भी सहृदयता मानते हैं। पुराने जन्म में विश्वास न करने वाले प्रतिभा को इसी जन्म के सामाजिक वातावरण से उद्बुद्ध चेतना का विकास मानेंगे। यह स्पष्ट है कि जिन लोगों में प्रतिभा जैसा संस्कार

---

१ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादे वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥
—का० प्र० उ० ३. का २१-२२, पृ० ७२

२ आदिग्रहणाच्चेष्टादेः। —का० प्र० वही, पृ० ७६.

३ येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।
—लोचन पृ० ३८ (चौ० सं० सी० सं०)

वासनारूप में स्थित है, वे ही काव्यालोचन के आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं। इन्हीं व्यक्तियों को वक्त्रादिवैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है।

( १ ) वक्तृवैशिष्ट्यः—यहाँ मुख्यार्थज्ञान के साथ ही साथ हमें उस वाक्य के वक्ता का ज्ञान होता है। वक्ता के स्वभाव से मुख्यार्थ का ठीक मेल नहीं मिलता। तब हमें उसके स्वभाव के ज्ञान से एक दूसरे अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति भी हो जाती है, जैसे,

वक्तृवैशिष्ट्य

अइपिहुलं जलकुम्भं घेत्तूण समागदम्हि सहि तुरिअम्।
समसेदसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम्॥
( अति भारी जलकुंभ लै आई सदन उताल।
लखि स्रमसलिल उसास अलि कहा बूझति हाल॥ )

इस पद्य में वक्त्री नायिका के चरित्रादि के विषय में ज्ञान होने पर सहृदय को यह व्यंग्यार्थप्रतीति हो ही जाती है कि यह उपनायक के साथ की गई केलि को छिपाना चाहती है।

फेंकता हूँ मैं तोड़-मरोड़ अरी निष्ठुर वीणा के तार।
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव हुङ्कार॥
नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल॥

( दिनकर )

यहाँ कवि स्वयं ही वक्ता है। वह क्रान्ति के युद्ध में शंख फूँक रहा है, तथा क्रान्ति में कूदने की इच्छा कर रहा है, यह वाच्यार्थ है। इसी वाच्यार्थ से देश तथा समाज की वर्तमान परिस्थिति से वह असन्तुष्ट है तथा इस स्थिति का विध्वंस कर देना चाहता है, यह व्यंजना हो रही। यह व्यंग्यार्थप्रतीति तभी होगी जब कि एक बार कवि की परिस्थिति तथा उसके स्वभाव का पता लग गया है।

( २ ) बोद्धव्यवैशिष्ट्यः—जहाँ बोद्धव्य (जिससे वाक्य कहा जा रहा है) व्यक्ति का स्वभाव जानकर सहृदय व्यंग्यार्थ की प्रतीति कर लेता है, वहाँ बोद्धव्य वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थप्रतीति का कारण होता है। जैसे,

बोद्धव्यवैशिष्ट्य

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मम मंदभाइणीए केरं सहि अहह तुह वि परिहवइ॥
(चिंता, जृंभं, उनींदता, विह्वलता, अलसानि।
लह्यौं अभागिनि हौं अली, तैहुँ गही सोइ बानि॥)

इस दोहे में बोद्धव्य नायिका की सखी है, जिसने नायिका के विरुद्ध आचरण किया है। सखी के कुलटात्वरूप स्वभाव का पता लगने पर सहृदयों को नायकसंबद्ध सखी की सदोषता व्यंजित हो जाती है।

(३) काकु वैशिष्ट्यः—जहाँ गले के स्वरभेद से ही व्यंग्यार्थ-प्रतीति होती हो, वहाँ काकुवैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ का कारण है। जैसे,

काकुवैशिष्ट्य

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देश मुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नेष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ॥
(गुरुजन कौ परतन्त्र ह्वै दूर देश को जात।
अलि, अलिकोकिलमधुसमय माँ पिय क्यों ना आत॥)

यहाँ 'क्यों ना आत'' काकु से "अवश्य आयगा'' इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

काकु वैशिष्ट्य से व्यञ्जित आर्थी व्यञ्जना का दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण यह है :—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥

यह वेणीसंहार नाटक में सहदेव के प्रति भीमसेन की उक्ति है। जब सहदेव कहता है कि युधिष्ठिर कभी कभी (कौरवों पर) खिन्न होते भी हैं, तो भीमसेन प्रश्न करता है कि गुरु खेद करना भी जानते हैं? और इसी उक्ति के बाद वह इस पद्य में पूर्वानुभूत दीन दशा का वर्णन करता है, जिसके कारण कौरव ही हैं।

राजाओं की सभा में पाञ्चाल राजतनया द्रौपदी की वैसी दशा देखकर—दुःशासन के द्वारा उसे विवस्त्र किया जाता देखकर, हम

पाण्डवों को वल्कलधारी जंगली शिकारियों के साथ बड़े काल तक वन में निवास करते देखकर, तथा अनुचित रूप से छिप-छिपकर विराट के राज्य में टिकना देखकर, पूज्य युधिष्ठिर उन सब बातों से दुखी मेरे ही ऊपर खेद करते हैं, वे अब भी कौरवों के प्रति खेद नहीं करते हैं क्या ?

यहाँ 'न' के प्रयोग में काकु है, और इससे वाक्य की प्रश्नरूपता व्यञ्जित हो रही है। यह प्रश्न रूप काकु वाच्यार्थ का पोषक व्यंग्य है। तदनन्तर इससे "पूज्य युधिष्ठिर का मेरे प्रति क्रोध करना अनुचित है, कौरवों के प्रति ही उचित है, अतः वे विपरीताचरण कर रहे हैं", इस व्यंग्य की प्रतीति होती है।

इस संबंध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। ध्वनिवादी ने गुणीभूत व्यंग्य के भेदों में भी काकु वाला एक भेद माना है--काक्वाक्षित।[1] उस भेद से इस ऊपर वाले काकुवैशिष्ट्य में कोई अन्तर है या नहीं ? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर मम्मट कहते हैं कि "ऐसे स्थलों पर काकु वाच्यार्थ की शोभा बढ़ाने वाला (वाच्य-सिद्धय्ंग ) है, अतः गुणीभूतव्यंग्य है, यहाँ ध्वनिकाव्य नहीं है, ऐसी शंका करना व्यर्थ है। काकु ( गले की विशेष प्रकार की आवाज ) से व्यंजित प्रश्न से ही वाच्यार्थ विश्रान्त हो जाता है।"[2] भाव यह है कि जहाँ वाच्यार्थ पूर्णतः समाप्त हो, वहाँ बाद में प्रतीत अर्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग नहीं माना जा सकता। अतः ऐसे स्थलों में वही चमत्काराधायक होगा। यदि वाच्यार्थ विश्रान्त न हो सके और फिर काकु उसे पूर्ण कर सके, तो वह काकु वाच्यसिद्धि का अंग--वाच्यार्थ शोभाविधायक—होने से गुणीभूत व्यंग्य का कारण होगा।

---

१ गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुंदर नहीं होता, अपितु वह वाच्य की ही शोभा बढ़ाने वाला होता है। इसके ८ भेद होते हैं इन्हीं में एक काक्वाक्षिप्त है।

२ न च वाच्यसिध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यंग्यत्वं शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेणापिकाकोर्विश्रान्तेः॥

—का० प्र० तृतीय परिच्छेद पृ० ७४–७५ ( प्रदीप वाला पूना सं० )

अब हमारे सामने तीन चीज आती हैं:—(१) काकुवैशिष्ट्य अर्थव्यंजकता, (२) वाच्यसिद्ध्यंग (३) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य। इन तीनों चीजों के परस्पर भेद को देख लेने पर ही हमारी यह समस्या सुलझ सकेगी। पहले हम वाच्यसिद्ध्यंग ले लें। ध्वनिवादी ने गुणीभूतव्यंग्य के ८ भेदों में से एक भेद वाच्यसिद्ध्यंग माना है। क्या मम्मट की ऊपर उद्धृत वृत्ति का इसी वाच्यसिद्ध्यंग से मतलब है? पर इस वाच्यसिद्ध्यंग का तो काकु से कोई संबंध नजर नहीं आता। क्योंकि वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यंग्य वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्यार्थ काव्य के वाच्यार्थ की सिद्धि करे। उदाहरण के लिए निम्न पद्य ले लें।

> भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम्।
> मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

बादल रूपी सर्प से उत्पन्न जल रूपी जहर (विषरूपी विष) बलपूर्वक वियोगिनियों में चक्कर, जी का उचटना, आलस्य, प्रलय, मूर्छा, आँखों के सामने अँधेरा आना, शरीर का सुन्न हो जाना और मरना, इन इन चिन्हों को पैदा करता है।

यहाँ 'विष' शब्द से जहरवाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। 'विष' वाले जलरूप अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण होने से यह व्यञ्जना व्यापारगम्य है। यह विष रूप व्यंग्यार्थ 'जलद रूपी सर्प' वाले वाच्यार्थ का ही पोषक है। क्योंकि 'विष रूपी विष' वाला अर्थ लेने पर ही रूपक ठीक बैठेगा, नहीं तो यहाँ उपमा अलंकार हो जायगा।[1]

---

१ भाव यह है कि जलद को सर्प बनाने के लिए जल को जहर बनाना जरूरी हो जाता है। इस तरह जलद पर सर्प का आरोप (जलद एव भुजगः) तथा विष पर विष (विषमेव विषं) का श्लिष्ट आरोप होने पर सर्प व विष की प्रधानता हो जाती है। यदि 'जलदः भुजग इव' इस तरह उपमित समास मानकर उपमा मानी जायगी तो मूर्छा, प्रलय, शरीर का सुन्न होना आदि क्रियाएँ ठीक न बैठ पायँगी, जो रूपक मानने पर ही ठीक बैठेंगी। अतः यहाँ रूपक ही है और और फिर जहर वाला व्यंग्यार्थ रूपक रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग हो जाता है। अतः अतिशय चमत्कार वाच्य रूप अर्थ में ही रह जाता है।

यहाँ कवि को रूपक ही अभीष्ट है यह 'कुरुते' क्रिया के तत्तत् कर्मों—चक्कर आना, मूर्छा होना, शरीर सुन्न पड़ना—से स्पष्ट है।

इस वाच्यसिद्ध्यङ्ग से काकु वैशिष्ट्य का कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता। अतः इसका निषेध करना व्यर्थ होगा। तो, मम्मट का अभिप्राय वृत्ति के "वाच्यसिद्ध्यंगं" पद से क्या था? वस्तुतः मम्मट ने इस शब्द का प्रयोग यहाँ "गुणीभूतव्यंग्य के एक भेदविशेष" के लिए पारिभाषिक रूप में न कर, सामान्य अर्थ में ही किया है। मम्मट का तात्पर्य "वाच्यार्थ की शोभा का निष्पादक" से है। गोविन्द ठक्कुर ने भी इसकी टीका में—"वाच्यस्यसिद्धिः शोभनत्वनिष्पत्तिः" ही लिखा है।

अब हमें काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य तथा काकुवैशिष्ट्यजनित आर्थी व्यञ्जना का अन्तर देखना होगा।

काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य वहाँ होगा, जहाँ उक्ति की वाच्यार्थ प्रतीति अपूर्णरूप से हुई हो, और काकु से प्रतीत अर्थ उस वाच्यार्थ को पूर्ण कर दे। इस तरह वह काकु जनित व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होकर गुणीभूत बन जाता है। यही कारण है कि वह ध्वनि नहीं हो पाता। क्योंकि ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक नहीं होता, अपितु स्वयं वाच्यार्थ के द्वारा उपस्कृत होता है। काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य का निम्न उदाहरण ले लिया जायः—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिवाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

यह भी वेणीसंहार में भीमसेन की उक्ति है। भीमसेन ने सौ कौरवों को मारने की, दुःशासन का खून पीने की, तथा दुर्योधन की जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा पहले ही कर रक्खी है। जब युधिष्ठिर पाँच गाँव पर ही कौरवों से संधि करने को तैयार हैं, तो भीम कहता है। क्या मैं गुस्से से युद्धस्थल में सौ कौरवों को न मारूँ? क्या मैं दुःशासन के वक्षःस्थल से रुधिर न पिऊँ? क्या मैं गदा से दुर्योधन की जाँघों को न तोड़ूँ? तुम्हारे राजा ( किसी भी ) शर्त पर संधि करते रहें।

यहाँ "क्या मैं......न मारूँ" यह वाच्यार्थ पूर्ण नहीं है। वस्तुतः भीम को अभीष्ट यह है कि अपनी प्रतिज्ञा मैं कैसे छोड़ दूँ। यह वाच्यार्थ तभी पूर्ण होता है, जब काकुजनित व्यंग्यार्थ "अर्थात् जरूर मारूँगा" "जरूर पिऊँगा" तथा "जरूर तोड़ूँगा" की प्रतीति होकर वह उस वाच्यार्थ के अपूर्ण अंश को पूर्ण कर देती हैं। अतः यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक हो जाता है।

काकुवैशिष्ट्यजनित आर्थी व्यञ्जना में यह बात नहीं है। वस्तुतः वहाँ वाच्यार्थ पूर्ण होने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि इन स्थलों पर दो व्यंग्यार्थों की प्रतीति होगी। काकु से जनित प्रश्न रूप व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होगा, तदंश में गुणीभूतव्यंग्यत्व होगा। तदनंतर प्रतीत द्वितीय व्यंग्यार्थ में ध्वनित्व ही होगा। "गुरुःखेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु" में "न" के काकु के कारण पहले प्रश्न रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह वाच्यार्थ का उपस्कारक है, तदनन्तर प्रतीत "मेरे प्रति क्रोध करना अनुचित है, कौरवों के प्रति क्रोध करना उचित है", यह व्यंग्यार्थ ध्वनित्व का ही निष्पादक है।[1] "मथ्नामि" आदि पद्य में यह बात नहीं पाई जाती।

(४) वाक्यवैशिष्ट्यः—यहाँ प्रयुक्त वाक्य के वैशिष्ट्य से ही व्यंग्यार्थ प्रतीत होती है, जैसे,

वाक्यवैशिष्ट्य

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अणत्तो।
एण्हि सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठि॥
(मो कपोल तैं अनत नहिं तब फेरत तुम दीठि॥
हौं वा ही, सुकपोल वे, पर न तोर वा दीठि॥)

इस वाक्य से "जब मेरी सखी का प्रतिबिंब मेरे कपोल पर पड़ रहा था, तब तो तुम उसे ध्यान से देख रहे थे, पर अब उसके चले

१ नञ्काक्वैव सहदेवगुरोः सुभगं तदाशयाभिज्ञं भ्रातरं त्वां पृच्छामि गुरु दीने खिन्ने मयि खेदं भजति विरुद्धकारिषु कुरुषु नेत्येवं वाक्यार्थसिद्धौ तामेव प्रश्नव्यञ्जिकां काकुं सहकारिणीमासाद्य वाक्यार्थे मयि न योग्य इत्यादिरूपमनौचित्यं भीमक्रोधप्रकर्षतया वाच्यादपि चमत्कारि व्यञ्जयतीति तद् हृदयम्॥ —उद्योत पृ० ७५

जाने पर तुम्हारी दृष्टि और ही प्रकार की हो गई है", इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यहाँ नायक का कामुकत्व व्यक्त होता है। अथवा जैसे निम्न दोहे में—

रही रावरी भौंर लौं हम पर दीठि दयाल।
अब न जानियत साँझ लौं, कत कीन्हों रंग लाल॥

इस दोहे में "भौंर लौं हम पर दीठि दयाल" इस वाक्य से 'अब तुम्हारी कृपा नहीं है" यह अर्थ प्रतीत होता है। इससे नायक की अन्यासक्ति व्यंजित होती है।

( ५ ) वाच्यवैशिष्ट्यः—कहीं कहीं वाच्यवैशिष्ट्य ( मुख्यार्थ की विशिष्टता ) के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है।

वाच्यवैशिष्ट्य

वाक्यवैशिष्ट्य में व्यंग्यार्थ प्रतीति का प्रमुख साधन वाक्य ही होता है, जब कि वाच्यवैशिष्ट्य में व्यंग्यप्रतीति का मुख्य साधन वाच्यार्थ होता है। जैसे निम्न उदाहरण में,

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुंजोत्कर्षांकुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।
किं चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता,
येषामग्रे सरति, कलिताकाण्डकोपो मनोभूः।

हे प्रिये, देखो, इस नर्मदा के तीर पर सरस कदली की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही हैं। इस तीर के कुंज को देखते ही कामिनियों में विलास अंकुरित हो उठता है। यहाँ सुरत क्रीडा में सहायता पहुँचाने वाले ( सुरत के मित्र ) वायु चला करते हैं। इन वायुओं के आगे आगे, बिना कारण क्रुद्ध कामदेव चला आ रहा है।

इसमें मुख्यार्थ से ही नायक की केलि की अभिलाषा व्यंजित हो रही है। इस उदाहरण में केवल वाच्यवैशिष्ट्य ही न होकर देशवैशिष्ट्य तथा कालवैशिष्ट्य भी है। नर्मदा का सरसकदलीशोभित तट तथा मन्द पवन का वहन भी तत्तद्वैशिष्ट्य के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति में सहायक हो रहे हैं।

धाम घरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज॥ ( बिहारी )

इसमें वाच्य, देश ( यमुनातीर ), काल ( दुपहरी ) के वैशिष्ट्य से नायिका के इस वचन से सहृदयों को उसके 'क्रीडाभिलाष' की व्यंजना हो ही जाती है। शुद्ध वाच्यवैशिष्ट्य का उदाहरण यह ले सकते हैं:—

मधुमय वसंत जीवन वन के बह अंतरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में॥
कब तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थी॥
( कामायनी काम )

इस पद्यांश में पहले मुख्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यह वाच्यार्थ "मनु के मन में अज्ञात रूप से काम का उदय हो गया है तथा काम के प्रथमाविर्भाव से उसका मन उल्लासित हो उठा है" इस व्यंग्य की प्रतीति कराता है।

( ६ ) अन्यसन्निधिवैशिष्ट्यः—कभी २ वक्ता तथा बोद्धव्य व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के पास में खड़े होने का ज्ञान हो जाने पर ही सहृदय को व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो पाती है। जैसे,

अन्यसन्निधि

णोल्लेइ अणण्णमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण वि होइ बीसामो॥
( घर के सारे काज में प्रेरित करती सास।
कबहुँ एक न खनसाँझ माँ कबहुँ न पाती साँस॥ )

यहाँ यह वाक्य किसी सखी या पडोसिन से कहा जा रहा है। वैसे वाक्य का लक्ष्य पास में निकलता हुवा उपनायक है। यह जानने पर कि पास से उपनायक निकल रहा है, सहृदय "संध्या समय संकेत काल है" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति कर लेगा।

घर के सब न्यौते गये अली अँधेरी रात।
हैं किवार नहिं द्वार में, ताते जिय घबरात॥

यहाँ भी अन्य सन्निधि का ज्ञान होने पर सहृदय को व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो ही जायगी। नायिका नायक को संकेत करना चाहती है कि दरवाजा खुला ही रहता है, घर में कोई नहीं है, अतः निर्बाध चले आओ।

( ७ ) प्रस्ताववैशिष्ट्यः—कभी कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति वक्ता के प्रस्ताव से भी हो जाती है, जैसे,

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वंजुलकुञ्जमञ्जु
दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ॥

हे सखि, वसन्त का समय है और यह कामदेव कुपित हो रहा है। रतिखेद को हटाने वाला पवन मंद मंद चल रहा है। यह वेतस के कुञ्जों की रमणीय क्रीड़ावाटिका भी है। किन्तु पति दूर पर है। बता, आज क्या करें ?

इसमें नायिका सखी के सम्मुख "आज क्या करे" इस प्रस्ताव को रखती है। इससे उपपति-आनयनरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस पद्य में वक्ता, देश, काल, तथा प्रस्ताव इन सभी का वैशिष्ट्य पाया जाता है।

सजि सिंगार सब साँझ ही, समय रूप लखि नैन।
चारु चंद्रकर मिस मदन बरसत भोगिन चैन ॥

इस प्रस्ताव से 'अभिसरण' रूप व्यंग्य की प्रतीति होती है।

( ८ ) देशवैशिष्ट्यः—कभी कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति देश के ज्ञान से भी हो जाती है, जैसे,

सागर-तीर लतान की ओट अकेली इतै डगरी डरी आली।
हौं इत हाल न जान्यौं कछू लछिराम जू बामी करार विसाली ॥
तू भजै फेरि न आइयो घाट घरीक मैं ह्वै है प्रकास फनाली।
भोर ही भूलि भरी भभरी फिरै, गागर में परी नागिनि काली ॥
—( लछिराम )

यहाँ सागर के निकट संकेतस्थल से नायिका सखी को सर्प का डर दिखाकर हटाना चाहती है।

( ९ ) काल विशेषः—कभी कभी व्यंग्यार्थ प्रतीति काल के ज्ञान से भी होती है, जैसे,

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यो जल मोर नचै गिरि तैं मतवारे।
चंचला त्यों चमकै लछिराम चढ़ै चहुँ औरन तैं घन कारे ॥

जान दे बीर बिदेस उन्हें कछु बोल न बोलिए पावस प्यारे :
आइहैं ऊबि घरी मैं घरै घनघोर सों जीवनमूरि हमारे ॥
—( लछिराम )

इसमें पावस समय के ज्ञान से कामोद्दीपन की व्यंजना हो रही है।

छकि रसाल सौरभ सने मधुरमाधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत भौंर-झौंर मधु अंध ॥ ( बिहारी )

इसमें शृंगार का उद्दीपन व्यंग्य है।

मधु बरसती विधु किरन हैं काँपतीं सुकुमार।
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधुभार ॥
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर प्राण ?
( कामायनीः वासना )

इन पंक्तियों से मनु की वासना तथा क्रीडाभिलाष व्यंजित हो रहे हैं

चेष्टा

( १० ) चेष्टाः—व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले तत्त्वों में चेष्टा का भी प्रमुख हाथ है। हम बता चुके हैं कि इन दस तत्त्वों में से किसी एक का भी ज्ञान होने पर सहृदय को व्यंग्यार्थ प्रतीति हो जाती है। कभी कभी एक से अधिक भी व्यञ्जक पाये जा सकते हैं, यह हम देख चुके हैं। जहाँ केवल चेष्टा होगी, वहाँ वह चेष्टा भी निहित भावरूप व्यंग्यार्थ का बोध करायगी। चेष्टा के भावव्यञ्जकत्व के विषय में पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों विद्वानों ने विचार किया है। चेष्टाएँ वस्तुतः अर्थव्यक्ति के प्रतीक ( Symbol ) ही हैं, जो ध्वन्यात्मक प्रतीकों ( शब्दों ) से भिन्न हैं। पतञ्जलि ने एक स्थान पर चेष्टाओं को भावों का व्यञ्जक या अर्थ-बोधक माना है। वे कहते हैं:—"कई भाव शब्दों के प्रयोग के विना भी व्यक्त किये जा सकते है,जैसे अक्षिनिकोच या हस्तसंचालन से।"[1] वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने

१. अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं भावोऽर्था गम्यन्तेऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। ( महाभाष्य २. १. १. )

चेष्टादि में अर्थव्यञ्जकता तो मानी है, पर वे चेष्टा तथा अपभ्रंश शब्दों को एक ही कोटि में रखते हैं। उनके मत से इन दोनों के द्वारा साक्षात् रूपसे अर्थ-प्रत्यायन न होकर गौण रूप से ही होता है।[1] गङ्गेश चेष्टादि की तुलना लेखन से करते हैं। उनका मत है कि अर्थों का आवश्यक संबंध ध्वनियों से ही होता है। शिक्षा ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि चेष्टा का वैदिक भाषा में बड़ा महत्त्व था। इसका प्रयोग स्वर के आरोहावरोह के द्योतन किया जाता था। पाणिनि शिक्षा में तो एक स्थान पर अशुद्ध चेष्टाओं के प्रयोग को अशुद्ध उच्चारण के समान हानिकारक माना है।[2] इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि चेष्टा से अर्थ या भाव की प्रतीति प्राचीन विद्वानों ने भी मानी है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के साधनों में चेष्टा भी एक है, जैसे।

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।
आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते"

'ज्योंही मैं द्वार के समीप से निकला, उस सौन्दर्यमयी नायिका ने अपनी जांघों को फैलाकर वापस एक दूसरे से सिकोड़ लिया; सिर के वस्त्रको आगे खींचा, चंचल नेत्रों को नीचे गिरा दिया, बातचीत करना बन्द कर दिया, तथा अपने हाथों को एक दूसरे से समेट लिया।'

इस उदाहरण में जांघों का सिकोड़ना, सिर के आंचल का आगे खींचना, चंचल नेत्रों का नीचे डालना, वाणी का निवारण, तथा हाथों का समेटना तत् तत् व्यंग्य की प्रतीति कराते हैं। सहृदय को इन चेष्टाओं से "शाम के समय जब कोई शोरगुल न हो, चुपचाप छिपे आ जाना। मैं आलिंगन का परितोषिक दूँगी" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो ही जाती है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि ये

१. अक्षिनिकोचादिवद् अपभ्रंशा अपि साधुप्रनाडिकयार्थं प्रत्यायन्ति। ( वा. प. टीका. १. १५१ )

२. देखिये—कात्यायनप्रातिशाख्य १. १२१-५; व्यासशिक्षा २२०; पाणिनिशिक्षा ५४.

चेष्टाएँ बाहर से ऐसी जान पड़ती हैं मानों वह नायिका पर-पुरुष को देखकर लज्जा कर रही है।

कन्त चौक सीमन्त में बैठी गाँठ जुराय।
पेखि परोसी को पिया घूँघट मैं मुसकाय॥ ( मतिराम )

किसी नायिका का सीमंत संस्कार हो रहा है। वह अपने पति के साथ गठबंधन करके मण्डप में बैठी है। संस्कार को देखने के लिए एक पड़ोसी भी आया है। उसे देखकर वह घूँघट में मुसकुरा देती है। यहाँ उस पड़ोसी को देखकर नायिका का 'मुसकुराना' यह चेष्टा एक गूढ़ व्यंग्य की प्रतीति कराती है। यह प्रकरण ज्ञात होने पर कि नायिका सच्चरित्रा नहीं है, तथा वह पड़ोसी उसका उपपति है, 'मुसकुराने' के व्यंग्यार्थ को जानने में विलंब न होगा।

व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा प्रत्येय प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) तीनप्रकार का माना जाता है:—वस्तु रूप, अलङ्काररूप तथा रस रूप। इन्हीं को आचार्य रामचंद्र शुक्ल वस्तु-व्यञ्जना, अलंकार-व्यञ्जना तथा भावव्यञ्जना कहते हैं। जहाँ किसी वस्तुमात्र की व्यंजना हो, वह वस्तुरूप व्यंग्य है। जहाँ अलंकार की व्यंजना हो, वह अलंकाररूप व्यंग्य है। तथा जहाँ रस या भाव की व्यंजना हो, वह रसरूप व्यंग्य है। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि व्यंग्यार्थ प्रतीति में सर्व प्रथम सदा वाच्यार्थ-प्रतीति होती है। वाच्य अर्थ की अवहेलना कदापि नहीं होगी। वाच्यार्थ ज्ञान के बाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। ऊपर के तीन प्रकार के अर्थों में वस्तु रूप तथा अलंकार रूप अर्थ सदा व्यंग्य ही होते हों, ऐसा नहीं है। ये वाच्यरूप में भी काव्य में उपात्त हो सकते हैं, जैसे स्वभावोक्ति में, तथा उपमा आदि में। किन्तु रस रूप अर्थ सदा व्यंग्य ही होता है, क्योंकि उसकी प्रतीति किसी भी दशा में वाच्य रूप में नहीं होती। रस शब्दों द्वारा अभिहित न होकर, विभावादि के द्वारा व्यञ्जित होता है। यहाँ इन तीनों प्रकार के व्यंग्यों का उदाहरण दे देने से विषय और स्पष्ट हो जायगा।

व्यंग्य के तीन प्रकार

( १ ) वस्तु-व्यञ्जनाः—जैसे,

सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती।
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती॥

क्षितिजभाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से।
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती ॥
( कामायनीः स्वप्न सर्ग )

इसमें एक साथ दो दो वस्तुओं की व्यंजना हो रही है—एक ओर सन्ध्या की लालिमा धीरे धीरे नष्ट होती जा रही है, तथा रात्रि का अन्धकार बढ़ रहा है, इस वस्तु की व्यंजना हो रही है। इस प्रकार 'स्वप्न' सर्ग की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृतिचित्रण यहाँ कवि का प्रथम अभीष्ट है। किन्तु इन्हीं पंक्तियों से मनु के चले जाने के बाद श्रद्धा की विरह-व्याकुल अवस्था की व्यंजना हो रही है। ठीक इसी सर्ग में बाद में वर्णित श्रद्धा की विरह व्यथा की व्यंजना इस पद्य से हो रही है।

( २ ) अलंकार-व्यञ्जनाः—जैसे,

अति मधुर गंधवह बहता परिमल बूँदों से सिंचित।
सुख स्पर्श कमलकेसर का कर आया रज से रंजित ॥
जैसे असंख्य मुकुलों का मादन विकास कर आया।
उनके अछूत अधरों का कितना चुंबन भर लाया ॥
( कामायनीः आनंद सर्ग )

यहाँ "जैसे असंख्य मुकुलों का मादन विकास कर आया" इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यरूप में कहा गया है। यही उत्प्रेक्षा अलंकार पवन के ऊपर कामी नायक के व्यवहार के आरोप की व्यञ्जना कराता है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार व्यंग्य है।

( ३ ) रसव्यञ्जनाः—जैसे,

नैना भये अनाथ हमारे।

मदनगोपाल वहाँ ते सजनी, सुनियतु दूरि सिधारे ॥
वै हरि जल, हम मीन बापुरी, कैसे जिवहि नियारे।
हम चातक चकोर स्याम-घन, वदन सुधा नित प्यारे ॥
मधुबन बसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे।
सूर स्याम कीनीं पिय ऐसी, मृतकहुँ तें पुनि मारे ॥
( सूरदास )

इस पद में गोपिका के विप्रलंभ शृंगार रूप रस की व्यंजना हो रही है। अथवा,

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥ ( बिहारी )

इस दोहे में 'वा' पद के महत्त्व के कारण वाच्यार्थ से सर्वप्रथम 'स्मृति' रूप संचारिभाव की व्यंजना होती है। उसके बाद यह संचारिभाव कृष्ण के प्रति गोपी के रतिभाव को व्यंजित करता हुआ विप्रलंभ की प्रतीति कराता है।

ध्वनि और व्यंजना का भेद.

इसी संबंध में व्यञ्जना, व्यंग्य तथा ध्वनि के परस्पर भेद को समझ लेना आवश्यक है। व्यञ्जना तथा व्यंग्य का तो परस्पर कार्य-कारण संबंध है, इसे हम जानते ही हैं। किन्तु यह ध्वनि क्या है ? वैयाकरणों के मतानुसार ध्वनि वह अखण्ड तथा नित्य शब्द है, जो स्फोट ( शब्दब्रह्म ) को व्यंजित करता है। इसी आधार पर व्यञ्जना व्यापार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को द्योतित कराने वाला काव्य, साहित्यिकों के मतानुसार, ध्वनि कहलाता है। यद्यपि इस दृष्टि से 'ध्वनि' वस्तुतः उस काव्य की पारिभाषिक संज्ञा है, जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है, तथापि प्रतीयमान अर्थ से युक्त समस्त काव्य ध्वनि नहीं कहलाते। केवल वे ही काव्य ध्वनि हैं, जिनमें शब्द तथा वाच्य अर्थ अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हैं।[1] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि जहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराना हो, उस काव्य को ध्वनि कहा जायगा। इस दृष्टि से वे काव्य जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति वाच्यार्थ से उत्कृष्ट नहीं, तथा जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हैं; एवं वे काव्य जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति महत्त्व नहीं रखती, ध्वनि के अन्तर्गत नहीं आते। इसीलिए ध्वनिकार के

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
— ध्वन्यालोक १. १२.

गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र काव्य को ध्वनि से अलग माना है।[1] दूसरे स्थान पर उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा भी कहा है—'विद्वानों ने पहले से ही ध्वनि को काव्य की आत्मा मान रखा है।'[2] इस दृष्टि से जिन काव्यों में ध्वनित्व नहीं है, वे ध्वनिकार के मत में आत्मा से युक्त नहीं हैं, उनमें 'आत्माभास' ही है। अतः वे वस्तुतः काव्य न होकर 'काव्याभास' हैं। यद्यपि ध्वनिकार उनका समावेश भी काव्य के अंतर्गत करते हैं, तथापि यह अनुमान करना असंगत न होगा कि वह इन्हें 'काव्याभास' कोटि में मानते हैं।

व्यंग्य महाविषय तथा ध्वनि लघुविषय

इस विषय से हम एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यंग्य महाविषय है, तथा ध्वनि लघुविषय है। दूसरे शब्दों में व्यंग्य व्यापक है, ध्वनि व्याप्य। जहाँ जहाँ ध्वनि होगी, वहाँ वहाँ व्यंग्यत्व अवश्य होगा। किन्तु ऐसे भी स्थल हो सकते हैं, जहाँ व्यंग्य होने पर भी ध्वनि न हो। इतना होने पर भी ध्वनि का प्रयोग औपचारिक दृष्टि से व्यंग्यार्थ के लिए भी किया जाता है। अलंकार शास्त्र में दोनों शब्दों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है। क्योंकि ध्वनि में उत्कृष्ट व्यंग्यार्थ पाया जाता है, अतः ध्वनि को उपचार से व्यंग्य से अभिन्न मान लिया गया है। आगे के परिच्छेदों में व्यंग्य तथा ध्वनि दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ इनके इस भेद को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा गया है।

## पाश्चात्य विद्वान् और व्यंग्यार्थ

पाश्चात्य विद्वान् और व्यंग्यार्थ

यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् व्यञ्जना जैसी शब्दशक्ति नहीं मानते, फिर भी व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' (allurios) तथा 'द्वयर्थ' (double sense) को हम व्यंग्यार्थ के समकक्ष मान सकते हैं। 'एल्यूजन' लाक्षणिक प्रयोग से विशेष संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होता है, तथा इसी में विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग की मनोवृत्ति निहित रहती है। फिर भी अरस्तू में

१. देखिये—"काव्य की कसौटी – व्यंजना" वाला परिच्छेद

२. "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"
— ध्वनि कारिका १। १.

अथवा एलेग्जेंड्रियन साहित्य-शास्त्रियों में इस प्रकार का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। क्विंतीलियन ने इस पर अवश्य प्रकाश डाला है। क्विंतीलियन के मतानुसार यह प्रयोग ठीक 'आइरनी' ( Irony ) की तरह विपरीतार्थक नहीं है। वस्तुतः यह तो उसी वास्तविक अर्थ में निहित होता है, जिसकी प्रतीति कवि कराना चाहता है। दुमार्से में दो अलंकार ऐसे मिलते हैं, जो सामान्य रूप से 'एल्यूज़न' से संबद्ध जान पड़ते हैं। इनमें एक तो 'एलेगरी' ( allegory ) है, दूसरा विशिष्ट प्रकार का एल्यूज़न ( proper allusion ) है। इस विषय में दुमार्से ने लिखा है:—"एलेगरी का मेटेफर से अत्यधिक संबंध होता है। यह केवल वही अर्थ नहीं है, जिसकी प्रतीति मेटेफर से होती है। इस प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति में सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर उन समस्त वस्तुओं की प्रतीति होती है, जिनका प्रयोग कोई व्यक्ति, मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिए करता है। इस प्रक्रिया में दूसरे अनभिवाञ्छित अर्थ की बुद्धि साथ ही साथ उत्पन्न नहीं होती।"[१] एल्यूज़न तथा शाब्दी क्रीडा ( ले जू द् मो—les jeuk de mots ) का एलेगरी से घनिष्ठ संबंध है। एलेगरी में स्पष्ट रूप में तो एक ही अर्थ की प्रतीति होती है, किंतु साथ ही किसी दूसरे अर्थ की मनोवृत्ति की भी व्यंजना होती है। यह व्यंजना अधिकतर एल्यूज़न या शाब्दी क्रीडा के द्वारा ही होती है। यह व्यंग्यार्थ प्रतीति जो मुख्यतः किसी न किसी भाव ( अर्थ ) से संबद्ध है, मेटेफर पर आश्रित रहती है। यही 'एल्यूज़न' है। इस

---

१. "L'allegorie a beaucoup de rapport avec la metaphore; l'allegorie n'est meme qu'une metaphore continuee. L'allegorie est un discours qui est d'abord presente sous un sens propre, qui parait tout autre chose que ce qu'on a dessein de faire entendre, et qui cependent ne sert que de comparison pour donner l'intelligence d'un autre sense qu'on n'exprime point."

—Dumarsais quoted by Regnand P. 51.

प्रकार पाश्चात्यों के 'एल्यूज़न' में हम लक्षणामूलक तथा अर्थमूलक व्यंग्यार्थ का समावेश कर सकते हैं। शाब्दी क्रीडा से जहाँ भिन्नार्थ प्रतीति होती है, उसे हम शाब्दी अभिधामूला व्यंजना के समकक्ष मान सकते हैं। फिर भी गौर से देखने पर प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ पर तथा द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोगों पर आधृत व्यंजना ठीक उसी ढंग पर पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण भाषाओं की अभिव्यंजना तथा शब्दसमूह का भेद है। संस्कृत भाषा इतनी अधिक सुगठित शब्दावली वाली है तथा पर्यायवाची एवं विपरीतार्थक शब्दों में इतनी समृद्ध है कि इस प्रकार का काव्यकौशल दिखाने का यहाँ पर्याप्त साधन है, जो पाश्चात्य भाषाओं में नहीं। ठीक यही बात संस्कृत तथा हिंदी के विषय में भी लागू होती है। व्यंजना तथा ध्वनि के भेदोपभेदों के उचित उदाहरण जैसे संस्कृत में मिल सकते हैं, वैसे कई भेदों के लिये हिंदी में मिलना कठिन है।

स्टाइक दार्शनिकों का तो लेक्तोन

पाश्चात्य दार्शनिकों में फिर भी एक स्थान पर एक ऐसी शक्ति का संकेत मिलता है, जिसे हम व्यंजना के समान मान सकते हैं। वैसे, शुद्ध रूप में तो यह वस्तु शक्ति नहीं है, किंतु जिस प्रकार व्यंजना में अभिप्राय का विशेष स्थान है, उसी प्रकार इसमें भी वक्ता के अभिप्राय की महत्ता पाई जाती है। यह शक्ति—यदि इसे शक्ति कहना अनुचित न हो तो—स्टाइक दार्शनिकों का 'तो लेक्तोन' ( to lekton ) है। इसका अनुवाद अधिकतर लोग "अर्थ" या "अभिव्यक्ति" ( Meaning or expression ) से करते हैं। जेलर के मत से, "तो लेक्तोन विचारों का सार है। यहाँ पर हम विचार का ग्रहण सीमित रूप में कर रहे हैं। इसमें विचार बाह्य पदार्थ से, जिससे उसका संबंध रहता है, भिन्न होता है, साथ ही वह अपनी व्यंजक ध्वनि ( शब्द ) से तथा उसके प्रकट करने वाली मनः शक्ति से भी भिन्न होता है।"[1] जेलर वस्तुतः तो लेक्तोन का वास्तविक रूप

---

१. "...the substance of thought, thought regarded by itself as a distinct something, differing alike

देने में समर्थ नहीं हो सका है। स्टाइक दार्शनिकों के इस शब्द का स्वरूप हमें कुछ बाद के लेखकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। अरस्तू के टीकाकार एमोनियस ने बताया है कि "जिस वस्तु को स्टाइक दार्शनिकों ने 'लेक्तोन' नाम दिया है, वह मन तथा पदार्थ के मध्य में स्थित है।"[१] एक दूसरे ग्रीक विद्वान् के मतानुसार "स्टाइक दार्शनिक तीन वस्तुओं को परस्पर संबद्ध मानते हैं:—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक, तथा पदार्थ। इनमें प्रतिपादक शब्द (दिओ) है, पदार्थ बाह्य उपकरण है। प्रतिपाद्त्व वह वास्तविक वस्तु है, जो शब्द से अभिव्यक्त होती है। इस प्रतिपाद्य विषय की स्थिति मानस में रहती है। यह वह वस्तु है जिसे अनभिप्रेत (दूसरे लोग) व्यक्ति शब्द सुनते समय भी नहीं समझ पाते। इनमें दो वस्तुएँ (शब्द तथा पदार्थ) मूर्त हैं, किंतु एक (लेक्तोन) अमूर्त है।"[२]

---

from the sound by which it is expressed, and from the power of mind which produces it."

—Stoics, Epicureans and Sceptics. P. 91.

१, "...between the mind and object—what was posited by the stoics, under the name of 'lekton.'—De Interpretationale.

२. "The stoics claim that there are three things interconnected—the signified, signifier, and the object : of these, the signifier is the word e. g. Dio, and the signified is the actual thing that is expressed by the word—the thing that we apprehend as existing in dependence on our mental attitude—the thing that foreigners do not understand even when they hear the word; and the object is the external phenomenon. Of these three two they say are corporeal ( viz. the word and the object ) and one incorporeal (viz. the thing signified or lekton)'.

वस्तुतः तो लेक्तोन मन तथा पदार्थ के बीच रहता है, तथा इसका आधार मनः स्थिति है। इसे हम वे भाव मान सकते हैं, जिन्हें व्यक्ति चेतन या अर्धचेतन रूप में व्यक्त करना चाहता है। इस तरह तो लेक्तोन व्यंग्य के निकट सिद्ध होता है। पर पूरे तौर पर यह भी व्यंजना सिद्ध नहीं होता। ध्वनिवादियों की व्यंजना तो वह शक्ति है, जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह स्वयं व्यंग्यार्थ से भिन्न वस्तु है। अरस्तू यद्यपि मानव मन की संबद्ध स्वाभाविक क्रियाओं तथा आकस्मिक परिस्थितियों से जनित उनके परिवर्तनों को स्वीकार करता है, फिर भी वह विचार तथा पदार्थ के बीच की स्थिति को नहीं मानता। एपीक्यूरियन दार्शनिक भी लेक्तोन जैसी वस्तु मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसी बात को प्लूतार्च ने बताया है कि एपीक्यूरियन दार्शनिक शब्द तथा पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। प्रतीयमान जैसी वस्तु को वे मानते ही नहीं। इस तरह उन्होंने अभिव्यंजना के प्रकार से छुटकारा पाया है। उन्होंने अभिव्यक्ति के प्रकार—दिक्, काल तथा स्थान को 'सत्' की कोटि में नहीं माना है। वस्तुतः देखा जाय तो इन तत्त्वों में समस्त सत्य निहित है। वे ही लोग एक ओर इन्हें 'असत्' मानते हुए भी इन्हें कुछ न कुछ अवश्य मानते हैं।[१] कहना न होगा कि भारतीय साहित्य शास्त्री के व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना का आधार भी दिक्, काल जैसी वस्तुएँ ही हैं।[२]

तो लेक्तोन तथा व्यंजना

व्यंग्यार्थ का संबंध केवल शब्द मात्र से ही नहीं होता। यही

---

१. They deprive many important things of the title of 'existent', such as Space, Time and Place—in fact the whole catagory of expression' ( lekta ), in which all truth resides—for these, they say are not existent, though they are something.

—Plutarch.

२. देखिए—इसी परिच्छेद में, अर्थव्यंजकता के साधन।

कारण है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल शब्द तथा उसके अर्थ के जान लेने भर से नहीं होती। कई लोग व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न नहीं मानते तथा इसकी प्रतीति अभिधा के ही द्वारा मानते हैं। पर ऐसा मत समीचीन नहीं। व्यंजना जैसी शक्ति हमें माननी ही होगी, क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा या अनुमान के द्वारा कभी नहीं हो सकती।

उपसंहार

———

# सप्तम परिच्छेद

## अभिधावादी तथा व्यंजना

Not only the actual words, but the association determines the sense in Poetry.

When this happens, the statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake.

—Richards.

ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना जैसी चौथी शक्ति की स्थापना कर दी थी। व्यंजना का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ध्वनिकार की ही कारिकाओं में मिलता है। किन्तु यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि काश्मीर के प्राचीन आलंकारिकों में से कुछ व्यंजनावादी ध्वनिकार आनंदवर्धन के पूर्व अवश्य रहे होंगे। हमें इन प्राचीन व्यंजनावादियों का उल्लेख तथा इनके मत का पता नहीं चलता। किन्तु यह स्पष्ट है कि इन्हीं लोगों के मत को ध्वनिकार आनंदवर्धन ने विशद रूप में रखने की चेष्टा की थी। यह भी अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि इन लोगों की व्यंजना व्याकरण-शास्त्र के 'स्फोट' सिद्धान्त से भी अत्यधिक प्रभावित हुई थी। व्याकरण-शास्त्र में 'स्फोट' रूप अखण्ड एवं नित्य शब्द ( यदि उसे शब्द कहना अनुचित न हो तो ) की कल्पना की गई है। वर्ण, पद वाक्य आदि इसी 'स्फोट' के व्यंजक हैं, तथा 'स्फोट' रूप अखण्ड तत्त्व इनका व्यंग्य है। उदाहरण के लिए जब हम 'घट' शब्द का उच्चारण करते हैं, तो इस शब्द में वस्तुतः चार ध्वनियाँ हैं:—घ्, अ, ट्, एवं अ। ज्यों ज्यों हम उत्तर ध्वनि का उच्चारण करते जाते हैं, त्यों त्यों पूर्व पूर्व ध्वनि होती जाती है। इस तरह सारी ध्वनियाँ एक साथ नहीं सुनी जा सकतीं। तब तो पूरे शब्द का ग्रहण तथा उसकी अर्थ प्रतिपत्ति असंभव

व्यंजना और 'स्फोट'

है। इस असंगति को मिटाने के लिए मीमांसक 'संस्कार' की कल्पना करते हैं। उनका कहना है कि पहली ध्वनि के नष्ट हो जाने पर भी उसकी स्मृति, उसका संस्कार बना रहता है। यह संस्कार शब्द की अंतिम ध्वनि के साथ मिलकर शब्द ग्रहण तथा अर्थ की प्रतीति कराता है। वैयाकरण इस संस्कार को नहीं मानते। उनके मत से शब्द दो प्रकार के होते हैं—वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक शब्द अनित्य तथा ध्वन्यात्मक नित्य है। जब हम पूर्व पूर्व ध्वनि का उच्चारण करते हैं तो वर्णात्मक शब्द नष्ट हो जाता है, किंतु ध्वन्यात्मक शब्द नष्ट नहीं होता। यही ध्वन्यात्मक शब्द ( ध्वनि ) अखण्ड रूप में पद, वाक्य या महावाक्य की प्रतीति कराता है। यह ध्वनि जिस अखण्ड तत्त्व को व्यञ्जित करता है, वह 'स्फोट' कहलाता है। इसकी व्यञ्जना तत्तत्, वर्णों, पदों या वाक्यों के द्वारा होती है। साहित्यिकों का प्रतीयमान अर्थ भी पद, पदांश, अर्थ आदि के द्वारा व्यञ्जित होता है। यह इन पदों या वाक्यों का वाच्य या लक्ष्य अर्थ नहीं। अतः उसके लिए व्यञ्जना नाम की अलग से शक्ति मानना ठीक होगा।

व्यञ्जना तथा स्फोट दोनों के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनका विकास एक-सी ही दशाओं में हुआ है।

**व्यञ्जना तथा स्फोट का ऐतिहासिक विकास एक-सा**

स्फोट सिद्धांत के सबसे अधिक विरोधी मीमांसक रहे हैं। मीमांसकों ने वर्णादि के व्यञ्जकत्व तथा 'स्फोट' के व्यंग्यत्व का खण्डन किया है। इन्हीं मीमांसकों ने व्यंजना का भी खंडन किया है। किन्तु मीमांसकों के द्वारा अवरुद्ध किये जाने पर भी 'स्फोट' सिद्धांत भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय'[1] में पूर्ण प्रौढ़ि को प्राप्त हुवा तथा पूर्णतः प्रतिष्ठित हुआ। ठीक इसी प्रकार व्यञ्जना का सिद्धांत भी मीमांसकों के द्वारा खण्डित किए जाने पर भी आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के प्रबन्धों में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया।

---

१. व्याकरण शास्त्र के दार्शनिकतत्त्व की दृष्टि से भर्तृहरि के वाक्यपदीय का संस्कृत साहित्य में प्रमुख स्थान है। भर्तृहरि के इस महत्त्व की प्रशंसा पाश्चात्य विद्वान् भी मुक्तकंठ से करते हैं। सन् ५१ के ३ मार्च को कैंब्रिज में "फाइलोलोजिकल सोसायटी 'की बैठक में 'संस्कृत वैयाकरणों की भाषा संबंधी

प्राचीन मीमांसक शबर स्वामी ने स्फोटवादी वैयाकरणों का उल्लेख किया है।[1] इस मत का विशेष खंडन कुमारिल के श्लोकवार्तिक में मिलता है। श्लोकवार्तिक के 'स्फोटवाद' नामक प्रकरण में उन्होंने वैयाकरणों के इस सिद्धांत पर विचार किया है। श्लोकवार्तिक के प्रसिद्ध टीकाकार उम्बेक ने पूर्वपक्ष के रूप में वैयाकरणों का मत दिया है। वैयाकरणों का सिद्धांत यह है कि वर्णत्रय (वर्ण, पद तथा वाक्य) अर्थ के वाचक नहीं, क्योंकि ये स्फोट से भिन्न हैं। यह तो स्फोट की प्रतीति वैसे ही कराते हैं, जैसे घट की ज्ञप्ति दीपक से होती है। घड़ा पहले से ही रहता है, दीपक उसे प्रकाशित कर देता है। इसी तरह स्फोट तो नित्य तथा अखंड तत्त्व है। वह पहले से ही विद्यमान है। वर्ण, पद या वाक्य उसे केवल व्यञ्जित ही करते हैं।[2] ठीक यही बात व्यंजनावादी भी मानते हैं। उनके मत से भी व्यंग्यार्थ, सहृदय की प्रतिभा में, या सहृदय के मानस में, पहले से ही विद्यमान रहता है। व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द या अर्थ उसे केवल प्रकाशित या व्यंजित कर देते हैं। वैयाकरणों के इस मत का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं:—

मीमांसक तथा स्फोट सिद्धान्त

"जिस प्रकार दीपक का प्रकाश घट को प्रकाशित करता है, ठीक उसी तरह वर्ण या ध्वनियाँ, पद तथा वाक्य के स्फोट को व्यंजित नहीं करते। अर्थात् उनमें व्यञ्जकत्व कदापि नहीं होता।"[3]

---

गवेषणा' पर भाषण देते हुए लन्दन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक-प्रो० ब्राफ ने कहा था—"The Vakyapadiya of Bhartrihari is the highest watermark of the Philosophy of Grammar."

१. स्फोटवादिनो वैयाकरणाः (शबरभाष्य १. १. ५)

२. यदि कश्चिदेवमाह न वर्णत्रयमर्थस्य वाचकम्, स्फोटव्यतिरिक्तत्वात् घटवदिति ॥—उम्बेकः श्लोकवार्तिक टीका, स्फोट प्रकरण १३१

३. वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः ।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः ॥ (श्लोक वा, स्फोट, १३१)
(मद्रास संस्करण)

स्फोट के व्यंग्यव्यंजक सिद्धांत पर मीमांसकों की इस विचार-सरणि का उल्लेख इस परिच्छेद में सर्वप्रथम इसलिये किया गया है कि यही मीमांसकों के व्यञ्जना विरोध की भित्ति है। इसका थोड़ा ज्ञान हो जाने पर हमें मीमांसकों के व्यंजना विरोधी सिद्धांत को समझने में कठिनता न होगी। साथ ही इससे यह भी पता चल जाता है कि मीमांसक आलंकारिकों (भट्ट लोल्लट आदि) ने अपने व्यंजना खंडन के बीज कहाँ से लेकर पल्लवित किये। वैसे तात्पर्यशक्ति में व्यंजना का समावेश करने के लिए भी बाद के मीमांसक आलंकारिक कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसकों के ही ऋणी हैं। इस परिच्छेद के शीर्षक में प्रयुक्त "अभिधावादी" शब्द से हमारा तात्पर्य प्रमुखतः मीमांसकों से ही है।

स्फोट विरोध में ही मीमांसकों के व्यंजना विरोध के बीज

अभिधावादियों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें ध्वन्यालोक की कारिका तथा वृत्ति में मिलता है। प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका से लेकर बारहवीं कारिका तक ध्वनिकार आनंद वर्धन ने इन्हीं अभिधावादियों का खंडन करते हुए प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्य) को वाच्य से सर्वथा भिन्न सिद्ध किया है। प्रथम कारिका में ही उन्होंने इन अभिधावादियों का उल्लेख किया है, जो वस्तुतः व्यंग्य अर्थ का सर्वथा अभाव मानते हैं।[1] किंतु यहाँ यह उल्लेख स्पष्ट रूप में व्यञ्जनाविरोधियों का न होकर ध्वनि को न मानने वाले लोगों का है। इन अभाववादियों के तीन मतों का उल्लेख वृत्ति में किया गया है। इन मतों का विवेचन प्रबंध के द्वितीय भाग में ध्वनि के स्वरूप के संबंध में किया जायगा। द्वितीय कारिका में व्यंग्य अर्थ को वाच्य से सर्वथा भिन्न माना गया है।[2] साँतवी कारिका में

ध्वन्यालोक में अभिधावादियों का उल्लेख

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनि रिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः, तस्याभावं जगदुरपरे......" (१, १)

२. योर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
—ध्वन्यालोक का. १. ८ पृ. ४३.

बताया गया है कि वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। वाच्यार्थ की प्रतीति शब्द तथा अर्थ के संबंध ज्ञान को बताने वाले शास्त्र, मीमांसा, व्याकरण, कोष आदि के ज्ञान से ही हो जाती है, किन्तु प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तो सहृदयों को ही होती है।[1]

वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता

वाच्य तथा प्रतीयमान के भेद को ध्वन्यालोक की वृत्ति में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का वास्तविक लावण्य है। यही सहृदयों को ज्ञात होता है। यह अर्थ काव्य के अन्य बाह्य उपकरणों से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकाशित होता है। स्त्रियों में लावण्य जैसी चमत्कारी वस्तु शरीर के बाह्य अवयवों या अलंकारों से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकाशित होती है। वह लावण्य एक अलग से नई वस्तु है। ऐसे ही काव्य में व्यंग्य की प्रतीति होती है। स्त्रियों में विद्यमान यह लावण्य सहृदयों को प्रसन्न करता है। इसी तरह व्यंग्य भी सहृदयों को चमत्कृत करता है।[2] इसी प्रसंग में आगे बताया गया है कि वाच्यार्थ सदा शब्दों के प्रयोग के अनुरूप होता है, किंतु प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के समकक्ष ही हो, यह आवश्यक नहीं। कभी वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप हो सकता है (१), कभी वाच्यार्थ के प्रतिषेधरूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ विधिरूप हो सकता है (२), कभी वाच्य के विधिरूप होने पर भी प्रतीयमान विधि तथा निषेध दोनोंही कोटियों से उदासीन होता है (३), कभी वाच्य के निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमान उदासीनरूप होता

---

१. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

—ध्वन्यालोक का. १. ७,

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वागवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवांगनासु। यथा ह्यंगनासु लावण्यं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

—ध्वन्यालोक, प्रथम उल्लास, पृ० ४६ (चौ० सं० सी०)

है ( ४ ), कभी वाच्य के विषय से व्यंग्य का विषय सर्वथा भिन्न होता है ( ५ )। अतः आवश्यक नहीं कि वाच्य तथा प्रतीयमान समकक्ष ही हों, जैसा कि निम्न काव्यों से स्पष्ट होगा—

( १ ) वाच्य के विधिरूप होने पर भी निषेधरूप व्यंग्यः—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणहो अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण॥
( अब घूमहुँ निहचिंत ह्वै धार्मिक गोदातीर।
वा कूकर कौ कुंज मैं मार्‍यौ सिंह गँभीर॥ )

यहाँ वाच्यार्थ विधिरूप है। "हे धार्मिक, अब तुम मजे से गोदा-तीर पर घूमो।" पर व्यंग्यार्थ निषेधरूप है। सहृदय को स्पष्ट प्रतीति हो जाती है कि वक्त्री धार्मिक को झूठे ही शेर का डर दिखाकर गोदा-तीर पर जाने का निषेध करना चाहती है, क्योंकि वह उसका संकेत स्थल ( सहेट ) है।

( २ ) वाच्य के निषेधरूप होने पर भी विधिरूप व्यंग्यः—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
( सोती ह्याँ हौं, सास ह्याँ, पेखि दिवस माँ लेहु।
सेज रतौंधी बस पथिक हमरी मति पग देहु॥ )

यहाँ वाच्यार्थ निषेधरूप है, पर व्यंग्यार्थ विधिरूप ही है। "मेरी ही शय्या पर आना, अँधेरे में भूल से कहीं सास की शय्या पर मत चले जाना"।

( ३ ) वाच्य के विधिरूप होने पर भी अनुभयरूप व्यंग्यः—

वच्च मह विअ एक्केइ होन्तु णीसास रोइअव्वाइँ।
मा तुज्ज वि तीअ विना दक्खिणहअस्स जाअन्तु॥
( रुदन और निःश्वास ये होहुँ अकेले मोर।
जावहु ता बिन होहुँ ना दच्छिन नायक तोर॥

यहाँ वाच्य विधिरूप है। "जाओ; उसीके पास जाओ।" लेकिन व्यंग्यार्थ अनुभयरूप हैः—"तुम गलती से अन्य के पास न गये, अपितु गाढानुराग के कारण ही, तभी तो यह गोत्रस्खलितादि हो रहा है। यहाँ पर तो तुम इस लिये आये हो कि अपने आपको दक्षिण नायक

सिद्ध करना चाहते हो। वस्तुतः तुम शठ हो" इस क्रोध की व्यंजना हो रही है, जिसकी प्रतीति खण्डिता की गाथा वाली उक्ति से हो रही है।

(४) कभी वाच्य के निषेधरूप हो जाने पर भी अनुभयरूप व्यंग्यः—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्नाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे॥
(लौटहु, मुखससि - चन्द्रिका-नासित - तम सुकुमारि।
औरन कौ अभिसरन मैं, मूरख विघन न डारि॥)

यहाँ "न जाओ, लौट आओ" इस निषेधरूप वाच्यार्थ से अनुभयरूप व्यंग्य की प्रतीति होती है। घर आई हुई नायिका नायक के गोत्रस्खलितादि अपराध के कारण लौटी जा रही है। नायक उसे मनाता हुआ इस बात को कह रहा है। इससे "तुम केवल मेरे तथा स्वयं के ही सुख का विघ्न नहीं कर रही हो, अपितु अन्य अभिसारिकाओं के भी सुख में विघ्न डाल रही हो, तुम्हें कभी भी किंचिन्मात्र भी सुख नहीं मिलेगा, इससे तुम मूर्ख हो" इससे चाटुकारितारूप व्यंग्य की प्रतीति होती है।

(५) कभी व्यंग्यार्थ का विषय वाच्यार्थ के विषय से भिन्न भी होता है:—

कस्स ण वा होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सब्भमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिं॥
(पेखि प्रियाधर व्रनसहित काकौं होहि न रोस।
बरजी सूँघत कमल अलि सहित सहहुँ निज दोस॥)

इसमें वाच्यार्थ तो एक ही है, किंतु व्यंग्यार्थ नायिका, पति, उपपति, सहृदय आदि विषयों के लिए भिन्न-भिन्न है। जैसे—

(१) भर्तृविषयक:—इसका कोई अपराध नहीं, इसलिए इस व्रण को सह लो।

(२) प्रतिवेशिविषयक:—व्रण को देखकर पति नाराज हुआ है। इससे पड़ोसी उसके चरित्र के बारे में शङ्का करने लगा है। इस प्रकार नायिका के अविनय को छिपाकर पड़ोसियों को उसको सच्चरित्रता बताना व्यंग्य है।

(३) सपत्नी विषयक:—पति के नाराज होने पर सपत्नी खुश हुई हैं। इस गाथा में 'प्रिया' शब्द के प्रयोग से सखी उन्हें यह बतलाना

चाहती है कि यह नायिका तुम (सौतों) से ज्यादा भाग्यशाली है। पति को यह अत्यधिक प्यारी है, तभी तो वह व्रण देखकर नाराज हुआ। तुम इतनी भाग्यशाली नहीं हो।

( ४ ) सखी विषय :—इसने ( पति ने ) सौतों में मेरी बेइज्जती की, ऐसा सोचकर दुख मत करो, यह तो तुम्हारा मान है, अतः इसे सहन करो। तुम सुशोभित हो रही हो।

( ५ ) उपपति विषयक :—आज तो मैंने इस तरह तेरी प्यारी को बचा लिया। भविष्य में इस तरह प्रकट दन्तक्षत मत करना।

( ६ ) सहृदय विषयक—देखो, किस ढंग से मैंने ( सखी ने ) सभी बात छिपा डाली है। मैं कितनी चतुर हूँ।

अभिधावादियों के मत का विशेष रूप से प्रतिपादन तथा खण्डन लोचन, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में किया गया है। अभिधावादियों की व्यंजनाविरोधी विभिन्न मतसरणियों को उल्लिखित कर इन आचार्यों ने पृथक् पृथक् रूप से उनका खण्डन किया है। अभिधावादियों की इन मतसरणियों को हम निम्नरूप से विभक्त कर सकते हैं।

( १ ) अभिहितान्वयवादियों का मत।
( २ ) अन्विताभिधानवादियों का मत।
( ३ ) निमित्तवादियों का मत।
( ४ ) दीर्घतराभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट का मत।
( ५ ) तात्पर्यवादी धनिक तथा धनञ्जय का मत।

व्यंजना विरोध की इन विभिन्न सरणियों को लेकर इनका परीक्षण करते हुए हमें देखना है कि व्यंजना शक्ति का समावेश अभिधा में किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता है।

( १ ) अभिहितान्वयवादी तथा व्यंजना:—अभिहितान्वयवादी वे मीमांसक हैं, जो वाक्यार्थ बोध में कुमारिल भट्ट के मत को मानते हैं।

अभिहितान्वयवादी तथा व्यंजना

इन लोगों के मतानुसार वाक्य में प्रयुक्त पद सर्वप्रथम अपने अपने वाच्यार्थ का बोध कराते हैं। उसके बाद आकांक्षादि के द्वारा उनका परस्पर अन्वय होता है और तब वे वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं। यह अर्थ वस्तुतः वाक्य का वाच्यार्थ न होकर तात्पर्यार्थ है। इस तात्पर्यार्थ का द्योतन अभिधा शक्ति नहीं कराती,

अपितु इसका बोधन तात्पर्य नामक अलग शक्ति के द्वारा होता है। वाक्य के अर्थ को तात्पर्य नामक शक्ति से गृहीत करनेवाले भाट्ट मीमांसक जब प्रतीयमान अर्थ को अभिधा के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ की कोटि में रखते हैं, तब इनकी मतसरणि में स्पष्ट ही त्रुटि प्रतीत हो जाती है। जो लोग वाक्यार्थ बोध तक के लिए दूसरी शक्ति की कल्पना करते हैं, वे वाक्यार्थ बोध के अनंतर बोध्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे मान सकते हैं? उदाहरण के लिए 'सूर्य अस्त हो गया'' ( गतोस्तमर्कः ) इस वाक्य में सर्वप्रथम "सूर्य" "अस्त" "हो गया" ये पद अपने-अपने वाच्यार्थ का बोध करायँगे। उसके बाद आकांक्षा, योग्यता, तथा संनिधि के कारण ये अन्वित होंगे। फिर तात्पर्यशक्ति से वाक्यार्थ की प्रतीति होगी। यह वाक्यार्थ वस्तुतः पदों का अर्थ नहीं है।[1] इसके बाद इस वाक्यार्थ की प्रतीति होने पर, 'चोरी करने जाने का समय हो गया'', "अभिसरण करना चाहिए", "दूकान बंद करो" इत्यादि तत्तत् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से मानना ठीक नहीं। क्योंकि अभिधा तो केवल पदों का ही अर्थ बताकर विरत हो जाती है, पूरे वाक्य तक का बोध नहीं करा पाती। अतः व्यंग्यार्थ, जिसकी प्रतीति सदा बाद में होती है, अभिधा के द्वारा कैसे प्रतीत हो सकता है? इसी बात को मम्मट ने कहा है—"भाट्ट मीमांसक शब्द से विशिष्ट अर्थ का संकेत नहीं मानते। वे पदों का संकेत सामान्य अर्थ में मानते हैं। फिर आकांक्षा, संनिधि तथा योग्यता के द्वारा वाक्य के अर्थ की प्रतीति मानते हैं, जो पदों के अर्थों से विशिष्ट होता है। इन अभिहितान्वयवादियों के मत से व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ हो ही कैसे सकता है।'[2] अतः इन लोगों के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ कोटि के अंतर्गत मानने

---

१ "तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति"

—का० प्र० पृ० २६

२ "विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणां पदार्थानां आकांक्षासंनिधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थ स्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम्।"

—का० प्र० पंचम उल्लास पृ० २१९

तथा अभिधा के द्वारा उसकी प्रतीति कराने का प्रयास सर्वथा दुराग्रह ही है।

(२) अन्विताभिधानवादियों का मतः—प्रभाकर अथवा गुरु के अनुयायी मीमांसक अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। इन मीमांसकों के अनुसार अभिधाशक्ति के द्वारा वाक्य में अन्वित पदों का ही अर्थ प्रतीत होता है। सर्वप्रथम वाक्य में समस्त पद अन्वित होते हैं, तब फिर वाक्य का वाच्यार्थ अभिधा से बोधित होता है। अतः तात्पर्य जैसी शक्ति[1] मानने की आवश्यकता ही नहीं। गुरु के अनुसार वाच्यार्थज्ञान या संकेतग्रहण वाक्य के ही रूप में होता है, पदों या शब्दों के रूप में नहीं। तभी तो अपने ग्रंथ 'बृहती' में प्रभाकर ने बताया है कि "समस्त व्यवहार वाक्यार्थ से ही होता है।"[2] 'बृहती' के टीकाकार शालिकनाथ मिश्र ने ऋजुविमला (टीका) में बताया है कि "शब्द स्वयं किसी भी अर्थ का बोध नहीं कराता। अर्थबोध वाक्य के ही द्वारा होता है। यह स्पष्ट है कि शब्दों का अर्थ हम वृद्ध व्यक्तियों के प्रयोग से ही जानते हैं और यह प्रयोग सदैव वाक्य रूप में होता है। कोई भी शब्द तभी समझा जाता है, जब कि वह किसी वाक्य में अन्य शब्दों से संसृष्ट रहता है। अतः यह निर्धारित है कि वाक्य ही अर्थप्रत्यायक है, शब्द अपने आप अर्थप्रत्यायक नहीं।"

अन्विताभिधानवादियों का मत

यहाँ अर्थप्रत्यायन की सरणि को समझ लेना होगा। छोटा बालक किस प्रकार शब्द तथा अर्थ के संबंध को समझता है, इस विषय पर गुरु ने विशेष प्रकाश डाला है। वे बताते हैं कि बालक लौकिक व्यवहार में कई बातें देखता है और उससे वह इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करता

(१) यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि कुमारिल स्वयं वाक्यार्थ-प्रतीति में दूसरी शक्ति मानने पर भी उसे तात्पर्यशक्ति नहीं कहते। वे इसे लक्षणाव्यापार का ही विषय मानते हैं। तात्पर्यवृत्ति का नाम संभवतः भाट्ट मत के अनुयायी काश्मीरी मीमांसकों की कल्पना हो। तत्त्वबिन्दु में वाचस्पति मिश्र तक ने इसका कोई संकेत नहीं किया है, जैसा कि हम चतुर्थ परिच्छेद में देख चुके हैं।

(२) वाक्यार्थेन व्यवहारः। —बृहती पृ० १९९

है। उदाहरण के लिए, जब कोई वृद्ध व्यक्ति ( उत्तम वृद्ध ) किसी दूसरे वयस्क व्यक्ति ( मध्यमवृद्ध ) से कहता है—"देवदत्त गाय ले आओ," तो बालक देखता है कि मध्यम वृद्ध एक सास्नादिमान् पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इसे देखकर वह बालक देवदत्त की चेष्टा से "इसने इस वाक्य से इस प्रकार का अर्थ ग्रहण किया" यह अनुमान लगा लेता है। इसके बाद वह उस वाक्य तथा उस अर्थ में अखण्ड रूप से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा, वाच्यवाचक संबंध मान लेता है। दूसरे समय वह फिर "चैत्र गाय लाओ, देवदत्त घोड़ा लाओ, देवदत्त गाय ले जाओ' आदि वाक्यों का प्रयोग सुनता है, साथ ही तत्तत् पदार्थ का आनयन तथा नयन प्रत्यक्ष देखता है। फिर उस उस शब्द के उस उस अर्थ का बोध अन्वय-व्यतिरेक से कर लेता है। अतः स्पष्ट है कि अर्थ प्रत्यायक वाक्य ही है।[1] इस प्रकार यह वाक्यार्थप्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणों के द्वारा होती हैं। इन्हीं के द्वारा अभिधा शक्ति के वाच्यवाचकसंबंध का ज्ञान बालक को होता है।[2]

प्रभाकर की इस सिद्धान्तसरणि पर एक स्वाभाविक शंका होती है। जब बालक को अर्थज्ञान वाक्य का ही होता है, तो फिर उसी शब्द को दूसरे प्रकरण में सुनकर वह अर्थ प्रतीति कैसे कर लेता है। 'गाय ले

१. देवदत्त गामानय इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति 'अनेनास्माद्वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्नः इति तच्चेष्टयानुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं संबंधमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते। परतः चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गां नय 'इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं त मर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति।"

का. प्र. पं. उ० पृ. २२१.

२. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्यावबोधेत संबंधं त्रिप्रमाणकम्॥

( प्रभाकर भट्ट )

जाओ' ( गां नय ) तथा "घोड़ा ले जाओ" ( अश्वं नय ) इन वाक्यों में यद्यपि नयनक्रिया एक ही है, तथापि इन दोनों का प्रकार भिन्न भिन्न है। एक में ले जाने की क्रिया गाय के कर्म से युक्त ( गोकर्मविशिष्टनयन क्रिया ) है, तो दूसरे में ले जाने की क्रिया 'घोडे' के कर्म से युक्त ( अश्वकर्मविशिष्टनयनक्रिया ) है। जिस बालक को सबसे पहले गाय वाली नयनक्रिया का बोध हुआ है, उसे उसी नयनक्रिया से घोड़े वाली नयनक्रिया का बोध कैसे हो सकेगा ? क्योंकि दोनों भिन्न भिन्न हैं। इस शंका को हटाने के लिए ही प्रभाकर ने सामान्य तथा विशेष इन तत्त्वों की कल्पना की है। जब हम ठीक उन्हीं पदों का प्रयोग दूसरे वाक्यों में सुनते हैं, जिनका प्रयोग हम पहले वाक्यों में सुन चुके हैं, तो हम प्रत्यभिज्ञा से उन पदों को पहचान लेते हैं। वाक्य में इन दूसरे पदार्थों से अन्वित पदार्थों का ही संकेतग्रहण होता है। इतना होने पर भी ये सब पदार्थ सामान्य से युक्त होकर विशेष रूप में ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि वाक्य में परस्पर अन्वित पदार्थ विशिष्टरूप में ही प्रयुक्त होते हैं।[1] प्रभाकर का तात्पर्य यह है कि किसी भी वाक्य में प्रयुक्त होने पर तो पद 'तत्तत्' विशिष्ट हो जाता है, किन्तु बालक को जो ज्ञान होता है, वह 'गोकर्मविशिष्टनयनक्रिया' का नहीं होकर, सामान्य रूप में ही होता है। इस सामान्य ज्ञान को हम 'किसी भी दूसरे कर्म वाली नयनक्रिया' ( इतरकर्मविशिष्टनयनक्रिया ) कह सकते हैं। प्रत्येक पद का अर्थ इस प्रकार 'इतरविशिष्ट' ( सामान्य ) रूप में गृहीत होता है तथा तत्तत् प्रसंग में तत्तत् विशिष्ट होकर विशेष रूप में प्रतीत होता है। प्रभाकर यद्यपि दो प्रकार के अर्थ खुले रूप में नहीं मानते, तथापि सामान्य तथा विशिष्ट इन दो अर्थों को स्वीकार करते जान पड़ते हैं। अतः देखा जाय तो प्रभाकर के मत से भी सामान्यरूप अर्थ ही वस्तुतः वाच्यार्थ है, विशेष रूप अर्थ नहीं। क्योंकि संकेतग्रहण सामान्य रूप अर्थ में ही होता है।

---

१. यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः संकेतगोचरः, तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथा भूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो सदा तीसरे क्षण में होती है। जब इनके मत से वाक्य का विशेषरूप अर्थ ही वाच्यार्थ ( अभिधाव्यापार गृहीत ) नहीं ठहरता, तो उसी अभिधा के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति कैसे हो सकती है[1]।

( ३ ) निमित्तवादियों का मत :—कुछ मीमांसक व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए कार्यकारणभाव की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार व्यंग्यप्रतीति नैमित्तिकी है। किसी भी वस्तु को देखकर उसके निमित्त की कल्पना की जाती है। प्रतीयमान अर्थ का भी कोई न कोई निमित्त होना ही चाहिए। इसकी प्रतीति में शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई भी निमित्त हमें उपलब्ध नहीं है। अतः शब्द ही प्रतीयमान अर्थ का निमित्त है। इसलिये शब्द तथा अर्थ में निमित्त-नैमित्तिक संबंध मानना ही ठीक होगा[2]। इस प्रकार व्यंग्यव्यंजकभाव, तथा व्यञ्जनाव्यापार इन तीनों की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। साथ ही शब्द तथा प्रतीयमान अर्थ के इस निमित्त - नैमित्तिकभाव में अभिधा वृत्ति ही है।

निमित्तवादियों का मत

इनका खण्डन करते हुए मम्मट ने बताया है कि निमित्त दो प्रकार का होता:—कारक तथा ज्ञापक। कारक निमित्त; जैसे मिट्टी घड़े का कारक निमित्त है। ज्ञापक निमित्त, जैसे दीपक अंधकार में पड़े हुए घड़े का ज्ञापक निमित्त है। शब्द प्रतीयमान अर्थ को बनाता नहीं, किंतु व्यक्त करता है। अतः यह कारक निमित्त नहीं है। न यह ज्ञापक ही

---

१. तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य निश्शेषच्युतेत्यादो विध्यादेश्चर्चा।
—का० प्र० पंचम उ० पृ० २२३-४

२. यदप्युच्यते "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यंते" इति।
—का० प्र० पंचम उ० पृ० २२४

( तथा ) ननु व्यंग्यप्रतीतिर्नैमित्तिकी। निमित्तान्तरानुपलब्धेः शब्द एव निमित्तम्। तच्च बोध्यबोधकत्वरूपं निमित्तत्वं वृत्तिं विना न संभवतीति अभिधैव वृत्तिरिति मीमांसकैकदेशिमतमाशङ्कते।
—बालबोधिनी पृ० २२४

है। क्योंकि ज्ञापक सदा पूर्वसिद्ध वस्तु को जतलाता है। व्यंग्यार्थ पूर्वसिद्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह तो वाच्यार्थ के ज्ञान के बाद व्यक्त होता है। अतः शब्द व्यंग्यार्थ का निमित्त नहीं हो सकता।

दीर्घतराभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट का मत

(४) दीर्घतराभिधाव्यापारवादी भट्ट लोल्लट के मतानुसार किसी भी वाक्य से जितने भी अर्थों की प्रतीति होती है, उन सभी में अभिधा व्यापार ही होता है। भट्टलोल्लट "शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इस सिद्धान्त को माननेवाले नहीं हैं। उनके मत से अभिधा-शक्ति एक अर्थ को द्योतित करने के बाद क्षीण नहीं होती, अपितु अन्य अर्थों की भी प्रतीति कराती रहती है। इसी अभिधा की महती अर्थद्योतिका शक्ति के कारण लोल्लट इस व्यापार को दीर्घदीर्घतर मानते हैं[1]। अभिधा के इस दीर्घतर व्यापार को स्पष्ट करने के लिए वे बाण का दृष्टान्त देते हैं। जैसे एक ही बाण वेगव्यापार के द्वारा शत्रु के कवच को विद्ध कर, हृदय में घुस कर, प्राणों का अपहरण करता है, ठीक वैसे ही अकेला शब्द एक ही व्यापार (अभिधा) के द्वारा, पदार्थ की उपस्थिति, अन्वयबोध, तथा व्यंग्यप्रतीति करा देता है[2]। अतः व्यञ्जना जैसी अलग से शब्दशक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती।

भट्ट लोल्लट के इस दीर्घतर अभिधाव्यापार का खण्डन न केवल व्यञ्जनावादियों ने ही किया है, अपितु अनुमानवादी महिम भट्ट भी उसके इस 'इषुवद्' (बाण के समान) व्यापार का खंडन करते हैं। वे कहते हैं, शब्द के विषय में बाण का दृष्टांत देना ठीक नहीं। जैसे बाण स्वभाव से ही एक ही (वेग) व्यापार के द्वारा छेदन-भेदन आदि कार्य कर देता है, वैसे शब्द नहीं करता। शब्द तो संकेतसापेक्ष होकर

---

१. "सोऽयमिषो रिवदीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः"—

—का० प्र० पृ० २२५

२. "यथा बलवता प्रेरित एक एव इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण रिपो वर्मच्छेदं मर्मभेदं प्राणहरणं च विधत्ते तथा सुकविप्रयुक्तः एक एव शब्द एकेनैवाभिधाव्यापारेण पदार्थोपस्थितिं अन्वयबोधं व्यंग्यप्रतीतिं च विधत्ते जनयति।"

—बालबोधिनी, पृ० २२५

ही अपने व्यापार को करता है, केवल स्वभाव से ही नहीं। इसलिए जहाँ कहीं इसका संकेत होगा, वहीं इसकी प्रवृत्ति होगी। अतः अभिधेयार्थ में ही इसका व्यापार मानना ठीक होगा, अन्य अर्थ में नहीं, क्योंकि वहाँ संकेत का अभाव है। यदि संकेत न होने पर भी अर्थांतर की कल्पना में इसी व्यापार को माना जायगा, तो अभिधेयार्थ की भाँति अन्य अर्थ (प्रतीयमान) की प्रतीति किसी भी शब्द से हो जायगी।"[1]

दीर्घतर अभिधाव्यापार में इषुसाम्य बताते हुए, भट्टलोल्लट एक दूसरी बात यह भी कहते हैं कि वस्तुतः शब्द का अर्थ वही है, जिसके प्रत्यायन के लिए उसका प्रयोग किया जाय। यदि कोई विध्यर्थक शब्द भी निषेधार्थद्योतन के लिए प्रयुक्त हुआ है, तो वहाँ वह निषेधार्थ ( जैसे, घूमहुँ अब निहचिंत ह्वै धार्मिक गोदातीर, आदि दोहे में ) प्रतीयमान या व्यंग्य नहीं, वाच्य ही है, क्योंकि इसमें उपात्त शब्द उसी अर्थ के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने मीमांसक भट्टलोल्लट के खंडन के लिए मीमांसकों की सरणि का ही आश्रय लिया है। वे कहते हैं कि भाष्यकार शबर स्वामी का ऐसा मत है कि जहाँ एक साथ क्रिया ( भूत ) तथा कारक पदार्थों (भव्य) का प्रयोग किया जाय, वहाँ 'तत्परत्व' (तात्पर्य) नये वाक्यों में कारक पदार्थों में ही होता है। दूसरे शब्दों वे ही शब्द जो किसी नये भाव का बोधन कराते हैं, प्रथम वाक्य से ही संबद्ध दूसरे वाक्य में तात्पर्यपरक होंगे। उदाहरण के लिए मैंने कहा "राम आ रहा है," "वह पुस्तक लिये है", "पुस्तक लाल है"। तो यहाँ द्वितीय वाक्य में 'राम' तो प्रकरणसिद्ध ही है, अतः मेरा तात्पर्य केवल

---

१. किञ्चाविषमः शरदृष्टान्तोपन्यासः न हि यथा सायकः स्वभावत एव छेदनभेदनाद्यर्थविषयमेकमेव वृत्त्या तत्तत्कार्यं करोति तथा शब्दः। स हि संकेतसापेक्ष एव स्वव्यापारमारभते न स्वभावत एवेति यत्रैवास्य संकेतस्तत्रैव व्याप्रियते। ततश्चाभिधेयार्थविषय एवास्य व्यापारो युक्तो नार्थान्तरविषयः, तत्र संकेताभावात्। तदभावेऽपि तत्र तत्परिकल्पने सर्वः कुतश्चिदभिधेयार्थवदर्थान्तरमपि प्रतीयात्।"

—व्यक्तिविवेक, प्रथमविमर्श, पृ० १२३४ ( चौ० सं० सी० )

२ "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।"

३ भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते।

पुस्तकानयन मात्र से है। दूसरे शब्दों में द्वितीयवाक्य में पुस्तकानयन मात्र ही "विधेय" है। तीसरे वाक्य ( पुस्तक लाल है ) में 'पुस्तक' तो तो प्रकरणसिद्ध ही है, अतः केवल उसका 'रक्तत्व' ही विधेय माना जायगा। मीमांसकों का उदाहरण लेते हुए हम कह सकते हैं कि श्येनयाग के प्रकरण में एक बार यह वाक्य आया है—'ऋत्विक्-गण अनुष्ठान करें' "(ऋत्विजः प्रचरंति )। इसके बाद उसी प्रसंग में "लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् अनुष्ठान करें" ( लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरंति ) इस वाक्य का प्रयोग मिलता है। अब इस द्वितीय वाक्य में विधेय केवल 'लाल पगड़ी वाले' इतना ही माना जायगा। यह दूसरी बात है कि किसी वाक्य में विधेय दो या तीन भी हो सकते हैं। फिर भी विधि उतना ही है, जितना कि प्रकरणसिद्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में 'अदग्ध-दहनन्याय' से ही विधेय का निर्णय किया जायगा। जलती हुई लकड़ी में जितनी जल चुकी है, वह तो फिर से नहीं जल सकेगी, केवल बिना जला भाग ही जलेगा, ठीक उसी प्रकार अप्राप्त विधेय ही विधेय होगा। अतः स्पष्ट है कि प्रयुक्त शब्द में ही विधेय होगा और जहाँ विधेय होगा वहीं तात्पर्य होगा। अतः प्रतीयमान अर्थ में विधेय नहीं माना जायगा।[1]

अपने मत की पुष्टि में भट्टलोल्लट एक वाक्य को लेते हैं। इसके द्वारा भट्टलोल्लट इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि वाक्य में अनु-पात्त शब्द में भी तात्पर्य हो सकता है। वाक्य है:—"जहर खालो। इसके घर में भोजन न करो" (विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः)। यहाँ पहले वाक्य ( जहर खालो ) का तात्पर्य दूसरे वाक्य में हैं, अतः यह कहना कि तात्पर्य प्रयुक्त शब्द में ही होता है, प्रतीयमान में नहीं, ठीक नहीं। पहले वाक्य में वक्ता का अभिप्राय सचमुच यह नहीं है कि श्रोता विषभक्षण कर ही ले। अतः यहाँ तात्पर्य अन्य स्थान पर ही है। मम्मट इस बात को नहीं मानते। वे "जहर खालो" तथा "इसके घर में भोजन न करो" इनको दो वाक्य न मानकर एक ही वाक्य के दो

---

१. ततश्च तदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यं इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे एवं हि पूर्वो धावति इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यात्। —का० प्र० उ० ५, २७२-८

अंश मानते हैं। इस बात की पुष्टि कि ये दोनों एक ही वाक्य के अंश हैं, समुच्चयबोधक अव्यय 'च' कर रहा है। अतः इन दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव है। इसलिये "इसके घर खाना जहर खाने से भी बुरा है, अतः इसके घर कभी न खाना" इस तात्पर्य की प्रतीति प्रयुक्त शब्दों से ही हो रही है।

लोल्लट का कहना यह भी है कि जिस शब्द के सुनने से जिन अर्थों की प्रतीति हो, वे सब उसी के वाच्यार्थ हैं। इस तरह तो बड़ी गड़-बड़ होगी। मान लीजिये कोई ब्राह्मण के पुत्र नहीं है और वह 'ब्राह्मण तेरे पुत्र हुआ है'; इस वाक्य को सुनकर हर्ष का अनुभव करता है। तो इस 'हर्ष' के अनुभव को भी वाच्यार्थ माना जायगा। इसी तरह किसी ब्राह्मण के अविवाहित पुत्री है। कोई व्यक्ति उसके गर्भिणी होने की सूचना देता हुआ कहता है, "ब्राह्मण, तेरी कन्या गर्भिणी है"। तो यहाँ यह सुनकर ब्राह्मण को शोक होता है, वह भी वाच्यार्थ माना जायगा। वस्तुतः ऐसा नहीं है। साथ ही जब लोल्लट, अभिधाव्यापार को बाण की तरह दीर्घतरव्यापार मानते हैं, तो लक्षणा को मानने की क्या जरूरत है। लक्ष्यार्थ प्रतीति भी दीर्घतर अभिधाव्यापार से हो ही जायगी।[1] पर ये लोग लक्षणा अवश्य मानते हैं। अतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी अभिधा व्यापार नहीं करा सकता।

(५) तात्पर्यवादी धनंजय तथा धनिक का मतः—वैसे तो दशरूपककार धनंजय तथा उनके टीकाकार धनिक के मत को हम लोल्लट के "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" का ही उलथा मान सकते हैं, किन्तु विश्वनाथ ने धनिक का उल्लेख अलग से किया है। यद्यपि धनिक के इस मत का समावेश चौथे मत के ही अन्तर्गत करना उचित था, तथापि सौकर्य की दृष्टि से हमने इसे अलग से लिया है। दशरूपककार धनंजय के मत के विषय में तो हम कुछ नहीं

तात्पर्यवादी धनंजय तथा धनिक का मत

---

१. यदि शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः ततः कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्, कस्माच्च लक्षणा, लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः।—वही, पृ. २२९.

कह सकते, किंतु अनुमान होता है कि उनका मत भी अपने अनुज धनिक के समान ही रहा होगा। धनिक ने तो स्पष्ट बताया है कि व्यंग्यार्थ वस्तुतः तात्पर्य ही है। "प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं है। अतः उसे व्यंजना द्वारा प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता। न उसका व्यंजक काव्य 'ध्वनि' ही है। तात्पर्य तो वस्तुतः जहाँ तक कार्य होता है, वहाँ तक फैला रहता है। तात्पर्य को तराजू पर तौल कर यह नहीं कहा जा सकता कि तात्पर्य इतना ही है, यहीं तक है, इससे अधिक नहीं।"[1]

आगे जाकर धनिक बताते हैं कि जितने भी लौकिक या वैदिक वाक्य हैं, वे सब कार्यपरक होते हैं। क्योंकि यदि कोई कार्य (तात्पर्य) न होगा, तो उन्मत्त प्रलपित के समान इन वाक्यों का कोई उपयोग नहीं। काव्य में प्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति निरतिशय सुख के लिये होती हैं। निरतिशय सुख के अतिरिक्त काव्य का कोई प्रयोजन नहीं। अतः निरतिशय सुखास्वाद ही काव्य-शब्दों का कार्य है। जिसके लिए शब्दों का प्रयोग हो वही शब्दों का अर्थ होता है, यह बात प्रसिद्ध ही है।[2] इस प्रकार काव्य में प्रतीत रसानुभूति भी धनिक के मत में उस काव्य का तात्पर्य ही है। हम पहले ही बता चुके हैं कि रस सदा व्यंग्य माना जाता है। धनिक तो व्यंजना जैसी शक्ति तथा व्यंग्य जैसे अर्थ का सर्वथा तिरस्कार करते हैं।

धनिक के मत का खंडन करते हुए विश्वनाथ ने दो विकल्पों को लेकर 'तत्परत्व' शब्द की जाँच पड़ताल की है। वे पूछते हैं, धनिक के

---

१. तात्पर्यव्यतिरिक्तत्वात् व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥

दशरूपक, अवलोक परि. ४,

२. पौरुषेयमपौरुषेयञ्च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्, अतत्परत्वे अनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्, ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्यौपमिकप्रयोजनान्तरानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात्॥

दश. रू. अव. परि. ४.

द्वारा प्रयुक्त 'तत्परत्व' का क्या तात्पर्य है:—(१) तदर्थत्व (उस शब्द का अर्थ होना ), या (२) तात्पर्य शक्ति के द्वारा उस अर्थ को बोधित करने का सामर्थ्य । यदि पहला अर्थ लिया जाता है, तो हमें भी कोई आपत्ति नहीं । क्योंकि हमारी व्यंजना वृत्ति भी तो उस अर्थ ( तत्पर-तदर्थ ) को बोधित कराती ही है । यदि दूसरा अर्थ लिया जाता है, तो एक प्रश्न पूछा जा सकता है । यह आपकी तात्पर्य शक्ति भाट्ट मीमांसकों वाली ही है, या कोई दूसरी । यदि वही है, तो उसका खंडन हम कर चुके हैं । यदि दूसरी है, तो आपके और हमारे मत में यही भेद है कि उस वृत्ति के नाम भिन्न भिन्न हैं । आप उसे तात्पर्यशक्ति कहते हैं, हम उसे व्यंजना कहते हैं । इस तरह तो आप भी चौथी वृत्ति को अवश्य स्वीकार कर रहे हैं ।[1]

**युक्तियों के द्वारा अभिधावादियों के मतों का खण्डन**

तर्क के द्वारा विभिन्न अभिधावादियों ( जिनमें तात्पर्यवादी भी सम्मिलित हैं ) का खण्डन करके ध्वन्याचार्यों ने व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ को भिन्न भिन्न एवं उनके व्यापारों को विभिन्न सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियों का भी आश्रय लिया है । वे बताते हैं कि काव्य में नित्य तथा अनित्य दो तरह के दोष माने जाते हैं । च्युतसंस्कृति ( व्याकरणविरुद्ध ) आदि नित्य दोष हैं । किंतु श्रुतिकटुत्व आदि को अनित्य दोष माना गया है, क्योंकि ये दोष रौद्र, आदि रसों में गुण भी हो जाते हैं । यह दोष-विभाग तभी हो सकता है जब कि वर्णों में व्यंग्य-व्यंजक भाव माना जाय । क्योंकि श्रुतिकटुत्व में रौद्रादि का व्यंजकत्व मानने पर ही वे गुण हो सकेंगे । वाचक मानने पर या तो रौद्रादि में भी दोष होंगे, या शृंगार करुण आदि में भी गुण हो जायँगे । इस युक्ति के द्वारा भी व्यंग्यार्थ तथा व्यञ्जना व्यापार की सिद्धि हो जाती है ।

---

१. तत्र प्रष्टव्यम्—किमिति तत्परत्वं नाम—तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः, व्यंग्येऽपि तदर्थतानपायात् । द्वितीये तु केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः—अभिहितान्वयवादिभिरंगीकृता वा, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम् । द्वितीये तु नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।

सा० द० परि० ५, पृ० ३६९-७० ( हरिदासी सं. )

साथ ही कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही शब्द के विशिष्ट पर्यायवाची को रखने से काव्य में सौंदर्य बढ़ जाता है, जैसे—

द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कांतिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ (कुमारसंभव)
(सोचनीय दोऊ भये मिलन कपाली हेत।
कान्तिमयी वह ससिकला अरु तू कांतिनिकेत ॥)

इस पद्य में 'कपाली' शब्द के प्रयोग में जो काव्यगुण है, वह इसी के पर्यायवाची शब्द 'पिनाकी' के प्रयोग में नहीं है। "सोचनीय दोऊ भये मिलन पिनाकी हेत" इस पाठान्तर में वह चारुता नहीं है, जो प्रथम पाठ में। यहाँ "कपाली" पद शिव के बीभत्स रूप को व्यंजित करता हुआ देवी पार्वती की शोचनीयतम अवस्था की प्रतीति का पोषक है। "पिनाकी" शब्द के प्रयोग में वह विशेषता नहीं है। वाच्यार्थ तथा अभिधा को ही मानने पर तो "पिनाकी" वाले प्रयोग तथा "कपाली" वाले प्रयोग में कोई भेद नहीं रहेगा[1]। किंतु काव्यानुशीलन करनेवाले सहृदयों को दोनों में स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, वह प्रथम प्रयोग के प्रतीयमान अर्थ तथा व्यञ्जनाशक्ति के कारण ही है।

वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कई कारण

वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में एक ही कारण से नहीं, अपितु अनेक कारणों से परस्पर भेद पाया जाता है। "बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीतकाल, आश्रय, विषय आदि के कारण व्यंग्यार्थ व वाच्यार्थ को भिन्न ही मानना होगा[1]।" इस प्रकार इन भेदों के कारण दोनों अर्थों को एक ही मानना ठीक न होगा। मम्मट ने बताया है कि इन भेदों के होते हुए भी वाच्य तथा व्यंग्य अर्थों को एक ही मानना, नीले और पीले को एक ही मानना है।

---

१. इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ॥

—का० प्र० ३०५, पृ० २४०

(१) बोद्धभेद :—वाच्यार्थ की प्रतीति उन व्यक्तियों को होती है, जो व्याकरण तथा कोश ग्रंथों का अध्ययन करते हैं। कोशादि के अध्ययन के पश्चात् वे किसी भी शब्द या वाक्य के वाच्यार्थ को जान लेते हैं। किंतु काव्य के व्यंग्यार्थ की प्रतीति पण्डितों को ही होती हो, यह आवश्यक नहीं। काव्यगत व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए तो पद-पदार्थ ज्ञान के अतिरिक्त सहृदयता की महती आवश्यकता है। वाच्यार्थ ज्ञान के लिए पाण्डित्य अपेक्षित है, किंतु व्यंग्याथ प्रतीति के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। वाच्यार्थ के बोद्धा पंडित होते हैं, व्यंग्यार्थ के प्रतिभाशाली तथा सहृदय।

(२) स्वरूपभेद :—जैसा कि हम इसी परिच्छेद में देख चुके हैं, वाच्यार्थ के स्वरूप से व्यंग्यार्थ का स्वरूप सर्वथा भिन्न हो सकता है। वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर भी व्यंग्यार्थ निषेधरूप हो सकता है, जैसे 'अब घूमहुँ निश्चिंत ह्वै धार्मिक गोदातीर' आदि पद्य में। वाच्यार्थ के निषेधार्थक होने पर भी व्यंग्यार्थक विधिरूप हो सकता है, जैसे "सोती ह्याँ हौं सास ह्याँ, पेखि दिवस माँ लेहु" आदि पद्य में। यह आवश्यक नहीं है कि विधिरूप वाच्यार्थ से विधिरूप व्यंग्यार्थ तथा निषेधरूप वाच्यार्थ से निषेधरूप व्यंग्यार्थ की ही प्रतीति हो। यही नहीं, वाच्यार्थ के स्तुति रूप होने पर भी व्यंग्यार्थ निंदारूप हो सकता है। तथा वाच्यार्थ के निंदारूप होने पर भी व्यंग्यार्थ स्तुतिरूप हो सकता है, जैसे,

---

१. बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

(सा० द० प० ५, पृ० ३७२)

यही बात वाक्यपदीय में भी कही गई है कि शब्द के अर्थ केवल रूप के कारण ही भिन्न नहीं होते—

वाक्यात् प्रकारण दर्थादौचित्याद्देशकालतः
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥

—वाक्यपदीय २. ३१६.

साथ ही अर्थात्प्रकरणाल्लिंगादौचित्याद्देशकालतः।
मंत्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति च स्थितिः॥

—बृहद्देवता २. १२०. पृ० ५५. (बिब्लो, इंडिका संस्करण)

कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा—
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगतांगैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः॥

हे राजन्, तुमने शत्रुओं के मस्तकों को तीक्ष्ण खड्ग से छिन्न-भिन्न कर उनकी राजलक्ष्मी स्वीकृत करली, इससे क्यों घमंड करते हो? शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर भी, बिना शरीरवाले तुम्हारे शत्रु तुम्हारी प्रिया कीर्ति को स्वर्ग में भगा ले गये।

इस पद्य में वाच्यार्थ निंदारूप है। क्यों घमंड करते हो, तुम्हारी प्रिया कीर्ति को शत्रुनृप स्वर्ग में उड़ा ले गये हैं, अतः तुम्हें लज्जित होना चाहिए। किंतु व्यंग्यार्थ स्तुतिरूप है। तुम बड़े वीर हो, शत्रुओं के मारे जाने से तुम्हारा यश स्वर्ग तक पहुँच गया है, तुम धन्य हो। यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में स्वरूप भेद स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है।

( ३ ) संख्याभेदः—वाच्यार्थ सदा एक ही रूप में प्रतीत होता है, किंतु एक ही वाच्यार्थ से अनेकों व्यंग्यार्थों की प्रतीति होती है। "सूर्य अस्त हो गया" ( गतोऽस्तमर्कः ) इस अकेले वाक्य से भिन्न-भिन्न प्रकरणों में "दूकान बंद करो" ( आपणिक-पक्ष में ), "गायें बाड़े में ले चलो" ( गोपाल-पक्ष में ), "चोरी करने चलो" ( चोरपक्ष में ), "संध्यावंदन करो" ( धार्मिकपक्ष में ), "दीपक जलाओ" ( गृहिणीपक्ष में ), "अभिसार करने का समय है" ( अभिसारिका पक्ष में ), "सिनेमा कब चलोगे, समय व्यतीत हो रहा है" ( सिनेमा देखने जानेवाले के पक्ष में ), "उनके आने का समय हो गया, पर वे अभी तक न आये" ( पति की प्रतीक्षा करती हुई पत्नी के पक्ष में ) आदि कई व्यंग्यार्थों की प्रतीति हो रही है। ठीक यही बात "पेखि प्रियाधर व्रनसहित, काकौ होहि न रोस" आदि पद्य में है। वहाँ पति, सखी, सपत्नी, पड़ोसी, उपपति, सहृदय आदि को भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति हो रही है। यहाँ व्यंग्यार्थ की संख्या निश्चित नहीं है।

( ४ ) निमित्त भेदः—वाच्यार्थ प्रतीति तो केवल शब्दोच्चारण से ही होती है। किंतु व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये प्रतिभानैर्मल्य आवश्यक है। अतः दोनों के निमित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण ये दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

( ५ ) कार्यभेदः—वाच्यार्थ का कार्य केवल अर्थ प्रतीति है, किंतु व्यंग्यार्थ 'चमत्कार' उत्पन्न करता है। अतः कार्यभेद के कारण भी ये दोनों परस्पर भिन्न ही हैं।

( ६ ) प्रतीतिभेदः—वाच्यार्थ तो केवल अर्थ रूप में ही गृहीत होता है, किंतु व्यंग्यार्थ चमत्काररूप है। अतः जहाँ तक इन दोनों की प्रतीति का संबंध है, ये भिन्न-भिन्न ही हैं।

( ७ ) कालभेदः—वाच्यार्थ की प्रतीति प्रथम क्षण में होती है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद में होती है। अतः पहले एवं बाद में प्रतीति होने के कारण दोनों में कालभेद भी है।

( ८ ) आश्रयभेदः—वाच्यार्थ का आश्रय केवल शब्द ही है। किंतु व्यंग्यार्थ का आश्रय केवल शब्द ही नहीं, अपितु शब्द, शब्दांश, अर्थ, वर्ण तथा संघटना ( रीति ) भी हो सकती है। अतः इस दृष्टि से भी ये दोनों भिन्न हैं।

( ९ ) विषयभेदः—वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों को एक सा ही प्रतीत होता है, किंतु एक ही वाक्य का व्यंग्यार्थ अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग रूप में प्रतीत हो सकता है। विषय के अनुसार वह बदलता रहेगा। जैसे "पेखि प्रियाधर व्रन सहित" इस पद्य में हम देख चुके हैं कि एक ही वाक्य का पति, सखी, सपत्नी, पड़ोसी, उपपति, सहृदय आदि को भिन्न भिन्न व्यंग्यार्थ प्रतीत हो रहा है।

इन सब भेदों के कारण यही निश्चित करना होगा कि व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं।[1]

उपसंहार

अभिधावादियों की मतसरणि की परीक्षा करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्यंग्यार्थ का समावेश वाच्यार्थ में कदापि नहीं हो सकता। जब तक व्यंग्यार्थ का समावेश वाच्यार्थ में नहीं होगा, तब तक अभिधा शक्ति के द्वारा उसकी प्रतीति हो ही नहीं सकती। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को भिन्न सिद्ध कर देने पर उस अर्थ के प्रत्यायक

१. तस्मान्नाभिधेय एव व्यङ्ग्यः। —सा० द० परि ५, पृ० ३७४.

व्यापार को भी भिन्न मानना ही पड़ेगा। यही व्यंग्यप्रत्यायक व्यापार व्यंजना है। अभिधा ही नहीं, व्यंजना का समावेश अभिधा की अंगभूत लक्षणा नामक शक्ति के अंतर्गत भी नहीं हो सकता, इसे हम अगले परिच्छेद में देखेंगे।

———

# अष्टम परिच्छेद

## लक्षणावादी और व्यंजना

"If you call a man a swine, for example, it may be because his features resemble those of a pig, but it may be because you have towards him something of the feeling you conventionally have towards pigs, or because you propose, if possible to excite those feelings."[1]

लाक्षणिक प्रयोग की विशेषता

उपर्युद्धृत पंक्तियों में एक अँगरेज आलोचक ने बताया है कि "यदि तुम किसी व्यक्ति को सूअर कहते हो, तो यह प्रयोग इसलिए हो सकता है कि उस व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ सूअर के समान हैं। यह इसलिए है कि उस व्यक्ति के प्रति तुम्हारी भावना ठीक वैसी ही है, जैसी सूअर के प्रति। अथवा, तुम यथासंभव अपनी भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए ऐसा प्रयोग करते हो।" इससे स्पष्ट है कि लाक्षणिक प्रयोग का स्वयं का इतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना कि उन भावों की व्यंजना का, जो लाक्षणिक प्रयोग के लक्ष्य हैं। लाक्षणिक प्रयोग तो इन भावों का साधन मात्र है। यह बात गौणी तथा शुद्धा दोनों प्रकार की लक्षणा के साथ लागू होती है। "गंगातीर पर घोष" न कह कर "गंगा पर घोष" इस लाक्षणिक प्रयोग से हम किन्हीं भावों की व्यंजना कराना चाहते हैं। ये भाव उस वाक्य के प्रति हमारे हृदय में होते हैं। इसका विशद विवेचन हम तृतीय परिच्छेद में कर चुके हैं। यहाँ तो हमें यह देखना है कि क्या व्यंजना व्यापार का काम लक्षणा से ही चल सकता। कई विद्वानों ने व्यंजना को लक्षणा से अभिन्न सिद्ध किया है। हमें देखना है कि क्या वे सच हैं?

---

१. I. A. Richards : 'Practical Criticism'

लक्षणावादियों के मत का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ध्वनिकार की कारिकाओं में ही मिलता है। यद्यपि ध्वनिकार की कारिका तथा वृत्ति से यह ज्ञात नहीं होता कि इस मत के मानने वाले लोगों में कौन थे, तथापि व्यंजना का समावेश लक्षणा के अंतर्गत करने वाले आचार्य रहे अवश्य थे, जिनका खंडन ध्वनिकार आनंदवर्धन ने किया है। ध्वनि का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पद्य में वे बताते हैं कि कुछ लोग इस ध्वनि ( व्यंग्यार्थ ) को 'भाक्त' ( भक्ति से गृहीत ) मानते हैं।[1] भक्ति से तात्पर्य लक्षणा से ही है। भक्ति से गृहीत अर्थ भाक्त कहलाता है।[2] अभिनवगुप्त भी लोचन में भक्तिवादियों ( लक्षणावादियों ) का उल्लेख करते हैं, किन्तु किसी आचार्य का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं करते। मम्मट भी काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में व्यंजना की स्थापना करते हुए लक्षणावादियों का उल्लेख करते हैं, पर वे किसी आचार्यविशेष के नामका निर्देश नहीं करते। संस्कृत अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर दो आचार्य ऐसे मिलते हैं, जिन्होंने व्यंजना का समावेश भक्ति या उपचार के अन्तर्गत किया है। ये दो आचार्य हैं:—भट्ट मुकुल तथा राजानक कुन्तक। भट्ट मुकुल ने अपनी "अभिधावृत्तिमातृका" में लक्षणा के अंतर्गत ही उन समस्त उदाहरणों को विन्यस्त किया है, जिनमें किसी न किसी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है। इन प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति उन्होंने लक्षणा व्यापार के द्वारा ही मानी है, इसे हम आगामी पंक्तियों में देखेंगे। राजानक कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति के एक भेद उपचारवक्रता में कतिपय प्रतीयमान अर्थों को समाविष्ट किया है। हम लक्षणा के प्रसंग में देख चुके हैं कि उपचार या

ध्वनिकार, लोचन तथा काव्यप्रकाश में उद्धृत भक्तिवादी

---

१. भाक्तमाहुस्तमन्ये। "ध्वन्यालोक पृ. २८ ( मद्रास सं. कुप्पूस्वामि द्वारा संपादित )

२. भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्मः, अभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तः लाक्षणिकोऽर्थः। × × × × गुण समुदायवृत्तेश्च शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्णादिर्भक्तिः तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः ।।

( लोचन, पृ. ६२, वही संस्करण )

उपचारवृत्ति भी लक्षणा का ही एक नाम है कुंतक की उपचार वक्रता में समस्त ध्वनिप्रपंच या व्यंजना का समावेश नहीं होता। वैसे उन्होंने वक्रता के अन्य भेदों में भी व्यंजना का समावेश किया है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि कुन्तक सारी व्यंजना को लक्षणा के अंतर्गत नहीं मानते। फिर भी पुराने आलंकारिकों ने कुंतक को भक्तिवादी ही माना है। इसीलिए हमने इस परिच्छेद में कुंतक का उल्लेख किया है।

कुंतक और भक्ति

एकावलीकार विद्याधर ने स्पष्ट बताया है कि कुंतक ने भक्ति (लक्षणा) के अंतर्गत समस्त ध्वनि (व्यंग्य) को अंतर्भावित माना है[1]। कुंतक की वक्रोक्ति वैसे भक्ति से सर्वथा भिन्न है, हाँ उपचार वक्रता में अवश्य भक्ति है। डॉ० हरिचंद शास्त्री ने एक स्थान पर इसी भक्ति को वक्रोक्ति से अभिन्न मानते हुए बताया है कि कुंतक का वक्रोक्ति संप्रदाय, भाक्त संप्रदाय के भी नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने भाक्त संप्रदाय का प्रवर्तक कुंतक को ही माना है[2]। डॉ० शास्त्री का यह मत समीचीन नहीं है। कुंतक को हम पूर्णतः भक्तिवादी नहीं मान सकते; क्योंकि व्यंजना का समावेश उसकी अन्य वक्रताओं में भी पाया जाता है, केवल उपचार वक्रता में ही नहीं। कुंतक का उल्लेख भाक्तवादियों में केवल आंशिक रूप में ही किया जा रहा है। उपचारवक्रता के अंतर्गत वस्तुतः लक्षणामूला व्यंजना (अविवक्षितवाच्य ध्वनि) का ही समावेश हुआ है। रुय्यक के टीकाकार समुद्रबन्ध ने यह बताया है कि कुंतक की उपचारवक्रता, ध्वनिसिद्धांतवादियों के अनुसार लक्षणामूला ध्वनि के अंतर्गत आती है[3]।

भाक्तवादी आचार्यों में हम पहला उल्लेख मुकुल भट्ट का कर चुके

---

१. एतेन यत्र कुन्तकेन भक्त्यन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्।
—एकावली पृ० ५१ (त्रिवेदी द्वारा संपादित)

२. Kalidasa et l'Art Poetique de l'Inde, P. 96-7.

३. अलंकारसर्वस्व टीका, पृ० ९.

**मुकुल भट्ट और अभिधा वृत्तिमातृका**

हैं। "अपनी अभिधावृत्तिमातृका" में उन्होंने अभिधा शक्ति का विवेचन किया है। इसी के अंतर्गत वे लक्षणा का भी विवेचन करते हैं। मुकुल भट्ट लक्षणा को भी अभिधा का ही अंग मानते हैं, तथा इसके विवेचन से ऐसा ज्ञात होता है कि वे वस्तुतः शब्द की एक ही वृत्ति मानने के पक्ष में हैं[1]। इसके अंतर्गत वे लक्षणा का भी समावेश करते हैं। फिर भी वे लक्षणा का विशद विवेचन अवश्य करते हैं तथा इसी के अंतर्गत प्रतीयमान अर्थ का समावेश करते जान पड़ते हैं।

लक्षणा का विचार करते समय मुकुल भट्ट ने लक्षणा के तीन भेदक तत्त्व माने हैं:—वक्ता, वाक्य तथा वाच्य। इन तीनों के कारण शुद्धा तथा उपचारमिश्रा लक्षणा तीन तीन प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद होते हैं[2]। जब तक वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की सामग्री का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक लक्ष्यार्थ प्रतीति नहीं होती। लाक्षणिक शब्दों में अपने आप लक्ष्यार्थबोधन की क्षमता नहीं है[3]।

इस दृष्टि से वक्तृनिबंधना, वाक्यनिबंधना, तथा वाच्यनिबंधना, मोटे तौर पर ये तीन लक्षणाभेद पर माने जा सकते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि ये तत्त्व हम व्यंजना में भी देख आये हैं, साथ ही मुकुल भट्ट के इन तीनों के उदाहरण भी ठीक वही हैं, जो ध्वनिवादी व्यंजना के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त करते हैं।

वक्तृनिबंधना—इस लक्षणा में वक्ता के रूप की पर्यालोचना के द्वारा लक्ष्यार्थ प्रतीति होती है। जैसे,

---

१. इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम् ॥

—अभिधावृ. मा. का. १२.

२. वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्।
लक्षणा त्रिप्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः ॥

(वही; का. ६)

३. न शब्दानामवधारितलाक्षणिकार्थसंबंधानां लाक्षणिकमर्थं प्रतिगमकत्वं, नापि च तत्र साक्षात् संबंधग्रहणं, किं तर्हि वक्त्रादिसामग्र्यपेक्षया स्वार्थव्यवधानेनेति ॥

—वही, पृ० १०.

दृष्टि हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यति
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरंध्रास्तनुमालिखंतु जरठच्छेदानलग्रंथयः ॥

'हे पडोसिन, जरा इस घर की ओर नजर डाले रहना । इस लड़के का बाप कुएँ का खारा पानी प्रायः नहीं पीता । इसलिए मैं अकेली ही जल्दी जल्दी तमाल के पेड़ों से घिरे हुए झरने तक जा रही हूँ । अत्यधिक सघन कठोर नल की ग्रंथियाँ मेरे शरीर को खरोंच डालें, तो खरोंच डालें ।' इस वाक्य की वक्त्री नायिका कुलटा है । वक्त्री की पर्यालोचना के बाद इसके लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाती है । मुकुल भट्ट इस प्रकार भावी रतगोपन को लक्ष्यार्थ मानते हैं । वस्तुतः यहाँ वक्तृ-वैशिष्ट्य के कारण वस्तु से वस्तु की व्यंजना हो रही है । भावी रतगोपन को इस वाक्य का लक्ष्यार्थ न मानकर व्यंग्यार्थ मानना ही उचित है । इस विषय में हम इसी परिच्छेद में प्रमाण तथा युक्तियाँ देंगे ।

वाक्यनिबंधनाः—इसमें वाक्य के रूप की पर्यालोचना करने पर लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है । जैसे,

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मंथखेदं विदध्या-,
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि ।
सेतु बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः,
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कंपः पयोधेः ॥

हे राजन्, तुम्हारे आने पर समुद्र काँपता हुआ दिखाई देता है । मानो वह अपने हृदय में तरह तरह के इन संदेहों को धारण किये है, अतः आंदोलित हो रहा है । इसे श्री ( राजलक्ष्मी; लक्ष्मी ) प्राप्त हो गई, फिर भी क्या यह मेरा मंथन कर मुझे पहले जैसा दुःख देगा ? इसमें तो मुझे पहले जैसी नींद भी नहीं मालूम होती । इसने तो आलस्य बिलकुल ही छोड़ रक्खा है । समस्त द्वीपों के स्वामियों के साथ यह राजा कहीं फिर समुद्र बाँधता है क्या ?

स्पष्ट है कि इस तीसरे भेद में मुकुल भट्ट रस व्यंजना या रसध्वनि का समावेश करते हैं। ध्वनिवादी के मत में यहाँ रस सर्वथा व्यंग्य रूप में ही प्रतीत होता है, लक्ष्य रूप में नहीं।

मुकुल भट्ट उपर्युक्त दिशा से वस्तुरूप, अलंकाररूप तथा रसरूप तीनों प्रकार की व्यंजना का समावेश लक्षणा में करते हैं। उनके मत से समस्त ध्वनिप्रपंच लक्षणा में अंतर्भावित हो जाता है।[1]

मुकुलभट्ट की भाँति कुंतक भी अभिधा जैसी एक ही शक्ति मानते हैं। इनकी वक्रोक्ति प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न विचित्र प्रकार की अभिधा ही है।[2] एक स्वाभाविक प्रश्न उठना सहज है कि यदि मुकुल भट्ट तथा कुंतक अभिधा जैसी एक ही मुख्या शक्ति को मानते हैं, और लक्षणा को उसका अंग ही मानते हैं, तो उनका समावेश अभिधावादियों में ही करना उपयुक्त था। लक्षणावादियों में इनका समावेश करने का क्या कारण है? इसका समाधान हम यह कर सकते हैं कि यद्यपि ये लोग लक्षणा को अभिधा का ही अंग मानते हैं, तथापि व्यंजना तथा प्रतीयमान अर्थ का समावेश इन्होंने अभिधा के लक्षणावाले अंग में किया है। कुंतक ने व्यंजना का समावेश उपचारवक्रता के अंतर्गत किया है, ऐसा कई विद्वानों का मत है। पर, सारी व्यंजना का क्षेत्र इस वक्रता में नहीं आता। कुन्तक ने अन्य प्रकार की वक्रताओं में भी कई ध्वनिभेदों का समावेश किया है। जैसे पर्यायवक्रता के अंतर्गत शब्दशक्तिमूला व्यंजना ( शब्द-शक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि ) का समावेश किया है।[3] फिर भी, यहाँ हम वक्रोक्तिकार की उपचारवक्रता का ही विवेचन करेंगे।

कुंतक की वक्रता

---

१. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेर्नूतनतपोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम् ॥ ( वही, पृ० २१ )

२. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।

—वक्रोक्तिजीवित, पृ० २१ ( दे द्वारा संपादित, १९२५ )

३. एष शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः ॥

वक्रोक्तिजीवित, पृ० ७५

कुन्तक के मतानुसार किसी अतिशय भाव का बोध कराने के लिए जहाँ किसी वर्णन में दूसरे पदार्थ के सामान्य धर्म का उपचार किया जाय, वहाँ उपचारवक्रता होती है। इसी के आधार पर रूपकादि अलंकारों का प्रयोग होता है।[1] कुन्तक की यह उपचारवक्रता प्रयोजनवती गौणी लक्षणा ही है, जिसके आधार पर रूपक, अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों की रचना होती है। कुन्तक ने इस प्रसंग में जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे सब लक्षणामूला व्यंजना ( अविवक्षितवाच्य ध्वनि ) के ही हैं : जैसे,

उपचारवक्रता

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ॥
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामाऽस्मि सर्वंसहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥

बगुलों की पंङ्क्तियों से सुशोभित बादलों ने चिकनी नीली कान्ति से आकाश को लीप रक्खा है। तुषारकणयुक्त शीतल हवाएँ बह रही हैं। बादलों के मित्र मयूर आनन्द से सुंदर केका कर रहे हैं। सचमुच मैं 'राम' बड़ा ही कठोरहृदय वाला हूँ। इसीलिए तो इन सब को सह लेता हूँ। किन्तु हाय, वैदेही की क्या दशा होगी। हे देवि, धैर्य धारण करो।

इसमें कुन्तक के मतानुसार 'स्निग्ध' ( चिकने ) शब्द में उपचारवक्रता है। किसी मूर्त वस्तु को देखने तथा स्पर्श करने से हमें चिकनाहट ( स्नेहन गुण ) मालूम होती है, तो वह वस्तु स्निग्ध होती है। किन्तु यहाँ 'स्निग्ध' शब्द 'कान्ति' का विशेषण है। कान्ति अमूर्त वस्तु है।

---

१. यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते ।
लेशेनापि भवेत् कांचिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः ।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते ॥
वक्रोक्ति जी० का० १३–१४, पृ० ८०

अतः 'कान्ति' के लिए 'स्निग्ध' का प्रयोग उपचार रूप में ही हुआ है।[1] कुन्तक ने उपचारवक्रता वहीं मानी है, जहाँ उपचार साधारणसंवेद्य रूप में गृहीत न हुआ हो। गूढ़प्रतीयमानार्थ वाले उपचार को ही वह इस कोटि में स्थान देता है। तभी तो "यह वाहीक गाय है" (गौर्वाहीकः) जैसे उपचार स्थलों में वह वक्रता नहीं मानता, क्योंकि यहाँ यह उपचार सभी को संवेद्य हो जाता है।[2]

अब तक हमने लक्षणावादियों का लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव करने का प्रयास देखा। अब हम लक्षणावादियों के मत को संक्षेप में देते हुए देखेंगे कि लक्षणा का समावेश वस्तुतः व्यंजना के अंतर्गत नहीं हो सकता। लक्षणावादियों की इस विषय में सबसे बड़ी दलील यह है कि जिस प्रकार मुख्यार्थ के संगत न बैठने पर उपचार से लक्ष्यार्थ ग्रहण होता है, ठीक उसी प्रकार मुख्यार्थ के संगत न बैठने पर ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है। अतः प्रतीयमान अर्थ लक्ष्यार्थ का ही एक भेद है। लक्षणावादियों के इस मतका ध्वनिकार, लोचनकार तथा मम्मट ने विशेष खण्डन किया है, तथा व्यंजना के क्षेत्र को लक्षणा से सर्वथा भिन्न बताया है।

*लक्षणावादी का संक्षिप्त मत*

प्रयोजनवती लक्षणा के विषय में हम देख चुके हैं कि वक्ता किसी न किसी विशेष भाव का बोध कराने के लिए वाचक शब्द का सीधे अर्थ में प्रयोग न कर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करता है। वहाँ पर वक्ता का प्रमुख अभिप्राय तत्तत् भाव का बोधन ही है। यह भावबोधन ही उसका साध्यहै। लाक्षणिक प्रयोग तो साधन मात्र है। यह साध्य व्यंग्यार्थ ही है। इसकी प्रतीति व्यंजनाव्यापार से ही होती है, क्योंकि लक्ष्यार्थ

*प्रयोजनवती लक्षणा का फल, व्यंग्यार्थ ही है। इसकी प्रतीति लक्षणा से नहीं होती।*

---

१ यथा मूर्तं वस्तु दर्शनस्पर्शनसंवेद्यस्नेहनगुणयोगात्। (स्निग्धमि) त्युच्यते, तथैव कान्तिरमूर्ताप्युपचारात् स्निग्धेत्युक्ता ॥

वही, पृ० ९१

२. अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्रताव्यवहारः, यथा गौर्वाहीक, इति। वक्रोक्तिजी० पृ० २

की प्रतीति में कराने के बाद लक्षणा में इतनी शक्ति नहीं रहती कि वह तीसरे अर्थ की भी प्रतीति करा दे।[१] काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में प्रयोजनवती लक्षणा के इस फल का विवेचन हुआ है। यहाँ मम्मट ने लक्षणावादियों का खण्डन किया है। वे बताते हैं कि फल वाले अर्थ की प्रतीति के लिए हमें कोई न कोई अलग से शक्ति माननी ही पड़ेगी। "प्रयोजन रूप फल की प्रतीति के लिए लक्षणा का प्रयोग किया जाता है तथा इसकी प्रतीति उसी लाक्षणिक शब्द से होती है। इस अर्थ की प्रतीति में व्यञ्जना से अन्य कोई व्यापार नहीं"[२] इस फल की प्रतीति में अभिधा नहीं मानी जा सकती। प्रयुक्त शब्द तथा फलरूप अर्थ में परस्पर साक्षात्संबंध नहीं है। यदि हम कहें "गंगा पर घर" तो इस लाक्षणिक प्रयोग के प्रयोजन "शीतलता तथा पवित्रता" का "गंगा" शब्द से संकेतग्रहण नहीं होता। यदि संकेतग्रहण होता, तो फिर जहाँ जहाँ 'गंगा' शब्द का प्रयोग किया जाय, वहाँ वहाँ शीतलता तथा पवित्रता की प्रतीति होने लगे।[3] साथ ही इसमें लक्षणा भी नहीं है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आदि तीन हेतुओं का होना आवश्यक है। "गंगा" शब्द के लाक्षणिक प्रयोग से प्रतीत व्यंग्यार्थ में मुख्यार्थबाध नहीं है। क्योंकि यदि सचमुच मुख्यार्थबाध मानते हो, तो शीतलता वगैरह की प्रतीति होगी ही नहीं। शीतलता तथा पवित्रता का बोध 'गंगा' के मुख्यार्थ के ही कारण हो रहा है। साथ ही प्रयोजन ( व्यंग्यार्थ ) में कोई तद्योग भी नहीं पाया जाता। इस तरह के प्रयोग में प्रयोजन रूप अर्थ ( लक्ष्यार्थ ) की प्रतीति के लिए कोई प्रयोजन भी दिखाई नहीं देता।[४] यदि 'गंगा' शब्द से 'शीतलता, पवित्रता' वाले व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ माना जाता है, तो उसकी प्रतीति 'गंगातट' वाले अर्थ के बाद होती है। अतः इसे 'गंगातट' वाले अर्थ के बोध के बाद ही प्रतीत

---

१. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः ॥

२. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥
—का० प्र० उ० २, कारिका २४, पृ० ५८

३. नाभिधासमयाभावात् । —वही पृ० ५९

४. हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ —वही पृ० ५९

मानना पड़ेगा। साथ ही इस सरणि से 'शीतलता' वगैरह को लक्ष्यार्थ माना जाता है, तो तीनों हेतु घटित नहीं होते। (१) 'गंगातट' स्वयं लक्ष्यार्थ है, मुख्यार्थ नहीं, अतः मुख्यार्थबाध घटित नहीं होता; (२) 'गंगातट' का 'शीतलता तथा पवित्रता' के साथ कोई योग नहीं है; (३) प्रयोजन की प्रतीति को लक्ष्यार्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। 'गंगा पर घर' इस वाक्य से "गंगातट" वाले अर्थ की प्रतीति होने पर अर्थ प्रतीति भी पूरी हो जाती हैं, अतः शब्द "स्खलद्गति" (अर्थ को द्योतित करने में असमर्थ) भी नहीं कहा सकता।[1] इतना होने पर भी किसी न किसी तरह लक्षणावादी व्यंग्यार्थ को भी लक्ष्यार्थ बनाने पर तुले हैं, तो फिर पहले प्रतीयमान अर्थ का प्रयोजन मानना ही पड़ेगा। यह प्रयोजन प्रथम प्रतीयमान अर्थ का लक्ष्य होगा। इसके लिए फिर तीसरे प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस तरह तो प्रत्येक प्रयोजन के लिए दूसरे प्रयोजन की आवश्यकता पड़ेगी और प्रयोजनों की परंपरा का अंत हो नहीं होगा।[2]

प्रतीयमान अर्थ को लक्ष्यार्थ न माने जाने पर लक्षणावादी एक नये ढंग से व्यञ्जना के प्रश्न को सुलझाने की सोचते हैं। उनके मत से

**प्रयोजन से युक्त लक्ष्यार्थ को लक्षणा के द्वारा बोध्य माना जा सकता है, इस विषय में लक्षणावादी का मत**

शब्द का लक्ष्यार्थ केवल लक्ष्यार्थ न होकर प्रयोजनविशिष्टलक्ष्यार्थ है। दूसरे शब्दों में 'गंगा' का लक्ष्यार्थ केवल 'गंगातट' न होकर 'शीतलता व पवित्रता वाला गंगातट' है। लक्षणावादियों की यह दलील विचित्र है। जब उनसे पूछा जाता है कि इस प्रकार के विशिष्ट अर्थग्रहण में क्या प्रयोजन है, तो इसका उत्तर भी उनके पास तैयार है। वे कहते हैं, हमें 'गंगातट पर घोष है' इस वाक्य से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उससे कहीं विशिष्ट अर्थ

---

१. लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः॥

—का० प्र० का० १२ पृ० ६०

२. एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षतिकारिणी॥ —वही, पृ० ६०

की प्रतीति 'गंगायां घोषः' कहने में है। यही इस लक्ष्यार्थ का प्रयोजन है।[1]

मम्मट ने इस दलील का उत्तर देने में न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र की सहायता ली है। वे बताते हैं, जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं, तो वह पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय है। किंतु उस विषय के प्रत्यक्ष से या ज्ञान से जो फल उत्पन्न होता है, वह उस पदार्थ से भिन्न वस्तु है। इसी फल को मीमांसक लोग "प्रकटता" या "ज्ञातता" कहते हैं। तार्किक इसे "संवित्ति" या "अनुव्यवसाय" के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए, मैं घड़े को देखता हूँ। वह घड़ा मेरे ज्ञान का विषय है। उसका ज्ञान होने पर मैं मन में सोचता हूँ "मैंने घड़े को जान लिया" (ज्ञातो घटः)। यह उस घटज्ञान का फल है तथा 'ज्ञातता' कहलाता है।[2] अथवा, घड़े को जान लेने पर, "मैं घड़े को जानता हूँ" (घटमहं जानामि) इस प्रकार का, मैं पर्यालोचन करता हूँ। यह संवित्ति या अनुव्यवसाय है।[3] यह प्रकटतारूप या संवित्तिरूप ज्ञान का फल उस विषय (घड़े) से सर्वथा भिन्न है, जिसका मुझे ज्ञान हो रहा है। इसी प्रकार जब लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो लक्ष्यार्थ उसका विषय ही है, फल नहीं। फल तो प्रतीयमान अर्थ ही है।[4] यह प्रकटता या संवित्ति जिस

मम्मट के द्वारा इस मत का खण्डन

---

१. ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते। 'गंगायास्तटे घोषः' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा तत्किं व्यञ्जनया ॥

—वही, पृ० ६१

२. घटज्ञानानन्तरं 'ज्ञातो घटः' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन् घटे ज्ञाततापरनाम्नी प्रकटता जायते इति अध्वरमीमांसकमीमांसा।

—बालबोधिनी (का० प्र०) पृ० ६१.

३. सति च घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति प्रत्ययरूपा अनुव्यवसायापरपर्याया संवित्तिर्घटज्ञानात् जायते इति तार्किकतर्कः ॥ —वही, पृ० ६२.

४. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥

—का० प्र० पृ० ६१.

प्रकार हमेशा ज्ञान होने के बाद ही होती है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति भी लक्ष्यार्थ प्रतीति के बाद ही होती है, साथ साथ ही नहीं। प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः लक्ष्यार्थ का कार्य है। अतः प्रतीयमानविशिष्ट लक्ष्यार्थ को शब्द का लक्ष्यार्थ मानना ठीक नहीं है। प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अलग से है, तथा उसकी प्रतीति लक्षणा से कदापि नहीं होती। मनः शास्त्रीय दृष्टि से भी लक्ष्यार्थ तथा प्रयोजन एवं उनके व्यापारों को भिन्न भिन्न ही मानना ठीक होगा।

लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव असंभव

ध्वनि को लक्षणा ( भक्ति ) में समाविष्ट करने वालों का खंडन करते हुए ध्वनिकार ने भी लक्षणा तथा व्यञ्जना के भिन्न व्यापारत्व पर प्रकाश डाला है। व्यञ्जना के ही आधार पर ध्वनि के अविवक्षितवाच्य ( लक्षणामूलक ) तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ( अभिधामूलक ) ये दो भेद किये जाते हैं। लक्षणामूलक में व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ के द्वारा होती है। यह भी दो भेदों में विभाजित होता है। (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, तथा (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इन भेदों का विशद विवेचन द्वितीय भाग में किया जायगा। संक्षेप विवरण के लिए प्रथम परिशिष्ट का "ध्वनि का वर्गीकरण" वाला अंश द्रष्टव्य है। ये दो ध्वनिभेद ही वस्तुतः लक्षणा या भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। किंतु जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, इनमें भी केवल भक्ति या लक्षणा से ही काम नहीं चल सकता। तभी तो ध्वनिरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ध्वनिकार ने लिखा है।

"जहाँ अभिधा शक्ति को छोड़कर लक्षणा के द्वारा अर्थप्रतीति कराई जाय, वहाँ जिस प्रयोजन को उद्देश करके ऐसा प्रयोग किया जाता है, उस शब्द में 'स्खलद्गतित्व' नहीं है।"[1] इसी को विशेष स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है कि "यह बालक शेर है" ( सिंहो बटुः ) इस वाक्य में "शेर" शब्द में 'स्खलद्गतित्व' नहीं है। यदि बालक की बहादुरी की सूचना में शब्द को 'स्खलद्गति' माना

१. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्यगुणवृत्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥
—का० २०, ध्वन्यालोक, उद्योत १. पृ० २७३ (मद्रास सं०)

जायगा, तो इस बहादुरी वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति ही न होगी। फिर इस तरह के प्रयोग की क्या जरूरत है। यदि इसकी (व्यंग्य की) प्रतीति उपचार से मानी जाती है, तो उसका कोई प्रयोजन मानना ही पड़ेगा। फिर तो प्रत्येक प्रयोजन का प्रयोजन ढूँढ़ना पड़ेगा। वस्तुतः यहाँ पर शब्द 'स्खलद्‌गति' है ही नहीं। प्रयोजन व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ मानने में मुख्यार्थबाध आदि कोई हेतु उपस्थित नहीं। अतः यहाँ प्रतीयमान की प्रतीति में लक्षणा व्यापार है ही नहीं। यहाँ कोई भी व्यापार नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। साथ ही अभिधा व्यापार भी यहाँ नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यंग्यार्थ में शब्द का संकेत नहीं है। अतः अभिधा, तथा लक्षणा से भिन्न जो कोई भी व्यापार है उसका ही नाम ध्वनन (व्यंजन, व्यंजना) है।[1]

व्यंग्यार्थ प्रतीति लक्ष्यार्थ के बिना भी संभव

प्रत्येक प्रतीयमान अर्थ किसी न किसी रूप में लक्षणा संश्लिष्ट हो ही; यह आवश्यक नहीं है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति सीधी मुख्यार्थ से भी हो सकती है, जैसा अभिधामूला व्यंजना में पाया जाता है। लक्षणावादियों का खंडन करते हुए मम्मट ने बताया है कि लक्षणा सदा अपने नियतसंबंध का ही द्योतन कराती है। जिस प्रकार अभिधा के द्वारा अनेकार्थ शब्द के नाना प्रकार के अर्थों की प्रतीति होती है, तथा वे सब अर्थ नियत रूप से उस शब्द से संबद्ध होते हैं, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी किसी न किसी तरह नियत रूप से संबद्ध अवश्य होता है। 'गंगा पर घर' में 'गंगा' पद से हम 'गंगातट' रूप नियत लक्ष्यार्थ ही ले सकते हैं। इसके अलावा किसी दूसरे लक्ष्यार्थ की प्रतीति हम इस पद से नहीं करा

---

१. यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमितव्ये स्खलद्‌गतित्वं शब्दस्य, तत्तर्हि प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करिष्यतीति चेत्, तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यम्। तत्राप्युपचारेऽनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्‌गतित्वम्, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणाव्यतिरिक्तं स ध्वननव्यापारः।

लोचन, पृ०, २७६ (मद्रास सं०)

सकते। लक्षणा इस तरह अभिधा का ही अंग सिद्ध होती है। वह अभिधा की पूँछ है। भट्ट मुकुल ने लक्षणा को अभिधापुच्छभूत ही माना है। व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना के विषय में यह बात लागू नहीं होती। प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से प्रतीत व्यंग्यार्थ, शब्द से नियत रूपेण संबद्ध नहीं रहता। लक्षणा को मुख्यार्थबाधादि की ठीक उतनी ही आवश्यकता होती है, जितनी अभिधा को संकेत की। किंतु व्यंजना को ऐसे किसी नियत हेतु की आवश्यकता नहीं।[1] व्यंग्यार्थप्रतीति तथा ध्वनि के ऐसे अनेकों स्थल हैं, जहाँ अभिधा तथा व्यंजना दो ही व्यापार होते हैं।

यदि लक्षणा से ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने की चेष्टा की जायगी, तो ऐसे स्थलों पर या तो व्यंग्य प्रतीति माननी ही न होगी, या फिर कोई न कोई दूसरा उपाय ढूँढना पड़ेगा। यह मानना कि ऐसे स्थलों में प्रतीयमान अर्थ ही नहीं है, असंगत तथा अनुचित है। जैसे,

> अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
> मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
> ( सोतीह्याँ हौं सास ह्याँ, पेखि दिवस मैं लेहु।
> सेज रतौंधी वस पथिक, हमरी मति पगु देहु॥ )

इस स्वयंदूती के वाक्य से जिस व्यंग्य की प्रतीति होती है, वहाँ मुख्यार्थ बाध आदि तीन हेतुओं का सर्वथा अभाव है। इसलिए यहाँ लक्षणा नहीं मानी जा सकती। यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त उदाहरण में विपरीतलक्षणा कदापि नहीं। वैसे इसमें निषेधरूप वाच्यार्थ ( मेरी सेज पर पैर न रखना ) से विधिरूप व्यंग्य ( रातको चुपचाप मेरी ही शय्या पर आना, भूल से कहीं मेरी सास की पर न

---

१, लक्षणीयार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनानियतसंबंधो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेष-वशेन नियतसंबंधः, अनियतसंबंधः, संबद्धसंबन्धश्चद्योत्यते। × × × × यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

का० प्र० उल्लास ५; पृ, २४८,

चले जाना ) की प्रतीति हो रही है। किन्तु यह प्रतीति ठीक विपरीत रूप में नहीं हो रही है।

प्रतीयमान अर्थ को अन्य आचार्यों ने किसी न किसी प्रमाण से या अन्य किसी रूप से प्रतीतिगम्य मानकर व्यंजना का खंडन किया है।

व्यंजना के अन्य विरोधी मत

इन लोगों के मतों का स्वयं के शब्दों में तो कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किंतु मम्मट तथा विश्वनाथ ने इनके मतों को पूर्व पक्ष में रखकर इनका खंडन किया है। ये लोग कौन थे, क्या ये मत प्रचलित भी थे या इन व्यंजनावादियों ने ही विभिन्न पूर्वपक्ष सरणियों की कल्पना कर ली थी, इस विषय में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना अनुमान अवश्य होता है कि वैयक्तिक रूप से ऐसे व्यंजनाविरोधी मत अवश्य प्रचलित रहे होंगे? इन मतों का विशेष महत्त्व न होने से हमने इनका उल्लेख भिन्न परिच्छेद में न कर इसी परिच्छेद के उपसंहार के रूप में करना उचित समझा है।

अखंड बुद्धिवादियों का मत

( १ ) अखंड बुद्धिवादियों का मतः—वेदांतियों के मतानुसार जब ब्रह्मरूप वाच्यार्थ की प्रतीति के लिए 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन' आदि वेद वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, तो वहाँ उस वाच्यार्थ की प्रतीति अखंड बुद्धि से ही होती है। अखंड बुद्धि से वेदांतियों का तात्पर्य उस बुद्धि से है, जो अनेक शब्द के वाक्य को सुनकर उसके अखंड रूप के ज्ञान की होती है, प्रत्येक शब्द से नहीं होती।[1] इसी बात को भगवान् बादरायण ने भी अपने सूत्र में बताया है कि "इस अखंड बुद्धि का निमित्त अनवयव ( अखंड ) वाक्य ही है, जो अविद्या के द्वारा दिखाये गये मिथ्या रूप पद तथा वर्ण के विभाग से युक्त होता है।"[2] अर्थात् भगवान् वेद्व्यास के मतानुसार पद तथा वर्ण का वाक्य

१. अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रतिष्ठितम्।
एकं वेदान्तनिष्णातास्तमखण्डं प्रपेदिरे॥

—का० प्र० बाल० पृ० २५१

२. अनवयवमेव वाच्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्णविभागमस्या निमित्तम्॥

—ब्रह्मसूत्र०

में कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है. न वे वाचक ही हैं, न वाक्य से भिन्न ही। वस्तुतः वे अविद्या के कारण अलग लगते हैं, ठीक वैसे ही जैसे भ्रांति से शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है। अखंड वाक्य ही पारमार्थिक तथा वास्तविक तत्त्व है, उसी के कारण अखंड बुद्धि से अखंड वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

कुछ विद्वान् व्यंग्यार्थ को इसी प्रकार अखंड बुद्धि ग्राह्य मानते हैं, तथा वही उस काव्य का वाक्यार्थ है। अखंड बुद्धिवादी वेदांतियों का यह अखंडार्थ वस्तुतः वाक्यार्थ का ही भेद है। इनके मत का उल्लेख कर मम्मट ने बताया है कि वेदांतियों की यह अखंड बुद्धि तो व्यवहार के क्षेत्र से दूर रहने पर ही काम कर सकती है।

अखंडवादियों का खंडन

दूसरे शब्दों में शुक्ति में रजतज्ञान वाली भ्रांतिमती अविद्या रूप माया का नाश होने पर तथा वास्तविक ज्ञान के उदय होने पर ही अखंड बुद्धि का उदय होगा। जब हम किसी बात को व्यावहारिक या अपारमार्थिक दृष्टि से देखते हैं, तो अविद्या (माया) की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। लौकिक व्यवहार पक्ष में तो वर्ण तथा पद की सत्ता माननी ही होगी, चाहे पारमार्थिक दृष्टि से वे "अविद्या के द्वारा दिखाये गये तथा झूठे "(अविद्योपदर्शितालीक) हों। अतः इसमें तो वाच्यार्थ की प्रतीति के लिए मीमांसकों वाली सरणि माननी ही पड़ेगी। इस सरणि से तो केवल मुख्यार्थप्रतीति ही होती है। इसलिए प्रतीयमान अर्थ के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता बनी ही रहती है। इसी बात को संक्षिप्त करते हुए मम्मट कहते हैः—

"जो लोग यह कहते हैं कि अखंड बुद्धिनिर्ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है तथा वाक्य ही (वर्ण या पद नहीं) उसका वाचक है; उन्हें भी अविद्या के क्षेत्र में पद, पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी। इस तरह तो उनके मत से भी "सोती ह्याँ हौ" आदि दोहे से विधिरूप व्यंग्य अर्थ, वाच्य नहीं हो सकेगा। अतः वह व्यंग्य ही सिद्ध होगा।"[1]

---

१. अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम् इति येऽप्याहुः तैरप्यविद्यापथपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षे ऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादि व्यंग्य एव ॥

—का० प्र० उ० ५, पृ० २५१

अर्थापत्ति प्रमाण और व्यञ्जना

( २ ) अर्थापत्ति और व्यञ्जनाः—विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में एक स्थान पर अर्थापत्ति के अंतर्गत व्यञ्जना का समावेश करने वालों के मत का उल्लेख किया है। संभव है यह मत किन्हीं मीमांसकों का रहा होगा। अर्थापत्ति, मीमांसकों के मत से, ज्ञान का एक प्रमाण है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शाब्द, इन प्रसिद्ध ४ प्रमाणों के अतिरिक्त, मीमांसक अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। जहाँ वाक्य के अर्थ से तत्संबद्ध भिन्नार्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह प्रमाण होता है। पारिभाषिक शब्दों में अर्थापत्ति में उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है।[1] इस प्रमाण का प्रसिद्ध उदाहरण यह है:—"यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता" ( पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते ) इस वाक्य से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा "देवदत्त रात में खाता है" ( अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते ) इसकी प्रतीति होती है। नैयायिक अर्थापत्ति को अलग से प्रमाण न मान कर अनुमान के अंतर्गत ही इसका समावेश करते हैं। कुछ लोग प्रतीयमान अर्थ को इसी अर्थापत्ति प्रमाण के अंतर्गत मानते हैं। यह मत ठीक नहीं। वस्तुतः अर्थापत्ति भिन्न रूप से कोई प्रमाण नहीं, वह अनुमान का ही भेद है। साथ ही अनुमान के द्वारा भी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इसका विशद विवेचन आगामी परिच्छेद में किया जायगा। जिस प्रकार अनुमान में किसी न किसी पूर्वसिद्ध हेतु तथा व्याप्ति संबंध की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थापत्ति में भी होती है। प्रतीयमान अर्थ में किसी पूर्वसिद्ध वस्तु की आवश्यकता नहीं। विश्वनाथ ने अर्थापत्ति का खंडन संक्षेप में यों किया है:—"इस तरह हमने अर्थापत्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीति मानने वाले लोगों का भी खंडन कर दिया है। क्योंकि अर्थापत्ति भी पूर्वसिद्ध व्याप्ति संबंध पर निर्भर रहती है। जैसे यदि कोई कहे, चैत्र जीवित है, तो हम इस अर्थ की प्रतीति कर लेंगे कि वह कहीं जरूर होगा, चाहे वह इस सभा में नहीं बैठा हो। जो कोई जिंदा होता है, वह कहीं न कहीं विद्यमान अवश्य होता है—यह अनुमान प्रणाली का व्याप्तिसंबंध यहाँ काम कर ही रहा है। अतः अर्थापत्ति

---

१. उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। —वेदान्तपरिभाषा

अनुमान से भिन्न नहीं। तथा उससे व्यंग्यार्थ प्रतीति नहीं हो सकती।"[1]

(३) सूचनबुद्धि तथा व्यञ्जनाः—कुछ लोगों के मतानुसार व्यंग्यार्थ सूचनबुद्धि जनित है। जिस प्रकार कुछ लोग किसी बात को द्योतित करने के लिए कुछ संकेत बना लेते हैं, इसी प्रकार कुछ लोगों ने व्यंग्यार्थ के विषय में ऐसे ही संकेत बना लिये हैं। "किंतु यह व्यंग्यार्थ उस प्रकार सूचनबुद्धि संवेद्य नहीं है, जैसा वस्त्रादि के विक्रय के समय तर्जनी के संकेत आदि से संख्या का बोध कराया जाता है। वस्तुतः इस सरणि में तो पहले से ही संकेत बना कर इष्ट लोगों को समझा दिया जाता है। यह सूचनबुद्धि भी किसी लौकिक प्रमाण पर ही आश्रित रहती है। वस्तुतः इसमें अनुमान प्रमाण होता है।"[2] अतः इसमें व्यञ्जना का समावेश नहीं हो सकता।

सूचनबुद्धि तथा व्यञ्जना

(४) स्मृति तथा व्यञ्जनाः—व्यंग्यार्थ प्रतीति स्मृति जन्य भी नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि प्राचीन ज्ञान के संस्कार के कारण इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ की स्मृति हो आती है। किंतु प्रत्यभिज्ञा के हेतु एक ही स्थान पर न होकर अनेक स्थानों पर होते हैं, अतः एक ही निश्चित प्रतीयमान अर्थ में उसका प्रत्यभिज्ञान स्मृति के द्वारा कैसे हो सकता है।[3]

स्मृति तथा व्यञ्जना

---

१. एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यंग्यानामपास्तम्, अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्ध व्याप्तिच्छायां उपजीव्यैव प्रवृत्तेः। यथा—"यो जीवति स कुत्राप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमान इत्यत्र इत्यादौ।"

—सा० द० परि० ५, पृ० ३५० (हरिदासी सं०)

२. किञ्च, वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत् सूचनबुद्धिवेद्यो-ऽप्ययं न भवति, सूचनबुद्धेरपि संकेतादिलौकिकप्रमाण मापेक्षत्वानुमानप्रकार-तांगीकारात्। —सा० द० परि० ५, पृ० ३९०

३. यच्च "संस्कारजन्यत्वात् रसादिबुद्धिः स्मृतिः" इति केचित्। तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता। —वही पृ० ३९१

इस प्रकार व्यञ्जना का क्षेत्र अभिधा, लक्षणा, अखंडबुद्धि, अर्थापत्ति, सूचनबुद्धि या स्मृति से सर्वथा भिन्न है। इसका समावेश किसी के भी अंतर्गत नहीं हो सकता। महिमभट्ट जैसे तार्किक इसका समावेश अनुमान में करने की चेष्टा करते हैं, किंतु यह मत भी असमीचीन ही है।

उपसंहार

---

# नवम परिच्छेद

## अनुमानवादी तथा व्यञ्जना

व्यञ्जना के विरोधी आचार्यों में महिम भट्ट का प्रमुख स्थान है। व्यञ्जना शक्ति का विरोध करने वाले अन्य आचार्यों के मत तो केवल संक्षिप्त रूप में ही मिलते हैं, किंतु महिम भट्ट ने व्यञ्जना विरोध पर एक पूरा ग्रंथ लिख डाला है। व्यञ्जना तथा उसके आधार पर स्थापित ध्वनि के अंग प्रत्यंग का सूक्ष्मतः निरीक्षण करने का प्रयत्न इस ग्रंथ में किया गया है। महिम भट्ट का "व्यक्तिविवेक" व्यञ्जनाविरोधी ग्रंथ होने के कारण अलंकारशास्त्र में विशेष महत्त्व रखता है। व्यञ्जना तथा ध्वनि के विद्यार्थी के लिए तो उसका महत्त्व और भी अधिक है। महिम भट्ट ने व्यञ्जना जैसी शक्ति को सर्वथा अस्वीकार करते हुए, अनुमान प्रमाण के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान माना है।

अनुमानवादी महिम भट्ट

महिम भट्ट का उल्लेख मम्मट, विश्वनाथ तथा बाद के अन्य आलंकारिकों ने किया है। किंतु महिम भट्ट का यह ग्रंथ सन् १९०९ तक अप्रकाशित ही रहा। सर्व प्रथम श्री त० गणपति शास्त्री ने त्रिवेंद्रम से इसका प्रकाशन किया। ग्रंथ के साथ ही राजानकरुय्यक (अलंकार सर्वस्व के रचयिता) की 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' नामक टीका भी प्रकाशित की गई। यह टीका केवल द्वितीय विमर्श तक ही थी। इस ग्रंथ के अत्यधिक जटिल होने के कारण इसकी कोई न कोई टीका अपेक्षित थी। साहित्याचार्य श्री मधुसूदन शास्त्री ने इस ग्रंथ पर "मधुसूदनी" विवृति लिखी है। इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण व्याख्यान तथा मधुसूदनी दोनों टीकाओं के साथ चौखंबा संस्कृत सीरीज में बनारस से सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ है।

व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट का समय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य-भाग में रक्खा जा सकता है। ग्रन्थ में माघ, ध्वनिकार, अभिनवगुप्त, कवि रत्नाकर, भट्टनायक आदि के उल्लेख तथा उद्धरण मिलते हैं। इनमें अभिनवगुप्त का रचना-काल ईसा की दसवीं शताब्दी का अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी ( ९९३ ई०–१०१५ ई० ) का आरंभ माना जाता है।[1] महिम भट्ट अभिनवगुप्त के समसामयिक ही रहे होंगे। महिम के व्यक्तिविवेक की अनुमानसरणि का उल्लेख सर्वप्रथम मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है। अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक तो इस ग्रन्थ के टीकाकार ही हैं। आगे जाकर हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि कई आलंकारिकों ने महिम भट्ट के मत का उल्लेख किया है। महिम भट्ट को मम्मट के पश्चात् कदापि नहीं माना जा सकता। मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग है। अतः महिम भट्ट अभिनवगुप्त तथा मम्मट के बीच रहे होंगे।[2]

व्यक्तिविवेककार का समय

महिम भट्ट की व्यंजनाविरोधी सरणि को आरंभ करने के पूर्व हमें 'व्यक्तिविवेक' का विषय संक्षेप में जान लेना होगा। व्यक्तिविवेक तीन विमर्शों में विभक्त ग्रन्थ है। प्रथम विमर्श में व्यक्तिविवेककार ध्वनि की परीक्षा करते हुए उसके लक्षण का खंडन करना आरंभ करते हैं। ध्वनि के लक्षण में वे लगभग १० दोषों को बताकर उस लक्षण को अशुद्ध सिद्ध करते हैं। इसी संबंध में वे वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख करते हैं, तथा प्रतीयमान अर्थ को अनुमितिग्राह्य या अनुमेय मानते हैं। ध्वनिकार की भाँति इसके वस्तु, अलंकार, रस ये तीन भेद महिम भट्ट ने माने हैं। इसी संबंध में बताते हैं कि ये तीनों भेद व्यंग्य नहीं हैं। इतना होने पर भी रस के विषय में व्यंग्यव्यंजकभाव का औपचारिक प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु वस्तु तथा अलंकार को तो औपचारिक दृष्टि से भी व्यंग्य नहीं माना जा सकता। ध्वनि या

व्यक्तिविवेक का विषय

---

१. देखिये, परिशिष्ट २

२. देखिये—व्यक्तिविवेक की आंग्ल भूमिका ( त्रिवेंद्रम संस्करण ) पृ० ७–१०

व्यंग्यार्थ को महिम भट्ट परार्थानुमानरूप मानते हैं। आगे जाकर वे ध्वनि के शब्दशक्तिमूलादि भेदों का भी खंडन करते हैं। द्वितीय विमर्श में वे शब्ददोषों ( शब्दानौचित्य ) पर विचार करते हुए ध्वनि की परिभाषा में प्रक्रमभेद, पौनरुक्ति आदि दोषों को बताते हैं। तृतीय विमर्श में वे उन उदाहरणों को लेते हैं, जहाँ प्रतीयमान अर्थ में ध्वनिकार व्यंजना शक्ति तथा ध्वनि मानते हैं। इन्हें महिम भट्ट अनुमान के अंतर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से कुछ उदाहरणों में तो महिम प्रतीयमान अर्थ की ही प्रतीति को अस्वीकार कर देते हैं। बाकी उदाहरणों में कोई न कोई हेतु ढूँढकर प्रतीयमान अर्थरूप साध्य की अनुमिति सिद्ध करते हैं। इसका विवेचन इसी परिच्छेद में आगे किया जायगा।

जैसा कि हम बता चुके हैं महिम भट्ट व्यंग्यार्थ को व्यंजना के द्वारा प्रतीत अर्थ न मानकर अनुमेय मानते हैं। अतः अनुमान प्रमाण का आवश्यक ज्ञान महिम भट्ट की सिद्धान्तसरणि को समझने के लिए अपेक्षित है। अनुमान को सीधे शब्दों में हम वह प्रमाण मान सकते हैं, जिसमें किसी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान हो। यह अप्रत्यक्ष वस्तु उस प्रत्यक्ष वस्तु से संबद्ध अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि उस संबंध के बिना एक से दूसरे का ज्ञान होना असंभव है। यह प्रत्यक्ष वस्तु अप्रत्यक्ष वस्तु ( अनुमेय ) का कारण या कार्य हो सकती है। जैसे, घर से बाहर निकलने पर मैं सड़क पर पानी देखता हूँ। यद्यपि मैंने आँखों से वृष्टि होते नहीं देखा तथापि मैं यह अनुमान कर लेता हूँ कि वृष्टि हुई है। इसी तरह आकाश में काले बादलों को घुमड़े देखकर मैं उसके कार्यरूप भविष्यत्कालीन वृष्टि का अनुमान कर सकता हूँ। यहाँ सड़क पर देखे हुए पानी तथा वृष्टि में, एवं काले बादलों के घुमड़ने तथा वृष्टि में परस्पर कार्य-कारण संबंध है। इसी की सहायता से हम एक को देखकर दूसरे का अनुमान लगा लेते हैं। इसी संबंध को नैयायिकों की शब्दावली में "व्याप्ति" संबंध कहा जाता है।

अनुमान प्रमाण का स्पष्टीकरण

अनुमान प्रमाण पर दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों में विशेष विवेचन हुआ

है। विशेषरूप से, नैयायिकों ने इस विषय में पर्याप्त गवेषणा की है।

व्याप्ति संबंध

प्रत्यक्ष वस्तु के सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् संबंध पर ही अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान निर्भर है। अतः इसकी शुद्धता पर बहुत विचार किया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि प्रत्यक्ष वस्तु जिसके द्वारा अनुमान कराया जाता है. 'हेतु' कहलाती है, इसे हम साधारण शब्दों में अनुमापक कह सकते हैं। जिस वस्तु का अनुमान होता है, वह 'साध्य' ( अनुमाप्य ) है। ऊपर के उदाहरणों में, 'सड़क पर पानी का होना, तथा 'काले बादलों का घुमड़ना'. "हेतु" हैं तथा "वृष्टि का होना" "साध्य" है। हम बता चुके हैं कि अनुमान प्रणाली में हेतु तथा साध्य के नियत संबंध पर बड़ा जोर दिया जाता है। इसी नियत संबंध को "व्याप्ति" कहते हैं। जब तक किसी व्यक्ति को हेतु तथा साध्य का यह नियत संबंध ज्ञात न होगा. तब तक उसे अनुमिति नहीं होगी। जब वह बार बार दो वस्तुओं के इस प्रकार के नियत संबंध को देख लेगा, तभी वह उस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा। फिर किसी भी हेतु को देखकर उससे नियतरूप से संबद्ध साध्य की अनुमिति कर लेगा। किन्तु, इस अनुमिति के पूर्व एक बार वह उस व्याप्तिसंबंध को याद करेगा। व्याप्ति संबंध के याद करने को पारिभाषिक शब्दों में "परामर्श" कहते हैं। उदाहरण के लिए, मैंने देखा कि जहाँ भी धुआँ होता है, वहाँ आग अवश्य होती है। यह मैं बार बार देखता हूँ। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से मैं धूम तथा अग्नि के व्याप्तिसबंध का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता हूँ। जब मैं बाद में केवल धूम देखता हूँ, तो यह अनुमान कर लेता हूँ कि आग अवश्य है, जिससे धुआँ निकल रहा है। इस अनुमान के पूर्व मैं सोचता हूँ "जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ आग भी होती है, यहाँ धुआँ है, अतः आग भी है"। इसी सोचने को "परामर्श" कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार अनुमितिग्रहण में इस परामर्श का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ अनुमान दूसरों को कराया जाता है ( परार्थानुमान ) वहाँ तो इसका महत्त्व स्पष्ट है ही, किन्तु स्वार्थानुमान में भी परामर्श अवश्य होता है।

नैयायिकों के अनुसार वह ज्ञान जो परामर्श के कारण होता है, अनुमिति है, तथा उस ज्ञान का प्रमाण अनुमान। जैसे यह पर्वत वह्नि-

व्याप्यधूमवान् है, यह परामर्श है। इस परामर्श से "पर्वत में वह्नि है" इस प्रकार की अनुमिति होती है। जहाँ जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ आग है, यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्य ( धूम ) का पर्वत आदि में रहना पारिभाषिक शब्दों में 'पक्षधर्मता' कहलाता है।[1] यह अनुमान स्वार्थ तथा परार्थ, दो प्रकार का होता है। स्वार्थ में व्यक्ति स्वयं ही अनुमान कर लेता है, किंतु परार्थ में वह पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग कर दूसरे को अनुमान कराता है, जैसे,

परार्थानुमान के पंचावयव वाक्य

( १ ) इस पर्वत में आग है, ( पर्वतोऽयं वह्निमान् )
( २ ) क्योंकि यहाँ आग है, ( धूमवत्त्वात् )
( ३ ) जहाँ जहाँ धुआँ होता है आग भी होती है, जैसे रसोईघर में ( यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः )
( ४ ) यह भी वैसा ही है, ( तथा चायम् )
( ५ ) इसलिए यह पर्वत भी वह्निमान् है। ( तस्मात् तथा )

परार्थानुमान में इस पंचावयव वाक्य का बड़ा महत्त्व है। इसके बिना अनुमान हो ही नहीं सकता। पाश्चात्य दर्शन में भी अनुमान वाक्यों ( Syllogism ) का बड़ा महत्त्व है, किंतु उनकी प्रणाली ठीक ऐसी ही नहीं है। अरस्तू की अनुमान प्रणाली में वाक्य त्र्यवयव होता है तथा परामर्श वाक्य सर्वप्रथम उपात्त होता है। न्याय के ये

---

१. अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः। यत्र यत्र धूम स्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता॥

—तर्कसंग्रह पृ० ३४

( साथ ही ) पक्षनिष्ठविशेष्यतानिरूपितहेतुनिष्ठप्रकारतानिरूपितव्याप्तिनिष्ठप्रकारताशालि ज्ञानं परामर्श इति निष्कर्षः। एतादृशपरामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वमनुमितेर्लक्षणम्॥ —न्यायबोधिनी टीका ( त० सं० ) पृ० ३६

पंचावयव वाक्य क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन कहलाते हैं।[1]

हेतु, तथा साध्य के नियत संबंध की दृष्टि से व्याप्ति के तीन भेद किये जाते हैं:—अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति, अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेकव्याप्ति।

व्याप्ति के तीन प्रकार

जैसे धुएँ के रहने पर आग रहती है (अन्वय-व्याप्ति) और आग के न रहने पर धुआँ भी नहीं रहता (व्यतिरेकव्याप्ति)। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि व्यतिरेकव्याप्ति में अन्वय व्याप्ति वाले साध्य (अग्नि) का अभाव हेतु बन जायगा, तथा हेतु (धूम) का अभाव साध्य बन जायगा। इस व्याप्ति का उदाहरण भी ऐसा होगा, जहाँ हेतु तथा साध्य दोनों नहीं पाये जाते। जहाँ दोनों में केवल अन्वय संबंध ही होता है, वहाँ अन्वय व्याप्ति ही होगी। यदि कोई कहे कि घड़े (पदार्थ) का कोई नाम अवश्य होना चाहिए और वह इसके लिए यह हेतु दे कि घड़ा प्रमेय (ज्ञातव्य) पदार्थ है, तो यहाँ अन्वय व्याप्ति होगी। हम कह सकते हैं जो भी पदार्थ प्रमेय है, उसका कोई न कोई नाम जरूर होता है, जैसे कपड़े के विषय में। किंतु यदि हम व्यतिरेक व्याप्ति लें तो यहाँ संगत नहीं होगी। क्योंकि उस दशा में हम कहेंगे जहाँ नाम नहीं (अभिधेयाभाव) है, वहाँ प्रमेय भी नहीं (प्रमेयाभाव) है। इसका हम कोई उदाहरण नहीं दे सकते हैं। क्योंकि उदाहरण देना तो 'अभिधेय' की सिद्धि करता है। व्यतिरेक व्याप्ति वहाँ होगी जहाँ हेतु तथा साध्य का संबंध व्यतिरेक रूप में पाया जाता है। जैसे कहा जाय, पृथिवी तत्त्व अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न है, क्योंकि पृथिवी में गन्ध गुण पाया जाता है। यहाँ हम यही व्याप्ति बना सकते हैं कि जहाँ पृथिवी से भिन्नता है, वहाँ गन्ध नहीं पाया जाता। जैसे पानी में गन्ध नहीं है। क्योंकि अन्वय व्याप्ति लेने पर तो हमें उदाहरण नहीं मिलेगा। जहाँ जहाँ गन्ध पाया जाता है, वहाँ वहाँ पृथिवी है, तो इसका उदाहरण न हम दे सकेंगे क्योंकि सारा पृथिवीत्व ही साध्य बन गया है।

---

१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानस इत्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

—तर्क सं० पृ० ३९

व्याप्ति संबंध के साथ नैयायिकों के पारिभाषिक शब्द 'पक्ष', 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' को भी समझ लेना है। पक्ष वह स्थान है, जहाँ हेतु को देखकर हम साध्य का अनुमान करते हैं। जैसे, "पर्वत में आग है, क्योंकि वहाँ धुआँ है" नैयायिकों के इस प्रसिद्ध उदाहरण में 'पर्वत' 'पक्ष' है। 'सपक्ष' वह स्थान है, जहाँ पक्ष के समान ही हेतु तथा साध्य का नियतसाहचर्य पाया जाता है। जैसे इसी उदाहरण में "महानस" (रसोईघर)। रसोईघर में भी धुएँ और आग का नियतसाहचर्य देखा जाता है, अतः वह सपक्ष है। अन्वयव्याप्ति में यही सपक्ष दृष्टांत (उदाहरण) रूप में प्रयुक्त होता है। विपक्ष वह है, जहाँ हेतु तथा साध्य दोनों ही का अभाव रहता है। जैसे इसी उदाहरण में पर्वत का विपक्ष 'तालाब' है। व्यतिरेक व्याप्ति में यही विपक्ष उदाहरण रूप में उपस्थित होता है। नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में 'पक्ष' 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' को हम इस प्रकार निबद्ध कर सकते हैं। 'पक्ष' वह है जहाँ साध्य की स्थिति संदिग्ध है; क्योंकि हमें अभी उसकी सिद्धि करना है। 'सपक्ष' में साध्य की स्थिति निश्चित है, तथा विपक्ष में साध्य का अभाव निश्चित है।[1]

पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष

हम देख चुके हैं कि अनुमान प्रणाली में हेतु का सबसे विशिष्ट स्थान तथा महत्त्व है। यही वह साधन है, जिसके द्वारा किसी वस्तु की अनुमिति हो सकती है। अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि यह शुद्ध हो, अर्थात् इसमें वैसी अनुमिति कराने की क्षमता हो। इसी कारण हेतु को सद्धेतु तथा असद्धेतु इन दो कोटियों में विभक्त किया गया है। असद्धेतु वस्तुतः हेतु नहीं होते, न वे किसी प्रकार अनुमिति ही करा सकते हैं, फिर भी बाहर से ये हेतु-से प्रतीति होते हैं। इसी लिए इन हेतुओं को हेत्वाभास कहा जाता है।[2] महिम भट्ट के मत की

हेत्वाभास

१. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथातत्रैव महानसः। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः। —तर्कसं० पृ० ४३-४.

२. हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः दुष्टहेतव इत्यर्थः। × × हेतौ दोषज्ञाने सति अनुमितिप्रतिबन्धो जायते व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धो वा जायते॥ —न्यायबो० (तर्कसं० टी०) पृ० ४४.

जाँच पड़ताल करने में हमें हेत्वाभासों को अच्छी तरह समझ लेना होगा, क्योंकि हमें यही देखना है कि कहीं प्रतीयमानार्थ की अनुमिति कराने वाले महिम भट्ट के हेतु दुष्ट तो नहीं हैं। यदि दुष्ट हैं, तो फिर उस प्रकार की अनुमिति करानेमें सर्वथा असमर्थ हैं, तथा उस प्रकार की अर्थप्रतीति अनुमान प्रमाणवेद्य नहीं मानी जा सकती।

ये दुष्ट हेतु पाँच प्रकार के माने गये हैं:—सव्यभिचार, (अनैकान्तिक), विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित।[3] सव्यभिचार हेतु का दूसरा नाम अनैकान्तिक भी है। अनैकान्तिक का शब्दार्थ है, वह जो सभी जगह पाया जाय। अर्थात् वह हेतु जो पक्ष, सपक्ष, तथा विपक्ष सभी स्थानों पर विद्यमान रहता हो, अनैकान्तिक है। हेतु में यह आवश्यक है कि वह विपक्ष में विद्यमान न हो। अनैकान्तिक हेतु का उदाहरण हम ले सकते हैं:—

पाँच प्रकार के हेत्वाभास

पर्वत में आग है, (पर्वतोयं वह्निमान्)
क्योंकि पर्वत ज्ञातव्य पदार्थ (प्रमेय) है (प्रमेयत्वात्)

इस उदाहरण में 'प्रमेयत्व' हेतु दुष्ट है, क्योंकि प्रमेयत्व तो तालाब आदि विपक्ष में भी पाया जाता है। ज्ञातव्य पदार्थ तो तालाब भी है, जहाँ आग नहीं पाई जाती। महिम भट्ट की अनुमानसरणि में हम देखेंगे कि उसके कई हेतु इस अनैकान्तिक कोटि में आते हैं।

दूसरा हेतु विरुद्ध है। जो हेतु साध्य के प्रतियोगी (विरोधी) से व्याप्त हो, वह हेतु विरुद्ध होता है। जैसे कहा जाय कि शब्द नित्य है, क्योंकि शब्द कार्य है (शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्), तो यहाँ हेतु विरुद्ध है। जो भी वस्तु कार्य होती है, वह सदा अनित्य होती है। इस तरह 'कृतकत्व' का नियत संबंध 'नित्यत्व' के प्रतियोगी 'अनित्यत्व' से है।

तीसरा हेतु सत्प्रतिपक्ष है। किसी हेतु के द्वारा हम किसी साध्य को सिद्ध करने जा रहे हैं। कोई दूसरा व्यक्ति इसी साध्य के अभाव को दूसरे हेतु से सिद्ध कर सकता है, तो यहाँ पहला वाला हेतु सत्प्रतिपक्ष है सत्प्रतिपक्ष का शाब्दिक अर्थ है, "जिसकी बराबरी वाला कोई

३. सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः ॥
—त० सं० पृ० ४४.

मौजूद हो।' उदाहरण के लिए एक व्यक्ति कहता है शब्द नित्य है, क्योंकि हम उसे सुन पाते हैं (शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्), इसमें "श्रावणत्व" हेतु असन् है। दूसरा व्यक्ति यह सिद्ध कर सकता है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे "घड़ा" (शब्दो ऽनित्यः, कार्यत्वात् घटवत्)।

असिद्ध वह हेतु है, जिसकी स्थिति ही न हो। इस स्थिति में या तो उसका आश्रय नहीं रहता (आश्रयासिद्ध), या वह स्वयं ही नहीं होता, (स्वरूपासिद्ध), या हेतु सोपाधिक होता है। जैसे "आकाश-पुष्प सुगंधित है, क्योंकि वह पुष्प है" यहाँ आकाशपुष्प (आश्रय) होता ही नहीं। यह आश्रयसिद्ध हेतु है। स्वरूपसिद्ध जैसे, "शब्द गुण है, क्योंकि वह देखा जा सकता है" (शब्दो गुणः, चाक्षुपत्वात्)। इसमें हेत्वाभास है, क्योंकि शब्द में 'चाक्षुपत्व' स्वरूप से नहीं पाया जाता। शब्द तो केवल सुना जा सकता है। सोपाधिक हेतु को व्याप्य-त्वासिद्ध कहते हैं। जैसे "पर्वत में धुआँ है, क्योंकि यहाँ आग है" यह हेतु सोपाधिक है। वस्तुतः धूम का व्याप्ति संबंध आग मात्र से न होकर गीली लकड़ीवाली आग से है। अतः गीली लकड़ी यहाँ उपाधि के रूप में विद्यमान है। जहाँ गीली लकड़ी वाली आग होगी, वहीं धूम होगा।

जहाँ साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाय, वह हेतु बाधित होता है। "जैसे "आग शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है" (वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्) इस उदाहरण में आग का उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। अतः यह हेतु बाधित है। महिम भट्ट की अनुमानप्रणाली में अनैकान्तिक के अतिरिक्त कई हेतु असिद्ध तथा बाधित भी हैं।

महिम भट्ट की मतसरणि को समझने के लिए हमें याद रखना होगा कि महिम भट्ट प्रतीयमान अर्थ को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते। जहाँ तक प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का प्रश्न है वे भी इस विषय में ध्वनिकार से सहमत हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ उदाहरणों में वे प्रतीय-मान अर्थ को नहीं मानते और कहते हैं कि इन स्थलों में वस्तुतः कोई प्रतीयमान अर्थ नहीं है। महिम भट्ट के इस

महिम भट्ट और प्रतीयमान अर्थ

मत को हम आगामी पंक्तियों में विवेचित करेंगे। जहाँ तक प्रतीयमान अर्थ की चमत्कारिता का प्रश्न है, महिम भट्ट का मत ध्वनिकार से भिन्न नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रतीयमान रूप में प्रतीत अर्थ वाच्य रूप से अधिक चमत्कृति उत्पन्न करता है।[१] फिर भी सबसे बड़ा भेद जो ध्वनिकार तथा महिम भट्ट में पाया जाता है, वह यह है कि महिम इस प्रतीयमान अर्थ को किसी शब्दशक्तिविशेष के द्वारा संवेद्य न मान-कर अनुमान प्रमाण द्वारा अनुमित मानते हैं। ध्वनिकार इसकी प्रतीति के लिए अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य से व्यतिरिक्त व्यंजना नामक चतुर्थ शक्ति की कल्पना करते हैं, यह हम देख चुके हैं। 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ में महिम ध्वनिकार की व्यंजना शक्ति का खंडन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति किस प्रकार अनुमान के अंतर्गत आती है। वे स्वयं अपने ग्रंथ के आरंभ में ही संकेत करते हैं कि व्यंग्यार्थ या ध्वनि वस्तुतः अनुमेयार्थ ही है।

"समस्त ध्वनि ( व्यंग्यार्थ, प्रतीयमान अर्थ ) का अनुमान के अंदर अंतर्भाव करने के लिए महिम भट्ट परा वाणी को नमस्कार कर व्यक्ति विवेक की रचना करता है[२]।"

सर्वप्रथम महिम भट्ट ध्वनिकार की ध्वनि संबंधी परिभाषा[3] को

---

१. वाच्यो हि अर्थो न तथा स्वदते, यथा स एव प्रतीयमानः ॥
—व्य० वि० द्वितीय विमर्श पृ० ७३ ( त्रि० सं० )

वाच्यो हि न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव विधिनिषेधादिः काक्वभिधेयतामनुमेयतां वावतीर्णं इति स्वभाव एवायमर्थानाम् ॥
—वही, पृ० ५४ ( चौ० सं० सी० )

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥
—वही, १.१, पृ० १

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
—( ध्वन्या० का० १ )

लेते हुए बताते हैं कि यह लक्षण विवेचना करने पर अनुमान में ही संघटित होता है। वस्तुतः यह अनुमान ही है, ध्वनि नहीं।[1] महिम भट्ट का मत यह है कि इस प्रकार के काव्य विशेष को ध्वनि न कह कर "अनुमान" ( काव्यानुमिति ) नाम देना ही ठीक है। साथ ही महिम भट्ट ध्वनिकार की ध्वनि की परिभाषा को अशुद्ध तथा दुष्ट बताते हैं। जिस काव्य विशेष में अर्थ स्वयं को, तथा शब्द अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बना कर किसी व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, उसे ध्वनिकार, ध्वनि मानते हैं। महिम भट्ट का कहना है कि इस परिभाषा में 'शब्द' का प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि शब्द तो कभी भी गुणीभूत नहीं हो सकता। शब्द का प्रमुख प्रयोजन तथा व्यापार स्वार्थप्रत्यायन ही है। साथ ही अर्थ को जो 'उपसर्जनी-भूत' ( गौण ) विशेषण दिया है, वह भी ठीक नहीं। अर्थ ( वाच्यादि ) का प्रयोग तो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने के लिए किया ही गया है। वह तो उस प्रतीयमान अर्थ का हेतु है। अग्नि की सिद्धि करते समय उसका हेतु धूम तो अप्रधान ( गौण ) है ही।[2] अतः पुनः गौणत्व बताने की आवश्यकता क्या है ?

महिम के द्वारा 'ध्वनि' की परिभाषा का खंडन

शब्द तथा अर्थ के संबंध पर प्रकाश डालते हुए महिम भट्ट बताते हैं कि अर्थ दो प्रकार का होता है :—वाच्य तथा अनुमेय। वाच्य अर्थ सदा शब्द व्यापार विषयक होता है। इसलिये वह 'मुख्य' भी कहलाता है। उस वाच्य अर्थ से या उसके द्वारा अनुमित अन्य (प्रतीयमान) अर्थ हेतु से जिसकी अनुमिति हो, वह अनुमेय अर्थ है। यह अनुमेय अर्थ वस्तुमात्र, अलंकार तथा रसादिरूप है। वस्तु तथा अलंकाररूप तो वाच्य भी हो सकता है,

महिम भट्ट के मत से अर्थ के दो प्रकार :— वाच्य तथा अनुमेय

---

१. एतच्च विविच्यमानं अनुमानस्यैव संगच्छते, नान्यस्य ॥

—व्यक्ति० पृ० ९

२. न ह्यग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानो गुणतामतिवर्तते ॥

—वही, पृ० १०

किंतु रस रूप का अर्थ सदा अनुमेय ही होता है।[1] यहाँ भी महिम भट्ट ध्वनिकार के ही पदचिह्नों पर चल रहे हैं, भेद केवल इतना ही है कि महिम भट्ट को व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना जैसी शब्दावली सम्मत नहीं। ध्वनिकार का व्यंग्यार्थ भी वस्तु, अलंकार, तथा रसरूप होता है। उनके मतानुसार वस्तु तथा अलंकार वाच्य भी हो सकते हैं, किंतु रसादिरूप[2] तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है। महिम का कहना है कि रसादिरूप अनुमेय अर्थ के लिए कुछ लोग व्यंग्यव्यंजक भाव मान लेते हैं, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वस्तुतः वह व्यंजित होता है! रसादि की प्रतीति में भी वस्तुतः धूम तथा अग्नि जैसा गम्यगमकभाव (अनुमाप्यानुमापकभाव) होता अवश्य है, किंतु उसकी गति इतनी तीव्र है कि उस संबंध का पता नहीं लगता। इसीलिए कुछ लोग भ्रांति से इसकी प्रतीति में व्यंग्यव्यंजकभाव मान बैठते हैं, तथा उसके आधार पर ध्वनि का भी व्यवहार करने लगते हैं। यह प्रयोग वस्तुतः औपचारिक ही है। उपचार के प्रयोग का प्रयोजन यह है कि रस सहृदयों को आनंद देता है।[3] किंतु वस्तु तथा अलंकाररूप अनुमेयार्थ में तो गम्यगमकभाव स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उनके लिए व्यंग्य शब्द का प्रयोग करने में कोई कारण नहीं दिखाई देता। इसी संबंध में महिमभट्ट यह भी बताते हैं कि ध्वनिवादियों ने वैयाकरणों के स्फोट

---

१. अर्थोऽपिद्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः × × × तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः, वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति॥ —व्यक्तिवि० पृ० ३९

२. आदि शब्द से यहाँ रसाभास, भाव, भावाभास, भावसंधि, भावोदय, भावशान्ति तथा भावशबलता का ग्रहण किया जाता है, जो रस की अपक्वावस्थाएँ हैं।

३. केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युगमः तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम। —व्यक्तिवि० पृ० ५३

के साम्य के आधार पर इस प्रतीयमान अर्थ में भी व्यंग्यव्यंजकभाव तथा ध्वनित्व माना है, किंतु जिन शब्दों को वैयाकरण ध्वनि संज्ञा देते हैं, उनमें तथा उनके स्फोटरूप अर्थ में वस्तुतः व्यङ्ग्यव्यंजकभाव हो ही नहीं सकता। उनमें भी ध्वनि रूप शब्द अनुमापक तथा स्फोट रूप अर्थ अनुमाप्य ही है। अतः उसके आधार पर इस अर्थ को अनुमाप्य तथा इसके प्रत्यायक व्यापार को अनुमान ही मानना होगा।[1]

इस प्रकार महिमभट्ट मुख्य रूप में तो वाच्य तथा अनुमेय ( गम्य ) इन दो ही अर्थों को मानते हैं, किंतु उपचार वृत्ति से व्यंग्यार्थ जैसे तीसरे अर्थ को स्वीकार जरूर करते हैं।[2] क्योंकि रसादि की प्रतीति में उसका व्यवहार पाया जाता है। यहाँ महिमभट्ट की मतसरणि में स्पष्ट ही 'वदतो व्याघात' प्रतीत होता है।

**महिमभट्ट में 'वदतो व्याघात'**

"प्रौढवाद रचनाविचक्षण"[3] नैयायिकप्रवर महिमभट्ट ने इस 'वदतो व्याघात' को मिटाने की भित्ति पहले ही खड़ी कर ली है। इसी को हटाने के लिए वे रसादिरूप अर्थ के लिए प्रचलित व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को औपचारिक तथा भ्रांतिजनित मानते हैं। समझ में नहीं आता कि इसे भ्रांतिजनित मानने पर भी व्यंग्य जैसे तीसरे अर्थ का उल्लेख

---

१. आद्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्ष्यत्वात् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निबन्धन एव तत्र व्यङ्ग्यव्यपदेशग्रहः। अतएव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्याना मन्तःसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यंग्यव्यञ्जकभावो न संभवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद्यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्नः, तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्। —व्यक्तिवि० पृ० ५७

२. मुख्यवृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति। उपचारतस्तु व्यंग्य स्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्। —व्यक्तिवि० पृ० ७५

३. व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार रुय्यक ने टीका में महिम भट्ट के लिए इस विशेषण का प्रयोग निम्न पद्य में किया है:—

कर्तृभेदविषयां विरुद्धतां क्त्वो निवार्य घटितक्रियाभिधः।
प्रौढवादरचनाविचक्षणो लक्ष्यसिद्धिमुदितान् करोन्नू व्यधात्॥

—पृ० ३६

करने की क्या आवश्यकता थी। क्योंकि भ्रांतिजनित ज्ञान तो 'प्रमा' की कोटि में आयगा ही नहीं। यदि उपचार से व्यङ्ग्य जैसे तीसरे अर्थ की स्थिति मानी जाती है, तो उपचार से ही व्यक्ति तथा व्यंजना जैसे व्यापार को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार तो महिमभट्ट को किसी न किसी तरह व्यंजना जैसा व्यापार मानना ही पड़ेगा, जिसके खंडन पर वे तुले हुए हैं।

काव्यानुमिति

इस प्रकार प्रतीयमान या व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय मानकर महिम भट्ट ध्वनि का भी नाम बदल कर उसे 'काव्यानुमिति' संज्ञा देते हैं। ध्वनिकार के प्रतीयमानार्थ-विशिष्ट काव्य के लक्षण में दस दोष बताकर वे इसका नया लक्षण यों देते हैं—

"वाच्य या उसके द्वारा अनुमित अर्थ जहाँ दूसरे अर्थ को किसी संबंध से प्रकाशित करता है, वह काव्यानुमिति कहलाती है।"[1] आगे जाकर महिमभट्ट यह भी घोषित करते हैं कि शब्द में केवल एक ही शक्ति है, अभिधा; तथा अर्थ में केवल लिंगता (हेतुता) ही पाई जाती है। अतः शब्द तथा अर्थ में से कोई भी व्यंजक नहीं हो सकता। महिम-भट्ट के मतानुसार शब्द में केवल अभिधा होने से वह सदा वाचक ही होगा तथा अर्थ में केवल लिंगता होने से वह सदा हेतु ही रहेगा।[2] इस प्रकार महिमभट्ट लक्षणा तथा तात्पर्य जैसी शक्ति का निषेध करते हुए उनका भी समावेश अनुमान में ही करते हैं। जो लोग वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थ में परस्पर व्यंग्यव्यंजकभाव मानते हैं, उनका खण्डन करते हुए महिम भट्ट कहते हैं:—

"वाच्य तथा प्रत्येय अर्थ में परस्पर व्यञ्जकता तथा व्यंग्यता नहीं है, क्योंकि वे दीपक के प्रकाश तथा घड़े को भाँति एक साथ प्रकाशित

---

१. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥
—व्यक्तिवि० १.२५ पृ० १०५

२. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥
—वही १.२६, पृ० १०५

नहीं होते। हेतु (वाच्य) के पक्ष में रहने के कारण तथा वाच्य एवं प्रत्येय में व्याप्तिसिद्धि होने के कारण उनमें अनुमाप्यानुमापक भाव ठीक उसी तरह है जैसे वृक्षत्व तथा आम्रत्व में अथवा अग्नि तथा धूम में।"[1]

महिम का आशय यह है कि जैसे आम्रत्व के हेतु के द्वारा वृक्षत्व का अनुमान हो जाता है (अयं वृक्षः; आम्रत्वात्), अथवा जैसे धुएँ के द्वारा आग का अनुमान हो जाता है (पर्वतोऽयं वह्निमान्, धूमवत्त्वात्); ठीक वैसे ही वाच्य अर्थ रूप हेतु के द्वारा प्रत्येय अर्थ रूप साध्य की अनुमिति हो जाती है। इस विषय में एक युक्ति महिम ने यह भी दी है कि इंद्रधनुष जैसी वस्तुओं में जो असत् पदार्थ हैं, व्यक्ति (व्यंजना) नहीं मानी जा सकती, वहाँ तो कार्य ही मानना पड़ेगा। जो संबंध सूर्यप्रकाश तथा इंद्रधनुष में है, वही वाचक तथा प्रत्येय अर्थ में है।

वाच्यार्थ के अतिरिक्त जिन जिन अर्थों की प्रतीति होती है, वे सभी महिम भट्ट के मत से अनुमान कोटि के ही अंतर्गत आयँगे। "गौर्वाहीकः" जैसी गौणी लक्षणा; तथा "गंगायां घोषः" जैसी प्रयोजनवती शुद्धा में भी महिम लक्षणा नहीं मानते।

"वाहीक में गोत्व का आरोप करने से उन दोनों की समानता की अनुमिति होती है। यदि ऐसा न हो तो कौन विद्वान् उस से भिन्न असमान वस्तु में उसी वस्तु का व्यवहार करेगा।"[2]

"गंगायां घोषः" में जब हम "गंगातट पर आभीरों की बस्ती है" यह अर्थ लेते हैं तो यह अर्थ अनुमितिगम्य ही है।[3] महिम भट्ट का कहना है कि शब्द कभी भी अपनी मुख्या वृत्ति को नहीं छोड़ता। यदि

---

१. वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यंग्यव्यञ्जकतार्थयोः।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात्॥
पक्षधर्मत्वसंबंधव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणम्।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद्यद्वाऽनलधूमयोः॥
—वही, १.२४-५ पृ० १०६

२. गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते।
को ह्यतस्मिन्न तत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद् बुधः॥
—वही, १.४६, पृ० ११६ (क० सं० सी०)

३. देखिये, वही, पृ० ११३–४

किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, तो वह सदा मुख्यार्थ रूप हेतु के द्वारा अनुमित ही होती है।[१] केवल लक्षणा ही नहीं तात्पर्यशक्ति का समावेश भी महिम अनुमान के ही अंतर्गत करते हैं। तात्पर्यशक्ति तथा तात्पर्यार्थ के प्रसिद्ध उदाहरण "जहर खालो, (पर) इसके घर पर न खाना" (विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुंक्थाः)[२] "में "इसके घर खाने से जहर खाना अच्छा है" यह अर्थ (तात्पर्यार्थ) अनुमित रूप में ही प्रतीत होता है। महिम भट्ट ने बताया है कि इस स्थल में जो तात्पर्यप्रतीति होती है, वह आर्थी ही है तथा वाच्यार्थ रूप लिंग (हेतु) से अनुमित होती है।

"इसके घर पर भोजन करना जहर खा लेने से भी बढ़ कर है" इस प्रकार के अर्थ की अनुमिति वाच्य के द्वारा ही होती है। इसकी अनुमिति प्रकरण तथा वक्ता के स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति ही कर पाते हैं। कोई भी समझदार व्यक्ति बिना किसी कारण के ही मित्र के प्रति कहे गये वाक्य से 'विषभक्षण' का अनुमान नहीं कर लेता। अतः ऐसे स्थलों पर दूसरे अर्थ की प्रतीति अर्थबल से ही प्राप्त होती है, वह तात्पर्यशक्ति जन्य कदापि नहीं।"[3]

महिम भट्ट ने आगे जाकर ध्वनि के विभिन्न भेदों में से कई का खण्डन किया है, किंतु केवल व्यंजना या व्यंग्यार्थ का विवेचन करते समय हम ध्वनि के भेदोपभेदों में नहीं जाना चाहते। महिम भट्ट के ध्वनि के भेदोपभेदों के खण्डन पर विचार ध्वनि का विवेचन करते समय यथावसर (द्वितीय भाग में) किया जायगा।

---

१. मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते।
विहितोऽर्थान्तरेह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत्॥

२. इस उदाहरण के विशेष विवेचन के लिए देखिए परि० ७
(भट्ट लोल्लट का मत)

३. विषभक्षणादपि परामेतद्गृहभोजनस्य दारुणताम्।
वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवक्तृस्वरूपज्ञाः॥
विषभक्षणमनुमनुते नहि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः।
तेनात्रार्थान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः॥
—व्यक्तिवि० १.६७–८, पृ० १२२

अनुमान के अंतर्गत व्यञ्जना के समावेश करने का जो सैद्धांतिक रूप महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में रक्खा है, उसी का व्यावहारिक रूप हमें तीसरे विमर्श में मिलता है। महिम भट्ट की अनुमानवादी "थियरी" का "प्रैक्टिकल" रूप हमें यहाँ मिलता है, जहाँ महिम भट्ट ने ध्वनिसम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन के द्वारा दिये गये व्यञ्जना संबंधी (ध्वनिसंबंधी) उदाहरणों में से एक एक को लेकर उनकी जाँच पड़ताल की है। इन सब स्थलों में महिम भट्ट ने प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया है। इसे सिद्ध करने के लिए वे कोई न कोई हेतु ढूँढ लाये हैं। कुछ ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ महिम प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को ही सर्वथा अस्वीकार करते हैं। हमें देखना है कि क्या कहीं ये महिम के हेतु असद्धेतु तो नहीं? इसके लिए हम चुने हुए चार उदाहरण लेकर उन पर महिम का मत देखेंगे।

महिम भट्ट के द्वारा अनुमान के अंतर्गत ध्वनि के उदाहरणों का समावेश

(१) भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणहो अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण॥
( घूमहुँ अब निहचिंत ह्वै धार्मिक गोदातीर।
वा कूकर को कुंज में मार्‌यो सिंह गँभीर॥ )

यहाँ गोदावरी तीर के संकेतस्थल पर पुष्पचयन करने के लिए आकर विघ्न करने वाले धार्मिक को कोई नायिका सिंह के द्वारा कुत्ते के मारे जाने की घटना को बताती हुई कह रही है:—"धार्मिक अब तुम मजे से गोदातीर पर घूमना। तुम्हें काटने वाला कुत्ता मार दिया गया।" इस तरह प्रकट रूप में वह धार्मिक से प्रिय बात कह रही है। किंतु वस्तुतः वह धार्मिक को चेतावनी देना चाहती है, "बच्चू, उधर पैर न रखना, नहीं तो जान खतरे में होगी।" इस प्रकार यहाँ विधि के द्वारा प्रतिषेध विहित है।

महिम भट्ट इस स्थल में प्रतिषेध रूप प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय ही मानते हैं। वे बताते हैं, "इस पद्य में विधि रूप वाच्य तथा निषेध

रूप प्रतीयमान इन दो अर्थों की क्रमशः प्रतीति हो रही है। इन दोनों में ठीक वैसा ही साध्य-साधन-भाव है जैसा धूम तथा अग्नि में।"[1] जहाँ तक वाच्यार्थ का प्रश्न है, उनकी प्रतीति तो आपाततः हो ही जाती है, विधिरूप साध्य का हेतु "कुत्ते का मारा जाना" यहाँ विद्यमान है। प्रतीयमान अर्थ में, जब हम यह सोचते हैं कि कुत्ता वस्तुतः मारा गया है तो हमें कुत्ते को मारनेवाले क्रूर सिंह का ध्यान आ जाता है। यह क्रूर सिंह का अस्तित्व साधन बन कर कुंज में अभ्रमण रूप निषेधार्थ की अनुमिति कराता है। जहाँ भी कहीं कोई भीषण भयजनक वस्तु होगी, वहाँ डरपोक व्यक्ति कभी न जायगा। गोदावरी तीर पर भीषण सिंह है, अतः भीरु धार्मिक वहाँ न जायगा।[2] इस प्रकार निषेध रूप अर्थ अनुमित हो जायगा।

महिम भट्ट का यह हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है। अतः इस हेतु से अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। इस हेतु में न केवल अनैकांतिकत्व ही है, अपितु विरुद्धत्व एवं असिद्धत्व भी पाया जाता है। ऐसा देखा गया है कि कई स्थानों में भयजनक हेतु के रहने पर भी भीरु व्यक्ति भी गुरु या स्वामी के आदेश के कारण या प्रियानुराग के कारण भ्रमण करता ही है। अतः "दृप्तसिंहसद्भाव" हेतु विपक्ष में भी पाया जाता है। साथ ही कुछ वीर लोग ऐसे भी देखे जाते हैं, जो कुत्ते से डरते हों, किंतु सिंह से न डरते हों। कुत्ते से डरने का कारण भीरुता न होकर कुत्ते की अपवित्रता हो सकती है। अतः यह हेतु विरुद्ध भी है। साथ ही गोदावरी तीर पर वस्तुतः सिंह है ही, यह प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण के द्वारा तो सिद्ध है ही नहीं, यदि कोई प्रमाण है तो नायिका का वचन ही है। किंतु उस कुलटा के वचनों को आप्त वाक्य नहीं माना जा सकता। अतः सिंह की कुञ्ज में स्थिति सिद्ध न होने से यह हेतु असिद्ध भी है। अतः तीन तीन

---

१. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयो धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्।

—वही, तृतीय विमर्श, पृ० ४०० ( चौ० सं० सी० )

२. अयं गोदावरीकच्छकुंजदेशः, भीरुभ्रमणायोग्यः।

दृप्तसिंहसद्भावात्॥

हेत्वाभासों के रहते हुए भी भ्रमण निषेध रूप अर्थ को अनुमितिगम्य मानना वृथा हठ है।[1]

(२) अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
(सोती ह्याँ हौं सास ह्याँ पेखि दिवस माँ लेहु।
सेज रतौंधी वस पथिक हमरी मति पगु देहु॥)

इस गाथा में जैसा कि हम पहले देख आये हैं, निषेध रूप वाच्यार्थ से विधिरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। महिमभट्ट के मतानुसार इसमें कोई भी प्रतीयमान अर्थ नहीं है। उसके मत में "रतौंधी" अथवा दोनों शय्याओं को हेतु मानने वाले लोग ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की उक्तियाँ तो सच्चरित्र स्त्रियों के मुख से भी सुनी जाती हैं। इसलिये महिमभट्ट के मतानुसार "यहाँ कोई भी हेतु नहीं है।"[2]

वस्तुतः इस स्थान पर महिमभट्ट को ऐसा कोई हेतु नहीं मिला जो उनके मत में विधिरूप प्रतीयमान अर्थ की अनुमिति करा देता। इसीलिये महिमभट्ट ने ऐसे स्थलों पर प्रतीयमान अर्थ का ही सर्वथा निषेध कर देना सरल समझा है।

(३) लावण्यकांतपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्,
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः॥

हे चंचल नेत्र वाली सुंदरि, समस्त दिशाओं को अपने लावण्य की कांति से प्रदीप्त करनेवाले, मुस्कुराते हुए तुम्हारे मुख को देखकर भी

---

१. भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो बिभ्यदपि सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि; गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः॥ —का० प्र० उ० पं०, पृ० २५४–५

२. किञ्चात्र निरूप्यमाणो हेतुरेव न लभ्यते॥
—व्यक्तिवि०, तृतीय विमर्श पृ० ४०५

यह समुद्र बिलकुल क्षुब्ध नहीं होता। इस बात को देखकर मैं समझता हूँ कि समुद्र सचमुच ही जड़राशि ( पानी का समूह; मूर्ख ) है।

इस पद्य में किसी नायिका के समस्त गुणों से युक्त मुख को देखकर समुद्र का चंचल होना उचित ही है। किंतु किसी कारण से समुद्र में क्षोभ नहीं होता। इस बात से, नायिका के मुख पर पूर्णचंद्र के आरोप के बिना समुद्र में क्षोभ नहीं हो सकता, अतः मुख तथा चंद्रमा के ताद्रूप्य की कल्पना होती है। यह कल्पना उन दोनों के रूप्यरूपकभाव का अनुमान कराती है, अतः यहाँ रूपकानुमिति है।[1]

इस उदाहरण में प्रतीयमान ( व्यंग्य ) अर्थ अलंकार रूप है। "नायिका का मुख पूर्णचंद्र है" इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो रही रही है। महिमभट्ट के अनुसार यह प्रतीति अनुमित होती है, तथा उस मुख को देखकर "समुद्र में क्षोभ का होना" यह हेतु उसके ऊपर पूर्णचंद्र के आरोप का अनुमापक है। महिमभट्ट की अनुमानसरणि को हम यों मान सकते हैं।

नायिका-मुख पूर्ण चंद्रमा है ( नायिकामुखं पूर्णचंद्रः )
क्योंकि उसे देखकर, समुद्र जडराशि ( एतद् दृष्ट्वा जडराशित्वाभावे
न होता तो क्षुब्ध अवश्य होता। सति समुद्रस्य क्षुब्धत्वात् )

पहले इस विषय में हेतु सोपाधिक है। इस हेतु में "यदि समुद्र जडराशि न होता तो" ( जडराशित्वाभावे सति ) यह उपाधि हेतु के साथ लगा हुवा है। यदि केवल "क्योंकि समुद्र क्षुब्ध होता है" इतना भर ही हेतु होता तो "जहाँ-जहाँ समुद्र में चंचलता पाई जाती है, वहाँ-वहाँ पूर्ण चंद्र की स्थिति है" यह व्याप्ति तो ठीक बैठ जाती है। किंतु व्याप्ति से प्रकृत पक्ष में अनुमिति होना असंभव है, क्योंकि यहाँ हेतु सोपाधिक है। सोपाधिक हेतु वस्तुतः सद्धेतु की कोटि में नहीं आता; अतः इस

---

१. "···इत्यत्रापि यदेतत् कस्याश्चिद्यथोदितगुणोदितसौन्दर्यसम्पदि वदने सति समुद्रसंक्षोभाविर्भावस्योचितस्यापि कुतश्चित् कारणादभावाभिधानं तत्तस्य पूर्णेन्दुरूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानं मुखस्य ताद्रूप्यमुपकल्पयत् पूर्ववत् तयो रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिव्यपदेशो भवति।"
—व्यक्तिवि० तृ० वि० पृ० ४३१

हेतु से "रूपक अलंकार" की अनुमिति मानना ठीक नहीं। वस्तुतः व्यंजनाव्यापार से ही रूपकध्वनि की व्यक्ति हो रही है।

(४) निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बांधवजनस्याज्ञातपीडोद्गमे
वापीं स्नातु मितो गतासि न पुन स्तस्याधमस्यांतिकम्॥
(कुच चंदन अंजन गयो, भयो पुलक सद भाय।
दूति न गइ तू अधम पै आई वापी न्हाय॥)

इस उदाहरण का समावेश व्यक्तिविवेक के तृतीय विमर्श में तो नहीं मिलता, किन्तु मम्मट ने इस उदाहरण को लेकर महिम भट्ट की मतसरणि का उल्लेख करते हुए इसमें अनुमिति का पूर्वपक्ष बताकर उसका खंडन किया है। इसलिए यहाँ हमने इस उदाहरण का समावेश करना अत्यधिक उपयुक्त समझा है। महिम भट्ट के मत से, इसमें "निषेधरूप" वाच्यार्थ से जिस विधिरूप प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो रही है, वह अनुमित ही होगा। इसके दो हेतु माने जा सकते हैं :—(१) चंदनच्यवनादि, तथा (२) अधम पद। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि अधम पद की सहायता से ये चंदनच्यवनादि हेतु विधिरूप प्रतीयमान की अनुमिति कराते हैं।

तू उसी के पास गई थी। (साध्य)

क्योंकि वह अधम है, तथा तेरे शरीर पर चंदनच्यवनादि हैं। (हेतु)[1] यहाँ ये हेतु सद्धेतु न होकर हेत्वाभास ही हैं। प्रथम हेतु "अधम" है। यहाँ नायक वस्तुतः अधम है, यह किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है।[2] जब तक हेतु किसी प्रत्यक्ष या शब्द प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं है, तब तक उसके द्वारा किसी साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः यह हेतु असिद्ध है। दूसरा हेतु "चंदनच्यवनादि"

---

१. त्वं तस्यैवान्तिकं गता (तव तस्यैवान्तिकं गतिमत्त्वम्)
तस्य अधमत्वात्, तव शरीरे चन्दनच्यवनादिमत्त्वाच्च।

२. न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्॥
—का० प्र० उ० पं० पृ० २५६

है। यह भी सद्धेतु न होकर अनैकान्तिक हेत्वाभास है। चंदनच्यवनादि सदा क्रीड़ा के ही कारण होते हों ऐसा नहीं है, ये दूसरे कारणों से भी हो सकते हैं। इसी पद्य में वापी स्नान के कारण इनका होना बताया गया है। वैसे ये बावली में नहाने से भी हो सकते हैं। अतः यह हेतु केवल पक्ष में ही नहीं सभी जगह पाया जाता है[1]। अतः यह अनैकांतिक हेतु है। ये दोनों हेतु "विधिरूप" प्रतीयमान अर्थ की अनुमिति कराने में अशक्त हैं।

**महिम के मत में प्रतीयमान रसादि के अनुमापक हेतु**

जिस प्रकार ध्वनिवादी संघटना ( रीति ), वर्ण, विशेष वाचक आदि को रत्यादि भाव का व्यंजक मानते हैं, ठीक उसी प्रकार महिम भट्ट के मत में भी ये तत्तत् भाव की अनुमिति कराते हैं। वे कहते हैं :—"संघटना, वर्ण, तथा विशेष वाचक के द्वारा समर्पित अर्थ से क्रोधादि विशिष्ट भावों की अनुमिति ठीक वैसे ही होती है, जैसे धूम से अग्निकी।"[2] यही नहीं, ध्वनिकार की भाँति वे भी सुप्, तिङ्, आदि को भी क्रोधोत्साहादि का गमक मानते हैं। तभी तो वे कहते हैं :—

"सुप्, तिङ् आदि संबंध क्रोध उत्साह आदि भावों की अनुमिति कराते हैं।[3]

ध्वनि तथा व्यंजना के विषय में सुप्, तिङ्, उपसर्ग आदि व्यंजकों से युक्त प्रसिद्ध निम्न उदाहरण में महिम अनुमिति ही मानते हैं।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः तत्राप्यसौ तापसः
सोप्यत्रैव निहंति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः

---

३. तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कार्यान्तरतोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तमिति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। —का० प्र० उ० पं० पृ० २५६

१. सङ्घटनावर्णाहितविशेषवाचकसमर्पितादर्थात्।
क्रोधादिविशेषगतिर्धूमविशेषादिव कृशानोः॥ —वही, पृ० ४४४

२. सुप्तिङ्सम्बन्धाद्या क्रोधोत्साहादिकान् भावान्।
गमयन्ति ... ... ... —वही, पृ० ४५४

धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

मेरी सबसे बड़ी बेइज्जती यही है कि मेरे शत्रु हैं, और ऊपर से शत्रु भी यह तपस्वी ( राम ) है। वह यहीं मेरे घर में ही आकर राक्षसों को मार रहा है। इतना होने पर भी रावण जी रहा है, यह बड़े दुःख की बात है। इंद्र-जीत को धिक्कार है। कुम्भकर्ण के जगाने से भी कोई फायदा न हुआ। स्वर्ग के छोटे गाँवड़े को लूट कर व्यर्थ में फूले हुए ये ( बीस ) हाथ किस काम के हैं।

इस पद्य में "शत्रु" ( अरयः ) में बहुवचन, "तापसः" में तद्धित प्रत्यय, "मार रहा है" ( निहंति ) तथा "जी रहा है" ( जीवति ) में वर्तमान कालिक क्रिया ( तिङ् ), 'ग्रामटिका' में 'क' प्रत्यय, तथा 'प्रबोधित' में 'प्र' उपसर्ग, इन सभी के कारण रावण के क्रोध, शोक तथा ग्लानि की व्यंजना हो रही है। महिम भट्ट ने इन सब को हेतु मानकर तत्तत् भाव को अनुमितिगम्य ही माना है। वे बताते हैं:—"इस पद्य में इन सभी का गमकत्व ( हेतुत्व ) स्पष्ट दिखाई देता है।" "तत्र मे यदरयः में उक्त प्रकार से सुप् संबंध का गमकत्व पाया जाता है, इसी प्रकार आगे भी है।" किंतु महिम भट्ट के ये हेतु भी असत् ही हैं। क्योंकि जहाँ-जहाँ इनका प्रयोग पाया जाता है, वहाँ तत्तत् भाव पाया जाता हो, ऐसा व्याप्ति संबंध मानना अनुचित है।

रस, वस्तु या अलंकार रूप प्रतीयमान किसी भी दशा में पद, पदांश, अर्थ, वर्ण आदि के द्वारा अनुमित नहीं हो सकता। इस संबंध में इन सभी हेतुओं की अनैकांतिकता स्पष्ट है।

उपसंहार

इतना होने पर इनके द्वारा तत्तत् प्रतीयमान की अनुमिति मानना, न केवल साहित्यशास्त्र के अपितु न्याय शास्त्र तथा तर्क के भी विरुद्ध पड़ता है। यही कारण है कि बाद के नैयायिकों ने व्यंजना का समावेश अनुमान में नहीं किया है। गदाधर व जगदीश आदि इसे अनुमान प्रमाण में न लेकर मानसबोध मानते हैं, जो शाब्दबोध से भिन्न है। इस मत का विवेचन हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

———

# दशम परिच्छेद

## व्यंजना तथा साहित्यशास्त्र से इतर आचार्य

आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट जैसे ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्यों ने ध्वनि की स्थापना कर उसकी हेतुभूत शक्ति 'व्यंजना' का पूरी तरह प्रतिपादन कर दिया था। कुंतक, महिमभट्ट आदि भी काव्य में प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार कर चुके थे। यह दूसरी बात है कि वे अभिधा या अन्य किसी प्रमाण के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मानते थे, तथा ध्वनिसंप्रदाय के द्वारा अभिमत व्यंजना शक्ति की कल्पना का विरोध करते थे। इस निरंतर विरोध के होते हुए भी भी सहृदय-हृदयसंभावित होने के कारण ध्वनिसंप्रदाय अपना जोर पकड़ता ही गया। १३ वीं शताब्दी तक प्रायः सभी आलंकारिकों को ध्वनिसंप्रदाय के सिद्धांत मान्य हो चुके थे १३ वीं शताब्दी के पश्चात् भी ध्वनिसंप्रदाय ने विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध आलंकारिकों को जन्म दिया। जयदेव तथा अप्पय दीक्षित यद्यपि अलंकार संप्रदाय के हैं। तथापि उन्हें ध्वनिसंप्रदायसम्मत आलंकारिक मानना ही ठीक होगा। इस प्रकार ध्वनिसंप्रदाय के बलवान् होने पर उसकी पृष्ठभूमि 'व्यंजना' भी शास्त्रों में बद्धमूल हो गई। यद्यपि 'व्यंजना' की कल्पना साहित्यिकों की है, तथापि इसका बीज व्याकरणशास्त्र में भी निहित है। वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत से ही साहित्यिकों ने ध्वनि तथा व्यंजना की उद्भावना की। व्यंजना की इस उद्भावना के विषय पर हम दूसरे भाग में ध्वनि तथा स्फोट का परस्पर संबंध बताते हुए प्रकाश डालेंगे। इस प्रकार एक प्रमुख शास्त्र से ध्वनि तथा व्यंजना का संबंध जोड़ देने से 'व्यंजना' शक्ति प्रायः सभी दर्शन-शास्त्रों के लिए एक समस्या-सी बन गई। अभिधावादी मीमांसकों ने व्यंजना के अंतस्तल में पैठकर, इसके अंग प्रत्यंग का निरीक्षण करने की चेष्टा की। व्यंजना को, अंत में, उन्होंने

व्यंजना की स्थापना

अलग से शक्ति मानने के विपक्ष में, मत दिया। अभिधावादियों का यह मत हम देख चुके हैं। लक्षणावादियों तथा अनुमानवादियों ने भी इसे अलग से शब्दशक्ति मानने से मना किया। ध्वनिसंप्रदाय के बद्धमूल हो जाने पर भी अन्य शास्त्रों में व्यंजना के विषय में मतभेद चलता ही रहा, जो हम इस परिच्छेद में देखेंगे।

व्यंजना को सर्वप्रथम शक्ति के रूप में माननेवाले दूसरे लोग वैयाकरण हैं। प्राचीन व्याकरण में तो हमें कहीं भी व्यंजना का उल्लेख नहीं मिलता,[1] किंतु नव्य व्याकरण में व्यंजना अवश्य एक शक्तिविशेष के रूप में स्वीकार कर ली गई है। व्यंजना को अलग से शब्दशक्ति प्रतिपादित करने में नव्य वैयाकरणों में नागेश का प्रमुख हाथ है, इसे हम आगामी पंक्तियों में देखेंगे। व्यंजना का बीज, जैसा कि हम द्वितीय भाग में बतायँगे, प्रसिद्ध ( प्राचीन ) वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय में स्फोट के रूप में मिलता है। इसी के आधार पर कोण्डभट्ट के 'वैयाकरणभूषणसार' में भी स्फोट का वर्णन हुआ है। वहाँ कोण्डभट्ट ने स्फोट से आलंकारिकों की ध्वनि को संबद्ध माना है। यद्यपि वे स्पष्ट रूप से व्यञ्जना या आलंकारिकों की ध्वनि के विषय में कुछ नहीं कहते, तथापि एक स्थान पर वे मम्मट को उद्धृत करते हैं:—"जैसा कि काव्य प्रकाश में कहा में कहा गया है, कि विद्वान् वैयाकरणों में उस व्यञ्जक शब्द को, जिसका स्फोट रूप व्यङ्ग्य प्रधानता प्राप्त कर लेता है, 'ध्वनि' माना है।"[2] भट्टोजि को नव्य वैयाकरणशैली का जन्मदाता माना जाता है, किंतु भट्टोजि का महत्त्व पाणिनि के सूत्रों को एक नये ढाँचे

वैयाकरण और व्यंजना- भर्तृहरि; तथा कोण्डभट्ट

---

१ There is no evidence to believe that vyanjana was ever recognised by the ancient grammarians.
—Chakravarti : Philosophy of Sanskrit Grammar ( 1930 ) P. 335.

२ उक्तं हि काव्यप्रकाशे, "बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकशब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इति।
—वैयाकरणभूषणसार, पृ० २८४.

में सजाने तथा उनपर पांडित्यपूर्ण व्याख्यायें या टीकायें निबद्ध करने में ही है। भट्टोजि में, जहाँ तक मैं जान सका हूँ, व्यंजना शक्ति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी स्फोट का संकेत उनमें मिलता है।

नागेश ने अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यंजना शक्तियों के विषय में वैयाकरणों के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए "वैयाकरण-सिद्धांतमंजूषा" नामक ग्रंथ की रचना की है।

नागेश और उनकी 'मंजूषा'

इसी ग्रंथ का नागेश ने "बृहन्मंजूषा", "लघु-मंजूषा" तथा 'परमलघुमंजूषा" ये तीन रूप दिये हैं। नागेश के शक्ति संबंधी सिद्धांतों का ज्ञान "लघुमञ्जूषा" से पर्याप्त रूप में हो जाता है। 'बृहन्मञ्जूषा' अभी प्रकाशित नहीं हुई है, तथा 'परमलघुमञ्जूषा' में विषय की केवल रूपरेखा भर है। व्यञ्जना के विषय में नागेश के सिद्धांतों का सार इस परिच्छेद में देना आवश्यक होगा, जिससे हमें नागेश की व्यञ्जना संबंधी सिद्धांत सरणि स्पष्ट हो जायगी।

नागेश के मत से व्यञ्जना की परिभाषा व स्वरूप

कोई कोई वाक्य में मुख्यार्थ ग्रहण या मुख्यार्थबाध के बाद भी किसी अर्थ की प्रतीति होती ही है। यह अर्थ या तो प्रसिद्ध अर्थ होता है, या अप्रसिद्ध तथा यह कभी तो मुख्यार्थ से सम्बद्ध होता है, कभी नहीं होता। इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा बुद्धिस्थ होती है, वही शक्ति व्यञ्जना है।[1] इस प्रकार इस परिभाषा में नागेश ने अभिधामूला तथा लक्षणामूला दोनों प्रकार की व्यञ्जना का समावेश कर दिया है। यह व्यञ्जना शब्द, अर्थ, पद, पदैकदेश, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि सभी में हो सकती है, ऐसा अनुभवगम्य है। किसी को देखकर कोई रमणी कटाक्ष का प्रयोग करती है, तो "इसने कटाक्ष से अभिलाष की व्यंजना की है" इस प्रकार की प्रतीति होती है, तथा यह बात अनुभव सिद्ध

---

१. मुख्यार्थसंबद्धासंबद्धसाधारणमुख्यार्थबाधग्रहादिप्रयोज्यप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकधीजनकत्वं व्यञ्जना। —वै० सि० मञ्जूषा

तथा प्रसिद्ध है, अतः चेष्टा में भी व्यञ्जना मानना आवश्यक है।[1] जो लोग यह मानते हैं कि व्यंजकत्व पदों में ही है, अर्थादि में नहीं, उनका मत ठीक नहीं। जिस व्यंजना में अर्थादि व्यंजक होते हैं, वहाँ व्यंग्यार्थ-बोध वक्तृबोद्धव्यवाच्यादि-वैशिष्ट्यज्ञान के द्वारा ही होता है। इसके साथ ही श्रोता की 'प्रतिभा' भी इस प्रतीति में सहकारी कारण होती है।[2] यदि प्रतिभा नहीं होगी तो व्यंग्यार्थ प्रतीति नहीं हो सकेगी। प्रतिभा का मतलब 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' है। नवनवोन्मेष प्राचीन जन्म के संस्कार के कारण होता है। नागेश के मतानुसार वक्ता कौन है, किससे कहा गया है, आदि प्रकरण के ज्ञान से सहकृत होकर जो बुद्धि व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह प्रतिभा ही है।[3]

इसी आधार पर व्यंजना को नागेश प्राठजन्म के संस्कार से भी संबद्ध मानते हैं।[4] इसी संबंध में नागेश ने लक्षणावादियों तथा अनुमानवादियों का भी खंडन किया है। 'गतोऽस्त मर्कः' (सूर्य अस्त हो गया) जैसे वाक्य को ले लीजिये। कोई शिष्य अपने गुरु को संध्यावंदन का समय सूचित करने के लिए इस वाक्य का प्रयोग करता है। यद्यपि वक्ता (शिष्य) के तात्पर्य की दूसरे किसी अर्थ में उपपत्ति नहीं होती, फिर भी कोई पड़ोसी नायिकादि 'अभिसरण करना चाहिए' इस व्यंग्यार्थ का ग्रहण कर लेते हैं। इसका बोध, वाच्यार्थ के जान लेने पर ही होता है। यहाँ मुख्यार्थ का तो बाध होता ही नहीं, अतः यह अर्थ लक्षणा से उपपादित न हो सकेगा। अतः

व्यंजना की आवश्यकता

---

१. 'अनया कटाक्षेणाभिलाषो व्यंजित' इति सर्वजनप्रसिद्धेस्तस्यां चेष्टावृत्तित्वस्याप्यावश्यकत्वाच्च। —वही

२. अनया चार्थबोधे जननीये वक्तृबोद्धव्यवाच्यादिवैशिष्ट्यज्ञानं प्रतिभा च सहकारि तद्बीजनकज्ञानजनकमेव वा। —वही

३. वक्त्रादिवैशिष्ट्यसहकारेण तज्जनिका बुद्धिः प्रतिभा इति फलितम्। —वही

४. एवं च शक्तिरेतज्जन्मगृहीतैवार्थबोधिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तरगृहीतापि, इत्यपि शक्तेरस्या भेदकम्। —वही

व्यञ्जना लक्षणा में अंतर्भावित नहीं हो सकती।[2] पदों की तरह निपात ( अव्यय ), उपसर्ग आदि भी व्यंजक होते हैं। स्फोट तो सदा व्यंग्य ही है, इसका विवेचन वैयाकरणों ने भी किया है। भर्तृहरि ने भी स्फोट को व्यंग्य ही माना है, इस विषय में दूसरे भाग में प्रकाश डाला जायगा। नागेश निपातों को द्योतक या व्यंजक मानते हैं। अर्थात् वे भी पदशक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ को व्यंजित करते हैं। नागेश ने मंजूषा में बताया है कि व्यञ्जना की आवश्यकता केवल आलंकारिकों को ही नहीं है। वैयाकरणों के लिए भी व्यंजना जैसी वृत्ति मानना आवश्यक हो जाता है।[3] वस्तुतः वैयाकरण दार्शनिकों के स्फोट रूप शब्द ब्रह्म की सिद्धि भी इसी व्यंजना शक्ति के द्वारा होती है।

नव्य नैयायिकों का परिचय

व्याकरण के बाद दूसरा सम्मान्य शास्त्र न्याय है। व्याकरण की भाँति इसे भी प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय इन दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। व्याकरण के ये दो वर्ग, न्याय के इन दो वर्गों के आधार पर ही हुए हैं। नव्य व्याकरण वस्तुतः व्याकरण की वह शैली है, जो नव्य न्याय से अत्यधिक प्रभावित हुई है। नव्य न्याय का आरंभ गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिंतामणि' से होता है। इस ग्रंथ ने न्यायशास्त्र को शास्त्रार्थ की नई शैली दी। इसी 'तत्त्वचिंतामणि' पर निर्मित विभिन्न टीका ग्रंथ, उपटीका ग्रंथ, तथा तत्संबद्ध अन्य ग्रंथ नव्य न्याय के अंदर गृहीत होते हैं। गंगेश के प्रसिद्ध टीकाकार गदाधर, जगदीश तथा मथुरानाथ इस सरणि के प्रमुख लेखक हैं, तथा इनके टीका ग्रंथ गादाधरी, जागदीशी, तथा माथुरी का स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में सम्मान है। वैसे गदाधर, जगदीश आदि पंडितों ने शक्तिवाद, व्युत्पत्तिवाद, शब्दशक्ति-प्रकाशिका आदि स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की है, जिनमें उन्होंने न्यायशास्त्र के दृष्टिकोण से

---

२. एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादेः शिष्येण सन्ध्यावन्दनादेः कर्तव्यत्वाभिप्रायेण गुरुं प्रति प्रयुक्ताद्वक्तृतात्पर्याभावेऽपि प्रतिवेश्यादीनामभिसरणीयक्रमादिबोधस्य वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकस्य वाच्यार्थबाधज्ञानेऽज्ञायमानस्य लक्षणयोपपादयितुमशक्यत्वाच्च। —वही

३. …वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः। —वही

शब्द, उसके अर्थ तथा उसकी शक्ति का विवेचन किया है। नव्यनैयायिकों के अभिधासंबंधी दृष्टिकोण को हम इसी प्रबंध के दूसरे परिच्छेद में देख चुके हैं। इस परिच्छेद में हम देखेंगे कि व्यंजना के प्रति इन नैयायिकों का क्या दृष्टिकोण है। यहाँ एक शब्द में यह कह देना आवश्यक होगा कि नव्य नैयायिक व्यंजना जैसी शक्ति को नहीं मानते। इस तत्त्व को समझ लेने पर नैयायिकों का व्यंजना विरोधी मत समझना सरल होगा।

गदाधर और व्यञ्जना

गदाधर का शक्ति संबंधी प्रसिद्ध ग्रंथ "शक्तिवाद" है। इस ग्रंथ में गदाधर ने नैयायिकों के मत से, शक्तिग्रह कैसे होता है, इसका विवेचन किया है। 'शक्ति' का अर्थ यहाँ मुख्यावृत्ति अभिधा ही है। इसी मुख्या वृत्ति के संकेतग्राहकत्त्व का विशद विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है। प्रसंगवश लक्षणा का भी उल्लेख मिलता है, जो एक प्रकार से अभिधा से ही संश्लिष्ट है। ग्रंथ के आरंभ में ही गदाधर संकेत तथा लक्षणा, पद के अर्थ की ये दो ही वृत्तियाँ मानते हैं।[1] इसके अतिरिक्त उनके मत से और कोई तीसरा संबंध पद तथा अर्थ में नहीं है। गदाधर ने यद्यपि स्वयं व्यंजना का नामोल्लेख या खंडन नहीं किया है, तथापि उनके टीकाकारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिकों का व्यंजना के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है। शक्तिवाद के टीकाकार कृष्णभट्ट ने बताया है कि "गौणी तथा व्यंजना को अलग से वृत्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों का लक्षणा में अंतर्भाव हो सकता है।"[2] शक्तिवाद के दूसरे टीकाकार माधव व्यंजना के विषय को विशद रूप से लेकर उसके खंडन की चेष्टा करते हैं। व्यंजनावादियों के मत को पूर्वपक्ष में रखते हुए वे नैयायिकों की सिद्धांतसरणि का उत्तरपक्ष के रूप में प्रतिपादन करते हैं। वे पूर्वपक्ष की शंका उठाते हुए कहते हैं—गदाधर भट्टाचार्य का यह शक्तिविभाग समीचीन नहीं।

---

१. संकेतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः। —शक्तिवाद पृ० १

२. एवं च गौणीव्यंजनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तं तयोर्लक्षणायामन्तर्भावसम्भवात्। —(शक्तिवादटीकाः मञ्जूषा पृ० १)

व्यंजना अलग से एक वृत्ति है।[1] "हे प्रिय यदि तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ, तुम्हारा मार्ग सकुशल हो। जिस देश में तुम जा रहे हो, वहाँ मेरा जन्म होवे ?"[2], इस श्लोक का अर्थ "तेरे जाने से मेरी मृत्यु हो जायगी" यह है। इस अभीष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना शक्ति से ही हो रही है। यदि व्यंजना जैसी शक्ति न मानी जायगी तो यहाँ यह अर्थ कैसे उपपन्न होगा ?

सिद्धांतपक्षी के मत से यह मत ठीक नहीं। यदि व्यंजना अलग से वृत्ति मानी जाती है, तो उसका कोई न कोई निश्चित स्वरूप होना ही चाहिए। व्यंजना का यदि कोई स्वरूप है तो वह वाच्यरूप ही है। जब कभी व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है तो वह पदों की शक्ति ( अभिधा ) के ज्ञान के ही कारण होता है। भाव यह है कि व्यंजना में भी अभिधा के द्वारा अभिधेयार्थ माने बिना काम नहीं चलता। वाच्यार्थज्ञान ही उसका भी कारण है, अतः व्यंजना को अलग से शक्ति मानने में यह व्यभिचार आ जाता है। जब प्रतीयमान अर्थ अभिधा के अतिरिक्त वृत्ति से उत्पन्न होता ही नहीं, तो उसे व्यंजना का कार्य मानना ठीक नहीं। इस सारे कार्य में अभिधा व्यापार ही मानना होगा।[3]

व्यञ्जनावादी शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना जैसा एक भेद मानते हैं। जैसे "नागर के संग से वयस्था शरीर की वेदना को हरती है"[4] इस वाक्य से (१) नवयुवती चतुर नायक के संग से अंगों की वेदना को हरती है, तथा (२) हर्र ( हरीतकी ) सोंठ के संग से शरीर की पीड़ा हरती है— इन दो भिन्नार्थों की प्रतीति हो रही है। यहाँ व्यञ्जनावादी अभिधामूला व्यञ्जना मानते हैं। किंतु नैयायिकों के मत से दूसरे अर्थ की प्रतीति शक्ति ( अभिधा ) ही कराती है। फिर भी प्रतीयमान अर्थ की

---

१. एतद्विभाजनमनुपपन्नं, व्यञ्जनाया अतिरिक्तवृत्तित्वात्।
—( शक्तिवादटीका माधवी पृ० २ )

२. गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥

३. व्यञ्जनावृत्त्यजन्यशाब्दत्वेप्यस्य कार्यतावच्छेदककोटौ गौरवात्।
( माधवी पृ० २ )

४. वयस्था नागरासंगादंगानां हन्ति वेदनाम्। —वही पृ० २

प्रतीति में अभिधामूलक व्यञ्जना क्यों मानी गई है। वस्तुतः ऐसे भेद की कल्पना अनुचित है।[1] कुछ लोग व्यञ्जना की स्थापना में यह कहते हैं कि व्यञ्जना के बिना प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति उपपन्न न हो सकेगी। काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता ही है इस विषय में सहृदयों का अनुभव प्रमाण है ही। अतः व्यञ्जना को मानना ही पड़ता है।[2] नैयायिकों के मत से इस अनुभवसिद्ध प्रतीयमान अर्थ का बोध किसी वृत्तिविशेष के द्वारा न होकर मन से होता है। अतः इसका कारण कोई शक्तिविशेष न होकर सहृदय की मनः कल्पना ही है।[3]

जगदीश तर्कालंकार और व्यञ्जना

जगदीश तर्कालंकार ने भी 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। २४वीं कारिका की व्याख्या में जहाँ वे गौणी को अलग से वृत्ति न मानते हुए उसका अतर्भाव लक्षणा में करते हैं, वहीं पूर्वपक्षी की व्यञ्जना सबंधी शंका का भी उल्लेख करते हैं। पूर्वपक्षी ( साहित्यिक ) के मतानुसार 'मुखं विकसितस्मितं'[4] आदि श्लोक में 'विकसित' आदि पद अपने अर्थ को विस्तृत कर लक्षणा के द्वारा "जिसमें मुसकुराहट प्रकट हो रही है" इसका अनुभव कराते हैं। इसके बाद लक्षणामूला व्यञ्जना से "मुख में पुष्प के समान सौरभ होना" व्यंजित होता है। अतः योग, रूढ आदि की भाँति व्यंजक शब्द भी मानना पड़ेगा। 'विकसित' पद 'कुसुम के समान सुगंधित' इस अर्थ में रूढ नहीं है, क्योंकि इस अर्थ का संकेत ग्रहण कभी भी इसी शब्द से नहीं होता। साथ ही न तो यह यौगिक है, न लक्षक ही। लक्षक तभी माना जा सकता है, जब कि यहाँ कोई

---

१. तादृशबोधे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वे शक्त्यैव तादृशबोधसंभवेऽभिधामूल व्यञ्जनास्वीकारानुपपत्तेः। —वही पृ० २

२. न च व्यञ्जनावृत्तित्वानुपगमे तत्र तत्र तादृशबोधस्यानुभवसिद्धस्यानुपपत्तिरित्यगत्या वृत्तित्वमंगीकार्यमिति वाच्यम्। —वही पृ० २

३. मनसैव तादृशबोधस्वीकारात्। —वही पृ० ३

४. पूरा श्लोक तथा अर्थ तृतीय परिच्छेद में गूढव्यंग्या लक्षणा के प्रसंग में देखिये।

मुख्यार्थबाध होता। ऐसे मुख्यार्थबाध की स्थिति यहाँ नहीं है। अतः यहाँ व्यंजना माननी ही पड़ेगी।

जगदीश, इन आलंकारिकों का खंडन यों करते हैं। व्यंजना की कल्पना आप तात्पर्यबुद्धि के कारण के रूप में करते हैं। किंतु तात्पर्य-प्रतीति के लिए कोई कारण विशेष मानना ठीक नहीं। तात्पर्यप्रतीति का यह कारण तभी माना जा सकता है, जब कि सर्वप्रथम निस्तात्पर्यक ज्ञान की प्रतीति हो। यदि शब्दप्रमाण से संवेद्य ज्ञान को पहली दशा में तात्पर्यविरहित मानेंगे, तो हमें उसके प्रतिबंधक (विघ्न) की कल्पना करनी पड़ेगी।[1] वस्तुतः ऐसा कोई प्रतिबंधक नहीं है। हमें शाब्दबोध के साथ ही साथ तात्पर्यप्रतीति भी हो जाती है, अतः तात्पर्यप्रतीति का कारण शाब्दबोध ही है। तात्पर्यरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति में अभिधा से भिन्न कोई अन्यशक्ति की कल्पना करना ठीक नहीं। जगदीश का कहना है कि वाक्य में प्रयुक्त पदार्थों की अन्वय बुद्धि के द्वारा अभिधा से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी तरह फिर से अन्वयबुद्धि के द्वारा तात्पर्यरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती, तो व्यंजना जैसी भिन्न शक्ति मानी जा सकती थी। वस्तुतः ऐसा नहीं होता। यह सारा कार्य मन की विशिष्ट बुद्धि से ही होता है। शाब्दबोध के साथ ही साथ ऐसी स्थिति में मानस बोध को अलग से कारण मानना तो ठीक है, किंतु व्यंजना जैसी अलग शब्दशक्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता।

दर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र परस्पर भिन्न हैं। नैयायिक व्यञ्जना को दार्शनिक दृष्टि से कारण नहीं मानते। जैसा कि हम अगले परिच्छेद में बतायँगे शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है, एक वैज्ञानिक दृष्टि से, दूसरा साहित्यिक दृष्टि से दार्शनिक दृष्टि से शब्द का साक्षात् अर्थ ही लिया जाता है, क्योंकि दार्शनिक का प्रमुख प्रयोजन 'प्रमा' का निर्णय तथा 'अप्रमा' का निराकरण है। साहित्यिक तो मानव के भावों को व्यक्त करता है, अतः उसे भावों की व्यंजना कराने के लिए प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है, जो अर्थों से

उपसंहार

---

१. निस्तात्पर्यकज्ञानस्य प्रतिबन्धककल्पनादिति भावः।

—(श० श० प्रका०: कृष्णकान्तीटीका पृ० १५१)

साक्षात् संबद्ध न होने पर भी भावों को व्यंजित करते हों। वे भावों के प्रतीक बन कर आते हैं। वस्तुतः मन के भाव साक्षात् संवेद्य न होकर व्यंग्य है। तात्पर्यरूप प्रतीयमान अर्थ की प्रणाली में मानसबोध का महत्त्व नैयायिक भी मानते हैं, यह हम देख चुके हैं। साथ ही वे शाब्दबोध ( अभिधाशक्ति के विषय ) से मानसबोध को अलग भी मानते ही हैं। यह मानसबोध किन्हीं शब्दों या चेष्टाओं से ही होता है, अतः प्रमुख रूप से मानसबोध के प्रतीक शब्द ही बन कर आते हैं। क्योंकि शब्दों का स्थान मानसबोध के प्रतीकों में प्रमुख है, अतः इसको शब्दशक्ति कहना अनुचित न होगा। साथ ही शाब्दबोध की कारण भूत शक्ति से यह मानसबोध वाली शक्ति नैयायिकों की ही सरणि से भिन्न सिद्ध हो जाती है। शब्द आदि के माध्यम से भावों का मानसबोध कराने वाली व्यञ्जना शक्ति साहित्यिक को तो माननी ही पड़ती है। नैयायिकों का काम दर्शन के क्षेत्र में व्यंजना के न मानने पर भी चल सकता है, किंतु साहित्यिक विद्वान् व्यंजना के अभाव में साहित्यिक पर्यालोचन नहीं कर सकता, क्योंकि व्यंजना ही सदसत्-काव्य-निर्धारण की कसौटी है।

———

# एकादश परिच्छेद

## काव्य की कसौटी व्यञ्जना

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥
अभिनव ( लोचन )

इससे पहले के परिच्छेदों में हमने शब्द की चारों शक्तियों पर विचार किया। साथ ही हमने यह भी देखा कि व्यंजना नाम की चौथी शक्ति की आवश्यकता, चाहे अन्य शास्त्रों में न हो, तथापि साहित्यशास्त्र में अत्यधिक आवश्यकता है। व्यंजना के विषय में अन्वय व्यतिरेक-सरणि का आश्रय लेते हुए हमने देखा है कि व्यंजना का सन्निवेश अभिधा, लक्षणा या अनुमान के अंतर्गत कदापि नहीं हो सकता, साथ ही व्यंजना जन्य अर्थ में अन्य अर्थों से विशिष्ट चारुत्व रहता है। इसीलिये शब्दप्रधान वेदादि श्रुतिग्रंथ तथा अर्थ प्रधान पुराणादि से सर्वथा रसप्रधान भिन्न काव्य में शब्द व अर्थ दोनों ही गौण रहते हैं और यदि उसमें किसी वस्तु की प्रधानता है, तो वह व्यंग्यार्थ ही है। (ध्वनिसंप्रदायवादियों ने काव्य की परिभाषा संनिबद्ध करते हुए व्यंग्यार्थ का स्पष्टरूपेण अथवा अस्पष्टरूपेण उल्लेख अवश्य किया है। ध्वनिकार जब "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" कहते हैं, तो उनका स्पष्ट संकेत व्यंग्यार्थ की ही ओर है। मम्मटाचार्य यद्यपि स्पष्ट रूप से काव्य की परिभाषा[1] में व्यंग्यार्थ का उल्लेख नहीं करते, तथापि वे व्यंग्य की ओर संकेत अवश्य करते हैं। उनका "सगुणौ" विशेषण आधाराधेयसंबंध से "सरसौ" का लक्षक है, तथा रस को

काव्य की परिभाषा में 'व्यंग्य' का संकेत

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ॥

व्यंजनावादी व्यंग्य मानते हैं। प्रकाश के टीकाकार गोविंद ठक्कुर ने "प्रदीप" में इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—"गुण सदा रसनिष्ठ है, फिर भी यहाँ गुण पद का प्रयोग इसीलिये किया गया है कि वह रस की व्यंजना कराता है।"[१] प्रकाश के अन्य टीकाकारों ने बताया है कि काव्य में रस के अत्यधिक अभिप्रेत एवं उपनिषद्भूत होने से प्रकाशकार ने "रस" को परिभाषा में स्पष्ट न कहकर व्यंग्य ही रखा है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी व्यंग्य को ही प्रधानता देते हुए "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इस प्रकार काव्य की परिभाषा देते हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि व्यंग्य के तीन रूपों में विश्वनाथ केवल 'रस' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। (पंडितराज जगन्नाथ जब अपनी परिभाषा "रमणीयार्थःप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" में "अर्थ" के लिए "रमणीय" विशेषण का प्रयोग करते हैं, तब उनका तात्पर्य "व्यंग्यार्थ" से ही है।) "रमणीयार्थ" को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, रमणीयता का तात्पर्य उस ज्ञानानुभव से है, जो लोकोत्तर आनंद का उत्पादक है।[२] आगे जाकर 'लोकोत्तर' शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस आह्लाद को अनुभव से ही जाना जा सकता है, (जिसके लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं), तथा जो "चमत्कार" (सौंदर्य) के नाम से भी अभिहित हो सकता है, लोकोत्तर है।[3] साथ ही इस रमणीयार्थ की प्रतीति भावनाप्रधान सहृदयों को ही होती है। कहना न होगा कि आह्लाद, व्यंग्यार्थ प्रतीति जनित चमत्कारानुभव ही है।

---

१. गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम् ॥

—प्रदीप पृ० ९ ( निर्णयसागर प्रेस, का० मा० )

२. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।—रसगंगाधर पृ० ४

३. लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति-विशेषः।

—वही पृ० ५

भिन्न-भिन्न संप्रदायवादियों ने काव्य की आत्मा भिन्न-भिन्न मानी हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि विभिन्न आचार्यों के अनुसार काव्य की कसौटी भिन्न-भिन्न है। भामह, दंडी आदि के अनुसार काव्य की कसौटी अलंकार है।[1] इन्हीं के परिष्कृत अनुयायी जयदेव तथा अप्पय दीक्षित का भी यही मत है और जयदेव के मत से तो काव्य के शब्दार्थों को अलंकारविरहित मानना व अग्नि को अनुष्ण मानना समान है।[2] वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। वक्रोक्ति-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक कुन्तक के मतानुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है ( वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् )। क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य की कसौटी मानते हैं।[3] एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जो काव्य की कसौटी को "चमत्कार" नाम देता है। यह चमत्कार पुनः गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, अलंकार इन ७ अंगों में विभाजित किया जाता है।[4] इस चमत्कार सम्प्रदाय के आचार्य विश्वेश्वर व हरिप्रसाद हैं। काव्यगत सौन्दर्य के लिए 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग तो ध्वन्यालोक ( पृ० १४४ ), लोचन ( पृ० ३७, ६३, ६५, ६९, ७२, ७९, ११३, १३७, १३८ निर्णय सागर सं० ) तथा रसगंगाधर ( पृ० ५ ) में भी हुआ है। रससम्प्रदाय के अनुसार काव्य की कसौटी रस है, किन्तु यह रस सम्प्रदाय वस्तुतः ध्वनिसम्प्रदाय से अभिन्न है।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में काव्य की भिन्न भिन्न आत्मा ( कसौटी )

---

१. देखिये—परिशिष्ट १ 'अलंकार सम्प्रदाय'।

२. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ —चन्द्रालोक

३. देखिये, परिशिष्ट १—'औचित्य सम्प्रदाय'

४. देखिये—वही 'चमत्कार सम्प्रदाय'। रुक्मिणी-परिणय महाकाव्य के रचयिता शय्या आदि ( चमत्कार ) से रहित कविता को 'असत्कृति' मानते हैं:—

शय्यारसालङ्कृतिरीतिवृत्तिवृत्तोज्झिता गूढपदप्रचारा।
गुणे च वर्णे कुरुते लघुत्वमसत्कृतिश्चौर्यरतिक्रियेव॥
( १. १४. )

ध्वनिवादियों के मतानुसार काव्य की कसौटी व्यंजना है। व्यञ्जना को ही आधार मानकर ध्वनिवादियों ने काव्यत्व तथा अकाव्यत्व का निर्णय किया है। जिस काव्य में स्फुट या अस्फुट व्यंग्यार्थ विद्यमान है, वही रचना काव्य है। यह दूसरी बात है कि उसका सन्निवेश काव्य की किस कोटिविशेष में किया गया है। जिस पद्य में व्यंग्यार्थ है ही नहीं उसे काव्य मानना ध्वनिवादियों को सम्मत नहीं। जब वे अधम काव्य (चित्रकाव्य) की परिभाषा देते हुए 'अव्यंग्य" का प्रयोग करते हैं: तो वहाँ उनका तात्पर्य "व्यंग्यरहित" न होकर "ईषद्व्यंग्य"[1] या "अस्पष्टव्यंग्य" ही है। इसका पूरा विवेचन हम इसी परिच्छेद में "चित्रकाव्य" का उल्लेखन करते समय करेंगे। अतः स्पष्ट है कि ध्वनिवादियों के मतानुसार व्यंग्यार्थ या व्यञ्जना ही काव्य की कषणपट्टिका है, काव्यगत चारुत्वाचारुत्व का निकषोपल है।

पाश्चात्यों के मत में काव्य की कसौटी

यहाँ पर कुछ शब्द पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त पर भी कह देना आवश्यक होगा। हमें यह देखना है कि उनके मतानुसार काव्य की कसौटी क्या है? प्रसिद्ध यवनाचार्य अरस्तू ने काव्य को भी वास्तु, चित्र, मूर्ति, आदि की भाँति कला ही माना है। उसके मतानुसार, यदि अनुचित नहीं, तो काव्य "लोकोत्तराह्लादगोचर" न होकर "लोकसमानाह्लादगोचर" है। अरस्तू ही नहीं, हेगेल आदि उसके समस्त अनुयायियों का भी यही मत है। कला की पूर्ण निष्पत्ति वे मानव जीवन के पूर्ण अनुकरण में मानते हैं, और उनके मतानुसार "कला है ही (मानव या प्रकृति का) अनुकरण" (आर्ट इज़ इमिटेशन)। अतः काव्य में, दृश्यकाव्य हो या श्रव्यकाव्य, यदि अनुकरणप्रवृत्ति की चरमता होगी तो वह काव्य है, यह हम उनके मत का सार मान सकते हैं। अरस्तू ने यह अनुकरणप्रवृत्ति जिसका चित्रण काव्य में होना चाहिए वाच्य मानी है, या व्यंग्य, यह नहीं कहा जा सकता। एक दूसरे यवन विद्वान् थ्योफ्रेस्टुस ने दार्शनिकों तथा कवियों के अर्थों का परस्पर भेद बताते हुए इस विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। काव्य तथा दर्शन की विभिन्न विधाओं के विषय पर विवेचन करते हुए थ्योफ्रेस्टुस ने जो मत प्रतिपादित किया है, उसका

---

१. ईषदर्थे नञ्।

उल्लेख अरस्तू के प्रसिद्ध टीकाकार अमोनिउस ने "द इन्तरप्रितेशनाल" की टीका में किया है:—

"शब्द की दो स्थितियाँ होती हैं, एक उसके श्रोता की दृष्टि से और दूसरे उस वस्तु की दृष्टि से जिसका बोध वक्ता श्रोता को कराना चाहता है। श्रोता के संबंध की दृष्टि से: जिसके लिए शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है; यह शब्द अलङ्कारशास्त्र तथा काव्य के क्षेत्र से संबद्ध है, क्योंकि वे अधिक प्रभावशाली शब्दों को ढूँढा करते हैं, साधारण प्रयोग में आनेवाले शब्दों को नहीं। किन्तु, जहाँ तक शब्द का वस्तुओं से स्वयं से संबंध है, यह प्रमुखतः दार्शनिक के अध्ययन का क्षेत्र है, जिसके द्वारा वह मिथ्याज्ञान का खण्डन करता है तथा सत्य को प्रकट करता है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यद्यपि थ्योफ्रेस्टुस स्पष्ट रूप से व्यञ्जना या व्यंग्य जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं करता, तथापि जब वह श्रोतृ-सम्बद्ध अर्थ की विशेषता बताते हुए उसको काव्य में स्थान देता है, तब उसका यही अभिप्राय है कि काव्य का वास्तविक चारुत्व उस विशेष प्रकार के अर्थ में ही है। थ्योफ्रेस्टुस का यह विशेष प्रकार का अर्थ कुछ

---

१ A word has two aspects : one connected with its hearer and the other with the things, about which the speaker sets out to convince his hearers. Now as to the aspect concerned with the hearers ( for whom also the word has its particular meaning ), this is the realm of poetry and rhetoric : for they are concerned with seeking out the more impressive words, and not those of common or popular usage. ......But as regards the aspect concerned with the things themselves, this will be pre-eminently the object of the philosopher's study in the refutation of falsehood and the revealation of the truth."

—De Interpretationale.

नहीं, प्रतीयमान ही है। अतः थ्योफ्रेस्टुस के मत में यदि व्यंग्यार्थ या व्यञ्जना को काव्य की कसौटी मान लें तो अनुचित न होगा।

विज्ञान तथा काव्य का पारस्परिक भेद बताते हुए प्रसिद्ध आधुनिक आंग्ल साहित्यालोचक आइ० ए० रिचर्ड्स ने भी अपने प्रबन्ध "सायन्स एण्ड पोयट्री" में इसी बात पर जोर दिया है। अपने दूसरे ग्रन्थ में भी वे एक स्थान पर लिखते हैः—"( काव्य में ) शब्दों से उत्पन्न भावात्मक प्रभाव, चाहे वे शब्द गौण हों या प्रधान हों, उसके प्रयोग से कोई संबंध नहीं रखते।"[१] इस कथन से रिचर्ड्स का यही अभिप्राय है कि काव्य में जिन भावादि की प्रतीति होती है, वे उन शब्दों के मुख्यार्थ नहीं। ऊपर प्रयुक्त "संबंध" शब्द से हम मुख्यार्थ ही अर्थ लेंगे, क्योंकि काव्य से अनुभूत भावादि किसी न किसी दशा में शब्द से व्यक्त होने के कारण संबद्ध तो हैं ही।

हमने देखा कि पाश्चात्य विद्वानों में से भी कुछ लोग प्रतीयमान अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हैं। यही प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ मात्रा भेद से काव्य की कोटि का निर्धारण करता है। भामह, दण्डी, वामन आदि अलंकार व रीति के आचार्यों ने काव्य में उत्तम, मध्यमादि कोटि निर्धारण नहीं किया है। वस्तुतः उनके पास व्यंग्यार्थ जैसा एक निश्चित मापदण्ड भी नहीं था। वे तो केवल यही कहते रहे कि काव्य का सौन्दर्य अलङ्कार या गुण में ही हैः—"गुणालंकाररहिता विधवेव सरस्वती"। ध्वनिसम्प्रदाय से इतर अन्य आचार्यों का भी ऐसा ही हाल रहा तथा वे भी काव्य में कोटिनिर्धारण नहीं कर पाये। काव्य में कोटिनिर्धारण करना ठीक है या नहीं यह दूसरा प्रश्न है, इसे हम इसी परिच्छेद में आगे लेंगे। यहाँ तो हमें केवल यही कहना है कि ध्वन्याचार्यों से पूर्व के आचार्यों ने इस विषय की विवेचना की ही नहीं, अपितु कुछ लोगों ने इस प्रकार के कोटिनिर्धारण का खण्डन भी किया है।

काव्य-कोटि निर्धारण

---

१ In strict symbolic language the emotional effects of the words whether direct or indirect, are irrelevant to their employment."

—"The Meaning of Meaning" ch. X. P. 235.

काव्य के कोटि निर्धारण का संकेत हमें ध्वनिकार की कारिकाओं में ही मिल जाता है। ध्वनि काव्य का विवेचन करके ध्वनिकार गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्यविशेष की भी विवेचना करते हैं, जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से विशिष्ट न होकर तत्समकोटि या तदंग हो जाता है। इसके साथ ही वह चित्रकाव्य की ओर भी संकेत करते हैं, जिसमें व्यंग्यार्थ विद्यमान तो रहता है, पर वह वाच्यार्थ के आगे नगण्य होता है। यद्यपि इन तीनों काव्यों के लिए ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से उत्तम, मध्यम तथा अधम शब्दों का प्रयोग नहीं करते, तथापि उनका स्पष्ट उल्लेख है कि ध्वनि काव्य ही उत्कृष्ट काव्य है, तथा गुणीभूतव्यंग्य भी सर्वथा हेय नहीं। इसी संकेत को पाकर मम्मट ने सर्वप्रथम इसका कोटिनिर्धारण करते हुए उत्तम, मध्यम, तथा अधम इन तीन कोटियों की स्थापना की। ध्वनिसम्प्रदाय के एक दूसरे अनुयायी रुय्यक ने "अलंकारसर्वस्व" में भी इस तीन प्रकार के काव्यविभाग को माना है। इस ग्रन्थ में उसने तीसरी कोटि के काव्य का वर्णन किया है।[1] मम्मट के बाद इस श्रेणी विभाजन पर विवेचना करने वालों में विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज हैं। अप्पय दीक्षित ने यद्यपि यह विचार नहीं किया कि काव्य की कितनी कोटियाँ होनी चाहिए, तथापि उनकी "चित्रमीमांसा" से स्पष्ट है कि वे भी मम्मट के तीन कोटियों वाले मत से सहमत हैं।

मम्मट का मत

मम्मट ने काव्यप्रकाश में ध्वन्यालोक व लोचन को आधार बनाते हुए तीन काव्यकोटियाँ मानी हैः—(१) उत्तम काव्य, (२) मध्यम काव्य, (३) अधम काव्य। ये ही तीनों क्रमशः ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। मम्मट के मतानुसार उत्तम काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारजनक होता है। यही काव्य ध्वनि के नाम से अभिहित होता है।[2] इसको यह नाम इसलिये

---

१. व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारवत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः।

—अलं० स० पृ० १६

२. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥

—का० प्र० १, ४

दिया गया है कि इसका व्यंग्यार्थ अनुरणनरूप स्फोट की भाँति श्रोता (सहृदय) के प्रतीतिपथ में अवतरित होता है। मम्मट ने "निःशेष-च्युतचंदनं" आदि उदाहरण को स्पष्ट करते हुए बताया है कि किस प्रकार यहाँ "अधम" पद के द्वारा "तू उसी के पास गई थी" इस प्रतीयमान की व्यंजना होती है, जिसमें वाच्य से विशेष चमत्कार है। मम्मट के मत में मध्यम काव्य वहाँ होता है, जहाँ काव्य का व्यंग्यार्थ सुन्दर होने पर भी वाच्यार्थ से उत्कृष्ट नहीं हो पाया हो।[1] वहाँ या तो वाच्यार्थ में कुछ विशेष सौन्दर्य होता है, या दोनों समकक्ष होते हैं। वाच्यार्थ के विशेष सौन्दर्य का तात्पर्य अर्थालंकारगत चारुता से न होकर और प्रकार की चारुता से है, जैसे "वाणीरकुडंगुड्डीन" आदि गाथा में मम्मट ने बताया है कि "बहू के अंग शिथिल हो गये" यह वाच्यार्थ अतिशय सुंदर है। तीसरा काव्य अवर या अधम है, जिसके अंतर्गत शब्दचित्र या अर्थ-चित्र प्रधान काव्य आते हैं।[2] इन काव्यों में शब्दों या अर्थों का इन्द्र-जाल रहता है, या तो शाब्दिक आडम्बर या दूरारूढ कल्पनाओं का घटाटोप, जैसे "स्वच्छंदोच्छलदच्छ" आदि पद्य तथा "विनिर्गतं मानद" आदि पद्य में।[3]

मम्मट के बाद के अधिकांश आचार्यों ने मम्मट के ही श्रेणी विभाजन को माना। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र, प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ तथा एकावलीकार विद्याधर ने मम्मट की ही भित्ति पर अपने ग्रंथों की रचना की व मतों का प्रतिपादन किया। यह अवश्य है कि इन तीनों काव्यों में प्रत्येक के भेदोपभेदों में इन्होंने कहीं कहीं अपना मत देते हुए मम्मट का खण्डन किया है। उदाहरण के लिए उत्तम काव्य के संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनिमें हेमचन्द्र ने १२ के स्थान पर केवल ४ ही भेद माने तथा मध्यमकाव्य के ८ भेद न मानकर ३ भेद ही माने। मम्मट के श्रेणीविभाजन का सर्वप्रथम खंडन करने वाले विश्वनाथ हैं, जिन्होंने

**विश्वनाथ का मत**

१. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्॥ —वही १, ५

२. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥ —वही १, ५

३. इन चारों पद्यों को इसी परिच्छेद में उदाहृत किया जा रहा है। अतः पिष्टपेषण के डर से यहाँ केवल संकेत भर दे दिया गया है।

"साहित्यदर्पण" में काव्य की केवल दो ही कोटियाँ मानीं। वे इनका उल्लेख ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य के नाम से करते हैं, उत्तम, मध्यम आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उनके मतानुसार उत्कृष्ट व्यंग्यार्थ-युक्त ( रसयुक्त ) काव्यध्वनि है।[1] व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ-समकक्ष रहने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है, जिसके विश्वनाथ ने भी ८ ही भेद माने हैं। विश्वनाथ के मत से चित्रकाव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "अव्यंग्य" पद्य तो काव्य नहीं हो सकता। यहाँ पर विश्वनाथ में आगे जाकर "वदतो व्याघात" पाया जाता है। एक स्थान पर चित्र काव्य की स्थिति अस्वीकार करते हुए भी वे दशम परिच्छेद में शब्दालंकार, प्रहेलिका आदि का वर्णन करते हैं। दूसरा दोष उनमें यह है कि "अव्यंग्य" का वास्तविक अर्थ "ईषद्व्यंग्य" न मानकर "व्यंग्य-रहित" मानते हैं। वस्तुतः चित्रकाव्य जैसा अधम काव्य अवश्य होता है। यदि इस कोटि को न माना जायगा तो कविसम्प्रदाय जिस अलं-कार युक्त काव्य को काव्य मानता है, उसे अकाव्य मानना होगा। यदि विश्वनाथ का ही श्रेणी विभाजन माना जाय, तो क्यों न काव्य एक ही प्रकार का मान लिया जाय। जिसमें व्यंग्यार्थ हो, वह काव्य, तथा जिसमें व्यंग्यार्थ न हो, वह अकाव्य। यह श्रेणीविभा-जन सुगम भी होगा और बोधगम्य भी। किंतु, इस श्रेणीविभाजन के स्वीकार करने पर काव्यगत सौंदर्य के तारतम्य का पता न चल सकेगा, जो कि काव्यशास्त्र के अनुशीलनकर्ता के लिए आवश्यक है। अतः चारुत्व के तारतम्य को जानने के लिए सूक्ष्म श्रेणीविभाजन करना ही होगा। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हम मम्मट के श्रेणीविभा-जन को ही मान्यता देते हैं। फिर भी मम्मट का श्रेणीविभाजन ही हमारे श्रेणीविभाजन की आधारभित्ति होगा।

अप्पय दीक्षित तो जैसा हम पहले बता आये हैं, मम्मट के ही

---

१. यहाँ यह उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा कि डा० कीथ ( JRAS 1910, Review on Sahityadarpana ) के मता-नुसार विश्वनाथ की काव्यपरिभाषा मम्मट तथा अन्य विद्वानों की परिभाषा से विशेष महत्त्वपूर्ण तथा उचित है।

श्रेणी विभाजन को मानते हैं। चित्रमीमांसा में उन्होंने तीनों प्रकार के काव्यों का वर्णन करते हुए तीसरे काव्य (चित्रकाव्य) की विशद विवेचना की है। वे लिखते हैं:—'इन तीन भेदों में से ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन तो हम और जगह कर चुके हैं। शब्दचित्र प्रायः नीरस होता है अतः कवि लोग उसका आदर नहीं करते, साथ ही उसमें विचारणीय कोई बात है भी नहीं। अतः शब्दचित्र को छोड़कर इस ग्रन्थ में अर्थचित्र की मीमांसा की जा रही है।"[1]

अप्पय दीक्षित का मत

मम्मट के बाद श्रेणीविभाजन में और अधिक बारीकी बताने वाले पंडितराज जगन्नाथ हैं। पंडितराज ने 'रसगंगाधर' में काव्य की तीन कोटियाँ न मानकर चार कोटियाँ मानी हैं। ये क्रमशः उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम हैं। उनके मतानुसार उत्कृष्ट व्यंग्यार्थवाला काव्य, जिसे 'ध्वनि' भी कहा जाता है, उत्तमोत्तम काव्य है। गुणीभूतव्यंग्य 'उत्तम' कोटि का काव्य है। इस प्रकार मम्मट के उत्तम तथा मध्यम को पंडितराज ने क्रमशः उत्तमोत्तम तथा उत्तम काव्य कहा है। अब मम्मट का अधम काव्य रहा है, जिसमें मम्मट ने शब्दचित्र तथा अर्थचित्र काव्य लिये हैं। पंडितराज ने अर्थचित्र काव्य को मध्यम तथा शब्दचित्र को अधम माना है। मम्मट तथा अप्पय दीक्षित के द्वारा दोनों प्रकार के चित्रकाव्यों का एक ही कोटि में सन्निवेश किये जाने का उन्होंने खण्डन किया है। उन्होंने बताया है कि "स्वच्छन्दोच्छलदच्छ" आदि काव्य तथा "विनिर्गतं" आदि काव्यों को कौन सहृदय एक ही कोटि में रखेगा।[2]

जगन्नाथ पण्डितराज का मत

---

१ तदेवं त्रिविधे ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोरन्यत्रास्माभिः प्रपञ्चः कृतः। शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते। —चित्रमीमांसा पृ० ४

२ को ह्येवं सहृदयः सन् "विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्" "सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः" इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोछलद्' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात्। —रसगंगाधर पृ० २०

अस्तु, पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार अर्थचित्र तथा शब्दचित्र दोनों प्रकार के काव्यों को एक ही कोटि में रखना ठीक नहीं। हमारे मतानुसार पंडितराज का मत समीचीन है, यद्यपि पण्डितराज से एक बात में हमारा मतभेद है, इसे हम इसी परिच्छेद में आगे बतायेंगे। व्यञ्जना को आधार मानकर पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद माने हैं। इसके पहले हम एक बार काव्य शब्द को और समझ लें। उनके मत से काव्य का अर्थ दण्डी की भाँति केवल 'इष्टार्थव्यव-च्छिन्ना पदावली' न होकर "व्यंग्यार्थ के द्योतन में सामर्थ्यशाली शब्द" है। इस दृष्टि से प्रहेलिकादि तथा द्व्यक्षर, एकाक्षर वृत्तों को 'काव्य' संज्ञा नहीं दी जा सकेगी। जगन्नाथ पंडितराज ने रसगंगाधर में एक स्थान पर बताया है कि इस प्रकार के वृत्तों को काव्य मानने पर कुछ लोगों के मतानुसार "अधमाधम" नामक पंचम भेद की भी कल्पना करनी पड़ेगी। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि इन वृत्तों में व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु का सर्वथा अभाव रहता है। वैसे प्राचीन परम्परा के कारण महाकवियों ने इस तरह के वृत्तों का प्रयोग किया है फिर भी हमने इस कोटि को काव्य में नहीं माना है।[1]

**(१) उत्तमोत्तम काव्य**

उत्तमोत्तम काव्य का ही दूसरा नाम 'ध्वनि' है। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो प्रत्येक वर्ण क्षणिक होने के कारण उच्चरित होते ही नष्ट हो जाता है। अतः श्रोता शब्द के सारे ही वर्णों को एक साथ नहीं सुन पाता। इस संबंध में वैयाकरण अखंड स्फोट रूप में शब्द की प्रतिपत्ति मानते हैं तथा उस अखंड अनुरणनरूप व्यञ्जक को 'ध्वनि' कहते हैं। इसी प्रकार काव्य में भी जब शब्द व अर्थ गौण हों तथा उनके अनुरणन से व्यंग्यार्थ

---

१. यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पंचममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम्। यथैकाक्षरपद्यार्धावृत्तियमकपद्मबन्धादि। तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूपकाव्यस्य सामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र २ काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्। —वही, पृ० २०

प्रतीति हो तो वह काव्य 'ध्वनि' कहलाता है।[१] ध्वनि का विशद स्पष्टीकरण हम द्वितीय भाग में करेंगे अतः यहाँ इस विषय के दार्शनिक विवेचन में न जाकर अपने प्रकृत विषय तक ही सीमित रहेंगे।

मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ध्वनि को उत्तम काव्य ही मानते हैं। मम्मट के मतानुसार "व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ से अतिशय-चमत्कारकारी होने पर काव्य उत्तम है तथा उसकी 'ध्वनि' संज्ञा है।" अर्थात् ध्वनि काव्य में सौंदर्य वस्तुतः व्यंग्यार्थ में होता है, शब्द तथा उसका वाच्यार्थ वहाँ सर्वथा उपसर्जनीभूत हो जाते हैं। विश्वनाथ ध्वनि को उत्कृष्ट काव्य तो मानते हैं, पर वे इसके लिए 'उत्तम' शब्द का प्रयोग नहीं करते। अप्पय दीक्षित की परिभाषा भी मम्मट के अनुसार ही है।[२] जगन्नाथ पंडितराज की परिभाषा भी यद्यपि मम्मट के ही आधार पर बनी है, फिर भी अधिक स्पष्ट है:—"जहाँ शब्द तथा अर्थ स्वयं को गुणीभूत कर किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करें, वह प्रथम कोटि का काव्य है।"[३] इस परिभाषा के द्वारा पंडितराज अतिगूढ व्यंग्य तथा अतिस्फुट व्यंग्य का निराकरण करते हैं। इसी निराकरण के लिए 'कमपि'[४] का प्रयोग किया है। क्योंकि अतिगूढ व्यंग्य तथा अतिस्फुट व्यंग्य काव्यों की गणना "ध्वनि" में न होकर "गुणीभूत व्यंग्य" या द्वितीय कोटि में होती है। काव्य का सच्चा

---

१. तेन पूर्वंपूर्ववर्णानुभावजनितसंस्कारसहितान्तिमवर्णानुभवेन स्फोटो व्यज्यते स च ध्वन्यात्मकः शब्दो नित्यः ब्रह्मस्वरूपः सकलप्रत्ययप्रत्यायनक्षमोऽङ्गी क्रियते। तद्व्यञ्जकश्च वर्णात्मकः शब्दः। वृत्तिस्तु व्यञ्जनैव। तद्व्यञ्जकश्च शब्दो ध्वनित्वेन व्यवह्रियते इति वैयाकरणानां मतम् × × × × अतः प्रधानीभूतव्यंग्यव्यंजकसामर्थ्याद् गुणीभूतवाच्यं यद् व्यंग्यं तद् व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलरूपस्योत्तमकाव्यस्यान्यैरपि कतिपयैर्वैयाकरणानुसारिभि र्ध्वनिपण्डितैरालङ्कारिकैरिति यावत्। ध्वनिरिति संज्ञा कृतेति।

—काव्यप्रकाशसुधासागर ( भीमसेन कृत ) पृ० ३०

२. यत्र वाच्यातिशायि व्यंग्यं स ध्वनिः। —चित्रमीमांसा पृ० १

३. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।

—रसगंगाधर पृ० ९

४. कमपीति चमत्कृतिभूमिम्। —वही, पृ० १०

सौंदर्य अतिसूक्ष्म रेशमी वस्त्र में झलमलाते हुए कामिनी के लावण्य की भाँति है। अलंकारशास्त्रियों तथा काव्यप्रेमियों के शब्दों में काव्य के अर्थ का सच्चा सौंदर्य "नातिपिहित" तथा "नातिपरिस्फुट" रहने में ही है।

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥

वाणी का अर्थ आंध्र देश की कामिनियों के पयोधरों के समान अत्यधिक स्पष्ट नहीं हो, न वह गुर्जर देश की स्त्रियों के स्तन के समान अत्यधिक अस्फुट हो। वह मरहट्ट देश की ललनाओं के स्तनों के समान न तो अधिक स्फुट, न अधिक अस्फुट होने पर ही शोभा पाता है।

कवि आखर अरुतिय सुकुच अध उघरे सुख देत।
अधिक ढकेहु सुख देत नहिं उघरे महा अहेत॥
(भिखारीदास)

Half concealed and half-revealed. (Tennyson).

ध्वनि काव्य की समस्त परिभाषायें ध्वनिकार की इस परिभाषा का ही उल्था है:—

"जिस काव्य में अर्थ तथा शब्द अपने आपको तथा अपने अर्थ (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ) को गौण बनाकर उस व्यंग्यार्थ को प्रकट करते हैं, वह काव्य प्रकार ध्वनि कहा जाता है।"[1] इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में "ध्वनि" काव्य के ऊपर और अधिक प्रकाश डालते हुए कहा है। "गुण तथा अलंकार से युक्त शब्दार्थ के द्वारा जहाँ काव्य की आत्मा व्यञ्जित होती हो, उसे ही "ध्वनि" कहा जाता है।"[2] इस संबंध में अभिनवगुप्त का यह मत है

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्यालोक १, १३

२. काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपातो ध्वनिलक्षण आत्मेत्युक्तम्॥
—लोचन, पृ० १०४

कि वही शब्दार्थ ध्वनिलक्षण आत्मा का व्यञ्जक हो सकता है, जो गुण तथा अलंकार से युक्त हो। इसीलिए 'मोटा देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता" इससे "वह रात में खाना खाता है" इस अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह ध्वनि नहीं हो सकती,[1] क्योंकि यहाँ पर शब्दार्थ गुणालंकार से उपस्कृत नहीं है। अतः स्पष्ट है कि चारुत्वमय अर्थ की जहाँ शब्द तथा अर्थ के गुणीभाव होने के बाद प्रतीति हो, वह ध्वनि काव्य है।

यह ध्वनि' या उत्तमोत्तम काव्य वस्तुरूप, अलंकाररूप तथा रस रूप इस प्रकार प्रथम तीन प्रकार का माना गया है। ध्वनि के विशेष भेदोपभेद के प्रपञ्च में हम इस परिच्छेद में नहीं जायँगे। यहाँ एक बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि इन तीनों में रसरूप ध्वनि की विशेष महत्ता है और 'लोचन' के मतानुसार काव्य की सच्ची आत्मा वही है। विश्वनाथ ने तो इसीलिए वस्तुरूप या अलंकार रूप ध्वनि को मानते हुए भी केवल ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं माना है, क्योंकि ऐसा करने पर वस्तु या अलंकार भी आत्मा बनते हैं। इसी कारण से वे उत्तमोत्तम काव्य में किसी न किसी प्रकार के रसरूप व्यंग्य को ढूँढते हैं। साहित्यदर्पण में 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' इत्यादि गाथा के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि यहाँ वे वस्तु के व्यंग्य होने के कारण काव्य न मानकर इसलिए काव्य मानते हैं कि यहाँ रसाभास है, अतः रसरूप ध्वनि है। इस मत का पण्डितराज ने खण्डन किया है। वे लिखते हैं—

"साहित्यदर्पणकार काव्य की परिभाषा रसवत् वाक्य मानते हैं। यह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो वस्तु व अलंकार प्रधान काव्य काव्य नहीं रहेंगे। साथ ही उन्हें काव्य न मानना उचित नहीं, क्योंकि सभी कवि उन्हें काव्य मानते हैं तथा जलप्रवाह आदि एवं कपिबाल क्रीडादि का वर्णन करते ही हैं। यहाँ ( अत्ता एत्थ' की भाँति ) यह दलील देना ठीक नहीं कि इनमें भी रस है। क्योंकि ऐसा होने पर तो

---

१. तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति।

—वही, पृ० १०४

"गाय जाती है", "हिरण दौड़ता है" आदि वाक्यों में भी रस मानना पड़ेगा। प्रत्येक अर्थ विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी में से कोई न कोई होता ही है।"[1]

ध्वनिवादी तीनों को ही काव्य मानता है। जैसे,

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ई रहत आनन ओप उजास॥ (बिहारी)

इस उदाहरण में कुछ विद्वान् ऊहात्मकता मानते हैं। पर, ध्वनि-सिद्धान्त के मत से इसके काव्यत्व को कोई अस्वीकार न करेगा। वे यहाँ "ध्वनि" या "उत्तमोत्तम" (मम्मट का उत्तम) काव्य मानेंगे। प्रस्तुत काव्य में कविप्रौढोक्तिनिबद्ध अथवा वक्तृप्रौढोक्तिनिबद्ध[2] संलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है। यहाँ वस्तु से अलंकार की व्यंजना होती है। वस्तु भी कल्पित (प्रौढोक्तिनिबद्ध) है। "नायिका की मुखप्रभा के कारण उसके घरके चारों ओर सदा पूर्णिमा का रहना" इस कल्पित वस्तु के द्वारा "उसका मुख पूर्णचंद्रमा है" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। वैसे यहाँ वाच्यरूप में परिसंख्या तथा काव्यलिंग अलंकार भी हैं। उक्त वस्तु से यहाँ 'उसका मुख पूर्णिमा चंद्र है' यह रूपक अलंकार व्यंजित हो रहा है। यहाँ 'नित पून्यो ई रहत' इस उक्ति से 'नायिका-मुख' (विषय) पर 'पूर्णिमा चंद्र' (विषयी) का आरोप प्रतीत होता है, जो 'चंद्र' के अनुपादान के कारण व्यंग्य है, तथा जो पुनः व्यंग्य रूप में व्यतिरेक अलंकार की प्रतीति कराता है। उपर्युक्त

---

१ यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसंगात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य "गौश्चलति" "मृगो धावति" इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।"

—रसगंगाधर १, पृ० ७

२ यदि इस उक्ति को किसी चाटुकार नायक के द्वारा कथित माना जाय तो यहाँ वक्तृप्रौढोक्तिनिबद्ध वस्तु माननी होगी।

काव्य में विश्वनाथ के मतानुयायी संभवतः रति भाव का रेशा ढूँढ निकालें पर ऐसा करना कष्टसाध्य कल्पना ही होगी।

उत्तमोत्तम काव्य को स्पष्ट करने के लिए हम सर्वप्रथम अलंकार-शास्त्र के प्रसिद्ध उदाहरण को ही लेंगे।

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति, बान्धवजनस्याज्ञातपीडोद्गमे
वापीं स्नातुमितो गतसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

"हे बान्धवों की पीडा न जानने वाली झूठी दूति, तू यहाँ से बावली में नहाने गई थी, (सचमुच) उस अधम के पास नहीं गई। तेरे स्तनों के प्रान्त भाग का सारा ही चन्दन खिर गया है, तेरे अधर ओष्ठ की ललाई मिट गई है, दोनों नेत्र अञ्जनरहित हो गये हैं, तथा तेरा यह दुर्बल शरीर भी पुलकित हो रहा है।"

इस साधारण वाच्यार्थ से यह प्रतीत हो रहा है कि तू उसी के पास गई थी तथा तूने उस अधम के साथ रमण करके मेरा अनिष्ट किया है। यहाँ पर यद्यपि (१) स्तनों के प्रान्तभाग के चन्दन का च्युत होना, (२), अधरराग का मिटना (३), नेत्रों का अञ्जनरहित होना, तथा (४) शरीर का रोमांचित होना, इन वापीस्नान के कार्यों को दिया गया है, पर ये केवल वापी स्नान के ही कार्य नहीं हैं। ये कार्य रमण के भी हो सकते हैं। यहाँ पर "ये सब वापी स्नान से नहीं, अपितु मेरे प्रिय के साथ रमण करने से हुए हैं" इस अर्थ की पुष्टि "अधम" पद के द्वारा होती है। मम्मटाचार्य ने कहा है:—"तू उसी के पास रमण के लिए गई थी यह प्रधानरूप से अधम पद से व्यक्त हो रहा है।"[1] यहाँ कुछ लोग विपरीत लक्षणा के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की ज्ञप्ति मानते हैं। किन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणा में वस्तुतः मुख्यार्थ का बाध होता है, तथा लक्ष्यार्थ को प्रतीति किसी दूसरे ज्ञापक के द्वारा होती है। किन्तु जहाँ पर उसी वाक्य के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ लक्षणा कैसे मानी जा सकती है, क्योंकि वहाँ

---

१. अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते॥
—का० प्र० उ० १. पृ०

बाध ( मुख्यार्थबाध ) नहीं माना जा सकता ।[1] हाँ, जहाँ किसी प्रमाणान्तर से मुख्यार्थबाध के बाद अर्थप्रतीति हो वहाँ लक्षणा मानी जा सकती है। महिमभट्ट ने "अधम" पद को साधन या हेतु मानकर प्रतीयमान अर्थ को अनुमितिगम्य माना है। महिमभट्ट की कल्पना भी समीचीन नहीं। महिमभट्ट के अनुमानसिद्धान्त का खण्डन करते हुए हम उसके मत की निःसारता इसी भाग के नवम परिच्छेद में बता आये हैं। उसी प्रकरण में हमने इसी उदाहरण को लेकर बताया है कि यहाँ अधम पद को हेतु मानने पर भी अनुमिति ज्ञान न हो सकेगा। साथ ही यदि चन्दनच्यवनादि को भी हेतु मान लिया जाय, तो भी अनुमिति ज्ञान न होगा, क्योंकि ये दोनों ही हेतु निर्दुष्ट न होकर हेत्वाभास है। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ व्यञ्जना के द्वारा ही इस अर्थ की प्रतीति होती है और उसका सूचक (व्यंजक) "अधम" पद है। यह पदध्वनि का उदाहरण है। यहाँ वस्तु ( चन्दनच्यवनादि ) के द्वारा रमणरूप वस्तु व्यंग्य है। यह व्यंग्यार्थ वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण प्रतीत होता है। अधम पद से यह प्रतीत होता है कि नायक ने नायिका को दुःख दिया है। यह वाच्यार्थ किसी दूसरे कारण की प्रतीति कराता है, जिससे नायिका को दुःख मिला है। अतः नायक का 'दूतीसंभोगनिमित्तकदुःखदातृत्व' व्यक्त होता है।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी संबंध में रसरूपव्यंग्य का निम्न उदाहरण दिया है:—

---

१. यत्र तु प्रमाणान्तरं न तज्ज्ञापकमवतरति तद्वाक्यजनितप्रत्ययमहिम्नैव तु तत्प्रत्ययस्तत्र कथं लक्षणा। बाधाभावात्। × × × वापीं स्नातुमित्यादौ तु बाधानवतारेऽपि अधमपदार्थपर्यालोचनया यथोक्तव्यंग्यं एवेत्येव प्राधान्यमधमपदस्य।

— भीमसेनः का० प्र० सुधासागर पृ० ३६

२. अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्यनायिकादीनां वैशिष्ट्यप्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यंजनाव्यापारेण दूतीसंभोगनिमित्तकदुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालंकारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः।

—रसगंगाधर पृ० १९

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयितानानाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

"समीप सोई हुई होने पर भी अपने मनोरथ की पूर्ति करने में असमर्थ प्रेयसी आँखें कुछ बंद करके अपने प्रिय के मुखकमल की ओर देखती है।"

यहाँ पर संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति होती है। ध्वनि के संबंध में यहाँ दो एक उदाहरण हिन्दी काव्य से भी दे देना आवश्यक होगा।

(१) देख खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,
शैल - सुता अपर्ण - अशना,
पल्लव वसना बनेगी,
वसन वासंती लेगी।
रूखी री यह डाल, वसन वासंती लेगी ॥

(निराला: गीतिका)

इसमें शब्दशक्तिमूला व्यंजना के द्वारा प्रस्तुत 'डाल' के साथ ही अप्रस्तुत 'पार्वती' की व्यंजना तथा उनका उपमानोपमेय भाव व्यक्त हो रहा है।

(२) जब संध्या ने आँसू में
अंजन से हो मसि घोली,
तब प्राची के अंचल में
हो स्मित से चर्चित रोली,
काली अपलक रजनी में
दिन का उन्मीलन भी हो!

(महादेवी: यामा)

इसमें गौणी प्रयोजनवती लक्षणा के द्वारा यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि कवयित्री अपने जीवन में सुख तथा दुख दोनों का अपूर्व मिलन चाहती है। यहाँ यह व्यंग्यार्थ ही कवयित्री का प्रमुख प्रतिपाद्य है तथा इसीमें चमत्कार है।

( २ ) उत्तम काव्यः—उत्तमोत्तम काव्य के बाद काव्य की दूसरी कोटि उत्तम काव्य है। यही काव्य गुणीभूतव्यंग्य भी कहलाता है।

उत्तम काव्य

मम्मट ने बताया है कि व्यंग्य के वाच्यातिशय-चमत्कारी न होने पर काव्य मध्यम कोटि का होता है, तथा उसे गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है।[1] यहाँ पर कुछ विद्वानों के मतानुसार गुणीभूतव्यंग्य काव्य की परिभाषा यों होनी चाहिए थी—"गुणीभूतव्यंग्य काव्य वह है, जहाँ चित्र काव्य से भिन्न होने पर ( चित्रान्यत्वे सति ) व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो।" किंतु यह मत समीचीन नहीं क्योंकि यहाँ "व्यंग्य" शब्द का अर्थ स्फुटव्यंग्य से है, चित्रकाव्य में तो व्यंग्य अप्रकटतर ( अस्फुटतर ) रहता है, क्योंकि वहाँ निबद्धा का ध्येय शब्दगत या अर्थगत चमत्कार ही होता है, व्यंग्यार्थ नहीं।[2] इसीलिये गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का चित्रकाव्य के साथ समावेश भी नहीं हो सकता। पंडितराज की गुणीभूतव्यंग्य की परिभाषा और अधिक स्पष्ट है—"यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।" अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ गौण होनेपर भी चमत्कारयुक्त अवश्य हो वहाँ द्वितीय ( उत्तम ) काव्य होगा। गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अंतर्गत बहुत से व्यंग्य प्रधान अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। पर्यायोक्ति, सूक्ष्म, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि कई अलंकार जिनमें किसी न किसी अर्थ की व्यंजना होती है, इसीके अंतर्गत संनिविष्ट होते हैं। पंडितराज ने उन काव्यों में जिनमें अर्थालंकार पाये जाते है, दो कोटियों की स्थिति मानी हैं—गुणीभूतव्यंग्यत्व तथा चित्रकाव्यत्व।[3] ध्वनिकार

---

१. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। —( का० प्र० १-५ )
( साथ ही ) यत्र व्यंग्यं वाच्यातिशायि तद्गुणीभूतव्यंग्यम्।
( चि० मी० पृ० ३ )

२. गुणीभूतव्यंग्ये चास्फुटमात्रं व्यंग्यम्। अधमकाव्ये तु अस्फुटतरं तद्विरह एवेति ........ ( सुधासागर पृ० ३७ )

१. तेषां गुणीभूतव्यंगतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालंकारिकसंमतत्वात्।
—रसगंगाधर पृ० १७

ने गुणीभूतव्यंग्य को भी आदर की दृष्टि से देखते हुए काव्य का सौंदर्य विधायक मानते हुए कहा हैः—

"काव्य का दूसरा प्रकार गुणीभूतव्यंग्य है। इसमें व्यंग्य का अन्वय होने पर वाच्य का सौंदर्य अधिक उत्कृष्ट होता है।"[1]

गुणीभूतव्यंग्य के ध्वनिकार, आनंदवर्धन, मम्मट तथा अन्य आचार्यों ने ८ भेद माने हैं। हेमचंद्र मम्मट के इस वर्गीकरण का खडन करते हैं, उनके मतानुसार गुणीभूतव्यंग्य के तीन ही भेद माने जाने चाहिएँ।[2] वे लिखते हैं:—"मध्यम काव्य के तीन ही भेद हैं, आठ नहीं।"[3] कुछ विद्वानों के मत से काव्य एक ही प्रकार का है। जब ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा-ध्वनि मान ली है, तो केवल उत्तमोत्तम (उत्तम) काव्य ही काव्य है, बाकी सब अकाव्य की कोटि में आयँगे अतः ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य यह कोटि निर्धारण ठीक नहीं। इन मतों की परीक्षा हम द्वितीय भाग में गुणीभूतव्यंग्य के विशेष विवेचन के संबंध में करेंगे, अतः यह विषय वहीं द्रष्टव्य है। गुणीभूतव्यंग्य को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरणों को लेंगे।

वाणीरकुडंगुड्डीनसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अंगाइँ॥

वेतस कुंज से उड़ते हुए पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई, घर के काम में व्यस्त, बहू के अंग शिथिल हो रहे हैं।

यहाँ शकुनिकोलाहल सुनकर बहू के अंगों का शिथिल होना वाच्यार्थ है, प्रकरणादि के वश से शकुनियों के उड़ने के कारणभूत, वेतसकुंज में दत्तसंकेत उपपति के आगमन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ यद्यपि इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति अवश्य होती है, यह चमत्कारशाली भी है, तथापि यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का उपस्कारक

---

१. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
तत्र व्यंग्यान्वये काव्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ —ध्वन्यालोक

२. असत्संदिग्धतुल्यप्राधान्ये मध्यमं त्रेधा।
—काव्यानुशासन २, ५७ पृ० १५२

३. इति त्रयो मध्यमकाव्यभेदा न त्वष्टौ। —काव्यानुशासन पृ० १५७

होकर "बहू के अंग शिथिल हो रहे हैं" (वध्वाः सीदन्ति अंगानि) इस वाच्यार्थ के सौन्दर्य को बढ़ाता है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के लिए गौण हो गया है, क्योंकि व्यंग्यार्थ के जानने पर ही अंग-शिथिल होने के सौन्दर्य की प्रतीति हो सकती है। अतः यहाँ विशेष चमत्कार वाच्यार्थ में ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणीभूतव्यंग्य का यह उदाहरण दिया है:—

राघवविरहज्वालासन्तापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥

राम की विरहज्वाला से तप्त सह्याद्रि के शिखरों पर शिशिरऋतु में सुख से सोने वाले बन्दर हनुमान से क्रुद्ध हुए।

यहाँ "राम को सीता की कुशलता का संदेश सुनाकर हनुमान ने उनके विरहताप को कम कर दिया" यह व्यंग्यार्थ "राम के विरहताप से प्रतप्त सह्याद्रि में शिशिर ऋतु में सुख पूर्वक सोये हुए बन्दर हनुमान से क्रुद्ध हुए "इस वाच्यार्थ का उपस्कारक है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बिना वाच्यार्थ की चमत्कारप्रतिपत्ति नहीं हो पाती। फिर भी यह व्यंग्यार्थ सर्वथा सौन्दर्यरहित नहीं है। पंडितराज के मत से यह उपस्कारक व्यंग्यार्थ उसी तरह सुन्दर होकर भी गौण बन गया है जैसे कोई राजमहिला दैववशात् दासी बन गई हो।[1]

हिन्दी से हम निम्न उदाहरण दे सकते हैं:—

(१) निशा को धो देता राकेश चाँदनी में जब अलकें खोल।
कली से कहता था मधुमास बता दो मधु मदिरा का मोल॥
(महादेवी: यामा)

इसमें प्रस्तुत राकेश-निशा तथा मधुमास-कली पर नायक-नायिका वाले अप्रस्तुत का व्यवहारसमारोप प्रतीत होता है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार तथा गुणीभूतव्यंग्य है। यहाँ विशेष चमत्कार वाच्यार्थ में ही है।

---

१. अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यंग्यमाकस्मिक कपिकर्तृकहनूमद्विषयककोपोपादकतया गुणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति। —रस० गं० पृ० १७

(२) नूरजहाँ ! तेरा सिंहासन था कितना अभिमानी ।
तेरी इच्छा ही बनती थी, जहाँगीर की रानी ॥
( रामकुमारः रूपराशि )

इसमें "तेरी इच्छा ही बनती थी, जहाँगीर की रानी" के वाच्यार्थ में जो चमत्कार है, वह इसके व्यंग्यार्थ में नहीं ।

( ३ ) मध्यम काव्यः—मध्यम काव्य के अंतर्गत मम्मट के अर्थचित्र का समावेश होता है । अर्थचित्र व शब्दचित्र दोनों को एक ही कोटि में मानना ठीक नहीं । अर्थचित्र काव्य शब्दचित्र से विशेष चारुता लिये होता है । अप्पय दीक्षित के मतानुसार चित्रकाव्य को तीन प्रकार का माना जाना चाहिए—अर्थचित्र, शब्दचित्र, उभयचित्र ।[1] विश्वनाथ ने तो चित्रकाव्य नाम की वस्तु ही नहीं मानी है तथा इस विषय में मम्मट का खंडन किया है । वस्तुतः चित्रकाव्य को न समझने वाले आचार्य मम्मट के 'अव्यंग्यं' का अर्थ नहीं समझ पाये हैं । यहाँ उसका अर्थ अस्फुटतरव्यंग्य से है, व्यंग्य की रहितता से नहीं ।[2] इस काव्य में व्यंग्यार्थ चमत्कार नगण्य होता है तथा वाच्यार्थ चमत्कार अत्यधिक उत्कृष्ट होता है । इसी बात की ओर ध्यान दिलाते हुए पंडितराज ने तृतीय काव्य की परिभाषा यों निबद्ध की है—"जहाँ वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ चमत्कार का समानाधिकरण न होकर उससे विशिष्ट हो ।"[3] ध्वनिकार के मत से वह काव्य जहाँ रस, भाव, आदि की विवक्षा न हो, तथा अलंकारों का ही निबंधन हो चित्र काव्य कहलाता है ।[4]

मध्यम काव्य

---

१. तत्त्रिविधम्—शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रमिति ।
( चि० मी० पृ० ४ )

२. अनुल्बणत्वाद्व्यंग्यानामव्यंग्यं चित्रमीरितम् ।
व्यंग्यस्यात्यन्तविच्छेदः काव्ये कुत्रापि नेष्यते ।
—अलंकारसुधानिधि—( प्रतापरुद्रीयटीका रत्नापण से उद्धृत )

३. यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।
—रसगंगाधर पृ० १९

४. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ —ध्वन्यालोक पृ० ४९७

अर्थचित्रात्मक मध्यम काव्य जैसे,

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

'शत्रुओं के मान का खंडन करने वाले हयग्रीव को अपनी इच्छा से महल से बाहर निकला हुआ सुनकर डरे हुए इंद्र के द्वारा बंद करवाई हुई अर्गला वाली अमरावती पुरी मानो डर से आँखें बंद कर लेती थी।' यहाँ "अमरपुरी के द्वार बंद होने" इस प्रकृत वस्तु में "डर से आँखें बंद कर लेना" इस अप्रकृत वस्तु की संभावना की गई है। अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। किंतु यहाँ व्यंग्य का सर्वथा अभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "मानो आँखें बंद कर लेती थी" इस उत्प्रेक्षा से अमरावती तथा नायिका का व्यवहार साम्यरूप व्यंग्य भी प्रतीत होता है। हाँ, यह अवश्य है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा उसका चमत्कार नगण्य है। कुछ लोग यहाँ हयग्रीवविषयक उत्साह भाव एवं वीर रसाभास की व्यंजना भी मानते हैं, पर वह भी वास्तविक चमत्कारा-धायक नहीं। पंडितराज के मत में यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ 'समानाधिकरण' नहीं होते। उन्हीं के शब्दों में यहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ में उसी तरह लीन हो जाता है, जैसे किसी ग्रामीण (अचतुर) नायिका के द्वारा लगाये हुए केसर के उबटन में छिपी हुई, उसके स्वयं के अंग की सुंदरता। वे यह भी बताते हैं कि किसी भी काव्य में ऐसा वाच्यार्थ नहीं मिलेगा, जो व्यंग्यार्थ के लेश से भी युक्त न हो, फिर भी चमत्कार उत्पन्न करे।[१] उत्तम काव्य तथा मध्यम काव्य इन दोनों कोटियों में समस्त अर्थालंकार प्रपञ्च का समावेश हो जाता है। जिन अलंकारों में व्यंग्य गुणीभूत होने पर भी जागरूक है, वे उत्तम काव्य

---

१. चमत्कारो···मन्मप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकलितकाश्मीरद्रवांगरागनिगीर्णो निजांगगौरिमेव प्रतीयते। न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनास्पृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति।
—रसगंगाधर पृ० १९

तथा जिनमें अजागरूक है, वे मध्यम काव्य हैं। हिंदी से हम यह उदाहरण दे सकते हैं:—

सबै कहत बेंदी दिये आँक दस गुनौ होत ।
तिय ललार बेंदी दिये अगनित बढत उदोत ॥ ( बिहारी )

यहाँ पर व्यंग्यार्थ नायिका का अतिशयसौंदर्यरूप वस्तु है। किंतु उस व्यंग्य का चमत्कार अतिशयोक्ति रूप वाच्यार्थ के चमत्कार में लीन हो गया है। यहाँ पर अतिशयोक्ति है। इसमें ही वास्तविक चमत्कार है।

( ४ ) अधम काव्यः—काव्य की अंतिम कोटि अधम काव्य है। इसके अंतर्गत मम्मट या दीक्षित का शब्दचित्र समाविष्ट होता है। यहाँ पर किसी भी प्रकार के अर्थ की चमत्कृति गुणी-

अधम काव्य

भूत होकर शब्दचमत्कृति को ही पुष्ट करती है। "जहाँ अर्थचमत्कृति से शून्य शब्दचमत्कृति ही प्रधान हो, वह अधम काव्य चौथा है।"[१] इस काव्य में भी व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव नहीं होगा, यह बात ध्यान में रखनी होगी। क्योंकि व्यंग्यार्थ ( रमणीयार्थ ) रहित वृत्त या पद्य को हम काव्य संज्ञा देने के पक्ष में नहीं है। फिर भी इसमें कवि का ध्येय शब्दाडम्बर या अनुप्रास, यमक या श्लेषादि का चमत्कार ही रहता है। जैसे —

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदैर्घ्या दरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥

जिसके तीरों पर स्वच्छन्दता से पानी उछला करता है, तथा किनारे के गड्ढों को भर देता है, जहाँ मोह रहित ऋषिगण हर्ष से स्नान क्रिया करते हैं, जिसमें कई मेंढक शब्द किया करते हैं, और जो कमजोर पेड़ों को गिराने के कारण बड़ी-बड़ी लहरों के घमंड में चूर हो जाती है, वह भगवती मन्दाकिनी ( गंगा ) आप लोगों के अज्ञान को नष्ट करे।

---

१. यत्रार्थचमत्कृतिशून्या शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् ।
—रसगंगाधर पृ० १९

इस काव्य में यद्यपि भगवती मंदाकिनी विषयक रति भावरूप व्यंग्यार्थ है अवश्य, पर कवि का मुख्य ध्येय अनुप्रास चमत्कार ही है। अतः यहाँ व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ दोनों ही शब्दचमत्कृति के उपस्कारक हो गये हैं। हिंदी का उदाहरण, जैसे

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाय।
इहि खाये बौराय है, उहि पाये ही बौराय। (बिहारी)

काव्य के कोटि विभाजन का तारतम्यः—रसप्रदीप में एक स्थान पर प्रभाकर भट्ट ने काव्यों के इस कोटि-निर्धारण का विवेचन करते हुए एक बात बताई है कि सभी काव्यों में सभी प्रकार के काव्यों का सांकर्य रहता है। वे कहते हैं—'निःशेष'' आदि उत्तम काव्य (पंडितराज के उत्तमोत्तम काव्य) में भी व्यंग्य इतना अधिक चमत्कारी नहीं है। ''ग्रामतरुण''[1] आदि मध्यम काव्य में (पंडितराज के उत्तम काव्य में) भी चमत्कारी व्यंग्य की प्रतीति होती है, साथ ही ''स्वच्छंद'' आदि उदाहरण में शब्द तथा अर्थ के चमत्कार से अव्यवहित चमत्कारी व्यंग्य की प्रतीति होती है, यह सभी सहृदय जानते हैं। अतः सभी प्रकार के काव्यों में संकर होता है। फिर भी उसकी अलग से प्रतीति की दशा में उत्तम आदि काव्यों में परस्पर सांकर्य न मानना ही ठीक होगा।[2] इसी बात को मम्मट ने भी बताया है कि ध्वनि तथा गुणीभूत-

कोटि निर्धारण तारतम्य

---

१. ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

हाथ में वञ्जुल की नई मञ्जरी को लिये हुए ग्रामतरुण को देखकर, ग्रामतरुणी की मुखकान्ति अत्यधिक मलिन हो जाती है।

यहाँ वञ्जुल के पास 'सहेट' पर होकर उपपति लौट आया है, पर नायिका न पहुँच पाई। उपपति यह जताने के लिए कि वह वहाँ गया था वञ्जुलमंजरी हाथ में लिए है। उसे देखकर नायिका दुखी होती है। यहाँ वास्तविक चमत्कार 'मुखकान्ति मलिन हो जाना' इस वाच्यार्थ में ही है।

२. वयं तु सर्वत्र सङ्कर एव—तथाहि उत्तम काव्ये ''निःशेषेत्यादावचमत्कारिव्यंग्यप्रतीतिः। 'ग्रामतरुण' मित्यादौ मध्यमकाव्ये च चमत्कारिव्यंग्य-प्रतीतिः, 'स्वच्छन्दे' त्यादावधमकाव्येऽपि वाच्यवाचकवैचित्र्याव्यवहितचम-

व्यंग्य का कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जहाँ भेदों में परस्पर संकर या संसृष्टि न हो, फिर भी "प्राधान्य से ही व्यपदेश होता है" इस न्याय से किसी विशेष प्रकार का व्यवहार किया जाता है।[1]

पंडितराज जगन्नाथ ने भी इस प्रसंग को एक स्थान पर उठाया है। वे बताते हैं कि उन काव्यों में जहाँ अर्थचित्र तथा शब्दचित्र दोनों का सांकर्य है, वहाँ तारतम्य देखकर मध्यमत्व या अधमत्व मानना होगा। दोनों के समान होने पर तो मध्यम काव्य ही मानना होगा।[2] जैसे निम्न काव्य में शब्दचित्र तथा अर्थचित्र के चमत्कार के समान होने से मध्यम काव्य ही होगा।

> उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
> निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम्।
> उत्पातस्तामसाना मुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
> संघातः कोपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत्॥

उदयगिरि के प्रांतभाग से कोई तेजसमूह (सूर्य) प्रकट हुआ। वह प्रफुल्लित कमलों पर गिरने वाले मस्त भौंरों की खुशी (उल्लास) है। वह शोक की अग्नि से व्याकुल चक्रवाकवधुओं का रक्षक है। वह अंधकार के लिए अशुभसूचक उत्पात तथा उन आँखों के लिए सहायक (पक्षपात) है, जिनकी ज्योति दब गई है।

---

त्कारिव्यंग्यप्रतीतिस्तात्पर्यवशाद् दशाविशेषेऽनुभवसिद्धा। तस्माद्धेत्वाभासानां तत्तत्पुरःस्फूर्तिकदूषणज्ञापितदृष्टीनां दशाविशेषेषु विरुद्धत्वादिनानारूपसंकरवदत्रापि तत्तद्व्यंग्यानां स्वप्रभेदप्रतीतिदशासूत्तमादित्वस्वीकारादसंकरो ऽध्यवसेयः। —रसप्रदीप, पृ० १७

१. यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयो यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोः स्वप्रभेदः सह संकरः संसृष्टिर्वा नास्ति तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति क्वचित् केनचिद् व्यवहारः। —का० प्र० उ० ५ पृ०

१. यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यं तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम्। समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।

—रसगंगाधर पृ० २०

पंडितराज जगन्नाथ की भाँति हम भी काव्य के चार ही भेद मानते हैं, किंतु यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि पंडितराज के भेदों के उदाहरणों से हमारे लक्ष्य मेल नहीं खायँगे। जो उदाहरण पंडितराज के मत में उत्तमोत्तम हैं, उसे हम उत्तम या मध्यम भी मान सकते हैं। साथ ही उनका उत्तम हमारा मध्यम भी हो सकता है। हाँ, हमारा उत्तमोत्तम उनके भी मत में उत्तमोत्तम ही रहेगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, काव्य का वास्तविक चमत्कार हम 'रसध्वनि' में ही मानते हैं। यह मत अभिनवगुप्त तक को मान्य है। अतः काव्य की उत्तमोत्तमता हम 'रसध्वनि' के आधार पर मानते हैं। किंतु हम इस मत में विश्वनाथ के पदचिह्नों पर भी नहीं चल रहे हैं। विश्वनाथ ऐसे उदाहरणों में जहाँ वस्तुध्वनि या अलंकारध्वनि है, उत्तम ( हमारा उत्तमोत्तम ) काव्य मानने के लिए रस का आक्षेप कर लेते हैं। हम ऐसा करने से सहमत नहीं। हम पहले पहल ध्वनिकाव्य को भी दो तरह का मान बैठते हैं:– एक वह जिसमें व्यञ्जक में विशेष चमत्कार है, दूसरा वह जिसमे व्यंग्य में विशेष चमत्कार है। मनो-वैज्ञानिक शब्दावली में हम यह कह सकते हैं कि व्यञ्जक प्रधान ध्वनि काव्य में हृदय की अपेक्षा "बुद्धिपक्ष" की विशेष प्रधानता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ सहृदयता का अभाव है। यह बात वस्तु-व्यञ्जना तथा अलंकार-व्यञ्जना में पाई जाती है। व्यंग्य प्रधान ध्वनि काव्य में 'मनस्तत्त्व' तथा रागात्मकता की प्रधानता है। इस रागात्मकता-प्रधान व्यंग्यविशिष्ट काव्य को ही हम उत्तमोत्तम काव्य मानते हैं। इसमें हम सारी 'रसध्वनि' का समावेश करते हैं।

**हमारा वर्गीकरण**

वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को हम दूसरी कोटि का ( उत्तम ) काव्य मानते हैं। पर इसमें भी प्राचीन ध्वनि-पंडितों से हमारा मत-भेद है। उन प्रौढोक्तिमय (कविप्रौढोक्तिनिबद्ध तथा वक्तृप्रौढोक्तिनिबद्ध ) वस्तु तथा अलंकारों को जहाँ व्यञ्जनाशैली में 'ऊहात्मकता' पाई जाती है, हम 'उत्तम' कोटि का काव्य नहीं मानते। जैसे "पत्रा ही तिथि पाइये" आदि दोहे में हम बता चुके हैं कि ध्वनिवादी यहाँ ध्वनि ( पंडित-राज का उत्तमोत्तम ) काव्य कहेगा। साथ ही पंडितराज का "राघव-विरहज्वाला" आदि पद्य उत्तम काव्य होगा। पर हम इन्हें इन कोटियों

भाखे मुरार निसासन पौन नैं तौ अधरान को राग हर्‍यौ री।
बावरी, पीव सँदेसो न मान्यों तौ तैं क्यों इतो पछ्तावो कर्‍यौ री॥
(मुरारिदान)

(३) मध्यमः—

(१) हाड भये सब किंगरी नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तैं धुनि उठै कहौं बिथा केहि भाँति॥
(जायसी)

(२) करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाडतु नीचु।
दीनै हूँ चसमा चखनि चाहै लखै न मीचु॥
(बिहारी)

(४) अधमः—

छपती छपाई री छपाईगन-सोर नू,
छपाई क्यों सहेली ह्याँ छपाई ज्यों दगति है।
सुखद निकेत की या केतकी लखे ते पीर,
केतकी हिये में मीनकेत की जगति है॥
लखि कै ससंक होती निपटै ससंक 'दास,'
संकर मैं सावकास संकर-भगति है।
सरसी सुमन सेज सरसी सुहाई सर-
सीरुह बयारि सीरी सर सी लगति है॥
(भिखारीदास)

इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व हिन्दी साहित्य के आलंकारिकों का मत जान लेना होगा। हिन्दी के कई आलंकारिक काव्य का सौंदर्य 'व्यंजना' में न मानकर अभिधा में ही मानते हैं। देव अभिधा को वास्तविक (उत्तम) काव्य मानते हैं:—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन॥
(काव्यरसायन)

भिखारी दास 'काव्यनिर्णय' में व्यंजना को ही काव्य की कसौटी मानते हुए कहते हैं:—

वाच्य अर्थ ते व्यंग्य में, चमत्कार अधिकार।
ध्वनि ताही को कहत है, उत्तम काव्य विचार॥

यहाँ आधुनिक हिंदी साहित्य के आचार्य पंडितप्रवर रामचंद्र शुक्ल के मत का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। आचार्य शुक्ल का उल्लेख न करने से इस विषय में विवेचना अधूरी रह जायगी। शुक्लजी के कुछ लेखों तथा प्रबन्धों का अवलोकन करने पर यह धारणा बनती है कि शुक्ल जी भी प्राचीन मीमांसकों के उत्तराधिकारी हैं। वे भी अभिधा के ही पक्ष-पाती हैं तथा इस बात के मानने में सहमत नहीं कि व्यंजना में काव्य है। किंतु शुक्लजी इस ढंग से व्यंजनावादियों से बचना चाहते हैं कि साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे। वे अभिधा तथा व्यंजना का खंडन ऐसे शब्दों में करते हैं कि पहले पहल तो व्यंजनावादी उनपर शक ही नहीं कर सकता। उनका तात्पर्य यह है कि व्यंजना में काव्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि काव्य तो वस्तुतः अभिधा तथा वाच्यार्थ में ही है, व्यंग्यार्थ में नहीं। वे इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तविक रमणीयता वाच्यार्थ में ही होती है।[1] शुक्लजी के इस

पं० रामचंद्र शुक्ल और अभिधा

---

१. शुक्लजी अपने इन्दौरवाले भाषण ( १९२४ ) में "काव्य की रमणीयता किसमें रहती है?" इस प्रश्न को सुलझाते हुए उदाहरण देते हुए कहते हैं:—

"आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ॥

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत, और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप ही मिट जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या, पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि के अग्राह्य वाच्यार्थ में है। इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है, इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"

( इन्दौर वाला भाषण पृ० १४ )

हमारे मत से इन पंक्तियों में व्यंजकविशिष्ट व्यंजना है। यहाँ प्रौढोक्ति के द्वारा वस्तु की व्यंजना हो रही है न कि प्रमुख रूप से किसी रस या भाव की। यही कारण है, शुक्लजी ने यहाँ वाच्यार्थ की रमणीयता मान ली है। यहाँ वाच्यार्थ में रमणीयता न होकर व्यंजना या अभिव्यंजना शैली में

मत से हम सहमत नहीं। अभिधावादी मीमांसकों का खंडन हम कर ही चुके हैं। शुक्लजी हमसे कहते हैं व्यंजना का महत्त्व तो है, किंतु वह काव्य नहीं, काव्य तो अभिधा में ही है, काव्यगत सौन्दर्य व्यंजना में न मानकर काव्य में उसका महत्त्व मानने में क्या रहस्य है? हमें तो इसमें एक रहस्य जान पड़ता है। वह है शुक्लजी के द्वारा छायावादी तथा आधुनिक रहस्यवादी (सांप्रदायिक रहस्यवादी) कवियों का विरोध। शुक्लजी इन छायावादी कवियों की कविताओं को काव्य मानने के पक्ष में नहीं थे। हाँ बाद में जाकर इस मत में थोड़ा परिवर्तन जरूर हुआ पर वह भी नहीं के बराबर। ये छायावादी कविताएँ व्यंजना ही को आधार बनाकर चली थीं। अतः व्यंजना को काव्य मानने पर शुक्लजी इनका निराकरण कैसे कर सकते थे। इसीलिये शुक्लजी ने अभिधा को ही काव्य मानकर इन "वितंडावादी" (शुक्लजी के शब्दों में) काव्यों की व्यंजना से बचने का सरल तरीका निकाल ही लिया। वैसे उन्होंने ध्वनिकार तथा अभिनवगुप्त के रससिद्धांत को मान्यता दी ही, चाहे उसमें वे कुछ नवीन मत जोड़ देते हैं। साथ ही शुक्लजी ने स्वयं भी वस्तु व्यंजना, अलंकार-व्यंजना तथा रस व्यंजना को माना है। ऐसी दशा में शुक्लजी व्यंजना को तो मानते ही हैं। पर इतना होते हुए भी वाच्यार्थ में ही काव्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि रस कभी भी वाच्यार्थ नहीं होता।

---

रामणीयक है, और यह तभी पता चलता है जब कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। हमने व्यंजना-प्रणाली के व्यंजकविशिष्ट (वस्तु एवं अलंकार) तथा व्यंग्यविशिष्ट (रस) दो भेद माने हैं।

# सिंहावलोकन

आशाधर भट्ट ने अपने ग्रंथ 'त्रिवेणिका' में अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना की तुलना गंगा, यमुना तथा सरस्वती से की है।[1] इसी संबंध में आशाधर ने अर्थ ज्ञान के तीन प्रकार माने हैं--चारु, चारुतर, चारुतम। वाच्यार्थ ज्ञान चारु है, लक्ष्यार्थ ज्ञान चारुतर है तथा व्यंग्यार्थ ज्ञान चारुतम है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि आलंकारिकों ने काव्य का उत्कृष्ट सौंदर्य व्यंजना में ही माना है, किंतु व्यंजना के स्वरूप को जानने के लिए अभिधा तथा लक्षणा का स्वरूप जानना आवश्यक है, व्यंजना वह शक्ति है, जो अभिधा या लक्षणा को ही आधार बनाकर खड़ी होती है। ध्वनिवादी के पूर्व के आलंकारिकों ने व्यंजना का कोई संकेत नहीं किया, इसका अर्थ यह नहीं कि वे व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान जैसे काव्यार्थ का ही सर्वथा निषेध करते थे। हम बता चुके हैं कि भामह, दण्डी, उद्भट या वामन ने व्यंजना का कोई संकेत नहीं किया है। उद्भट एवं वामन तो आनंदवर्धन के समसामयिक भी रहे हैं, पर उन्होंने व्यंजना का संकेत करना आवश्यक न समझा हो। भामह, दण्डी तथा उद्भट ने तो अभिधा एवं लक्षणा का भी विचार नहीं किया है। वैसे भामह ने काव्यालंकार के षष्ठ परिच्छेद में स्फोटवादियों तथा अपोहवादियों के शब्दार्थ संबंधी मत का खंडन अवश्य किया है।[3] वाच्यार्थ का विचार करते समय भामह ने वैयाकरणों के उपाधि वाले मत के ही पक्ष में अपनी सम्मति दी है।

---

१. शक्तिभक्तिव्यक्तिगंगायमुनागूढनिर्झराः।
निर्वाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥—त्रिवेणिका पृ० १

२. काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानं त्रिविधं चारु, चारुतरं, चारुतमं चेति।—वही पृ० २.

३. काव्यालंकार ६. १२, तथा ६. १६.

द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात् ते च चतुर्विधाः।
यदृच्छाशब्दमप्यन्ये डित्थादि प्रतिजानते॥ (६।२१)

वामन ने काव्यालंकारसूत्र में दो स्थानों पर लक्षणा का संकेत किया है। अर्थालंकारों के प्रकरण में वक्रोक्ति का विवेचन करते समय वामन ने गौणी लक्षणा का संकेत किया है। वामन का वक्रोक्ति अलंकार न तो अन्य आलंकारिकों का वक्रोक्ति अलंकार ही है, न कुंतक की वक्रोक्ति ही जिसका संकेत हम कर आये हैं। वामन ने वक्रोक्ति अलंकार वहाँ माना है, जहाँ सादृश्यमूलक लक्षणा (गौणी लक्षणा) पाई जाती है। (सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—सू० ४. ३. ८) वामन ने इसका उदाहरण यह दिया हैः—'उन्निमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्'। इस पंक्ति में नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन सादृश्य के आधार पर लक्षणा से कमल एवं कुमुदिनी के विकास तथा संकोच को लक्षित करते हैं। वामन ने एक दूसरे स्थान पर भी लक्षणा का संकेत किया है। काव्य में प्रयोज्य शब्दों का विचार करते समय वामन ने बताया है कि काव्य में उन्हीं लक्षणाशब्दों का प्रयोग करना चाहिए, जो अत्यधिक प्रचलित हैं, अन्य शब्दों का नहीं। उदाहरण के लिए 'द्विरेफ' तथा 'उदर' शब्द क्रमशः 'भ्रमर' तथा 'चक्रवाक' के लिए प्रयुक्त होते हैं, लेकिन 'द्विक' शब्द 'कौवे' के लिए बहुत कम प्रचलित है।[1]

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः वे ही शब्दशक्तियाँ मानी हैं, जिनका विवेचन हम अपने प्रबंध में कर चुके हैं। कुछ आलंकारिक प्रायः अभिधा एवं लक्षणा इन दो ही शक्तियों को मानते हैं, अन्य अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य एवं व्यंजना इन चार शक्तियों को मानते हैं। इनमें प्रथम वर्ग में ऐसे भी आलंकारिकों का समावेश किया जा सकता है, जो लक्षणा का अन्तर्भाव अभिधा में ही करते हैं तथा एक ही शब्दशक्ति—अभिधा शक्ति—मानते हैं। मुकुल भट्ट, कुंतक तथा महिमभट्ट, के संबंध में हम इसका संकेत कर चुके हैं। द्वितीय वर्ग के ध्वनिवादी आचार्यों में कुछ ऐसे भी हैं, जो तात्पर्य वृत्ति का अन्तर्भाव व्यंजना में ही करते हैं। प्रताप-

---

१. लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयोज्याः।······अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ५. २. १५

रुद्रीयकार विद्यानाथ ने तात्पर्य वृत्ति को अलग मानने का खंडन किया है। वे बताते हैं कि तात्पर्यार्थ कुछ नहीं व्यंग्यार्थ ही है[1], अतः इसके लिए अलग से शब्दशक्ति मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। एकावलीकार विद्याधर भी तात्पर्य वृत्ति का संकेत करते समय इससे असहमत जान पड़ते हैं:—'अनुवाद्यानामर्थानां विधेयार्थपरत्वं तात्पर्यमिति व्यापारान्तरं परैरभ्युपगतम्'।[2] विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी एवं उसके पिता ( एकावली के टीकाकार ) मल्लिनाथ ने बताया है, कि कई विद्वान् तात्पर्य का समावेश व्यंजना में ही करते हैं। कुमारस्वामी ने तो रत्नापण में यहाँ तक संकेत किया है कि मम्मट को भी तात्पर्यवृत्ति मान्य नहीं थी, तभी तो उन्होंने 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' कह कर अन्यसम्मतत्व ( केषुचित् ) को व्यक्त किया है। उसने भाव प्रकाश से एक पद्य उद्धृत कर इस बात को सिद्ध किया है कि तात्पर्य, तथा ध्वनि दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं।[3] बाद के छोटे मोटे आलंकारिकों ने इसीलिए केवल तीन ही वृत्तियाँ ( शब्दशक्तियाँ ) मानी हैं।[4]

शब्दशक्तियों के विषय में भोजदेव के शृंगारप्रकाश में नवीन कल्पना पाई जाती है। काव्य का विश्लेषण करते समय भोज ने काव्य के उपादान ( १ ) शब्द, ( २ ) अर्थ, ( ३ ) तथा शब्दार्थ साहित्य के

---

१. तात्पर्यार्थो व्यंग्यार्थ एव न पृथग्भूतः।—प्रतापरुद्रीय पृ० ४३

२. एकावली पृ० ५६–५७

३. एवं च सति प्राचीनालंकारशास्त्राणां संसर्गरूपवाक्यार्थस्य तात्पर्यार्थत्वेन प्रतिपादनं मतान्तराभिप्रायेणेति द्रष्टव्यम्। अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे—'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' इति। उक्तं च सुधानिधौ 'अस्मन्मतं तात्पर्यव्यापारापेक्षं न भवति' इति। विद्याधरेणाप्युक्तम्। 'तात्पर्यं नाम व्यापारान्तरं परैरभ्युपगतम्' इति। तस्माद्व्यञ्जनापरपर्यायमेव तात्पर्यं कविभिरंगीकृतं नान्यदिति सिद्धम्। अतएवोक्तं भावप्रकाशे—

अतो ध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः।
काव्ये रसालंक्रियादिर्वाक्यार्थो भवति स्फुटम्॥

—रत्नापण ( प्रतापरुद्रीय टीका ) पृ० ४४.

४. देखिये केशवमिश्रः अलंकारशेखर पृ० १०

क्रमशः बारह बारह भेद माने हैं। शब्द के बारह भेद निम्न हैं:—प्रकृति, प्रत्यय, उपस्कार, उपपद, प्रातिपदिक, विभक्ति, उपसर्जन, समास, पद, वाक्य, प्रकरण, प्रबंध। अर्थ के बारह भेद ये हैं:—क्रिया, काल, कारक, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्त्यर्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द तथा अर्थ का वर्गीकरण भोज ने व्याकरण तथा मीमांसा शास्त्र से प्रभावित होकर किया है। शब्दार्थसंबंध को जिन बारह भेदों में बाँटा गया है, वे ये हैं:—

(१) ४ केवल शक्तिः—अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग
(२) ४ सापेक्षशक्तिः—व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव
(३) ४ अन्यभेदः—दोषहान, गुणादान, अलंकारयोग, रसावियोग[1]

इन उपर्युक्त तीन कोटियों में भोजने प्रथम दो कोटियों को ही 'शक्ति' नाम से अभिहित किया है। उनमें भी परस्पर यह भेद है कि प्रथम वर्ग की चार शक्तियाँ 'केवल शक्तियाँ' हैं, द्वितीय वर्ग की 'सापेक्षशक्तियाँ'। इस प्रकार भोज के मत से ८ प्रकार की शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। हम देखते हैं कि उपर्युक्त तालिका में कहीं भी लक्षणा तथा व्यंजना का संकेत नहीं है।' ऐसा क्यों? हम देखेंगे कि भोजदेव भी लक्षणा का अंतर्भाव अभिधा में ही करते हैं, तथा व्यंजना को तात्पर्य में अन्तर्भावित मानते हैं। भोजदेव की इन शक्तियों का संक्षिप्त परिचय देना अनावश्यक न होगा।

( १ ) अभिधाः—भोजने अभिधा में ही गौणी तथा लक्षणा (शुद्धा) का समावेश किया है। मुख्या को वे दो प्रकार की मानते हैं—तथाभूतार्था तथा तद्भावापत्तिः। गौणी को भी दो तरह की माना गया है

---

१. तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभाव—दोषहानगुणोपादानालंकारयोगरसावियोगाख्याः शब्दार्थयोर्द्वादश सम्बन्धाः साहित्यमित्युच्यते।

—शृंगारप्रकाश सप्तम प्रकाश,

V. Raghavan : Bhoja's Sringaraprakasa vol. I p. 18.

गुणनिमित्ता तथा उपचारनिमित्ता। ( शुद्धा ) लक्षणा को दो वर्गों में बाँटा गया है—लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा।

( २ ) विवक्षाः—विवक्षा के अंतर्गत भोज ने कवि विवक्षा या वक्तृविवक्षा का संकेत करते हुए इसे भी 'शक्ति' माना है। प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक रिचर्ड्स के मत का संकेत करते समय हम बता चुके हैं कि वे भी 'इन्टेन्शन' को अर्थ प्रतीति में एक तत्त्व मानते हैं। विवक्षा के अनेक प्रकारों का निर्देश शृंगार प्रकाश में किया गया है। यथा असंबंधे संबधविवक्षा, अचेतनेषु चैतन्यविवक्षा, प्रधाने गुणविवक्षा, गुणे प्रधानविवक्षा, समुदाये अवयवविवक्षा, अवयव समुदायविवक्षा, अभेदे भेदविवक्षा, भेदे अभेदविवक्षा, सदसतोविवक्षा, सदसतोरविवक्षा, स्तुत्या निंदाविवक्षा, निंदया स्तुतिविवक्षा, विधिना निषेधविवक्षा। विवक्षा इस प्रकार कुछ नहीं, कवि या वक्ता की इच्छा है, जिसकी प्रतीति काकु, प्रकरण, अभिनय आदि के द्वारा होती है। इसीलिये विवक्षा को तीन कोटियों में विभक्त किया गया है:—

१. काक्वादिव्यंग्या—काकु, स्वर या पदादि के विच्छेद के द्वारा प्रतीत विवक्षा,

२. प्रकरणादिव्यंग्या—प्रकरण, अर्थ, लिंग, औचित्य, देश, काल आदि के द्वारा प्रतीत विवक्षा,

३. अभिनयादिव्यंग्या—चेष्टादि के द्वारा प्रतीत विवक्षा।

भोजदेव ने विवक्षा के साधनों में प्रायः उन्हीं सब तत्त्वों का संकेत किया है, जिनका उल्लेख हम अर्थव्यंजकता के संबंध में कर आये हैं। भोजदेव ने विवक्षा के संबंध में बताया है कि विवक्षा के ही कारण कभी कवि थोड़ी सी बात के लिए भी अधिक वचनों की रचना करता है, तो कभी बहुत सी बात को थोड़े से पदों के द्वारा ही रसमय बना देता है।

क्वचितस्वल्पेऽप्यर्थे प्रचुरवचनैरेव रचना,
क्वचिद्वस्तु स्फारं कतिपयपदैरर्पितरसम्।
यथावाच्यं शब्दाः क्वचिदपि तुलायामिव धृता
स्त्रिभिः कल्पैरेवं कविवृषभसंदर्भनियमः॥

( ३ ) तात्पर्यः—भोज ने तात्पर्य नामक केवल शक्ति के तीन भेद

माने हैं:—१, अभिधीयमान, २, प्रतीयमान, ३, ध्वनिरूप।[1] तात्पर्य के ही अंतर्गत भोज ने ध्वनि का समावेश किया है। वे तात्पर्य को कुछ नहीं ध्वनि ही मानते हैं। इस प्रकार भोज की तात्पर्य शक्ति को ध्वनिवादियों की व्यंजना कहा जा सकता है। पर इस संबंध में थोड़ा परिवर्तन करना होगा। भोज के उक्त तीन प्रकारों में अभिधीयमान को छोड़ कर बाकी दो प्रकार ध्वनिवादी की व्यंजना ही हैं।[2] अभिधीयमान तात्पर्य वहाँ माना गया है, जहाँ, अभिधा के पदार्थ का ज्ञान कराकर क्षीण हो जाने पर आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता आदि के द्वारा आर्थ वाक्यार्थ का अभिधान होता है।

२. प्रतीयमान तात्पर्य वहाँ होता है, जहाँ वाक्यार्थप्रतीति के बाद ठीक बैठता हुआ अथवा असंगत प्रतीत होता हुआ अर्थ प्रकरणादि के जिस अर्थ की प्रतीति कराता है, यह प्रतीयमान होता है। उदाहरण के लिये हम आलंकारिकों के प्रसिद्ध वाक्य 'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व' को ले लें। यहाँ 'जहर खा लेना अच्छा है, इसके घर खाना अच्छा नहीं', यह प्रतीति वाक्यार्थ के अनुपद्यमान (असंगत) होने पर प्रकरणादि के बल से होती है।[3] भोज ने इसके

---

१. तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति—अभिधीयमानम्, प्रतीयमानं, ध्वनिरूपं च।

—श्रृंगारप्रकाश सप्तम परिच्छेद,

Raghavan : Bhoja's Sringaraprakasa p. 181.

२. यत्र यत् उपात्तशब्देषु मुख्यागौणीलक्षणाभिः शब्दशक्तिभिः स्वमर्थममिधाय उपरतव्यापारेषु आकांक्षासन्निधियोग्यतादिभिः वाक्यार्थमार्थमभिधीयते तत् अभिधीयमानं यथा गौर्गच्छतीति।

—वही पृ० १८१

३. वाक्यार्थावगतेरुत्तरकालं वाक्यार्थ उपपद्यमानः अनुपपद्यमानो अर्थप्रकरणौचित्यादिसहकृतो (तः) यत् प्रत्याययति तत् प्रतीयमानम्, यथा 'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व' इत्युक्ते 'वरं विषं भक्षितं न पुनरस्य गृहे भुक्तम्' इति प्रतीयते।

—वही पृ० १८१

लगभग १२ प्रकार माने हैं:—विधि में निषेध, निषेध में विधि, विधि में विध्यंतर, निषेध में निषेधांतर आदि। 'विधि में निषेध' का उदाहरण 'भ्रम धार्मिक विस्त्रब्धः' इत्यादि गाथा है। विधि में विध्यंतर का उदाहरण निम्न है:—

बहुलतमा हतरात्रिः अद्य प्रोषितः पतिः गृहं शून्यम्।
तथा जागृहि प्रतिवेशिन् न यथा वयं मुष्यामहे॥
( बहुलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णम्।
तह जग्गिज्जस्स अस्सअ जहा ण मे मुसिज्जामो॥ )

यहाँ स्वयंदूती का पड़ोसी के प्रति यह विधि अभिप्रेत है कि 'इस तरह जगे रहना कि हमारे घर चोरी न हो जाय'? इस विधि से यह विध्यंतररूप प्रतीयमान तात्पर्य ( तात्पर्य शक्ति ) से प्रतीत होता है कि पति विदेश गया है, घर सूना है, रात अंधेरी है, अतः निर्भय होकर मेरे पास चले आना।'

स्पष्ट है, इन स्थलों में ध्वनिवादी तात्पर्यार्थ न मानकर व्यंग्यार्थ ही मानना चाहेगा, तथा उसे इनमें तात्पर्य व्यापार के स्थान पर व्यञ्जना व्यापार ही अभिमत है।

( इ ) ध्वनिरूपः—ध्वनिरूप तात्पर्य के भी भोज ने अनन्त प्रकार माने हैं, पर मोटे तौर पर इन्हें दो कोटियों में विभक्त किया गया है—अर्थध्वनि तथा शब्दध्वनि। अर्थध्वनि तथा शब्दध्वनि पुनः दो तरह की होती है, अनुनादध्वनिरूप तथा प्रतिशब्दध्वनिरूप।

( १ ) अनुनादध्वनिरूप अर्थध्वनि तात्पर्यः—जहाँ अभिधीयमान वाक्यार्थ से अनुस्यूत होकर ही दूसरे अर्थ की ठीक इसी तरह की प्रतीति हो, जैसे एक घंटे के बजने पर उसका अनुनाद सुनाई देता है, वहाँ अनुनाद-ध्वनिरूप तात्पर्य होता है। भोज ने इसका उदाहरण निम्न पद्य दिया है:—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिंबफलं शुकशावकः॥

यहाँ इस पद्य का अभिधीयमान तात्पर्य यह है कि नायिका का अधर बिंब फल के समान अरुण है तथा उसके समान बिंब को चखने वाला तोता भी सौभाग्यशाली है, इससे वक्ता का नायिकागत अनुराग ध्वनित होता है। यह नायिकागत अनुराग अभिधीयमान तात्पर्य से अविच्छिन्नरूप में ही प्रतीत होता है, अतः अनुनादध्वनि है।

( २ ) प्रतिशब्दध्वनिः—जहाँ अभिधीयमान वाक्यार्थ से अन्य अर्थ सर्वथा पृथक् रूप में प्रतीत हो, जैसे गुफा आदि का प्रतिशब्द शब्द से सर्वथा भिन्न रूप में प्रतीत होता है, वहाँ प्रतिशब्दध्वनि होती है। इसके उदाहरणों में भोज ने 'कस्स ण वा होइ रोसो' इत्यादि गाथा को भी उद्धृत किया है। इस गाथा में अभिधीयमान तात्पर्य सखी का उपालंभ है, किंतु यह नायिका के पति की ईर्ष्या को शांत करने के लिए यह प्रतीति कराता है कि इसके अधर का खंडन भौंरे ने किया है, उपपति ने नहीं। इससे सखी की चतुरता ध्वनित होती है। यह तात्पर्य अन्य व्यक्ति ( सहृदय ) के ही हृदय में ध्वनित होता है, अतः यहाँ प्रतिशब्दध्वनि है।

( ३ ) अनुनादध्वनिरूप शब्दध्वनिः—शब्दध्वनि के भी उपर्युक्त दो भेद किये जाते हैं। अनुनादध्वनिरूप शब्दध्वनि का उदाहरण निम्न हैः—

'कल्याणं वः क्रियासुः किसलयरुचयस्ते करा भास्करस्य।'

यहाँ 'कर' शब्द के दो अर्थ हैं 'हाथ, किरणें'। यह अर्थद्वय 'किसलयरुचयः' विशेषण के द्वारा पुष्ट होकर सूर्य की तेजोरूपता तथा पुरुषरूपता को ध्वनित करता है। इस प्रकार यहाँ 'हस्त' शब्द वाला अर्थ तथा सूर्य के उभयरूप की प्रतीति अनुनादरूप ही है, क्योंकि वे इस वाक्य के 'कर' शब्द से प्रतीत होते हैं।

( ४ ) प्रतिशब्दध्वनिरूप शब्दध्वनिः—इसका उदाहरण 'दत्तानन्दाः प्रजानां' आदि पद्य दिया गया है। यहाँ 'गो' शब्द का अभिधीयमान तात्पर्य 'किरणों' में ही है, किंतु यह शब्द शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण तथा तुल्यविशेषणों ( 'दत्तानन्दाः' आदि ) के कारण 'धेनु' रूप तात्पर्य का प्रतिशब्द उत्पन्न करता है। इसी से पुनः किरणों तथा गायों की विशिष्टता ध्वनित होती है।[1]

भोजदेव के ध्वनिसंबंधी मत का विशेष विवेचन हम इस प्रबंध के द्वितीय भाग में यथावसर करेंगे।

---

१. भोजदेव के इस वर्गीकरण के लिये देखिएः—

V. Raghavan : Bhoja's Sringaraprakasa vol. I. p. 183-185.

४. प्रविभाग केवल शक्तिः—किसी पद, वाक्य, प्रबंध में अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस प्रकार का ज्ञान जब शब्दार्थ के परस्पर संबंध के कारण पृथक् रूप से प्रतीत होता है, तो वहाँ प्रविभाग केवल शक्ति पाई जाती है।[1]

मुख्यरूप से भोजदेव ने इन्हीं चार शब्द संबंध शक्तियों को माना है। बाकी चार शब्दार्थ संबंध शक्तियाँ हैं।

> अभिधा च विवक्षा च तात्पर्यं च विभागवत्।
> चतस्रः केवला ह्येताः शब्दसंबंधशक्तयः॥
> सापेक्षा यत्र सामर्थ्यमन्वयो यश्चतैर्मिथः।
> ऐकार्थ्यं यत्र तास्तस्य ससहायस्य शक्तयः॥
>
> (शृंगारप्रकाश, सप्तम प्रकाश)

सापेक्षशब्दशक्तियों की तालिका डॉ० राघवन ने अपने प्रबंध के पृ० २१-२२ पर दी है, पर उससे केवल इतना ही संकेत मिलता है कि अपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा ऐकार्थ्य का विवेचन करते समय पदार्थों के परस्पर संसर्ग का विचार किया है। इसके अंतर्गत प्रायः वही विषय आता है, जिसका विवेचन ध्वनिवादी आलंकारिक तात्पर्य-वृत्ति तथा वाक्यार्थ के संबंध में करते देखे जाते हैं। अपेक्षा (व्यपेक्षा) के अंतर्गत भोजदेव ने आभिधानिकी, नैयायिकी तथा नैषेधिकी व्यपेक्षा का विवेचन किया है। तदनंतर अन्वय शक्ति को लिया गया है। इस संबंध में भोज ने अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का प्रसंग लिया है। इसी में आकांक्षा, सान्निधि तथा योग्यता की विवेचना पाई जाती है। सामर्थ्य शक्ति के तीन प्रकार माने गये हैं:—भेद, संसर्ग और उभय। एकार्थीभाव के भी तीन प्रकार हैं—वाक्यतुल्यार्थ, वाक्याधिकार्थ, वाक्यान्यार्थ। एकार्थीभाव के अंतर्गत नाना प्रकार के समासों, तद्धितों, तथा आख्यात का विवेचन किया गया है। डॉ० राघवन् की तालिका से इतनी ही जानकारी मिलती है, अधिक नहीं।

भोज का यह शक्तिसंबंधी विवरण आवश्यकता से अधिक बढ़ा हुआ है। हमारी समझ में यह व्यर्थ है। भोज की अभिधा को छोड़

---

१. पदे वाक्ये प्रबन्धे वा अस्य एतावतः शब्दस्य अयमर्थः, अस्मिन्नर्थे चायमेतावान् शब्दः इति शब्दार्थयोः मिथः सम्बन्धितया पृथक्त्वेन अवधारणं प्रविभागः। —वही पृ० २०

कर बाकी सारी शक्तियों का अन्तर्भाव तात्पर्य वृत्ति में ही हो जाता है। भोज की विवक्षा, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव की कल्पना निरर्गल है। इस तरह तो शब्दशक्तियाँ और भी कल्पित की जा सकेंगी। वस्तुतः ये तात्पर्यवृत्ति के ही अंग हैं। मोटे तौर पर भोज की अभिधा तथा तात्पर्य ये दो शब्दसंबंध शक्तियाँ ही तत्त्वतः शक्तियाँ कही जा सकती हैं, पहली में ध्वनिवादियों की अभिधा तथा लक्षणा दोनों का समावेश हो जाता है, तथा तात्पर्य में ध्वनिवादियों की तात्पर्य वृत्ति तथा व्यंजना दोनों का समावेश हो जाता है। हमें ऐसा जँचता है कि भोज का मंतव्य तो इन दो शक्तियों को मानने से भी सिद्ध हो सकता था।

ध्वनि या व्यंग्यार्थ को भोजदेव ने तात्पर्य से सर्वथा भिन्न नहीं माना है। वे कहते हैं कि तात्पर्य को ही काव्य में ध्वनि कहा जाता है। जिस अर्थ ( वाक्यार्थ ) को हम साधारण लौकिक वाक्य में तात्पर्य कहते हैं, वही काव्य में ध्वनि कहलाता है।

> तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
> सौभाग्यमेव गुणसंपदि वल्लभस्य।
> लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
> शृंगार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥[1]

इस सारे विवेचन से स्पष्ट है कि,

( १ ) कुछ विद्वान् केवल अभिधा शक्ति ही मानते हैं।

( २ ) कुछ विद्वान् अभिधा एवं लक्षणा दो ही शक्तियाँ मानते हैं।

( ३ ) तीसरे लोग अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य ये तीन शक्तियाँ मानते हैं।

( ४ ) चौथे लोग अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यंजना ये चार शक्तियाँ मानते हैं।

( ५ ) पाँचवे अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना ये तीन ही शक्तियाँ मानते हैं।

( ६ ) भोजदेव ने आठ शब्दशक्तियाँ मानी हैं, पर सूक्ष्म विवेचन

---

१. वही पृ० १८७

करने पर उन सब का अन्तर्भाव दो शक्तियों में ही हो जाता है—अभिधा और तात्पर्य।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी व्यञ्जना जैसी शब्दशक्ति का कोई संकेत नहीं किया है। जहाँ तक लक्षणा का प्रश्न है, लक्षणा का विवेचन भी वे अलग से शब्दशक्ति के रूप में नहीं करते, अपितु अलंकारों के अंतर्गत 'रूपक' ( मेटेफर ) का विवेचन करते समय ही लाक्षणिक पद्धति का विचार करते हैं। अतः 'मेटेफर' उनके यहाँ लक्षणा शक्ति तथा रूपक अलंकार दोनों का स्थानापन्न माना जा सकता है। हमारे यहाँ भी एक आलंकारिक ऐसे मिलते हैं, जिन्होंने लक्षणा तथा रूपक का अधिक विशाल क्षेत्र मानने का संकेत किया है। ये हैं—शोभाकर मित्र। शोभाकर मित्र ने अपने अलंकाररत्नाकर में रूपक अलंकार की मीमांसा करते समय इस बात का संकेत किया है कि रूपक अलंकार न केवल सादृश्यमूलक (गौणी) सारोपा लक्षणा में ही होता है, अपितु सादृश्येतर-संबंध को लेकर चलनेवाली शुद्धा सारोपा लक्षणा में भी रूपक मानना चाहिए। इस प्रकार शोभाकर आलंकारिकों की पुरानी मान्यता को झकझोर डालते हैं। वे कहते हैं कि यदि सादृश्यसंबंध निबंधना लक्षणा में अलंकार ( रूपक, अतिशयोक्ति ) माना जाता है, तो फिर अन्य संबंधों ने क्या बिगाड़ा है कि उनमें अलंकार नहीं माना जाता। वस्तुतः अन्य संबंध वाली लक्षणा में भी अलंकार मानना चाहिए।

> सादृश्यसंबंधनिबंधनाया अलंकृतित्वं यदि लक्षणायाः।
> साम्येऽपि सर्वत्र परस्य हेतोः संबंधभेदेऽपि तथैव युक्तम्॥
> ( अलंकाररत्नाकर पृ० ३३ )

इस प्रकार रत्नाकर समस्त लक्षणा को पाश्चात्य अलंकारिकों की तरह 'फीगरेटिव स्पीच' मानते हैं; तथा उसमें या तो रूपक ( सारोपा लक्षणा में ) या अतिशयोक्ति ( साध्यवसाना लक्षणा में ) मानने की घोषणा करते हैं। पर इस संबंध में एक भ्रांति का निराकरण कर देना आवश्यक होगा कि रत्नाकर को वहीं अलंकार मानना सम्मत है, जहाँ लक्षणा में विशेष चमत्कार पाया जाता है, अतः चमत्काररहित लाक्षणिक पद्धति में उन्हें अलंकार मानना अभीष्ट न होगा।

रत्नाकरकार के इस मत का पंडितराज जगन्नाथ ने खंडन किया है तथा वे गौणी लक्षणा में ही रूपक या अतिशयोक्ति मानना चाहेंगे।

रसगंगाधर में रूपक अलंकार का विचार करते हुए वे रत्नाकरकार के मत की मीमांसा कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य अलंकारों ( स्मरण आदि ) की तरह यहाँ भी सादृश्य संबंध में ही अलंकार मानना ठीक होगा।[१]

यद्यपि ध्वनिवादियों से पूर्व के आचार्यों ने व्यञ्जना जैसी शक्ति का कोई संकेत नहीं किया, तथापि वे काव्य में ऐसे अर्थ का सदा संकेत करते रहे हैं, जो वाच्य या लक्ष्य अर्थ से भिन्न है। अर्थात् वे गम्य, प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ की सत्ता का निषेध कभी नहीं करते। भामह के काव्यालंकार में ही गम्य या प्रतीयमान अर्थ का संकेत मिलता है। उपमा अलंकार के एक भेद प्रतिवस्तूपमा का लक्षण ( २, ३४ ) निबद्ध करते समय भामह ने 'गुणसाम्यप्रतीतितः' पद का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ 'यथा, इव' आदि के प्रयोग के बिना ही गुणसाम्य की प्रतीति ( व्यञ्जना ) हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। इस प्रकार भामह प्रतिवस्तूपमा के 'गम्यौपम्य' का निर्देश करते हैं। इसके आगे समासोक्ति ( २, ७९ ) के प्रकरण में भी भामह ने अन्य अर्थ की प्रतीति का संकेत किया है। समासोक्ति के लक्षण में प्रयुक्त 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः' ( २, ७९ ) में भामह ने 'अन्य अर्थ की प्रतीति' के द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट स्वीकार किया है। इसी तरह पर्यायोक्त अलंकार के प्रकरण में भी भामह ने बताया है कि पर्यायोक्त वहाँ होता है, जहाँ किसी अन्य ( वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न ) प्रकार के द्वारा अभीष्ट अर्थ का अभिधान किया जाय।[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि पर्यायोक्त में भी प्रयुक्तपदों से वाच्येतर ( गम्य ) अर्थ की प्रतीति का निर्देश करना भामह को अभीष्ट है।

---

१. सादृश्यप्रयुक्तः संबंधांतरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्य-निर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्।...तस्मात् दुराग्रह एवायं प्राचाम्—उपमानो-पमेययोरभेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयोः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तन्न।... तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य ताद्रूप्यस्य रूप-कत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिंतादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलंकारत्व-मभ्युपेयताम्। —रसगंगाधर पृ० २९८

२. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। —काव्यालंकार ३, ८

दण्डी ने भी 'व्यंग्यार्थ' का संकेत कुछ स्थानों पर किया है। 'उदारता' नामक गुण के प्रकरण में दण्डी ने बताया है कि किसी उक्ति के द्वारा उत्कर्षवान् गुण की प्रतीति ( व्यंजना ) होनेपर 'उदारता' गुण होता है।[1] यहाँ 'प्रतीयते' पद स्पष्टतः 'व्यज्यते' का संकेत करता है। उदात्त अलंकार के प्रकरण में तो दण्डी ने 'व्यञ्जित' पद का स्पष्ट प्रयोग किया है।[2] इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी दण्डी ने 'साम्यप्रतीति' ( २, ४६ ), प्रतीयमान सादृश्य ( २, १८९ ), सूचन ( २, २१२ ), प्रकारांतर आख्यान ( २, २९५ ) पदों के द्वारा 'व्यंग्यार्थ' की सत्ता मानी है।

उद्भट में 'व्यंग्यार्थ' का स्पष्ट संकेत मिलता है। उद्भट तो ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन के समसामयिक भी हैं। साथ ही रस, रसाभास, भाव, भावाभासादि आठ प्रकार के असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का संकेत भी करते हैं। वैसे व्यञ्जना या ध्वनि को उद्भट ने नहीं माना है, न उसका संकेत ही किया है। पर पर्यायोक्त के प्रकरण में उद्भट ने वाच्यवाचक वृत्ति से शून्य 'अवगम' ( व्यंग्य ) रूप अन्य प्रकार का संकेत अवश्य किया है।[3] यह अन्य प्रकार कुछ नहीं 'व्यञ्जना' ही है।

रुद्रट के काव्यालंकार में भी वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का संकेत मिलता है। रुद्रट ने अपने वास्तवकोटि के अलंकारों में 'भाव' नामक अलंकार माना है। भाव नामक अलंकार कुछ नहीं, ध्वनिवादियों की वस्तुध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य है। रुद्रट भाव के दो भेद मानते हैं:—

( १ ) जहाँ किसी अनैकांतिक ( अप्रतिबद्ध ) हेतु के द्वारा किसी व्यक्ति में कोई विकार ( मुखमालिन्यादि ) उत्पन्न होता है तथा उस

---

१. उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
—काव्यादर्श १, ७६

२. पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥ —वही २, ३०२

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ —उद्भट ४, ११

विकार तथा विकार हेतु के द्वारा उस व्यक्ति के किसी अभिप्राय का पता लगता है, वहाँ भाव अलंकार होता है ।[1]

इसका उदाहरण रुद्रट ने 'ग्रामतरुणं तरुण्या' आदि आर्या दी है। यहाँ नायिका संकेत स्थल से निराश लौटते उपपति के हाथ में वंजुलमंजरी देखकर मलिन हो जाती है, इसको देखकर सहृदय को उसके अभिप्राय का पता चल जाता है। अतः यहाँ प्रथम भाव है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी की चेष्टा से काव्यगत व्यंग्यार्थ प्रतीति में रुद्रट भाव नामक अलंकार मानते हैं। रुद्रट का 'विकार' शब्द 'चेष्टा' के लिए प्रयुक्त समझना विशेष ठीक होगा।

( २ ) दूसरा भाव वहाँ माना गया है, जहाँ वाच्यार्थ ही अपने आप वक्ता के अभिप्राय रूप ऐसे अन्य अर्थ ( गम्य अर्थ ) की प्रतीति कराता है, जो वाच्यार्थ के गुण दोषों ( विधिनिषेधादि ) से भिन्न गुण दोषों वाला हो ।[2]

इसका उदाहरण निम्न है:—

एकाकिनी यद्बला तरुणी तथाह
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमयं वराकी
श्वश्रूर्ममांधबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥

यहाँ स्वयंदूती पथिक से रातको यहीं टिकने को कह रही है। इस प्रकार यह अर्थांतर वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न रूप में प्रतीत हो रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट ने व्यंग्यार्थ का सर्वथा निषेध नहीं किया है। वे इसे किसी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं, किंतु व्यंजना तथा ध्वनि के रूप में इस अर्थ की सत्ता मानना उन्हें अभीष्ट नहीं। इसीसे कुछ लोगों को यह भ्रांति

---

१. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥

काव्यालंकार ७.३८

२. अभिधेयमभिधीयमानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थांतरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥—वही ७, ४०

हो जाती है कि भामहादि ध्वनि या व्यंग्यार्थ की सत्ता ही नहीं मानते। पंडितराज ने इस मतका खंडन करते हुए रसगंगाधर में बताया है कि भामहादि व्यंग्यार्थ की सत्ता अवश्य मानते हैं। यह दूसरी बात है कि वे इसे पर्यायोक्तादि अलंकारों में समाविष्ट कर इसकी स्वतंत्र सत्ता का संकेत नहीं करते। रसगंगाधर में पर्यायोक्त अलंकार का उपसंहार करते हुए पंडितराज कहते हैं:—"आनंदवर्धन से प्राचीन आलंकारिक भामह, उद्भट आदिने अपने ग्रन्थों में कहीं भी ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। केवल इसीलिए वे ध्वनि आदि को स्वीकार नहीं करते, ऐसा नव्य आलंकारिकों का मत ठीक नहीं। क्योंकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों का निरूपण करते समय उन्होंने कई गुणीभूतव्यंग्य-भेदों का निरूपण किया है। साथ ही समस्त व्यंग्य प्रपंच को वे पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भावित करते हो हैं। अनुभवसिद्ध अर्थ को तो बालक भी अस्वीकार नहीं कर सकता, प्रतीयमान जैसे अर्थ का भामहादि सर्वथा निषेध कैसे कर सकते थे? यह दूसरी बात है कि उन्होंने ध्वनि, आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया। इतने भरसे उनका ध्वनि को अस्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। हाँ, उनका यह मत विचारणीय हो सकता है कि उन्होंने प्रधान व्यंग्य रूप अलंकार्य ध्वनि को अलंकार मानकर पर्यायोक्तादि में कैसे अन्तर्भावित कर लिया?"[1]

आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने भी उद्भट का उल्लेख उन ध्वनि-विरोधियों में किया है, जो प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, पर उसे किन्हीं अलंकारों में, पर्यायोक्त, आक्षेप, समासोक्ति

१. इदं तु बोध्यम्—ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानंगीकारो भवति। प्राधान्यादलंकार्यो हि ध्वनिरलंकारस्य कुक्षौ कथंकारं निविशतामिति तु विचारान्तरम्।

—रसगंगाधर पृ० ५५५, ५६

आदि में अन्तर्भावित करते हैं। आनंद ने ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ के विरोधियों को तीन दलों में बाँटा है:—

( १ ) अभाववादी—इन लोगों के मत से शब्द संकेतित अर्थ का ही प्रतिपादक है, अतः व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न नहीं है। इन अभाववादियों के दो दलों का संकेत ध्वन्यालोक में मिलता है:—एक वे जो व्यंग्यार्थ की सत्ता का ही सर्वथा निषेध करते हैं, दूसरे वे अभाववादी जो व्यंग्यार्थ चमत्कार को मानते तो हैं, किंतु उसका समावेश अलंकारों में ही करते हैं। कहना न होगा कि उद्भटादि इसी दूसरे अभाववादी मत के मानने वाले हैं, जो व्यंग्यार्थ या ध्वनि का सर्वथा निषेध नहीं करते। इस प्रकार इन्हें अभाववादी न कहकर अन्तर्भाववादी कहा जाता है।

( २ ) भक्तिवादी:—ये लोग ध्वनि या व्यंग्यार्थ का समावेश लक्षणा में करते हैं, तथा उसे भाक्त मानते हैं।

( ३ ) अनिर्वचनीयतावादी—इन लोगों के मत से काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती तो है, किंतु वह अनिर्वचनीय है।[1]

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने तो ध्वनि या व्यंग्यार्थ के बारह विरोधी मतों का संकेत किया है:—( १ ) तात्पर्यवादी, ( २ ) अभिधावादी, ( ३–४ ) दो लक्षणाएँ—जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था, ( ५–६ ) दो अनुमान—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान, ( ७ ) अर्थापत्ति प्रमाण, ( ८ ) तंत्र या श्लेषालङ्कार, ( ९ ) समासोक्ति या अन्य-अलंकार, ( १० ) रसकार्यता—रस को व्यंग्य न मानकर विभावादि का कार्य मानना, भट्ट लोल्लटादि का मत, ( ११ ) भोग—भट्ट नायक की रससंबंधी धारणा, ( १२ ) व्यापारान्तरबाधन या अनिर्वचनीयतावाद।[2]

---

१. तत्र समापेक्षेण शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यंग्यम्। सदपि वा तदभिधाक्षिप्तं शब्दावगत-अर्थबलाकृष्टत्वाद् भाक्तम्। तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्विस्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः। —लोचन पृ० १४

२. तदेवं यद्यपि 'तात्पर्यशक्तिरभिधालक्षणानुमिती द्विधा। अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥ रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्। द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥' इति नीत्या बहवो विप्रतिपत्तिप्रकाराः संभवन्ति, तथापि 'काव्यस्यात्मा…तत्त्वमूचुस्तदीयं' इत्युक्तनीत्यैव ध्वनेर्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयमिह प्राधान्येनोक्तम्। —विमर्शिनी पृ० ११

ध्वनि के इस अंतर्भाव का विवेचन हम द्वितीय भाग में करेंगे। वैसे इनमें से तात्पर्यवादी, अभिधावादी, भक्तिवादी, अनुमानवादी तथा अन्य अंतर्भाववादियों का संकेत हम इस प्रबंध के सप्तम, अष्टम तथा नवम परिच्छेदों में कर चुके हैं।

ध्वनिवादी ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए ही व्यञ्जना नामक शक्ति की कल्पना की है तथा रस को तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ मानने का निषेध किया है।

व्यञ्जना की स्थापना के ही आधार पर ध्वनिवादी ने एक ओर रस, वस्तु तथा अलंकार का प्रविभाग कर उन्हें ध्वनि का अंग बनाया, दूसरी ओर काव्य में उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणी की कल्पना की। मम्मटाचार्य के बाद के प्रायः सभी आलंकारिकों ने (वाग्भट द्वितीय को छोड़कर) ध्वनिवादियों की सिद्धांतसरणि को स्वीकार किया है। मम्मट के काव्यलक्षण का खंडन करने वाले पीयूषवर्ष जयदेव तक ने ध्वनिवादियों की सिद्धांतसरणि से कोई विरोध प्रदर्शित नहीं किया है। चन्द्रालोक के सप्तम मयूख से दशम मयूख तक जयदेव ने ध्वनि तथा शब्दशक्तित्रय का विवेचन काव्यप्रकाश के अनुसार ही किया है। सप्तम मयूख के आरंभ में ही जयदेव ने भारती को तीन प्रकार की माना है— गंभीर, कुटिल तथा सरल। भारती के ये तीन गुण ही क्रमशः व्यञ्जना, लक्षणा तथा अभिधा हैं।[1] जयदेव ने सप्तम तथा अष्टम मयूख में पहले व्यञ्जना, ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य के तत्तान् भेदापभेद का विवरण दिया है। नवम एवं दशम मयूख में क्रमशः लक्षणा तथा अभिधा का विवरण है। चंद्रालोककार का लक्षणा विभाग कुछ भिन्न है। सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद किये गये हैं, निरूढा तथा प्रयोजनवती। इनके पुनः दो दो भेद होते हैं—लक्ष्यवाचकपदामीलना, तथा लक्ष्यवाचकपदमीलना। प्रथम में लाक्षणिक तथा वाचक दोनों पदों का प्रयोग होता है, द्वितीय में केवल लाक्षणिक पद का ही। इन्हीं को काव्यप्रकाशकार क्रमशः सारोपा तथा साध्यवसाना कहते हैं। इस प्रकार चंद्रालोककार के नाम भिन्न हैं। इन चार भेदों को चंद्रालोककार

---

१. वृत्तिभेदैस्त्रिभिर्युक्ता स्रोतोभिरिव जाह्नवी।
भारती भाति गंभीरा कुटिला सरला क्वचित्॥ चन्द्रालोक ७, १

ने पुनः तीन तीन तरह का माना है:—(१) सिद्धालक्षणा—जहाँ उद्देश्य वाचक पद में लक्षणा हो, (२) साध्या लक्षणा—जहाँ विधेयवाचक पद में लक्षणा हो, (३) साध्यांग लक्षणा—जहाँ विधेय के संबंध-बोधक पद में लक्षणा हो।[1] इसके बाद प्रयोजनवती लक्षणा के स्फुट-प्रयोजना तथा अस्फुटप्रयोजना ये दो भेद किये गये हैं, जो मम्मट के अगूढव्यंग्या तथा गूढव्यंग्या नामक भेद हैं। इसके बाद चंद्रालोककार ने अन्य लक्षणा भेदों का विवरण दिया है। दशम मयूख में अभिधा का विचार करते समय जयदेव ने छः प्रकार की अभिधा मानी है—जाति, गुण, क्रिया, वस्तुयोग, संज्ञा तथा निर्देश। द्वितीय परिच्छेद में हम वैयाकरणों का संकेतग्रह संबंधी मत उद्धृत कर चुके हैं। उक्त छः प्रकारों में वस्तुयोग तथा निर्देश वाले भेद जयदेव की नई कल्पना है, संज्ञा यदृच्छा का ही दूसरा नाम है। वस्तुयोग वाली अभिधा वहाँ मानी गई है, जहाँ किसी वस्तु से संबद्ध वस्तु का संकेतग्रह हो, जैसे 'दण्डी' शब्द में हम दण्ड से संबद्ध व्यक्ति का संकेतग्रह करते हैं। निर्देश शब्द वहाँ माने जाते हैं, जहाँ शब्द या वर्णादि के द्वारा वस्तु का संकेत किया जाय। ऐसे पदों में जयदेव ने निर्देश अभिधा मानी है। उदाहरण के लिए—'हिरण्यपूर्वं कशिपु' 'देवपूर्वं गिरिं' इन निर्देशों के द्वारा हम 'हिरण्यकशिपु' तथा 'देवगिरि' अर्थ का ग्रहण निर्देश के द्वारा ही करते हैं।[2]

शब्दशक्ति को 'वृत्ति' तथा 'व्यापार' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। मम्मट का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है—'शब्दव्यापारविचार,' जिसमें मम्मटाचार्य ने शब्दशक्ति को शब्दव्यापार ही कहा है। व्यापार वाली धारणा मानने पर इस संबंध में अन्य तीन व्यापारों का भी संकेत कर दिया जाय, जिनकी कल्पना अन्य आलंकारिकों में मिलती है। ये तीन व्यापार हैं—भावकत्व व्यापार, भोजकत्व व्यापार एवं रसनव्यापार। इन तीनों व्यापारों को उक्त अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य,

---

१. लक्षणीयस्य शब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्धसाध्यसाध्यांगभेदतः॥ —वही ९, २

२. जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां पुनः॥ —वही १०, २

तथा व्यंजना नामक चार व्यापारों के साथ जोड़कर कुछ लोग शब्द-व्यापार की संख्या सात मानना चाहेंगे, किंतु यह मत समीचीन नहीं। भावकत्व, भोजकत्व ( भोगकृत्त्व ) तथा रसनाख्य व्यापार वस्तुतः शब्दव्यापार नहीं हैं, जैसा कि इनके विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने रसनिष्पत्ति के संबंध में की है तथा रसनाख्य व्यापार का संकेत हमें विश्वनाथ पंडितराज के साहित्यदर्पण में मिलता है।

भट्टनायक ने रस निष्पत्ति का विवेचन करते समय विभावादि तथा रस में परस्पर 'भोज्यभोजकभावसंबंध' माना है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः के 'निष्पत्तिः' शब्द का भट्ट नायक ने 'भुक्ति' अर्थ लिया है। भट्ट नायक अभिधा-वादी थे, किंतु काव्यवाक्य के संबंध में उन्होंने अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य व्यापारों की कल्पना की थी। इन दो व्यापारों को ही वे भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्वव्यापार कहते हैं। जब हम काव्यनाटकादि का अनुशीलन करते हैं तो सर्वप्रथम काव्यवाक्य का अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ ग्रहण होता है। तदनंतर भावकत्व व्यापार के द्वारा रामादि पात्र साधारणीकृत हो जाते हैं तथा सहृदय परित्यक्त-रामत्वादि पात्रों का अनुभव करते समय उनके साथ अपनी भावना संश्लिष्ट कर देते हैं। इसके बाद भोजकत्व ( भोजकृत्त्व ) व्यापार के द्वारा सामाजिक के अंतस् के रजोगुण तथा तमोगुण दब जाते हैं तथा सत्त्व गुण का उद्रेक होता है। यही सत्त्वगुण का उद्रेक रसभुक्ति पैदा करता है।[1] भट्ट नायक के द्वारा कल्पित इन दो व्यापारों की प्रामाणिकता में अभिनवगुप्त ने आपत्ति की है। वे बताते हैं कि भट्टनायक के व्यापारद्वय का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। भट्टनायक तथा उसके मत के खण्डन पर अधिक विचार करना यहाँ अप्रासंगिक ही होगा। उसका विवेचन हम इस प्रबंध के द्वितीय भाग में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के संबंध में करेंगे।

---

१. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्। भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः।—

( अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत भट्ट नायक का मत ) लोचन पृ० १८२

विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में दो स्थलों पर रसनाख्य व्यापार का जिक्र किया है। इसे ही वे 'स्वादनाख्य व्यापार' भी कहते हैं।[१] विश्वनाथ कविराज का यह रसनाख्य व्यापार व्यंजना का ही दूसरा नाम है। वे स्वयं बताते हैं कि रसनिष्पत्ति के संबंध में हम लोगों ने इस व्यापार की कल्पना इसलिये की है कि रस अभिधादि शब्दव्यापारों के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता। अतः रस को अभिधादि से भिन्न व्यापार सिद्ध करने के लिये ही हमने रसादि को व्यंग्य कहा है।[२] व्यंजना तथा रसनाख्य व्यापार में वस्तुतः देखा जाय तो कोई अंतर नहीं है। यदि कोई अंतर माना जा सकता है, तो यही कि व्यंजना शक्ति के द्वारा वस्तु तथा अलंकार रूप अर्थ की व्यंजना होती है, रसनाख्य व्यापार के द्वारा केवल रस रूप अर्थ की ही प्रतीति होती है। जो लोग व्यंजना शक्ति के द्वारा रसवस्त्वलंकाररूप त्रिविध अर्थ की प्रतीति मानते हैं, उनके लिए रसनाख्य व्यापार को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यंजना को स्वीकार न करने वाले कुछ विद्वान् रसनिष्पत्ति के लिए इस व्यापार की कल्पना करते हैं। विश्वनाथ ने इसीलिये इसे दूसरों (परे) का ही मत बताया है। वे बताते हैं कि 'विद्वान् आलंकारिक इसी को व्यंजना वृत्ति कहते हैं। अन्य विद्वान् रसनिष्पत्ति में रसनाख्य वृत्ति की कल्पना करते हैं।"[३] यह मत किन लोगों का था, इसका कोई संकेत विश्वनाथ में नहीं मिलता। विश्वनाथ के एक आधुनिक टीकाकार का कहना है कि यह मत आलंकारिकों का न होकर किन्हीं नैयायिकों का है। यह मत जगदीश में नहीं मिलता क्योंकि हम देख चुके हैं कि वे व्यंजना का अंतर्भाव मानस बोध में करते हैं और इस तरह उनके मत में रसनिष्पत्ति भी मानस बोध में ही आ जाती है।

× × ×

---

१. विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्य कश्चिद्व्यापारः।
—साहित्यदर्पण पृ० १०६

२. अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यंग्यत्वयुक्तं भवतीति। —वही पृ० १०६

३. सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥
वही ५, ५, पृ० ४३६

## हिंदी काव्यशास्त्र और शब्दशक्ति

हिंदी काव्यशास्त्र के आलंकारिकों ने शब्दशक्ति के संबंध में कोई विशेष विचार नहीं किया है। केशवदास से लेकर बाद के हिंदी आलंकारिकों ने अधिकतर अलंकार, रस तथा नायक नायिका भेद पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। काव्य के अन्य अंगों पर कतिपय ग्रंथों में जो कुछ प्रतिपादन मिलता है, वह प्रायः मम्मट के काव्यप्रकाश से ही प्रभावित है। संस्कृत के अलंकारग्रंथों में विषयप्रतिपादन की जो सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है, उसका हिंदी के अलंकार ग्रंथों में अभाव है। इसके दो कारण हैं, प्रथम तो हिंदी के आलंकारिकों में अधिकांश मूलतः कवि हैं, आचार्य नहीं; दूसरे उस समय तक गद्य का विकास भी नहीं हुआ था। उन्होंने संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, उनमें कोई नवीन उद्भावना करने की क्षमता नहीं दिखाई पड़ती। जहाँ कहीं हिंदी आलंकारिकों में कुछ मौलिक उद्भावना बताई जाती है, उसका संकेत भी किसी संस्कृत आलंकारिक में ढूँढा जा सकता है। उदाहरण के लिए, देव ने 'छल' नामक चौतीसवें संचारी भाव को माना है, किंतु यह देव की स्वयं की कल्पना न होकर भानुदत्त की कल्पना है, जिसका संकेत उनकी 'रसतरंगिणी' में मिलता है।[1] इसी तरह भूषण ने 'भाविक छवि' नामक एक अन्य अलंकार का संकेत किया है, जहाँ देश की दृष्टि से असंनिकृष्ट वस्तु का संनिकृष्ट ( प्रत्यक्ष ) रूप में वर्णन किया जाय।[2] यह वस्तुतः नवीन कल्पना नहीं कही जा सकती, क्योंकि संस्कृत के कई आलंकारिकों ने 'भाविक' अलंकार में कालगत तथा देशगत विप्रकृष्टता ये दो भेद माने हैं। शोभाकर मित्र के अलंकार रत्नाकर तथा जयरथ की 'विमर्शिनी' में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।[3] ठीक यही बात हिंदी आलंकारिकों के शब्दशक्ति संबंधी विवेचन पर लागू होती है।

---

१. आचार्य शुक्लः हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २३५.

२. भूषण ग्रंथावली ( अन्तर्दर्शन ) पृ० २७

३. अस्य च देशेन कालेन स्वभावेन वा विप्रकृष्टवस्तुविषयः'''चत्वारो भेदाः। —रत्नाकर पृ० १८६

(साथ ही) अतीतानागतयोः सूत्रितेऽपि प्रत्यक्षायमाणत्वे देशादिविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षायमाणत्वमुदाहरता ग्रन्थकृतातीतानागतस्य विप्रकृष्टमात्रसारत्वं सूचितम्।
—विमर्शिनी पृ० २२८

हिंदी के रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों में एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो केवल शब्दशक्ति को ही लेकर लिखा गया हो। वैसे प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' तथा बूँदी के कविराव गुलाबसिंह जी की 'बृहद्-व्यंग्यार्थ चन्द्रिका', ये दो ग्रंथ ऐसे हैं, जिनके नाम से ऐसा अनुमान होने की संभावना है कि इनमें शब्दशक्ति संबंधी विचार होगा। किंतु ये दोनों ग्रंथ शब्दशक्ति से सीधा संबंध नहीं रखते। प्रतापसाहि की 'कौमुदी' तथा गुलाबसिंह की 'चन्द्रिका' दोनों में ही अभिधा तथा लक्षणा का कोई विचार नहीं किया गया है। साथ ही व्यञ्जना का भी कोई सैद्धांतिक विवेचन नहीं मिलता। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ ध्वनि काव्य या व्यञ्जना के नाना प्रकार के उदाहरणों के संग्रह भर हैं। प्रतापसाहि ने ग्रंथ के आरंभ में अवश्य ध्वनि या उत्तम काव्य का संकेत किया है।

बिंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरनै बिंग प्रसंग॥

( व्यंग्यार्थ कौमुदी )

इसी उत्तम काव्य के जीवातुभूत 'बिंगारथ' ( व्यंग्यार्थ ) को स्पष्ट करने के लिए प्रतापसाहि ने 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की रचना की है। इसमें मुख्यतः नायिका भेद का प्रपंच उदाहरणों के द्वारा उपन्यस्त किया गया है। प्रत्येक उदाहरण को लेकर बाद में उसमें अभीष्ट व्यंग्यार्थ, उसमें संकेतित नायिका तथा अलंकार का वर्णन किया गया है। इसका संकेत स्वयं प्रतापसाहि ने ही यों किया है:—

कहीं बिंग ते नाइका पुनि लच्छना बिचार।
ता पाछे बरनन करौं अलंकार निरधार॥

( व्यंग्यार्थ कौमुदी )

आचार्य शुक्ल ने प्रतापसाहि के इन उदाहरणों के विषय में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहा है कि "साहित्यमर्मज्ञ तो बिना कहे ही समझ सकते हैं कि ये उदाहरण अधिकतर वस्तुव्यंजना के ही होंगे। वस्तुव्यंजना को बहुत दूर घसीटने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रूढ़ि के आभास पर अवलंबित रहती है। नायिकाओं के भेदों, रसादि के

सब अंगों तथा भिन्न भिन्न बँधे उपमानों का अभ्यास न रखने वाले के लिये ऐसे पद्य पहेली ही समझिए।"[1]

कविराव गुलाबसिंह की 'बृहद् व्यंग्यार्थ चंद्रिका' प्रतापसाहि की ही नकल पर बनाई गई जान पड़ती है। ये बूँदी के राव राजा रामसिंह तथा रघुवीरसिंह के दरबारी कवि थे। इस ग्रंथ में भी उदाहरणों के द्वारा इन्होंने नायिकाभेद, व्यंग्यार्थ तथा अलंकारों को स्पष्ट किया है। पहले नायिका के तत्तत् भेद का लक्षण है, फिर प्रत्येक उदाहरण के बाद एक दोहे में उस उदाहरण के व्यंग्याथ, नायिका तथा अलंकार को स्पष्ट किया गया है। जैसे,

> "सुआरूढ जुवना कहो पूरण जोवन पाय।
> प्रगल्भवचना बडवचन भाषि जु देय डराय॥ (लक्षण)
>
> अथ आरूढयौवना उदाहरन॥ सवैया॥
> आज लखो इक गोपसुता करि कुंभन से कुच की छवि अेना।
> हैं नहिं चंपक की तन सी दुति आनन सी ससि की दुति है ना।
> गोल कपोल अमोल मनोहर पोपन प्रान सुधा सम बैना।
> कंजन भंजन खंजन गंजन हैं मन रंजन सांजन नैना॥
>
> ॥ दोहा ॥
> पूर्णोपम लुप्तोपमा अनुप्रास अनुमानि।
> चवथ प्रतीप द्वितीय पद यौं संसृष्टि पिछानि॥" (११०, ११२)

स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों ग्रंथों का शब्दशक्तिविवेचन से कोई खास संबंध नहीं है, वस्तुतः इनका समावेश नायिका भेद के ग्रंथों में ही किया जाना चाहिए। इसी नाम से संबद्ध एक अन्य हिंदी ग्रंथ भी उपलब्ध है, लाला भगवानदीन की 'व्यंग्यार्थमंजूषा'। लालाजी की 'मंजूषा' में शब्दशक्ति का विचार अवश्य पाया जाता है। लालाजी की इस पुस्तक का संकेत हम यथावसर करेंगे।

हिंदी के रीतिकालीन लक्षण ग्रंथकारों को ऐतिहासिक क्रम से लेने पर हम देखते हैं कि यद्यपि केशवदास से पूर्व भी कृपाराम, मोहनलाल मिश्र तथा करनेस कवि के कुछ रस निरूपण संबंधी ग्रंथों का पता चलता है, तथापि काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन

---

१. आचार्य शुक्लः हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ३१६

करने वाले पहले लेखक केशवदास ही हैं। इतना होनेपर भी केशव ने शब्दशक्ति पर कोई विचार व्यक्त नहीं किये हैं। केशव को संस्कृत के ध्वनिवादी आलंकारिकों की सिद्धांतसरणि पूरी तरह ज्ञात थी, किंतु केशव ने दण्डी जैसे आलंकारिकों को ही अपना उपजीव्य बनाया। केशव की 'कविप्रिया' कुछ नहीं, दण्डी के 'काव्यादर्श' की ही छाया है। यही कारण है, दण्डी की तरह केशव ने भी अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना जैसी वृत्तियों पर कोई विचार नहीं किया है। दण्डी की ही भाँति केशव भी कोरे अलंकारवैचित्र्यवादी या चमत्कारवादी हैं। ध्वनि या व्यंजना के विषय में उनका भी ठीक वही दृष्टिकोण रहा होगा, जो हम उद्भट, रुद्रट, प्रतीहारेंदुराज या वाग्भट जैसे संस्कृत आलंकारिकों का पाते हैं। इस दृष्टि से केशव अन्य परवर्ती हिंदी आलंकारिकों से सर्वथा भिन्न सिद्ध हो जाते हैं, जिन्होंने ध्वनिवादियों को अपना उपजीव्य माना है तथा जो मम्मटादि से पूर्णतः प्रभावित हैं। यदि वे अलंकारों का प्रतिपादन करते हैं, तो उन आलंकारिकों (जयदेव तथा अप्पय दीक्षित) के द्वारा प्रभावित हुए हैं, जिन्होंने ध्वनिवादियों के शब्दशक्तिसंबंधी तथा काव्यसंबंधी विचारों को मान लिया है। इस तरह केशव हिंदी काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी तथा उद्भट का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो अन्य आलंकारिक मम्मट, जयदेव तथा दीक्षित का। आचार्य शुक्ल ने केशवदास की इसी विशेषता का संकेत करते हुए लिखा है:—

"केशव के प्रसंग में यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिंदी पाठकों को काव्यांग निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रकाशित हुई।"[1]

---

१. आचार्य शुक्लः हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २३२-३३

यही कारण है, आचार्यशुक्ल ने चिंतामणि से ही हिंदी रीतिग्रंथों की परंपरा का आरंभ माना है। चिंतामणि से लेकर बाद तक के आलंकारिकों में दो तीन व्यक्तित्वों को छोड़कर बाकी सभी लक्षण ग्रंथकारों में सूक्ष्म विवेचन तथा पर्यालोचन शक्ति का अभाव देखा जाता है। इन तथाकथित आचार्यों के विषय में शुक्लजी ने लिखा है:—"संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन मंडन, नये नये सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य ही में लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या तर्क वितर्क हो ही नहीं सकता था।"[1] जहाँ तक शब्दशक्ति विवेचन का प्रश्न है, स्वयं आचार्य शुक्ल ने ही संकेत किया है कि, "शब्दशक्ति का विषय तो दो ही चार कवियों ने नाममात्र के लिये लिया है, जिससे उस विषय का स्पष्ट होना तो दूर रहा भ्रान्त धारणा अवश्य हो सकती है।"[2]

डॉ० भगीरथ मिश्र ने अपने "हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास" में जिन आलंकारिकों के लक्षण ग्रंथों का उल्लेख किया है, उनमें तीन तरह के आलंकारिक माने जा सकते हैं:—( १ ) समस्त काव्यांगों पर लक्षण ग्रंथ लिखने वाले, ( २ ) रस या नायक नायिका भेद पर लक्षण ग्रंथ लिखने वाले, ( ३ ) अलंकारों पर लक्षण ग्रंथ लिखने वाले। हिंदी काव्यशास्त्र के उपलब्ध प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रंथों के लेखकों में अधिकांश द्वितीय तथा तृतीय कोटि के हैं। प्रथम कोटि के रीति ग्रंथकार बहुत थोड़े हैं। इस कोटि के ग्रन्थकारों ने शब्द शक्तियों का थोड़ा संकेत अवश्य किया है। हम यहाँ उन ग्रंथों की तालिका डॉ० मिश्र के

---

१. वही पृ० २५४

२. वही पृ० २३४

ग्रन्थ के आधार पर दे रहे हैं, जिनमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का थोड़ा संकेत मिलता है:—

१. चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु,
२. कुलपति मिश्र का रसरहस्य,
३. देव का शब्दरसायन (काव्यरसायन)
४. सूरति मिश्र का काव्यसिद्धांत,
५. कुमारमणि भट्ट का रसिकरसाल,
६. श्रीपति का काव्यसरोज,
७. सोमनाथ का रसपीयूषनिधि,
८. भिखारीदास का काव्यनिर्णय,
९. जनराज का कवितारसविनोद,
१०. रसिकगोविंद का रसिकगोविंदानंदघन,
११. लछिराम का रावणेश्वरकल्पतरु,
१२. मुरारिदान का जसवंत जसोभूषण,

इन ग्रंथों में शब्दशक्ति पर विचार किया गया है। इनमें से अधिकांश ग्रंथों का आधार काव्यप्रकाश रहा है। चिंतामणि का कविकुलकल्पतरु मम्मट के काव्यप्रकाश से पूरी तरह प्रभावित है। चिंतामणि ने मम्मट की ही भाँति 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' को ही काव्यलक्षण माना है: —

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित बिबुध कहत सब कोइ॥

फर्क इतना है कि 'अनलंकृती क्वापि' के स्थान पर चिंतामणि ने 'अलंकारन सहित' कह कर चंद्रालोककार की तरह काव्य में अलंकारों की सत्ता आवश्यक मान ली है। चिंतामणि का शब्दशक्ति विवेचन कुछ नहीं, मम्मट की ही नकल है। कुलपति मिश्र का 'रसरहस्य' भी काव्यप्रकाश से प्रभावित है, किंतु कुलपति ने अन्य आचार्यों के भी मतों को 'वचनिका' में दिया है। काव्यप्रकाश के ही आधार पर कुलपति ने तीन प्रकार के काव्य माने हैं:—१. सरस व्यंग्य प्रधान, २. मध्यम, ३. चित्र। अपने ग्रंथ के प्रथम वृत्तांत में उन्होंने काव्य के इन तीनों भेदों का संकेत किया है। द्वितीय वृत्तांत में वे वाचक, लक्षक

तथा व्यंजक शब्द पर विचार करते हुए अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का विवेचन करते हैं।

> वाचक विंगक लच्छकों शब्द तीनि विधि होय।
> वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीनि विध होय ॥

इसी संबंध में कुलपति ने 'वचनिका' में तात्पर्य वृत्ति का भी संकेत किया है:—'अरु इन तीनोंनि के व्यवहार ते न्यारी सी प्रतीति करै सोऊ एक तातपरजका व्रति कहत हैं याको शब्द नाहीं।'

अगले दो वृत्तांतों में कुलपति ने ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का संकेत किया है। वे बताते हैं कि ध्वनि या व्यंग्यार्थ के ही भेद के कारण काव्य की उत्तम, मध्यम तथा अवर (और) संज्ञा निर्धारित की जाती है।

> 'कवित होत धुनि-भेद ते उत्तम मध्यम और।'

देव उन आलंकारिकों में से हैं, जिन्हें हिंदी रीतिग्रंथकारों की प्रथम श्रेणी में मजे से रखा जा सकता है। देव ने कई लक्षण ग्रंथों की रचना की है, जिनमें 'काव्यरसायन' में समस्त काव्यांगों का विवेचन पाया जाता है। 'काव्यरसायन' को 'शब्दरसायन' भी कहा जाता है। 'काव्य-रसायन' में देव ने शब्दशक्तियों पर विस्तार से विचार किया है तथा इसमें मौलिक उद्भावना भी पाई जाती है। रसायन के द्वितीय प्रकाश में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के भेदोपभेद का सम्यक् प्रतिपादन पाया जाता है।

कवि देव ने 'काव्यरसायन' के प्रथम दो प्रकाशों में शब्द, अर्थ तथा उनकी चार शक्तियों पर विस्तार से विचार किया है। आरंभ में वे शब्द तथा अर्थ भेद का वर्णन करते हुए वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य एवं तात्पर्यार्थ इन चारों अर्थों का संकेत करते हैं:—

> शब्द वचन तै अर्थ कढि, चढै सामुहै चित्त।
> ते दोउ वाचक वाच्य है अभिधावृत्ति निमित्त ॥
> रूढि प्रयोजन करे कछु अर्थ सामुहे भूल।
> तिहि तरु प्रगटै लाक्षनिक लक्ष्य लक्षना मूल ॥
> समुहे कढे न, फेर सों, झलकै औरै इंग्य।
> वृत्ति व्यंजना धुनि लिये, दोऊ व्यंजक व्यंग्य ॥

× × ×

सुर पलटत ही शब्द ज्यौं, वाचक व्यंजक होत ।
तातपर्ज के अर्थ हूँ, तीन्यौं करत उदोत ।।
तातपर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच ।
अधिक मध्य, लघु, वाच्य, धुनि, उत्तम, मध्यम, नीच ।।

प्रथम प्रकाश में इन चारों अर्थों को स्पष्ट करने के लिए देव ने दो उदाहरण दिये है । प्रथम उदाहरण में वाच्यवाचक संबंध तथा अभिधा वृत्ति पाई जाती है । दूसरे उदाहरण में एक ही उदाहरण में वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों का प्रतिपादन किया गया है । अभिधा के बाद देव ने लक्षणा का विवेचन किया है । यहाँ लक्षणा के तेरह भेदों का संकेत पाया जाता है । प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद तथा रूढि के एक भेद का संकेत कर उनके क्रमशः लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं । देव की ये लक्षणाएँ पूर्वोक्त आचार्यों के ही अनुसार हैं ।

आपु जनावै और कहि, और कहै कहि आपु ।
उपादान लक्षन दोउ, अजहत जहत सु आपु ।।
सारोपा विषई विषय, निकसत दुओ निदान ।
विषई के भीतर विषय, जहाँ सुसाध्यवसान ।।
सुद्धभेद चारिउ कह्यौ, मिलित कह्यौ द्वै भेद ।
व्यंग्य सुगूढ अगूढ षट, दुगुण होत अखेद ।।
यहि बिधि बारह व्यंगजुत, एकै रूढि अव्यंग्य ।
तेरह भेद सुलक्षना, रूढि प्रयोजन संग्य ।।

स्पष्ट है, प्रयोजनवती के देव ने १२ भेद माने हैं । सर्वप्रथम वे इन्हें दो वर्गों में बाँटते हैं:—शुद्धा लक्षणा, तथा मीलित लक्षणा । मीलित लक्षणा वस्तुतः वे उपचार मिश्रा या गौणी लक्षणा को कहते हैं । संभवतः यह नाम उन्होंने चंद्रालोककार जयदेव से लिया है । शुद्धा के सर्वप्रथम चार भेद माने गये हैं:—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना । गौणी ( मीलित ) के दो भेद होते हैं:— सारोपा तथा साध्यवसाना । इस ६ प्रयोजनवती के पुनः दो प्रकार के भेद होती हैं—गूढव्यंग्या तथा अगूढव्यंग्या । इस तरह कुल प्रयोजनवती १२ तरह की होती है । इनमें प्रत्येक लक्षणा भेद के रुचिर उदाहरण दे देकर बाद में एक एक दोहे में देव ने उसका स्पष्टीकरण किया है। उदाहरण के लिए गूढव्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा का निम्न पद्य लीजिए:—

मैं सुनी, कालिह-परौं लगि सासुरै, साँचेहु जैहौं कहौं सखि सोऊ।
देव कहै केहि भाँति मिलैं, अबको जनि काहि कहौ कब कोऊ॥
खेलि तौ लेहु भटू सँग स्याम के, आजुहि की निसि आये हैं वोऊ।
हौं अपने दृग मूँदति हौं, घर धाइ के धाइ दुरौ तुम दोऊ॥

॥ दोहा ॥

मुख्य अर्थ दुख पूछनो, लक्ष्य कपटतर खेल।
प्रगट व्यंग्य मेलन दुहुन, दूतीपन सों खेल॥

लक्षणा के बाद देव ने व्यंजना का विचार किया है। प्रथम प्रकाश में वे केवल दो ही उदाहरणों में व्यंजना का विचार करते हैं। यहाँ व्यंजना का कोई विशेष विवेचन नहीं पाया जाता।

द्वितीय प्रकाश में देव ने इन तीनों वृत्तियों के शुद्ध एवं संकीर्ण भेदों का विचार किया है, जो देव की मौलिक उद्भावना कही जा सकती है। किंतु इसका आधार भी हमें संस्कृत अलंकारशास्त्र का वह वर्गीकरण जान पड़ता है जहाँ उन्होंने आर्थी व्यंजना में व्यंग्यार्थ का विवेचन करते समय वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ, लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ का विचार किया है। यही वह बीज है, जिसका पल्लवन कर देव ने अभिधा तथा लक्षणा में भी संकर की कल्पना कर ली है। देव ने इन पूर्वोक्त तीन वृत्तियों के १२ प्रकार माने हैं:—

अभिधा—१ शुद्धा अभिधा, २ अभिधा में अभिधा, ३ अभिधा में लक्षणा, ४ अभिधा में व्यंजना,

लक्षणा—५ शुद्धा लक्षणा, ६ लक्षणा में लक्षणा, ७ लक्षणा में व्यंजना, ८ लक्षणा में अभिधा,

व्यंग्यार्थः—९ शुद्धा व्यंजना, १० व्यंजना में व्यंजना, ११ व्यंजना में अभिधा, १२ व्यंजना में लक्षणा,

इतना ही नहीं, वे बताते हैं कि तात्पर्यार्थ के साथ ये बारह भेद मिल कर अनंत भेदों की सृष्टि करेंगे।[1] देव ने इन सब भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है। दिङ्मात्र संकेत निम्न है।

लक्षणा मध्यगत व्यंजना के संकर का उदाहरण यह है।

---

१. सुद्ध अभिधा है, अभिधा में अभिधा है
अभिधा में लक्षना है, अभिधा में व्यंजना कहौ।

'कौन भाँति ? कब धौं ? अनेकन सों एक बार
सरस्यौ परस्पर, परस्यौ न वियौ तैं।
केतिक नबेली, वनवेली मिलि केली करि,
संगम अकेली करि, काहू सौं न कियौ तैं ॥
भरि भरि भाँवरि निछावरि ह्वै भौंर-भीर,
अधिक अधीर ह्वै, अधर अमी पियौ तैं ।
देव सब ही को सनमान अति नीको करि,
ह्वै कै पतिनी को पति, नीको रस लियो तैं ॥'
'दच्छिन सो लक्षतु सखा, सदृश उक्ति कहि भौंर ।
गुप्त चातुरी व्यंजना ताहि जनावत और ॥'
( वही पृ० १६ )

चतुर्विध संकीर्ण वृत्ति का वर्णन करने के बाद देव ने पुनः तीनों वृत्तियों के विभिन्न मूलों पर विचार किया है। इस संबंध में वे प्रत्येक वृत्ति के चार-चार मूलों का संकेत करते हैं। आरंभ में अभिधा के चार मूल जाति, क्रिया, गुण तथा यदृच्छा का सोदाहरण संकेत किया गया है:—

जाति, क्रिया, गुन, यदृक्षा, चारौ अभिधा मूल ।
वेई बाचकशब्द के, वाच्य अर्थ अनुकूल ॥

इसके बाद लक्षणा के चार मूलों का संकेत किया गया है:—कारज-कारण, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप ।

कारज कारण, सदृशता, वैपरित्य, आछेप ।
चारि लच्छना मूल ये, भेदांतर संछेप ॥

---

सुद्ध लक्षना है, लक्षना मैं लक्षना है
लक्षना मैं व्यंजना है, लक्षना मैं अभिधा कहौ ॥
सुद्ध व्यंजना है, व्यंजना मैं व्यंजना है
व्यंजना मैं अभिधा है, व्यंजना मैं लक्षना गहौ ।
तातपरजारथ मिलत भेद बारह
पदारथ अनंत सबदारथ मतै छहौ ॥
—काव्यरसायन ( द्वितीय प्रकाश ) पृ० १२

इसका आधार प्राचीनों का वह मत है, जहाँ वे पाँच तरह की लक्षणा का संकेत करते हैं:—

> कार्यकारणयोगाच्च सादृश्यात् व्यभिचारतः ।
> वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता ॥

यहाँ कवि देव ने व्यभिचार तथा क्रियायोग को दो भेद न मानकर आक्षेप में ही दोनों का समावेश कर लिया है।

प्राचीन आचार्यों की तरह देव ने व्यंजना के वक्तृबोद्धव्यादि के अनेक प्रकारों का वर्णन नहीं किया है। वे केवल चार ही मूलों का संकेत करते हैं:—वचन, क्रिया, स्वर तथा चेष्टा।

> वचन क्रिया स्वर चेष्टा इनके जहाँ विकार।
> चारि व्यंजना मूल ये भेदांतर धुनि-सार ॥

वस्तुतः देव ने वक्तृबोद्धव्यादि समस्त तत्त्वों का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव माना है।

देव के विषय में यह मत बहुत प्रचलित है कि वे व्यंजना वाले काव्य को अधम कोटि का मानते हैं। इस संबंध में देव का निम्न दोहा बहुत उद्धृत किया जाता है:—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ॥

यह दोहा वृत्ति विचार का न होकर रस का विवेचन करते समय देव ने नायिका भेद के प्रसंग में षष्ठ प्रकाश में लिखा है। अतः इसका संबंध व्यंजना मात्र की भर्त्सना न होकर हमारी समझ में वस्तुव्यंजना की दूरारूढ पद्धति से ही है, जिसको आचार्य शुक्ल ने 'पहेली-बुझौवल' कहा है। यह तो स्पष्ट है कि देव काव्य में रस की महत्ता मानते हैं तथा इस दृष्टि से रसव्यंजना को वे काव्य की आत्मा मानते ही हैं। यदि देव रस को काव्य का वाच्यार्थ या तात्पर्यार्थ मानकर उसे व्यंग्यार्थ वृत्ति गम्य नहीं मानते हों तथा इस प्रकार व्यंजना का खंडन करने पर तुले हों, तो यह मत भ्रांत ही कहा जायगा। क्या देव रस को वाच्यार्थ या तात्पर्यार्थ मानते हैं ? इस प्रश्न का कोई उत्तर देव के ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है।

कुमारमणि भट्ट के रसिक रसाल का आधार मम्मट का काव्य प्रकाश ही है। वे स्वयं कहते हैं कि यह ग्रंथ उन्होंने काव्यप्रकाश के सिद्धांतों को विचार कर भाषा में निबद्ध किया है।

काव्यप्रकाश विचारि कछु रचि भाषा में हाल।
पण्डित सुकवि कुमारमणि कीन्हो रसिकरसाल॥

रसिकरसाल के प्रथम अध्याय में काव्य प्रकाश के अनुसार ही उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य का विवेचन किया गया है। तदनंतर शब्दशक्ति, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ पर विचार किया गया है। कुमारमणि भट्ट के ग्रंथ की प्रमुख विशेषता विषय प्रतिपादन की न होकर सुंदर उदाहरणों के संनिवेश की है। निदर्शन के लिए 'वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य के प्रकरण में 'वक्तृवैशिष्ट्य' का यह उदाहरण देखिए, जहाँ गोपिका कृष्ण के साथ की गई रति केलि को छिपा रही है, किंतु उसके चरित्र का पता चलने पर सहृदय को यह व्यंग्यार्थ प्रतीति हो ही जाती है कि वह रति केलि को छिपा रही है।

तोहि गई सुनि कूल कलिंदी कै हो हूँ गई सुनि हेलि हमारी।
भूली अकेली कहूँ डरपी मग में लखि कुंजन पुंज अँध्यारी॥
गागर के जल के छलके घर आवत लौं तन भीगि गो भारी।
कम्पत त्रासन ये री बिसासिनि मेरी उसास रहे न सँभारी॥

श्रीपति के 'काव्यसरोज' का हिंदी रीति ग्रंथों में खास स्थान है। श्रीपति के 'काव्यसरोज' की महत्ता इसलिये भी बढ़ जाती है कि भिखारीदास ने अपने 'काव्य निर्णय' में श्रीपति की कई बातों को अपना लिया है। श्रीपति के विषय में आचार्य शुक्ल के ये शब्द उपन्यस्त किये जा सकते हैं कि "काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है, इससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य में व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दासजी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होंने इनकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपने "काव्यनिर्णय" में चुपचाप रख ली हैं।[1] श्रीपति का शब्दशक्ति विवे-

१. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २७२

चन भी मुख्यतया 'काव्यप्रकाश' से ही प्रभावित है। श्रीपति ने प्रथम दल में उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के काव्यों का वर्णन किया है।[1] काव्य सरोज के द्वितीय दल में शब्द निरूपण है, जिसमें वाचक शब्द के रूढि, योग तथा योग रूढि तीनों भेदों का वर्णन है। तृतीय दल में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का विवेचन है। इस संबंध में श्रीपति ने लक्षणा के केवल छः भेदों का ही वर्णन किया है।

सोमनाथ के 'रसपीयूषनिधि' का संकेत आचार्य शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र दोनों ने किया है।[2] इसकी एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी के हस्तलेख संग्रह में है। सोमनाथ के विषय में आचार्य शुक्ल का कहना है:—

"इन्होंने संवत् १७९४ में रसपीयूषनिधि नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दासजी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांगनिरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।"[3]

रसपीयूषनिधि की छठी तरंग में शब्दशक्ति विवेचन पाया जाता है। सोमनाथ ने काव्य का प्राण 'व्यंग्य' को ही माना है।

> व्यंगि प्राण अरु अंग सब शब्द अरथ पहिचानि।
> दोष और गुण अलंकृत दूषणादि उर आनि॥

उनका शब्दशक्तिविवेचन 'काव्यप्रकाश' से ही प्रभावित है।

भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय' हिंदी के रीतिग्रंथों में अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। मिश्रबंधुओं ने तो रीतिकाल को दो कालों में बाँटते समय चिंतामणि को पूर्वालंकृत काल का तथा भिखारीदास को उत्तरालंकृत काल का प्रारंभिक आचार्य माना है। भिखारीदास के विषय में

---

१. काव्यसरोज प्रथम दल १३, १५, १७

२, आचार्य शुक्लः हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २८४
डॉ० भगीरथ मिश्रः हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० १२७, १३२

३. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २८४

डॉ० मिश्र का मत है कि 'भिखारीदास की गणना काव्यशास्त्र के उन यथार्थ आचार्यों में से थी, जो कवि-प्रतिभा के साथ उससे अधिक काव्यशास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।"[1] आचार्य शुक्ल का मत इससे सर्वथा भिन्न है। शुक्लजी ने बताया है कि भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' में कई बातें श्रीपति के 'काव्यसरोज' की नकल हैं। जहाँ तक भिखारीदासजी के आचार्यत्व का प्रश्न है, शुक्लजी के ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं:—

"अतः दासजी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों को देखते दास जी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य्य का पूरा रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे, उपादानलक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं।"[2]

स्पष्ट है, आचार्य शुक्ल भिखारीदास में आचार्य्यत्व न मानकर आचार्यत्वाभास ही मानते हैं। हिंदी में ऐसे आचार्याभासों की कभी कमी नहीं रही है।

दासजी ने 'काव्यनिर्णय' के द्वितीय उल्लास में शब्दशक्ति का विवेचन किया है। इसे वे 'पदार्थनिर्णय' नामक उल्लास कहते हैं। आरंभ में वे तीन प्रकार के शब्द का संकेत करते हैं:—वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक।[1] दासजी ने अभिधा शक्ति के अंतर्गत वाचक शब्द के चार प्रकार जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा का संकेत किया है। वे इस बात का भी संकेत करते हैं कि कुछ विद्वान् केवल जाति ही में संकेत मानते हैं:—

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास पृ. २७८, २७९

२. पद वाचक अरु लाक्षनिक व्यंजक तीनि विधान।
तातें वाचक भेद कौ, पहिलैं करौं बखान॥
(काव्यनिर्णय २.१)

जाति, जद्रिक्षा, गुन, क्रिया, नामजु चारि प्रमान।
सबकी संज्ञा जाति गनि, वाचक कहैं सुजान॥ (२, २)

दासजी का यह विवेचन मम्मट के 'जात्यादिर्जातिरेव वा' का ही अनुवाद है। आगे चलकर विस्तार से अभिधा शक्ति के नियन्त्रक तत्त्वों का पूरे १४ दोहों में संकेत किया गया है। इन तत्त्वों के उदाहरण मम्मट के काव्यप्रकाश से ही लिये गये हैं। अभिधाशक्ति के उदाहरण के रूप में दासजी ने निम्न पद्य दिया है:—

मोरपक्ष को मुकुट सिर, उर तुलसीदल माल।
जमुनातीर कदंब ढिग मैं देख्यो नँदलाल॥ (२. २१)

भिखारीदास की लक्षणा की परिभाषा यों है:—

मुख्य अर्थ के बाध सौं, सब्द लाक्षनिक होत।
रूढ़ि औ प्रयोजनवती, द्वै लक्षना उदोत॥ (२, २२)

इस संबंध में लक्षणा या लाक्षणिक शब्द की दासजी की परिभाषा कुछ दुष्ट है। हम देखते हैं कि लक्षणा में तीन तत्त्व होते हैं—(१) मुख्यार्थबाध, (२) तद्योग, (३) रूढ़ि या प्रयोजन।[1] दासजी की उपर्युद्धृत परिभाषा में द्वितीय तत्त्व—तद्योग का कोई संकेत नहीं पाया जाता। अतः यह परिभाषा निर्दुष्ट नहीं है। दासजी ने सर्व प्रथम लक्षणा के दो भेद किये हैं—रूढ़ि तथा प्रयोजनवती। इसके बाद वे इनके शुद्धा तथा गौणी दो भेद मानते हैं। शुद्धा लक्षणा के चार भेद उपादान लक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपालक्षणा तथा साध्यवसाना लक्षणा का विचार द्वितीय उल्लास के २८ से लेकर ३६ पद्य तक किया गया है। इसके बाद ३७ से लेकर ४२ वें पद्य तक गौणी के दो भेद सारोपा तथा साध्यवसाना का विचार किया गया है। मम्मट की भाँति भिखारीदास ने गूढव्यंग्या तथा अगूढव्यंग्या नामक भेदों का संकेत लक्षणा के प्रसंग में नहीं किया है। इनका संकेत वे लक्षणामूलक व्यंग्य का विचार करते समय व्यंजना के प्रकरण में आगे करते हैं।

व्यंजना का विचार करते समय भिखारीदास ने बताया है कि व्यंजक शब्द का आधार वाचक या लाक्षणिक पद ही होता है। वाचक

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यतेयत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

या लाक्षणिक पद व्यंग्यार्थ के बिना भी रह सकता है, किंतु कोई भी व्यंजकशब्द तथा व्यंग्यार्थ वाचक या लाक्षणिक पद के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार वाचक तथा लाक्षणिक पद दो तरह के हो सकते हैं—अव्यंग्य तथा सव्यंग्य। व्यंजक के साथ इनका संबंध बताते समय दासजी ने भाजन (पात्र) तथा जल का दृष्टांत दिया है। जैसे बिना जल के पात्र रह सकता है वैसे ही बिना व्यंग्य के वाचक तथा लाक्षणिक पद हो सकते हैं, किंतु जैसे बिना पात्र के जल नहीं रह सकता, वैसे ही व्यंजक तथा व्यंग्यार्थ बिना वाचक या लाक्षणिक पद के नहीं रह सकते।

वाचक लक्षक भाजन रूप हैं, व्यंजक को जल मानत ज्ञानी।
जानि परै न जिन्हैं तिन्ह के समुझाइबे को यह दास बखानी॥
ये दोउ होत सव्यंगि अव्यंगि औरं, व्यंगि इन्हैं बिनु लावै न बानी।
भाजन लाइब नीर विहीन न आइ सकै बिनु भाजन पानी॥(२,४१)

दासजी ने मम्मट के ही आधार पर व्यंग्य के सर्वप्रथम दो भेद किये हैं:—अभिधामूलक व्यंग्य (२, ४४) तथा लक्षणामूलक व्यंग्य (२, ४७)। लक्षणामूलक व्यंग्य के २ भेद होते हैं:—गूढव्यंग्य तथा अगूढव्यंग्य।[1] भिखारीदास के अधिकांश उदाहरण मम्मट के उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। शाब्दी व्यंजना के बाद आर्थी व्यञ्जना का विचार करते समय दासजी ने—(१) वाच्यार्थ व्यंग्य से अपर व्यंग्य, (२) लक्ष्यार्थ व्यंग्य से अपर व्यंग्य, तथा (३) व्यंग्य से अपर व्यंग्य का विचार किया है। (२, ६६–६९) इनके उदाहरण भी काव्यप्रकाश के उदाहरणों के अनुवाद हैं। दासजी ने तात्पर्य नामक वृत्ति का उल्लेख नहीं किया है।

काव्यनिर्णय के षष्ठ तथा सप्तम उल्लास में वे काव्यभेद का विचार करते समय उत्तम, मध्यम तथा अधम नामक मम्मटोक्त काव्यभेदों का संकेत करते हैं। दासजी की उत्तम काव्य की परिभाषा यों है:—

वाच्य अरथ तैं व्यंगि मैं चमत्कार अधिकार।
धुनि ताही कौं कहत सोइ उत्तम काव्य विचार॥ (६, १)

---

१. गूढ अगूढौ व्यंग द्वै होहि लक्षनामूल।
छिपी गूढ प्रगटहि कहै, है अगूढ समतूल॥ (२, ४७)

भिखारीदासजी ने मध्यम काव्य वहाँ माना है, जहाँ व्यंग्यार्थ में कुछ भी चमत्कार नहीं होता।

जा व्यंगारथ में कछू चमत्कार नहिं होइ।
गुणीभूत सो व्यंगि है, मध्यम काव्यौ सोइ॥ (८, १)

दासजी के उक्त लक्षण में "कछु चमत्कार नहिं होइ" कहना ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः दासजी का मध्यम काव्य का लक्षण दुष्ट है। मम्मट ने केवल इतना कहा है कि 'जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारकारी न (अताहशि) हो, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है'। (अताहशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्) 'अताहशि' का अर्थ 'सौंदर्य का अभाव' नहीं है। वस्तुतः मध्यमकाव्य में व्यंग्यार्थ चमत्कारी अवश्य होता है, किंतु या तो वह वाच्यार्थ के समान ही सुंदर होता है या फिर वाच्यार्थ का उपस्कारक हो जाता है। पंडितराज जगन्नाथ ने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्यार्थ चमत्कारी अवश्य होता है। उनका उत्तम काव्य (गुणीभूत-व्यंग्य) का लक्षण इस बात में कोई गुंजायश नहीं रखता कि यहाँ व्यंग्यार्थ चमत्कारी अवश्य होता है। यह दूसरी बात है कि यहाँ वह प्रधानरूप में चमत्कार का कारण न होकर अप्रधानरूप में चमत्कार-कारण होता है।

'यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।'
(रसगंगाधर पृ० २०)

इतना ही नहीं, पंडितराज ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि वे अपने लक्षण में 'चमत्कारकारणं' का समावेश क्यों करते हैं। वे बताते हैं कि इस विशेषण के न देने पर इस लक्षण में यह दोष हो जायगा कि इसमें उन अर्थचित्र (वाच्यचित्र) काव्यों का समावेश हो जायगा, जिनमें उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों के चमत्कार के कारण व्यंग्य, वाच्यार्थ चमत्कार में लीन हो जाता है। जब कि यहाँ (गुणीभूतव्यंग्य में) व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ में लीन नहीं होता।[1] दासजी का लक्षण, इस दृष्टि से विचार करने पर दुष्ट ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसकी अति-व्याप्ति वाच्यचित्र नामक काव्यभेद में अवश्य होगी।

---

१. लीनव्यंग्य-वाच्यचित्रातिप्रसंगवारणाय चमत्कारेत्यादि।
—रसगंगाधर पृ० २०

दासजी के अवर ( अधम ) काव्य का लक्षण भी सदोष है। उनका लक्षण निम्न है: —

> वचनारथ रचना तहाँ, व्यंगि न नैकु लखाइ।
> सरल जानि तेहि काव्य कौं अवर कहै कबिराइ॥
> अवर काव्य हूँ मैं करै, कवि सुघराई मित्र।
> मनरोचक करि देत है वचन अर्थ कौं चित्र॥
>
> ( ७, २५-२६ )

चित्रकाव्य में, दासजी ने व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव माना है:—"व्यंगि न नैकु लखाय"। शायद यह मम्मट के 'अव्यंग्यं' का अनुवाद है। पर हम बता चुके हैं कि जो गलती साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कर चुके हैं, उसकी पुनरुक्ति दासजी से भी हो गई है। मम्मट के 'अव्यंग्य' का अर्थ 'ईषद्व्यंग्यं' है, इसका संकेत मम्मट के सभी टीकाकारों ने किया है। साथ ही चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव नहीं होता। पंडितराज ने भी इसका संकेत किया है। इसीलिए वे गुणीभूतव्यंग्य तथा वाच्यचित्र काव्य को जागरूक गुणीभूतव्यंग्य तथा अजागरूक गुणीभूतव्यंग्य भी कहते हैं।[1] मम्मट के टीकाकार गोविंद ठक्कुर ने 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' इत्यादि पद्य के विषय में बताया है कि शब्दचित्र काव्य में भी व्यंग्य का सर्वथा अभाव नहीं होता; हाँ, वहाँ वह अत्यधिक अस्फुट होता है अथवा उसमें कवि की विवक्षा नहीं होती।[2] इससे स्पष्ट है कि पंडितराज तथा गोविंद ठक्कुर दोनों को चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ की सत्ता मानना अभीष्ट है। मम्मट का भी यही मत है।

---

१. अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यंग्ययो······ काव्यम्। —रसगंगाधर पृ० २२

२. ननु कथमेतदव्यंग्यमुच्यते। मंदाकिनीविषयायाः प्रीतेरभिव्यक्तेः। किं च नास्त्येव स काव्यार्थो यस्य न व्यञ्जकत्वमन्ततो विभावत्वेनापीति चेत्सत्यम्। किं तु तद्व्यंग्यमस्फुटतरम्। यद्वा तत्र न कवेस्तात्पर्यम्। अनुप्रासमात्र एव तस्य संरंभात्। तात्पर्यविषयीभूतव्यंग्यविरहवत्त्वमेव व्यंग्यपदेन विवक्षितम्। — काव्यप्रदीप पृ० २०-२१

दास के उपर्युक्त चित्रकाव्य वर्णन से स्पष्ट है कि दास ने दो तरह के चित्र काव्य माने हैं:—१ वचनचित्र ( शब्दचित्र ) २ तथा अर्थचित्र। इन्हीं के उदाहरण क्रमशः सप्तम उल्लास के २७ तथा २८ वें पद्य में दिये गये हैं। इस संबंध में काव्यनिर्णय के संपादक से एक भूल हो गई है। उन्होंने वचनचित्र को 'वाच्यचित्र' कहा है। यह भूल दास जी की नहीं जान पड़ती। संभवतः लिपिकार की भूल संपादक ने नहीं पकड़ी है। 'वाच्य' का अर्थ भी तो 'अर्थ' ही है, अतः ( १ ) वाच्यचित्र तथा ( २ ) अर्थचित्र ये भेद मानना असंगत है। 'वाच्यचित्र' के स्थान पर 'वाचकचित्र' या 'वचनचित्र' होना चाहिए। भिखारीदास स्वयं इस भेद को 'वचनचित्र' मानते हैं। ( देखिये—काव्यनिर्णय ७, २५-२६ )

दासजी के शब्दशक्तिविवेचन को कई लेखकों ने आधार बनाया है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने काव्यप्रभाकर में दासजी के काव्यनिर्णय से पर्याप्त सहायता ली है। लाला भगवानदीन जी की 'व्यंग्यार्थमञ्जूषा' का भी मुख्य आधार काव्यनिर्णय का ही शब्दशक्तिनिरूपण है, इस बात का संकेत स्वयं लाला जी ने किया है[1]

जनराज कृत 'कविता रसविनोद' में भी मम्मट के काव्यप्रकाश के ढंग पर ही शब्दशक्ति-विवेचन पाया जाता है।[2] रसिकगोविंद का 'रसिक गोविंदानंदघन' रीतिशास्त्र पर एक विशालकाय ग्रन्थ है।[3] इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मम्मट के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मत भी मिलते हैं। लेखक ने व्याख्या के लिए गद्य का भी प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में अनेक सुंदर उदाहरण पाये जाते हैं, जिनमें कई संस्कृत पद्यों के अनुवाद हैं। लछिराम कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु' के द्वितीय कुसुम में काव्य के उत्तम, मध्यम, तथा अधम इन तीन भेदों का वर्णन है। तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम कुसुम में क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना का संकेत पाया जाता है। यह विवेचन काव्यप्रकाश के ही आधार पर है। लछिराम पर भिखारीदास के

---

१. लाला भगवानदीन : व्यंग्यार्थमंजूषा ( भूमिका ) पृ० १

२. डॉ० मिश्र: हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० १५३

३. वही पृ० १७२

'काव्यनिर्णय' का भी पर्याप्त प्रभाव है। इनके द्वारा दिया व्यंजना वृत्ति का परिचय भिखारीदास की ही नकल है:—

> वाचक लक्षक शब्द ये राजत भाजन रूप।
> व्यंजन नीर सुवेस कहि बरनत सुकवि अनूप॥
>
> (५. १)

मुरारिदान का 'जसवंतजसोभूषण' पिछले दिनों का विशाल ग्रंथ है। इसके विचारों का संकेत हम इसी ग्रंथ के संस्कृत अनुवादक पं० रामकरण आसोपा तथा सुब्रह्मण्य शास्त्री के विचारों का संकेत करते समय लक्षणा आदि के संबंध में कर आये है। मुरारिदान के महत्त्वपूर्ण विचार ये हैं:—

(१) मुरारिदान के मत से लक्षणा सदा प्रयोजनवती होती है। तथाकथित रूढ़ा लक्षणा में भी कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है।

(२) लक्षणा के गौणी तथा शुद्धा ये दो भेद मानना अनुचित है। प्राचीनों के मत से सादृश्य संबंध में गौणी लक्षणा होती है, तदितर संबंध में शुद्धा। किंतु हम देखते हैं कि सादृश्य से इतर अनेक संबंध पाये जाते हैं। यदि सादृश्य संबंध में अलग भेद माना जाता है तो फिर इतर संबंध के प्रत्येक प्रकार में भी एक एक भेद क्यों नहीं माना जाता? अतः यह भेद कल्पना ठीक नहीं है।

(३) लक्षणा में प्रयोजनरूप व्यंग्य प्रधानव्यंग्य न होकर सदा गुणीभूतव्यंग्य होता है।

(४) प्राचीन विद्वान् व्यंजना में शाब्दी तथा आर्थी दो भेद मानते हैं। वस्तुतः शाब्दी व्यंजना जैसा भेद मानना अनुचित है। जहाँ वे शाब्दी व्यंजना मानते हैं, वहाँ द्वितीय (अप्राकरणिक) अर्थ वाच्यार्थ ही है, उसकी प्रतीति अभिधा से ही होती है, व्यंजना से नहीं। ऐसे स्थान पर श्लेषालंकार का ही चमत्कार प्रधान होता है।

(५) काव्य में व्यंग्यार्थ के बिना भी रमणीयता हो सकती है, जैसे निम्नपद्य में—

> रैन की उनींदी राधे सोवत सबेरो भये
> झीनो पट तान रही पायन लौं मुख तैं।

सांस तैं उलट बेनी भाल व्है कै उर व्है कै
जानु व्है अंगूठन सौं लागी सूधे रुख तैं।
सुरत समर रीत जोबन की जेत्र जीत
सिरोमन महा अलसाय रही मुख तैं।
हर को हराय मानो मैन मधुकरहूँ की
धरी है उतार जिह चंपे के धनुष तैं॥

(६) मम्मट के द्वारा उत्तम काव्य के उदाहरण 'निःशेष च्युत-चंदनं' आदि की मीमांसा करते समय बताया गया है कि यहाँ 'अधम' पद के द्वारा 'तू वहीं गई थी' इसकी व्यंजना हो रही है। किंतु कभी कभी शब्दाभाव में भी अन्य-संभोग-दुःखिता की प्रतीति होती है। जैसे निम्न पद्य में—

अंजन रंजन फीको परयो अनुमानत नैनन नीर ढरयौ री।
प्रात के चंद समान सखी, मुखको सुखमा भर मंद पर्यो री॥
भाखे 'मुरार' निसासन पौन ने तो अधरान को राग हर्यो री।
बावरी, पीव सँदेसो न मान्यो तो तैं क्यों इतो पछतावो कर्यो री॥

बाद के लेखकों में शब्दशक्ति पर लिखने वाले ये हैं:—कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद भानु, लाला भगवानदीन, मिश्रबंधु तथा बिहारी लाल भट्ट। पोद्दारजी के 'काव्यकल्पद्रुम' के प्रथम तीन स्तवक हमारे आलोच्य विषय से संबद्ध हैं। इसमें काव्य-प्रकाश का ही आधार है तथा उदाहरण भी काव्यप्रकाश के ही अनुवाद हैं। इसकी प्रमुख विशेषता हिंदी गद्य में शब्दशक्तियों के संबंध में आवश्यक तत्त्वों का स्पष्टतः निरूपण है। भानुजी, लालाजी तथा मिश्रबंधु के 'काव्यप्रभाकर', 'व्यंग्यार्थमंजूषा' तथा 'साहित्य-पारिजात' का शब्दशक्तिविवेचन भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' के आधार पर है। बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्यसागर' संस्कृत ग्रंथों से प्रभावित है, मुख्यतः काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण तथा रस गंगाधर से। इसके पंचम तरंग में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति का भी उल्लेख है। इन सभी ग्रंथों में प्रायः मम्मटादि के सिद्धांतों का ही प्रयोग हुआ है।

पिछले दिनों में रामदहिन मिश्र तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने शब्दशक्तियों पर अपने विचार उपन्यस्त किये हैं। मिश्रजी के शब्द-

शक्ति विवेचन का आधार भी काव्य प्रकाश ही है। वैसे उन्होंने हिंदी की आधुनिक कविता से शब्दशक्ति के तत्तत् भेदोपभेद के उदाहरण दिये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिन्होंने हिंदी काव्यशास्त्र में मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। क्या रस, क्या अलंकार, क्या शब्द शक्ति सभी में उन्होंने मौलिक विचार रखकर साहित्य की चिंतन धारा को आगे बढ़ाया है। यह दूसरी बात है कि शुक्लजी ने अभिधा को ही काव्य का चमत्काराधायक माना है और उसके लिए उनकी आलोचना भी की गई है, किंतु शुक्लजी के इस निष्कर्ष का भी, कोई कारण रहा होगा। संभवतः वस्तुव्यंजना तथा ऊहात्मक अलंकार-व्यंजना की रूढ परिपाटी के विरोधी होने के कारण, जिसका खंडन शुक्लजी ने कई स्थानों पर किया है, उन्होंने व्यंजना में काव्यत्व मानने का निषेध किया है। शुक्लजी रस को काव्य का चरम लक्ष्य मानते थे, यह एक निर्विवाद सत्य है। अतः प्रकारांतर से शुक्लजी रसव्यंजना को काव्य की आत्मा मानते हैं।

आचार्य शुक्ल के शब्दशक्तिसंबंधी विचार 'रसमीमांसा' में उपलब्ध है। 'रसमीमांसा' के आंग्ल परिशिष्ट तथा उसके आधार पर लिखे गये रसमीमांसा के शब्दशक्ति विवेचन से आचार्य शुक्ल की कुछ मौलिक उद्भावनाओं का पता चलता है।

(१) शुक्लजी ने बताया है कि प्राचीन आलंकारिकों ने रूढि तथा प्रयोजनवती दो तरह की लक्षणा मानी है। वस्तुतः इनका सांकर्य भी पाया जाता है तथा इस तरह तीसरे भेद की कल्पना भी की जा सकती है। "प्रयोजनवती लक्षणा रूढि भी हो सकती है। इसलिये तीसरा भेद भी होना चाहिए।" इस प्रकार शुक्ल जी रूढि-प्रयोजनवती लक्षणा नामक भेद भी मानते हैं। इसके उदाहरण वे ये देते हैं:—'सिर पर क्यों खड़े हो', 'वह उनके चंगुल में है।'[1]

(२) 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादि पद्य के विषय में हम बता चुके हैं कि यहाँ विश्वनाथ ने वाक्यलक्षणा मानी है। हम इसका खंडन कर चुके हैं। हम बता चुके हैं कि पदगत लक्षणा तथा वाक्यगत लक्षणा जैसा भेद मानना ठीक नहीं। इस उदाहरण के संबंध में शुक्ल

१. रसमीमांसा पृ० ३७५

जी के विचार द्रष्टव्य हैं। उनके मत से यहाँ वाक्यगत लक्षणा न होकर व्यंजना है। वे बताते हैं कि 'आपने बड़ा उपकार किया' इस वाक्य से 'आपने मेरा उपकार किया है' यह अर्थ लक्षणागम्य नहीं है, वस्तुतः यहाँ व्यंजना ही है। यदि इसके साथ वक्ता 'आपने मेरा घर ले लिया' यह भी कहे, तो लक्षणा हो सकेगी।[1] इसी बात का संकेत शुक्लजी ने आगे भी किया है। विपरीत लक्षणा के संबंध में वे एक शंका करते हैं:—'अब प्रश्न होता है कि उस स्थिति में जब कि किए गए अपकार का कथन शब्दों द्वारा न होगा केवल दोनों व्यक्तियों के द्वारा मन ही मन समझ लिया जायगा तब क्या लक्षणा होगी।'[2] स्पष्ट है, शुक्लजी यहाँ व्यंजना ही मानते हैं।

( ३ ) शुक्लजी ने साहित्यदर्पणकार के द्वारा प्रयोजनवती उपादान गौणी सारोपा लक्षणा के उदाहरण के संबंध में बताया है कि 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' इस वाक्य में लक्षणा 'राजकुमारा' (राजकुमारों से पद में मिलते जुलते लोगों) में है, 'एते' में नहीं। रसमीमांसा के संपादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस पर आपत्ति की है। वे कहते हैं—"शुक्लजी का कहना है कि 'राजकुमाराः' पद ही लाक्षणिक है 'एते (ये) नहीं। वस्तुतः 'एते' आरोप को बतलाता है। इसलिये 'एते राजकुमाराः' सबका सब लाक्षणिक है।"[3] हमें आचार्य शुक्ल का ही मत ठीक जँचता है। वस्तुतः इसमें 'एते' पद तो जाते हुए लोगों का मुख्यावृत्ति से बोधक है, अतः उसे लाक्षणिक कैसे माना जा सकता है ? साथ ही 'एते राजकुमाराः' इस समस्त वाक्य को लक्षणा मानने पर वाक्यगत लक्षणा का प्रसंग उपस्थित होगा जिसका हम खंडन कर चुके हैं। इसमें 'राजकुमाराः' पद ही लाक्षणिक है। पहले हम यह पूछ सकते हैं कि 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' इस वाक्य में विधेयांश क्या है 'राजकुमाराः' अथवा 'एते राजकुमाराः' यह पदद्वय। वस्तुतः कुछ लोग जा रहे हैं यह तो हम खुद आँखों से देख रहे हैं, चाहे वह राजकुमार हों, या राजकुमार के समान लोग हों, या कोई नौकर चाकर हों। पर यह बताने के लिए कि ये

---

१. रसमीमांसा पृ० ३७३

२. वही पृ० ३७६

३. वही पृ० ३७९ (पाद टिप्पणी)

लोग जो जा रहे हैं, ऐरे-गैरे लोग नहीं है, राजकुमारों के समकक्ष लोग हैं 'राजकुमाराः' पद्का प्रयोग किया गया है। अतः विधेयांश 'राजकुमाराः' ही सिद्ध होता है। अतः केवल उसे ही 'लाक्षणिक' मानना ठीक होगा। प्रयोजनवती सारोपा गौणी के अन्य उदाहरण में भी जहाँ लक्षणलक्षणा पाई जाती है, वाचक तथा लाक्षणिक दोनों के समवेत वाक्यांश को लाक्षणिक नहीं माना जाता। 'सिंहो माणवकः' या 'गौर्वाहीकः' में वस्तुतः लाक्षणिक 'सिंहः' तथा 'गौः' ही है। ठीक वही बात यहाँ लागू होगी। यदि यहाँ इसलिए 'एते' का समावेश करना अभीष्ट है कि यहाँ उपादान लक्षणा होने के कारण लक्ष्यार्थ के साथ ही मुख्यार्थ भी संश्लिष्ट रहता है तो 'राजकुमाराः' का मुख्यार्थ है, 'राजा के लड़के', लक्ष्यार्थ है 'राजा के लड़कों के समान लोग', अतः इस अर्थ में उन दोनों का समावेश 'राजकुमाराः' पद में ही है, इससे तो किसी को विरोध नहीं। जहाँ तक 'एते' पद का प्रश्न है इसका मुख्यार्थ 'राजकुमाराः' ( राजा के लड़के ) नहीं है, इसका मुख्यार्थ है 'सामने जाते हुए पुरुषविशेष'। यदि इसका मुख्यार्थ 'राजा के लड़के' होता, तो 'एते राजकुमाराः' पूरा वाक्यांश लाक्षणिक माना जा सकता है।

अपने मत की पुष्टि में एक और दलील हम यह भी दे सकते हैं। मिश्रजी ने अपने मत की पुष्टि में लिखा है:—, 'वस्तुतः 'एते' आरोप को बताता है'। यह वाक्य अस्पष्ट है। आरोप से मिश्रजी को क्या अभीष्ट है:—'एते' आरोप विषय है, या आरोप्यमाण है। दूसरे शब्दों में 'एते' विषय है या 'एते राजकुमाराः' सम्पूर्ण पदद्वय विषयी है। जहाँ तक 'राजकुमाराः' पद के विषयी होने का प्रश्न है, इस विषय में तो कोई विवाद उठता ही नहीं। हम एक दूसरा उदाहरण ले लें। किसी नायिका के मुख को देखकर कोई कहता है—'यह चन्द्रमा है'। इस वाक्य में दो विकल्प होंगे। या तो यहाँ 'यह' को विषय तथा 'चन्द्रमा' को विषयी मानकर सारोपा लक्षणा तथा रूपक अलंकार माना जा सकता है, या फिर 'यह' को 'चन्द्रमा' का विशेषण मानकर सारा ही विषयी मानने पर विषय ( नायिकामुख ) का निगरण माना जा सकता है। इस मत के मानने पर साध्यवसाना लक्षणा तथा अतिशयोक्ति अलंकार होगा। इसी तरह यदि किसी एक पक्ष का कोई साधक बाधक प्रमाण न होगा तो यहाँ संदेह संकर भी माना जा सकता है, ऐसा

मम्मटादि का मत है।[1] ठीक इसी तरह यहाँ भी 'एते' को 'जाते हुए लोगों का निर्देशक मानने पर ही सारोपा हो सकेगी। यदि 'एते' को 'राजकुमाराः' के साथ जोड़कर लक्षक माना जायगा तो यहाँ सारोपा कैसे हो सकेगी? यह विचारणीय है।

(४) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के संबंध में शुक्लजी की निम्न टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि शुक्लजी को श्लेष तथा शाब्दी व्यंजना का वह भेद, जो ध्वनिवादी ने माना है, स्वीकार है। वे कहते हैं:—"जहाँ दूसरे अर्थ का बोध कराना भी इष्ट होता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है, पर जहाँ दूसरे अर्थ की यों ही प्रतीतिमात्र होती है वहाँ अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना होती है।'

× × ×

हम देखते हैं कि लक्षणा तथा व्यंजना का आधार भी अभिधा ही है। आरंभ में अभिधा को ही विस्तृत बनाकर किसी प्रयोजन के लिए लक्षणा का सहारा लिया जाता है। ये लाक्षणिक प्रयोग जब इतने प्रचलित हो जाते हैं कि लोग उन्हें वाचक पदों की तरह बिना प्रयोजन की सहायता के ही समझ लेते हैं तो ये रूढिमती लक्षणा के क्षेत्र हो जाते हैं। धीरे धीरे ये वाचक की कोटि में प्रविष्ट होते जाते हैं। यही कारण है, कई आचार्यों ने रूढिमती लक्षणा का खंडन किया है तथा उसे अभिधा का ही अंग माना है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन सदा व्यंग्यार्थ माना गया है। इसका अर्थ यह है कि चमत्कारिक अर्थ के लिए किसी भाव के प्रतिपादन के लिए वक्ता मुख्यार्थ से हटाकर किसी पद का अन्य अर्थ में प्रयोग करता है। प्रयोजनवती लक्षणा के इस क्षेत्र का सदा विस्तार होता रहता है. एक ओर नये शब्द नये नये चमत्कारिक अर्थों को लेकर आते हैं, दूसरी ओर पुराने शब्द अपने चमत्कार को खो खोकर रूढिगत होते जाते हैं तथा वे 'वाचक' की कोटि में प्रविष्ट होते जाते हैं। किसी देश या मानव समाज के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास के साथ साथ यह शब्दार्थ संबंधी विकास चलता रहता है। इस अर्थ-विकास के परिवर्तन के लिए यदि हम किसी

---

१. 'नयनानन्ददायीन्दोर्बिंबमेतत्प्रसीदति'···उन वदनस्येंदुबिंबतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः, किं चैतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम्।

—काव्यप्रकाश पृ० ५८३

भी भाषा के साहित्य का क्रमिक पर्यालोचन करें, तो पता चलेगा कि जो शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के व्यंजक बनकर किसी खास युग में प्रयुक्त होते हैं, उसके बाद के युग में वे अपना वह अर्थ खो बैठते हैं। संस्कृत में ही हम देखते हैं कि कालिदास ने 'पेलव' शब्द का बड़ा कोमल प्रयोग किया है, किंतु बाद में चलकर संस्कृत साहित्य में ही इस शब्द पर 'सेन्सर' लगा दिया गया है, यह अश्लीलता का व्यंजक समझा जाने लगा है। हिंदी में रीति कालीन कवियों ने स्थूल शृंगार की व्यंजना के लिए जिन पदों का प्रयोग किया, बाद के साहित्य में आकर वे अपनी व्यंजना खो बैठे थे। छायावादी कवियों ने अपने वायवीय शृंगार की व्यंजना के लिए उन पदों को सड़े गले समझा और नये शब्दों को शाण पर चढा कर उनमें नई व्यंजना की आभा भर दी। लेकिन छायावादियों के लाक्षणिक प्रयोग तथा प्रतीक भी धीरे धीरे अपना पालिश खो चुके और प्रयोगवाद ने फिर नये शब्दों को नई चमत्कारवत्ता प्रदान की। शब्द सदा अपने पुराने व्यंग्यार्थ चमत्कार को खोकर वाचक बनता रहता है, अज्ञेय ने 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में इस तथ्य का संकेत देते हुए लिखा है:—

"यह क्रिया भाषा में निरंतर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता जाता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरंतर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्दों को निरंतर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमश सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' × × × जब चमत्कारिक अर्थ मरजाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो।"[१]

---

१. दूसरा सप्तक (भूमिका) पृ० ११, १२

# परिशिष्ट

# परिशिष्ट ( १ )

## भारतीय साहित्यशास्त्र के आलंकारिक संप्रदाय

आचार्यों ने काव्य की मीमांसा के विषय में कई प्रश्नों की उद्भावना कर उनका समाधान किया है। सर्वप्रथम तो हमारे सामने यही प्रश्न उठता है कि काव्य का स्वरूप क्या है ? हम देखते हैं कि काव्य में कवि अपनी भावनाओं को वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है। इस प्रकार काव्य में वाणी और भाव, शब्द और अर्थ का साहचर्य पाया जाता है। वैसे काव्य का बाह्य स्वरूप केवल शब्द ही दिखाई देता है, अतः यह धारणा होना संभव है कि काव्य का स्वरूप शब्द है। भारतीय आचार्यों में काव्य के विषय में दो मत पाये जाते हैं, एक काव्य का स्वरूप 'शब्दार्थ' मानते हैं, दूसरे काव्य का स्वरूप 'शब्द' मानते हैं। 'शब्दार्थ' में काव्यत्व मानने वाले आचार्यों में सबसे प्राचीन भामह हैं। उनके मतानुसार शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है।[1] बाद में भी कुंतक तथा मम्मट ने भामह की ही परिभाषा को मान्यता दी है। कुंतक के मतानुसार "काव्य वे शब्दार्थ हैं, जो सुंदर कविव्यापार युक्त ऐसी रचना में निबद्ध हों, जो काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करने वाली हो।"[2] मम्मट ने काव्य उन शब्दार्थों को माना है, "जो अदोष, सगुण तथा कहीं-कहीं अनलंकृत भी हों।"[3] दूसरे मत के मानने वालों में मुख्य दण्डी, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ हैं, जो अर्थविशिष्ट शब्द में काव्य मानते हैं। दण्डी के मतानुसार "कवि विवक्षा से युक्त ( इष्ट ) अर्थ से परिच्छिन्न पदावली ( शब्द समूह ) काव्य है।"[4]

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। —भामहः काव्यालंकार १, १६

२. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ —वक्रोक्तिजीवित १, ७

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
—काव्यप्रकाश १, ४

४. इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्। —दण्डीः काव्यादर्श

विश्वनाथ 'पदावली' को काव्य न कह कर 'वाक्य' को काव्य कहते हैं, उनके मत से "रसात्मक वाक्य काव्य है।"[1] जगन्नाथ पंडितराज ने तो 'शब्दार्थ' को काव्य मानने वाले लोगों का खंडन भी किया है, तथा यह दलील पेश की है कि हम कई बार इस तरह की उक्तियों का प्रयोग करते हैं कि 'हमने काव्य सुना, पर अर्थ न जान पाये' ( काव्यं श्रुतं अर्थो न ज्ञातः ), इससे यह स्पष्ट है कि काव्य कुछ नहीं शब्दविशेष ही है, अतः काव्य के लक्षण में उसी का व्यवहार करना उपयुक्त है। यही कारण है पंडितराज ने रमणीयार्थकप्रतिपादक शब्द को काव्य कहा।[2] काव्य की की इन समस्त परिभाषाओं में 'शब्दार्थ' में काव्यत्व मानने की परिभाषा अधिक तर्कसंमत तथा वैज्ञानिक जान पड़ती है। वस्तुतः शब्द और अर्थ दो होते हुए भी एक हैं, वे एक ही सिक्के के उन दो पहलुओं की तरह हैं, जिन्हें अलग-अलग करना असंभव है। उन दोनों में परस्पर घनिष्ठ अन्वय व्यतिरेक संबंध है। इसीलिए तो कालिदास ने वाक् ( शब्द ) तथा अर्थ को एक दूसरे घनिष्ठतया संपृक्त कहा था।

आचार्यों के समक्ष दूसरा प्रश्न काव्य के प्रयोजन के विषय में था। हम काव्य का अध्ययन क्यों करते हैं, कवि काव्य के प्रणयन में क्यों प्रवृत्त होता है ? भामह के मतानुसार "सत्काव्य का अनुशीलन चतुर्वर्ग में विचक्षणता, कलाओं में प्रीति तथा कीर्ति करने वाला होता है।"[3] मम्मट के मतानुसार काव्य का लक्ष्य 'कान्तासम्मित उपदेश' देना होता है, जो वेदों के प्रभुसंमित उपदेश तथा पुराणेतिहास के मित्रसंमित उपदेश से विलक्षण होता है।[4] इस प्रकार आचार्यों के मत से काव्य का लक्ष्य रसानुभूति के माध्यम से 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इस मंतव्य के द्वारा सत्कर्म में प्रवृत्ति तथा असत्कर्म से निवृत्ति का उपदेश देना है। पाश्चात्य कलावादियों की तरह कोरा मनोरंजन

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रसगंगाधर पृ० २

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिंकीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ —भामह १, २

४. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे। —काव्यप्रकाश १, २

हमारे किसी आचार्य ने काव्य का लक्ष्य नहीं माना, यद्यपि हमारे आचार्यों ने रसानुभूति को काव्य में कम महत्त्व नहीं दिया है।

काव्य के संबंध में एक तीसरा प्रश्न यह उठता है कि काव्य में ऐसा कौन सा तत्त्व है, जो उसमें चारुता का समावेश करता है, जिसके कारण काव्य गत 'शब्दार्थ' लौकिक 'शब्दार्थ' से विलक्षण हो श्रोता को चमत्कृत करते हैं? यह ऐसा जटिल प्रश्न था, जिसे भारत के आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से सुलझाने की चेष्टा की है, तथा इस प्रश्न का इतिहास ही खास तौर पर भारतीय साहित्यशास्त्र का इतिहास है। इसी प्रश्न को सुलझाते समय आचार्यों ने रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार, शय्या, वृत्ति, पाक आदि कई काव्य तत्त्वों की कल्पना की, तथा काव्य के प्रत्येक उपकरण की सूक्ष्म मीमांसा की। इन्हीं में से किसी न किसी एक या दो या अनेक को तत्तत् आचार्यों ने काव्य की चारुता का हेतु माना। चारुता या सौंदर्य की विभिन्न कोटिक मान्यता के ही आधार पर भारतीय साहित्यशास्त्र में कई संप्रदाय देखे जाते हैं। वैसे तो इनमें से कुछ संप्रदाय स्वतंत्र न होकर अन्यान्य संप्रदायों के ही अवांतर प्ररोह हैं, किंतु विद्वानों ने सात साहित्यिक संप्रदायों का संकेत किया है:- (१) रस-संप्रदाय, (२) अलंकार संप्रदाय, (३) रीति गुण संप्रदाय, (४) वक्रोक्ति संप्रदाय, (५) ध्वनि संप्रदाय, (६) औचित्य संप्रदाय, तथा (७) चमत्कार संप्रदाय।[1]

---

१. डॉ० एस० के० दे ने प्रथम पाँच संप्रदायों को ही माना है।—दे० दे: हिस्ट्री आव संस्कृत पोयटिक्स भाग २। म० म० डॉ० काणे ने भी अपनी संस्कृत 'हिस्ट्री आव संस्कृत पोयटिक्स' में केवल इन्हीं पाँच सिद्धांतों का संकेत किया है।—(दे० काणे: हि० सं० पो० पृ० ३४०–३७२) पं० बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में छः संप्रदायों का वर्णन किया है। वे औचित्य को भी एक 'प्रस्थानभेद' मानना पसंद करते हैं। (दे० भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खंड पृ० २३७) पूर्वोक्त पाँच सिद्धांतों के अतिरिक्त डॉ० वी० राघवन् ने औचित्य तथा चमत्कार दो नये सिद्धांतों या संप्रदायों का संकेत किया है।—दे० Some Concepts of Alankara Sastra.

(१) रससम्प्रदायः—रससम्प्रदाय सबसे पुराना सम्प्रदाय है। रससिद्धांत का उद्भावक, राजशेखर के मतानुसार, नंदिकेश्वर था। उपलब्ध साहित्य के आधार पर हम नाट्याचार्य भरत को ही रस सिद्धांत का भी आदि आचार्य कह सकते हैं। भरत का समय निश्चित नहीं हो पाया है, किंतु यह निश्चित है कि भरत कालिदास से पूर्व थे, संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र का काल विक्रम की दूसरी शती है। भरत ने ८ या ९ नाट्यरसों का वर्णन किया है,[1] तथा रसनिष्पत्ति की सामग्री का भी अपने प्रसिद्ध सूत्र में संकेत किया है:—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (नाट्यशास्त्र ६, ३१)। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भरत ने रससिद्धांत का पूर्ण विवेचन किया है। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि भरत का रस-सिद्धांत दृश्य काव्य तक ही सीमित था। श्रव्य काव्य में यह आनंदवर्धन के समय तक पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पा सका। भामह को भरत के रस-सिद्धांत का पूरी तरह पता था, किंतु वह इसे श्रव्य काव्य के लिए अत्यावश्यक नहीं मानता जान पड़ता। यह कहना कि भामह को रसनिष्पत्ति, उसके उपकरणों विभावादि, तथा तत्तत् रसों का पता ही न था, उद्भावक की वैचारिक अपरिपक्वता का संकेत करेगा। भामह ने स्पष्ट रूप में 'रसवत्' अलंकार के प्रकरण में 'रस' तथा 'शृंगारादि' शब्द का प्रयोग किया है, पर वह 'रस' प्रवणता को श्रव्यकाव्य में अलंकार ही घोषित करता है।[2] भामह के मत से काव्य की प्रत्येक चारुता अलंकार की संज्ञा से अभिहित की जा सकती थी। यह कहना कि भामह ने 'रस' को मान्यता ही नहीं दी है,

---

१. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता,॥

—नाट्यशास्त्र ६, १५

भरत की इस कारिका में आठ ही रसों का संकेत मिलता है। बाद के कई आचार्यों ने इसी मत को माना है (दे० धनंजय—दशरूपक)। अभिनवगुप्त ने भरत के ही आधार पर 'अभिनव-भारती' में शांत रस को भी नवाँ रस माना है, तथा 'शांतोऽपि नवमो रसः' पाठ माना है।

(दे०—अभिनवभारती ६, १५)

२. रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसम् यथा। —काव्यालंकार ३, ६

उसने रस का निषेध किया है, बहुत बड़ी भ्रांति होगी। यह दूसरी बात है कि भामह को रसनिष्पत्ति से संबद्ध उन सिद्धांतों का पता न था, जो लोल्लट, शंकुक या अन्य परवर्ती व्याख्याकारों के द्वारा पल्लवित किये गये। भामह ने काव्य में सबसे अधिक महत्त्व 'वक्रोक्ति' या 'अतिशयोक्ति' को दिया था, जो समस्त अलंकारों का जीवित है।

दण्डी के काव्यादर्श में तो रस सिद्धांत का और अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है। दण्डी ने तो माधुर्य गुण में 'रस' का समावेश कर उसे भामह से अधिक महत्त्व दिया है।[1] 'रसवत्' अलंकार के प्रकरण में दण्डी ने स्पष्टतः इस बात का संकेत किया है कि तत्तत् भाव जब 'रस' बन जाते हैं, तो वहाँ 'रसवत्' अलंकार होता है।[2] दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद की २८०-२९१ कारिकाओं में 'रसवत्' अलंकार का विश्लेषण करते हुए भरत के आठ रसों तथा उनके तत्तत् भावों के नामों का उल्लेख किया है। जहाँ तक माधुर्य गुण के शब्द ( वाचि ) तथा अर्थ ( वस्तुनि ) में स्थित रहने का प्रश्न है, हृदयंगमा टीका का यह संकेत है कि शब्दगत या वाक्यगत रस शब्दार्थ में ग्राम्यदोष के अभाव के कारण होता है तथा रसवत् अलंकार के रूप में निर्दिष्ट अष्टरसायत्त 'रस' अलंकार होता है। इस प्रकार उसने माधुर्य के संबंध में कहे गये 'रसवत्' शब्द को अलंकार के लिए प्रयुक्त 'रसवत्' शब्द से भिन्न बताया है।[3] जहाँ तक रसनिष्पत्ति का प्रश्न है, दण्डी ने कोई संकेत नहीं किया, वैसे 'रतिःशृंगारतां गता' इस पंक्ति से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि दण्डी भी लोल्लट की भाँति शृंगारादि को रत्यादि भाव का कार्य मानते हैं।[4] भामह की भाँति दण्डी भी 'रस' को अलंकार के रूप में काव्य में गौण स्थान देते हैं।

---

१. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।—काव्यादर्श १, ५१

२. प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः॥ —काव्यादर्श २, २८१

३. माधुर्यगुणे प्रदर्शितः शब्दार्थयोरग्राम्यदोषतया जातो रसो वाक्यस्य भवति, अलंकारतया निर्दिष्टं रसवत्त्वं अष्टरसायत्तम्।

—हृदयंगमा टीका पृ० १६७

४. De : Sanskrit Poetics Vol. II p. 140.

बाद के आलंकारिकों ने तो 'रस' का स्पष्ट संकेत किया है, यह दूसरी बात है कि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसमें 'अलंकारत्व' ही माना 'काव्यात्मत्व' नहीं। उद्भट ने भामह की ही भाँति 'रसमय' काव्य में 'रसवत्' अलंकार ही माना है। यह अवश्य है कि उसने भाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी, विभाव जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग भामह तथा दण्डी ने नहीं किया है।[1] प्रो० याकोबी ने एक बार इस मत का प्रदर्शन किया था कि उद्भट ने ही सर्वप्रथम 'रस' को काव्य की आत्मा घोषित किया है। यह एक भ्रांत मत था[2], जो कर्नल जैकब के काव्यालंकारसारसंग्रह के संस्करण में उपलब्ध एक (प्रक्षिप्त) श्लोक के आधार पर प्रकाशित किया गया था।

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्॥

निर्णयसागर तथा बड़ौदा संस्करणों में यह कारिका नहीं मिलती। निर्णयसागर संस्करण में यह प्रतिहारेंदुराज की टीका में किन्हीं लोगों के मत (तदाहुः) के रूप में उद्धृत है। रुद्रट ने काव्यालंकार के आरंभ में ऐसे कवियों की प्रशंसा की है, जिन्होंने रसमय काव्य की रचना से कीर्ति प्राप्त की है। अपने ग्रंथ के बारहवें अध्याय में रुद्रट ने शान्त तथा प्रेय इन दो रसों को भारत के आठ रसों के साथ जोड़कर १० रसों का उल्लेख किया है।[3] उसने शृंगार का विस्तार से वर्णन किया है, तथा नायक-नायिका भेद का भी उल्लेख किया है।[4] तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में रुद्रट ने क्रमशः संभोग तथा विप्रलंभ नामक शृंगार भेदों का विवेचन किया है। इस प्रकार रुद्रट ने चाहे 'रस' को काव्यात्म घोषित न किया हो, रस-सिद्धांत की पूर्ण विवेचना की है।

---

५. देखिये—अलंकारसारसंग्रह १. २-३
(बड़ौदा संस्करण पृ० ३२, ३३)

६. De : Sanskrit Poetics Vol. II p. 141-42.

१, शृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शांतः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥ —काव्यालंकार १२,३

२. वही १२. ८–९, १२. १७, १२. ४१

वामन तथा कुंतक जैसे अन्य सिद्धांतशास्त्री भी 'रस' को मान्यता देते हैं, तथा अपने सिद्धांत का कोई न कोई अंग मानते हैं। वामन ने 'रस' को अधिक महत्त्व तो नहीं दिया है, किंतु उसे काव्य के नित्य धर्मों में माना है। उसके मतानुसार 'रस' कांति गुण में समाविष्ट हो जाता है।[1] इस प्रकार एक दृष्टि से वामन की रससंबंधी धारणा भामह तथा दण्डी की धारणा से कहीं बढ़कर है—वामन 'रस' को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं, जब कि भामह व दण्डी के लिए वह नित्य धर्म न होकर अलंकारों में से अन्यतम था। कुंतक के समय तक तो 'रस' की पूर्ण प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। आनंदवर्धन 'रस' की महत्ता घोषित कर चुके थे। कुंतक ने 'रस' को अपनी 'वक्रोक्ति' का ही एक प्रकार विशेष माना। कुंतक ने दो स्थानों पर 'रस' के संबंध में विचार प्रकट किये हैं। 'रसवत्' के अलंकारत्व का निषेध करते हुए तृतीय उन्मेष में उन्होंने भामह तथा दण्डी का खंडन किया है, तथा उसका अलंकार्यत्व घोषित किया है।[2] चतुर्थ उन्मेष में कुंतक ने प्रकरणवक्रता के अंतर्गत 'रसवक्रता' का समावेश किया है। वक्रोक्तिजीवित के हिंदी व्याख्याकार विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि ने इस प्रकरण की कारिका को निम्न रूप में पुनर्निर्मित किया है:—

यत्रांगिरसनिस्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते।
पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यः सांगादेः कापि वक्रता॥ (४. १०)

"जहाँ काव्य में प्रकरणों के अन्य पूर्व या उत्तर अंगों के द्वारा अनिष्पाद्य ऐसी अपूर्व चमत्कृति पाई जाय, जो अंगी रस के निस्यन्द

---

१. दीप्तरसत्वं कांतिः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३, २, १५

२. अलंकारो न रसवत्। रसवदिति योऽयमुत्पादितप्रतीतिर्नामालंकारस्तस्य विभूषणत्वं नोपपद्यत इत्यर्थः। कस्मात् कारणात्—'स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात्'। वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यत् स्वरूपमात्मीयः परिस्पन्दः, तस्मादतिरिक्तस्यात्यधिकस्य परस्याप्रतिभासनात् अनवबोधात्', तदिदमत्र तात्पर्यं—यत् सर्वेषामेवालंकाराणां सत्कविवाक्यगतानामिदमलंकार्यमिदमलंकरण इत्यपोद्धारविहितो विविक्तभावः सर्वस्य प्रमातुश्चेतसि परिस्फुरति। रसवत् इत्यलंकारवद्वाक्ये पुनरवहितचेतसोऽपि न किंचिदेतदेव बुध्यामहे।

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ३३८

की कसौटी हो, (अर्थात् जो अंगी रस के विलक्षण आस्वाद के कारण होती हो), वहाँ उस प्रकरण के अंगादि की भी अपूर्व वक्रता दिखलाई पड़ती है, ऐसी वक्रता भी प्रकरण वक्रता का एक प्रकार-विशेष है।''

ध्वनि सिद्धांत की उद्भावना के कारण 'रस' को काव्य में अपना उचित स्थान दिया गया। आनंदवर्धन ने प्राचीन आचार्यों के द्वारा 'रस' की अवहेलना करने का खंडन किया तथा अपने ध्वनिभेदों में 'रसध्वनि' को काव्य का जीवित घोषित किया। यद्यपि आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा माना है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः), तथापि वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि दोनों को ध्वनि के तीसरे प्रकार-रसध्वनि-का उपस्कारक मानकर रसध्वनि की प्रधानता घोषित की है। अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में आनन्दवर्धन के इस अभिमत को स्पष्टतः संकेतित किया है।[1] ध्वनि संप्रदाय के बाद के सभी आचार्यों ने रस को काव्य में यही स्थान दिया है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ जैसे आलंकारिक आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के ही मत को मानते हैं।

ऊपर हमने 'रस' के संबंध में आलंकारिकों में क्या धारणा रही है, इसका संकेत किया। रस-सम्प्रदाय के शुद्ध मतानुयायियों में भरत-सूत्र के व्याख्याकार आते हैं। भरत के 'रसनिष्पत्ति' संबंधी सूत्र की कई प्रकार की व्याख्याओं का संकेत आलंकारिकों ने किया है। अभिनवगुप्त ने 'भारती' में अपने पूर्व के आचार्य लोल्लट, शंकुक तथा भट्ट नायक के रसनिष्पत्ति संबंधी मत का संकेत किया है, तथा उनका खंडन कर अपने नवीन मत की प्रतिष्ठापना की है। मम्मट[3] ने इन्हीं

---

१. उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वने र्जीवितत्वं सूचयति। —लोचन पृष्ठ १२.

(साथ ही) रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते। —पृष्ठ २७.

ध्वन्यालोक—लोचन (निर्णयसागर संस्करण)

२. देखिये—अभिनवभारती, अध्याय छः,

३. काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास पृ० ९१–१०२ (प्रदीप संस्करण, पूना)

चारों मतों का उल्लेख अपने काव्यप्रकाश में किया है। पंडितराज जगन्नाथ रसनिष्पत्ति के संबंध में कुछ अन्य मतों का भी संकेत करते हैं और उनके अनुसार भरतसूत्र की अन्य प्रकार की व्याख्यायें भी पाई जाती हैं। वे रसनिष्पत्ति संबंधी ग्यारह मतों का उल्लेख करते हैं।[1] यहाँ हम रससिद्धांत के संबंध में प्रचलित प्रसिद्ध चार मतों की ही रूपरेखा देंगे।

लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के कोई भी ग्रंथ नहीं मिलते। लोल्लट तथा शंकुक संभवतः भरत के व्याख्याकार थे। भट्टनायक के एक ग्रंथ 'हृदयदर्पण' का नाम भर सुना जाता है, पर यह भरत की व्याख्या थी, या स्वतंत्र ग्रंथ इस विषय में दो मत हैं। डॉ० एस० के० डे ने इसे स्वतंत्र ग्रंथ माना है, जिसका विषय महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' की तरह 'ध्वनिध्वंस' रहा होगा। डे ने इस मत का प्रकाशन व्यक्तिविवेक के टीकाकार रुय्यक की साक्षी पर किया जान पड़ता है।[2] म० म० डॉ० काणे का मत है कि भट्ट नायक की इस रचना का नाम केवल 'हृदय-दर्पण' न होकर 'सहृदयदर्पण' था।[3] लोल्लट का रससंबंधी मत साहित्य में 'उत्पत्तिवाद' के नाम से विख्यात है। मीमांसक लोल्लट के मतानुसार विभावादि रस के कारण (उत्पादक) हैं, रस विभावादि का कार्य (उत्पाद्य)। इस प्रकार वे 'संयोगात्' का अर्थ 'उत्पाद्य-उत्पादकभावसंबंधात्' तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'उत्पत्तिः' करते हैं। लोल्लट रस की स्थिति नट या सामाजिक के हृदय में नहीं मानते। उनके मत से रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य रामादि में ही होती है। यद्यपि नट रामादि नहीं है, तथा जैसे शुक्ति को देखकर रजत की भ्रांति होती है, वैसे ही सामाजिक को नट में रामादि की भ्रांति होती है। शंकुक तथा अभिनवगुप्त ने लोल्लट के मत में यह दोष बताया है कि प्रथम तो रस तथा विभावादि में कार्यकारणभाव नहीं, यदि ऐसा होता है; तो जैसे मृत्तिका के बाद भी घट का अस्तित्व रहता है, वैसे ही विभावादि के हट जाने पर भी रस बना रहना चाहिए। किंतु रसानु-

---

१. रसगंगाधर पृष्ठ २६–३४.

२. दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि। —व्यक्तिविवेक पृ० ६

३. Kane : History of Sanskrit Poetics p. 187. (1951 Edition)

भूति में ऐसा नहीं होता; दूसरे यदि सामाजिक को रसास्वाद नहीं होता, तो वह नाटकादि के प्रति क्यों प्रवृत्त होता है।[1]

नैयायिक शंकुक के मतानुसार विभावादि रस के 'अनुमापक' हैं रस 'अनुमाप्य'। इस प्रकार शंकुक के मत से 'संयोगात्' का अर्थ है 'गम्यगमकभावरूपात्' ( अनुमाप्यानुमापकभावरूपात् ) तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ है 'अनुमितिः'। भाव यह है, जैसे हम पर्वत में धुआँ देखकर आग का अनुमान कर लेते हैं, वैसे ही नट में रामादि के से अनुभावादि देखकर चित्रतुरगादिन्याय से रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार शंकुक भी रस वास्तविक रामादि अनुकार्य में ही मानता है, नट या सामाजिक में नहीं, किंतु लोल्लट से इस मत में इतनी-सी विशिष्टता पाई जाती है कि वह रस सामाजिकों में नहीं होते हुए भी उनकी वासना के कारण उनका चर्वणागोचर बनता है।[2] शंकुक के मत में यह खास दोष है कि वह रस को अनुमितिगम्य मानता है, जब कि रस प्रत्यक्ष प्रमाण संवेद्य है। साथ ही नटादि में जो अनुभावादि दिखाई देते हैं, वे तो कृत्रिम हैं, अतः कृत्रिम अनुभावादि से 'राम सीताविषयकरतिमान् है' यह अनुमान करना ठीक उसी तरह होगा, जैसे कोई कुज्झटिका ( कुहरे ) को धुआँ समझकर आग का अनुमान करने लगे।

भट्ट नायक के मत से रस भोज्य है, विभावादि भोजक। उसके मतानुसार विभावादि तथा रस में परस्पर 'भोज्यभोजकभावसंबंध' है तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'रसकी भुक्ति'। भट्ट नायक के अनुसार काव्य में 'अभिधा' व्यापार के अतिरिक्त दो व्यापार और भी पाये जाते हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। भावकत्व व्यापार रामादि पात्रों को साधारणीकृत कर देता है तथा भोजकत्व व्यापार सामाजिक के सत्त्व गुण का उद्रेक कर रस की भुक्ति कराता है। अभिनवगुप्त ने भट्ट नायक के रस-सिद्धांत में यह दोष निकाला है कि उसने दो ऐसे नवीन व्यापारों की कल्पना की है, जिसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता।

---

१. "....स्थायी रत्यादिको भावो जनित...रामादावनुकार्ये तद्रूपकानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः। —पृ० ६१-६२

२. "...तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति शंकुकः।
—काव्यप्रकाश पृ० ९४

अभिनवगुप्त ने रस की समस्या को दूसरे ढंग से सुलझाया है ध्वनिसिद्धांत के द्वारा सम्मत व्यंजना शक्ति को ही उन्होंने रसानुभूति का साधन माना है। वे रस को व्यंग्य तथा विभावादि को व्यंजक मानते हैं। अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य वृत्ति से अतिरिक्त वृत्ति व्यंजना के द्वारा काव्यवाक्य या नाट्याभिनय से रसाभिव्यक्ति होती है। अभिनव 'संयोगात्' का अर्थ 'व्यंग्यव्यंजकभावसंबंधात्' तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'अभिव्यक्तिः' करते हैं। इनके मत से रसानुभूति सामाजिक को ही होती है। सामाजिक के मानस में रत्यादि भाव वासना या प्राक्तन संस्कार के रूप में छिपे पड़े रहते हैं। जिस तरह नये सकोरे में जल डालने पर उसमें से मृत्तिका की गंध अभिव्यक्त होती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, न पानी ही उसे उत्पन्न करता है, ठीक वैसे ही जब सहृदय काव्य सुनता है, पढ़ता है या नाटकादि का अवलोकन करता है, तो उसके मानस में वासनात्मतया स्थित रत्यादि भाव रसरूप में व्यक्त हो जाता है। यह रस विभावादि का कार्य नहीं है, न वे इसके कारक या ज्ञापक कारण ही हैं। रस लौकिक भावानुभव से भिन्न है तथा परिमित अथवा परिमितेतर योगियों के संवेदन (ज्ञान) से भिन्न है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की तरह रस के लिए विभावादि का साधारणीकरण आवश्यक माना है।[1] मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अभिनवगुप्त के ही रससंबंधी मत को मान्यता दी है। पंडितराज जगन्नाथ ने रसनिष्पत्ति के संबंध में एक नवीन उद्भावना का संकेत अवश्य किया है। वे इसे नव्य आचार्यों का मत बताते हैं। इनके मत से सामाजिक के हृदय में अपने आपको दुष्यंत समझने की भावना (एक दोषविशेष) पैदा हो जाती है। इस भावना के कारण कल्पितदुष्यंतत्वके द्वारा अवच्छादित अपने आप में शकुंतलाविषय रत्यादि भाव उद्‌बुद्ध होकर रसत्व प्राप्त करता है।[2]

---

१. रससिद्धांत के इन चारों मतों के कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन के लिए— दे० भोलाशंकर व्यास—हिंदी दशरूपक (भूमिका पृ० ३८, ४१)। अभिनवगुप्त की रससंबंधी मान्यता के विषय में विशेष ज्ञान के लिए दे०— 'भोलाशंकर व्यासः रसानुभूति पर अभिनवगुप्त तथा आचार्य शुक्ल' (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५९ अंक ३—४, पृष्ठ २३३, २५६)।

२. रसगंगाधर पृष्ठ ३०

रसके विषय में बाद के आलंकारिकों में भोज, शिंग भूपाल, भानुदत्त तथा रूप गोस्वामी का नाम खास तौर पर लिया जा सकता है। भोज को यद्यपि रीति संप्रदाय का भी आचार्य माना जाता है, तथापि रस के विषय में भोज ने नवीन मत उपन्यस्त किया है। उसने शृंगार को ही एक मात्र रस माना है, तथा अन्य रसों को इसी का विवर्त घोषित किया है:—

शृंगारहास्यकरुणाद्भुतरौद्रवीरबीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥[1]

भोज ने रसानुभूति की स्थिति को आत्मस्थित 'अहंकार' का अनुभव माना है।[2] शिंगभूपाल में अपने विशाल ग्रंथ 'रसार्णवसिंधु' में रस के अंग प्रत्यंग पर विशद रूप से विचार किया है। भानुदत्त की 'रसमंजरी' रस के नायक नायिका भेद परक अंग पर प्रसिद्ध ग्रंथ है, तथा उसका दूसरा ग्रंथ 'शृंगारतरंगिणी' है, जिसमें रस के विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा संचारी का विवेचन मिलता है। इन तीनों आलंकारिकों में एक भोज ही ऐसे हैं, जिनको आचार्य कहा जा सकता है।

रूप गोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृत सिंधु में एक नये रसकी प्रतिष्ठापना की है:—भक्तिरस या मधुर रस। इसको उन्होंने 'रसराज' घोषित किया है।[3] गोस्वामीजी ने शृंगार रसका परमोत्कर्ष इसी मधुर रस में माना है:—अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। (उज्ज्वल० का० ११) इसका स्थायी भाव वे 'मधुरा रति' मानते हैं:— 'स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रतिः'। इस मधुर रस की सबसे

---

१. Dr. V. Raghavan : Bhoja's Sringaraprakasa Vol. II p. 470.

२. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।
—वही p, 444

३. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥
उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४

बड़ी विशेषता यह है कि अन्य रसों में सात्त्विक भाव परमोत्कर्ष को नहीं प्राप्त होते, केवल इसी रूप में वे परमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। इस मधुर रस में कृष्ण के प्रति परकीया के रूप में रति करना उत्तम कोटि का माना गया है। अन्य आचार्यों ने परकीया प्रेम में रस न मानकर रसाभास माना है, किंतु गोस्वामीजी ने एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार परकीया रति का अंगी रस के रूप में निर्बंधन आचार्यों ने लौकिक शृंगार के विषय में मना किया है, कृष्ण-परक परकीया रति के विषय में यह मत लागू नहीं होता

नेष्टं यदंगिनि रसे कविभिः परोढा तद्‌गोकुलांबुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रतिविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमंडलशेखरेण॥

गोस्वामी जी के रससंबंधी मत का साहित्य में गौण महत्त्व ही है, और इसी लिए डॉ॰ दे ने कहा है कि 'यह ग्रंथ वस्तुतः वैष्णव धर्म का प्रबंध है, जिसे साहित्यिक भूमिका में उपस्थित किया गया है।''[1]

(२) अलंकार सम्प्रदाय:—अलंकार शब्द का ठीक इसी रूप में प्रयोग बहुत बाद से मिलता है, किंतु हमें ऋग्वेद में 'अरंकृति' शब्द का प्रयोग मिलता है[2], जो 'अलङ्कृति' का वैदिक रूप है। ब्राह्मण तथा निघण्टु में 'अलंकरिष्णु' का प्रयोग मिलता है। रुद्रदामन के शिलालेख में इस बात का संकेत है कि साहित्यिक गद्य पद्य का अलंकृत होना आवश्यक है। अलंकारों की मान्यता का सबसे पहला संकेत भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत ने ४ अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। भरत ने ३६ लक्षणों का संकेत भी किया है। लक्षणों का ज्ञान हमें अलंकारों के विकास को में जानने में मदद कर सकता है। भरत के इन ३६ लक्षणों में हेतु, लेश तथा आशीः को बाद के कई आचार्यों ने अलंकार मान लिया है। भामह ने हेतु तथा लेश को अलंकार मानने वाले मत का खंडन किया है, किंतु आशीः को भामह ने भी अलंकार माना है। दण्डी ने इन तीनों को अलंकार माना है। बाद के आलंकारिकों ने

---

१. De : Sanskrit Poetics p. 336.

२. का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा ते मघवन् दाशेम।

—ऋग्वेद ७. २९. ३

आशीः को अलंकार नहीं माना है, पर अन्य दो को मान्यता दी है। अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में भी हेतु तथा लेश नामक अलंकार हैं। वैसे तो भरत के लक्षणों में संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, निरुक्त तथा अर्थापत्ति ये पाँच लक्षण और ऐसे पाये जाते हैं, जिनका नामतः संदेह, दृष्टान्त, निदर्शना, निरुक्त तथा काव्यार्थापत्ति (अर्थापत्ति) से संबंध दिखाई पड़ता है, पर इनमें प्रथम चार, संदेहादि अलंकारचतुष्टय से भिन्न हैं। अर्थापत्ति तथा काव्यार्थापत्ति दोनों एक ही है, तथा भरत के यहाँ यह लक्षण है, बाद के आचार्यों ने इसे अलंकार मान लिया है। भरत तथा परवर्ती आचार्य दोनों ने इसे मीमांसकों से लिया है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस के अतिरिक्त गुण, अलंकार तथा दोष का भी उल्लेख किया है। वे १० गुण, ४ अलंकार तथा १० दोषों का संकेत करते हैं। ३६ लक्षणों में प्रथम लक्षण भूषण की परिभाषा में ही वे गुण तथा अलंकार का संकेत करते बताते हैं कि भूषण वह (वाक्य) है, जो गुणों तथा अलंकारों से अलंकृत हो तथा भूषण के समान चित्र (सुंदर) अर्थों से युक्त हो।[1] भरत ने उपमा के पाँच प्रकारों का संकेत किया है:—प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सदृशी, किंचित्-सदृशी।[2] रूपक तथा दीपक के भेदोपभेद का संकेत नहीं मिलता, किंतु यमक के दस प्रकारों का उल्लेख पाया जाता है।[3]

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह, उद्भट तथा दण्डी हैं, वैसे इनके साथ रुद्रट, प्रतीहारेन्दुराज तथा जयदेव का भी नाम लिया जा सकता है। दण्डी को कुछ विद्वान् अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य न मानकर रीति-गुण सम्प्रदाय का आचार्य मानना पसंद करते हैं।[4] डॉ० वी० राघवन् दण्डी को अलंकारसम्प्रदाय का ही आचार्य घोषित

---

१. अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥ —नाट्यशास्त्र १७-६

२. भरतः नाट्यशास्त्र १७. ५०

३. वही १७. ६३–६५

४. De : Sanskrit Poetics p. 95.

करते हैं।[1] अलंकारसम्प्रदाय के आचार्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य में अलंकारों को प्रधानता दी है तथा रस को भी अलंकार ही घोषित किया है। काव्य में अलंकारों की महत्ता बताते हुए भामह ने कहा है कि अलंकार काव्य की वास्तविक शोभा करने वाले हैं, जैसे रमणी का मुख सुंदर होने पर भी भूषारहित होने पर सुशोभित नहीं होता, ठीक वैसे ही काव्य भी रूपकादि अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होता :—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् (काव्यालंकार १. १३)। जैसा कि हम रससम्प्रदाय के सिद्धांतों का तुलनात्मक विवरण देते समय बता आये हैं भामह, दण्डी उद्भट तथा रुद्रट ने रस को 'रसवत्' अलंकार में सन्निहित कर दिया है।

भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में काव्यदोषों, गुणों व अलंकारों का विवेचन किया है। यद्यपि भामह 'गुण' शब्द का प्रयोग माधुर्य, प्रसाद तथा ओज के साथ नहीं करते, तथापि उन्होंने इन तीन गुणों का उल्लेख किया है।[2] भामह काव्य को अकाव्य (वार्ता) से अलग करने के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि उसमें सालंकारता हो। निर्भूष उक्ति को वे काव्य नहीं कहते। केवल तथ्यकथन को काव्य मानने का खण्डन करते तथा उसके काव्यत्व का निषेध करते वे कहते हैं:—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं, वार्तामेनां प्रचक्षते।
(२. ८७)

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चंद्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी घोसलों की ओर जा रहे हैं—इस प्रकार की उक्ति क्या काव्य (अथवा किकाव्य—कुत्सित काव्य) है? इसे 'वार्ता' कहा जाता है। (कुछ विद्वान् इसमें वार्ता नामक अलंकार मानते हैं)। यही कारण है, भामह ने

---

१. Really Dandin belongs to the Alankara School much more than Bhamaha.

—Raghavan : Some Concepts of Alankara Sastra p. 139.

२. काव्यालंकार २. १—२

काव्य में लोकातिक्रांतगोचरता आवश्यक मानी है, जिससे काव्य में चारुता का सन्निवेश होता है। भामह काव्य के लिए वक्रोक्ति ( अतिशयोक्ति ) को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, तथा उसी को समस्त अलंकारों का जीवितभूत मानते हैं।

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना॥ ( २. ८५ )

भामह ने वक्रोक्तिहीन तथाकथित अलंकारों को अलंकार नहीं माना है। इसी आधार पर वे सूक्ष्म, हेतु तथा लेश नामक अलंकारों का निषेध करते हैं,[1] जो भामह के पूर्ववर्ती किन्हीं आचार्यों ने माने हैं, तथा भामह के बाद भी दण्डी ने जिनकी अलंकारता सिद्ध की है। भामह के पूर्व भी कई आलंकारिक हो चुके होंगे और इसीलिए भामह ने काव्यालंकार में अलंकारों का कतिपय वर्गों में वर्णन कर 'अन्ये', 'केचित्' 'परे' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। भामह के इन वर्गों के विभाजन के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार अलंकारों का यह वर्ग विभाजन अलंकारों के क्रमिक विकास का संकेत करता है, दूसरे विद्वानों के मत से यह भामह की वर्णनशैली मात्र है और कुछ नहीं। भामह के ये वर्ग निम्न हैं:—

१. प्रथम वर्ग—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा[2]।

इसी वर्ग के अंतर्गत भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार का भी वर्णन किया है। इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा को अलग अलंकार मानने पर इस वर्ग में भामह छः अलंकारों का वर्णन करते हैं। विद्वानों का मत है कि यहाँ भरत के द्वारा सम्मत चार अलंकारों का वर्णन करना भामह को अभीष्ट है तथा अनुप्रास का वर्णन अधिक माना जा सकता है। इसी प्रकरण में भामह ने ७ उपमा दोषों का संकेत किया है तथा उपमा दोषों के संबंध में अपने से पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी का उल्लेख किया है।[3]

---

१. भामह: काव्यालंकार २, ८६

२. वही २, ४

३. त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।—वही २, ४०

२. द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, तथा अतिशयोक्ति[४]।

इसी प्रकरण में भामह ने अतिशयोक्ति ( या वक्रोक्ति ) की महत्ता का तथा सूक्ष्म, लेश एवं हेतु के अनलंकारत्व का उल्लेख किया है।

३. तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति।

भामह ने यथासंख्य के अन्य नाम संख्यान का उल्लेख करते हुए बताया है कि मेधावी इसे संख्यान कहते हैं। इसी वर्ग के अंत में भामह ने 'स्वभावोक्ति' को भी अलंकार माना है तथा बताया है कि कुछ विद्वान् स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। स्वभावोक्ति की परिभाषा देते हुए भामह ने बताया है कि 'स्वभाव' का अर्थ है अर्थ का तद्‌वस्थत्व ( अर्थस्य तद्‌वस्थत्वं स्वभावः )।

४. चतुर्थ वर्ग—प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त ( दो प्रकार का ), श्लेष ( त्रिप्रकार ), अपह्नुति, विशेषोक्ति, विशेष, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः।

इन २४ अलंकारों का वर्णन तृतीय परिच्छेद में किया गया है। भामह ने प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकारों का कोई लक्षण नहीं दिया है, केवल इनके उदाहरण देकर ही इन्हें स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। यथा,

> प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
> अद्य या मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते।
> कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥ ( ३, ५ )

भामह के इन अलंकारों में से कुछ बाद के आलंकारिकों की परिभाषाओं से मेल नहीं खाते। उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव दो अलंकार ऐसे हैं, जिनका बाद के आलंकारिकों ने निषेध किया है, वस्तुतः ये संकर अलंकार के ही भेद हैं। भामह संकर अलंकार को नहीं मानते। उनके संसृष्टि अलंकार में ही संकर का समावेश हो जाता है। अलं-

४. वही २, ६६

कारों के प्रकरण को समाप्त करते हुए भामह ने 'आशीः' को भी अलंकार माना है। बाद में दण्डी ने भी 'आशीः' का अलंकारत्व माना है, पर अन्य परवर्ती आलंकारिक 'आशीः' को अलंकार नहीं मानते। भामह के अनुसार 'कुछ विद्वानों ने आशीः को भी अलंकार माना है'। जहाँ प्रिय (सौहृदय्य) अविरुद्ध उक्ति का प्रयोग हो, वहाँ आशीः अलंकार होता है।[1] भामह ने इसके दो रमणीय उदाहरण दिये हैं, जिनमें प्रथम निम्न हैः—

> अस्मिन् जहीहि सुहृदि प्रणयाभ्यसूया
> माश्लिष्य गाढममु मानतमादरेण।
> विन्ध्यं महानिव घनः समयेऽभिवर्ष—
> न्नानन्दजैर्नयनवारिभिरुक्षतु त्वाम्॥

कोई सखी प्रणयकोपाविष्ट नायिका को मनाती कह रही है— 'हे सखि, पैरों पर गिरे इस नायक के प्रति प्रणयेर्ष्या को छोड़ दे, इसका आदर के साथ गाढ आलिंगन कर। आलिंगन से आनन्दित होकर यह आनन्दाश्रुओं से तुझे ठीक इसी तरह सींचे,जैसे समय पर वृष्टि करता महान् मेघ विन्ध्य पर्वत को सींचता है।'

भामह ने काव्यालंकार में ३९ अलंकारों का वर्णन किया है। इन्हीं में कुछ जोड़ कर और कुछ का निषेध कर दण्डी ने अलंकारों का वर्णन किया है। उद्भट भी प्रायः भामह के ही अलंकारों को मान्यता देता है। भामह, भट्टि, दण्डी, उद्भट तथा वामन सभी प्राचीन आलंकारिक प्रायः ३० और ४० के बीच काव्यालंकारों की संख्या मानते हैं। अलंकारों की संख्या का परिवर्धन सर्वप्रथम हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है।

भामह के बाद अलंकार सम्प्रदाय के दूसरे प्रधान आचार्य दण्डी हैं। दण्डी को वस्तुतः किस सम्प्रदाय का आचार्य माना जाय, इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। डॉ० सुशीलकुमार दे ने 'संस्कृत पोयटिक्स' में दण्डी को रीतिसम्प्रदाय के आचार्यों में स्थान दिया है तथा इस दृष्टि से उन्हें वामन का पुरावर्ती माना है। डॉ० राघवन् ने उन्हें

---

1. आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता।
सौहृदय्याविरुद्धोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा॥—काव्यालंकार ३, ५५

अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य माना है। यद्यपि डॉ० राघवन् ने यह भी कहा है कि दंडी ने गुण व रीति की कल्पना में भी कम हाथ नहीं बँटाया है फिर भी दंडी को अलंकार सम्प्रदाय का ही आचार्य मानना ठीक होगा। अलंकारों के विकास में दंडी का हाथ भामह से किसी भी अवस्था में कम नहीं है। दंडी का "काव्यादर्श" भामह के "काव्यालंकार" की भाँति 'संस्कृत साहित्यशास्त्र' के विकास में विशेष स्थान रखता है। काव्य के दस गुणों, श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि का सर्वप्रथम स्पष्ट विवरण देने वाले दण्डी ही हैं, यद्यपि इन गुणों का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है। गुणों के बाद दंडी ने काव्यमार्गों (रीति) का भी वर्णन करते हैं। अलंकारों का वर्णन दंडी ने दो परिच्छेदों में किया है। वे अलंकारों को शब्द तथा अर्थ दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं। शब्दालंकारों का वर्णन करते हुए दंडी ने यमक के भिन्न भिन्न प्रकारों का विशद रूप से वर्णन किया है। अर्थालंकारों के प्रति दंडी ने विशेष ध्यान दिया है तथा ३५ अर्थालंकारों की विवेचना की है। भेदोपभेद की दृष्टि से दंडी में मौलिक उद्भावनाएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए दंडी ने उपमा के ३२ भेद माने हैं। श्लेष तथा अतिशयोक्ति को दंडी ने अधिक महत्त्व दिया है। समस्त वाङ्मय को दंडी ने दो वर्गों में बाँटा है:—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति तथा इन्हीं में काव्य का सौंदर्य घोषित किया है।

अलंकार सम्प्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हैं। उद्भट के तीन ग्रंथों का संकेत मिलता है—भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या, भामह के काव्यालंकार की विवृति तथा काव्यालंकारसंग्रह। इनमें केवल अंतिम ग्रंथ ही उपलब्ध है, अन्य दो ग्रंथ नहीं मिलते। उद्भट ने यद्यपि भामह के अलंकार संबंधी विचारों का ही पल्लवन किया है, तथापि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों में उद्भट का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है। आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने उद्भट को ही अलंकार सम्प्रदाय का प्रतिनिधि आचार्य मानकर उसके मतों का उल्लेख किया है। उद्भट के काव्यसिद्धांतों में निम्न नवीनता पाई जाती है:—

(१) उसके काव्यालंकार में सर्वप्रथम परुषा, नागरिका तथा कोमला इन तीन काव्यवृत्तियों का संकेत मिलता है।

( २ ) अभिनवगुप्त के मत से उद्भट भी वामन की तरह ध्वनि को लक्षणा में ही अन्तर्भावित करते हैं।

( ३ ) रसवदादि अलंकारों के विषय में उद्भट भामह का ही अनुसरण करते हैं।

काव्यालंकार में उद्भट ने ४१ अर्थालंकारों का वर्णन किया है। इन अलंकारों में उद्भट ने कई स्थानों पर नये भेदों की कल्पना की है। उदाहरण के लिये उद्भट ने ४ प्रकार की अतिशयोक्ति मानी है। अनुप्रास के छेक, लाट तथा वृत्तिनामक भेदों का भी सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट में ही मिलता है।

अलंकार सम्प्रदाय के अन्य आचार्य रुद्रट हैं। वैसे रुद्रट 'रस-सिद्धांत' से भी प्रभावित हैं, तथापि उन्हें भी अलंकार सम्प्रदाय का ही आचार्य मानना ठीक होगा। उनका ग्रंथ 'काव्यालंकार' है। इसमें १६ परिच्छेद हैं, जिनमें लगभग १० परिच्छेदों में अलंकारों का ही विवेचन पाया जाता है। रुद्रट ने लगभग ६८ अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विभाजन की पृष्ठभूमि दी है। शब्दालंकारों में रुद्रट ने वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास तथा यमक का विवेचन किया है। अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा गया हैः—वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष। रुद्रट ने काव्य में अलंकारों को ही मुख्यता दी है, किंतु रस की सर्वथा अवहेलना नहीं की है। इसीलिये काव्यालंकार के दो परिच्छेदों में रस का विस्तार से वर्णन मिलता है।

अलंकार सम्प्रदाय का विवरण समाप्त करने से पहले इस सम्प्रदाय के पुनरुत्थान का थोड़ा उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। रस तथा ध्वनिसिद्धान्त के जोर पकड़ने पर अलंकार सिद्धांत कमजोर पड़ गया था। यह अवश्य है कि ध्वनिवादियों ने अलंकारों को अपनी सिद्धांतसरणि में अंतर्भावित कर लिया था। किंतु अब अलंकार काव्य के एकमात्र चमत्कारी उपकरण न रहकर, गौण उपकरण हो गये थे। इसीलिये मम्मटाचार्य ने अपनी काव्य की परिभाषा में अलंकारों को अनिवार्य न मानते हुए 'अलंकृती पुनः क्वापि' कहा था। ध्वनिवादियों ने अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना है। इस प्रकार अलंकारों का महत्त्व कम होने पर भी कुछ आचार्य ऐसे थे जो

काव्य में अलंकारों को रमणी के मेखलाकुण्डलादि के सदृश बाह्य शोभा विधायक मानने को उद्यत न थे। ये आचार्य पुराने अलंकार सम्प्रदाय के ही पोषक थे। हाँ, काव्य की आत्मा रस के विषय में इनका दृष्टिकोण भामह, दण्डी या उद्भट की अपेक्षा अधिक विशाल था। चन्द्रालोककार जयदेव में हमें अलंकार सम्प्रदाय के पुनरुत्थान की चेष्टा मिलती है। जयदेव के ही मार्ग का अनुसरण करनेवाले अप्पय दीक्षित हैं, किंतु अप्पय दीक्षित अलंकार सम्प्रदाय के उतने कट्टर अनुयायी नहीं जान पड़ते जितने जयदेव। जयदेव के मत से अलंकार काव्य के अनिवार्य गुण हैं, जिनके अभाव में काव्य अपने स्वाभाविक गुण से रहित हो जायगा। इसीलिये मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि 'अनलंकृत शब्दार्थ को भी काव्य माननेवाले ( मम्मट ) अग्नि को अनुष्ण ( उष्णतारहित ) क्यों नहीं मान लेते।'[1] जयदेव के मतानुसार काव्यगत शब्दार्थ तथा अलंकार का परस्पर ठीक वही संबंध है, जो अग्नि और उसकी उष्णता का। जयदेव का यह मत अधिक प्रचार न पा सका।

(३) रीति-सम्प्रदाय;—रीतिसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन माने जाते हैं, जिन्होंने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। किंतु रीति की कल्पना करने वालों में सर्वप्रथम वामन नहीं हैं। अलंकारों की भाँति ही रीति की कल्पना भी भामह एवं दंडी से भी पुरानी है, यह दूसरी बात है कि वे 'रीति' शब्द का प्रयोग न कर इसके लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं। रीति के विकास में हम तीन अवस्थाएँ पाते हैं, प्रथम स्थिति में रीति का संबंध भौगोलिक दृष्टि से किए गए साहित्यालोचन से था, द्वितीय स्थिति में रीति का यह संकुचित भौगोलिक अर्थ लुप्त हो गया और रीति का संबंध कतिपय काव्यगुणों से तथा प्रबन्ध ( विषय ) से स्थापित किया गया, तीसरी स्थिति रीति के विकास में वह है, जब कुंतक ने रीति की एक नवीन कल्पना की तथा उसे कवि का वैयक्तिक गुण घोषित किया।

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ —चन्द्रालोक

रीति के भौगोलिक विभाजन की कल्पना भामह से भी पुरानी है, क्योंकि भामह ने अपने समय में प्रचलित रीतिसंबंधी धारणा की आलोचना की है। वैसे भामह ने 'रीति' शब्द का व्यवहार नहीं किया है, पर वह "वैदर्भ" तथा "गौडीय" इन दो मार्गों का वर्णन अवश्य करते है। भामह ने इस मत का खंडन किया है कि इन मार्गों में से एक अच्छा हैं, दूसरा बुरा। वे कहते हैं—"यह काव्य गौडीय है, यह वैदर्भ है, यह उक्ति गतानुगतिक न्याय के कारण चल पड़ी है। इस तरह का नाना प्रकार का कथन मूर्खों की भेड़ियाधसान है।"[1] भामह के मतानुसार दोनों ही काव्य रचना के दो विभिन्न मार्ग हैं, तथा प्रत्येक में अपने निश्चित लक्षण विद्यमान हैं, अतः एक की प्रशंसा तथा दूसरे की निंदा करना ठीक नहीं। काव्य के उदात्त होने के लिए उसका अलंकार से युक्त होना, अर्थ्य, अग्राम्य, न्याय तथा अनाकुल होना आवश्यक है, इस तरह का गौडीय मार्ग भी ठीक है तथा इससे विरुद्ध वैदर्भ मार्ग भी अच्छा नहीं।[2] भामह के मतानुसार वैदर्भी के गुण अनतिपोष, अनतिवक्रोक्ति, प्रसाद, आर्जव, कोमल तथा श्रुति-पेशलत्व है।[3] भामह के समय में गौडी बड़ी हेय समझी जाती थी, इसका कारण यह था कि उसमें अक्षराडम्बर अत्यधिक पाया जाता था। गौडी की यही स्थिति दंडी के समय भी पाई जाती है।

दंडी ने 'काव्यादर्श' में गुणों तथा दोनों काव्यमार्गों का वर्णन किया है। भामह ने केवल तीन गुणों का उल्लेख किया है। दण्डी ने १० गुणों की कल्पना की है तथा बताया है कि वैदर्भी में ये दसों गुण पाये जाते हैं। ये दस गुण ही तत्तत् मार्ग (रीति) के नियामक हैं। दंडी गुण तथा मार्ग में अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित कर देते हैं। दंडी के द्वारा गुणों की समुचित प्रतिष्ठापना के कारण कुछ विद्वान् उन्हें 'रीति-गुण-सम्प्रदाय' का ही आचार्य मानते हैं किंतु दंडी को अलंकार संप्रदाय का ही आचार्य मानना विशेष

---

१. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भ मिति किं पृथक्।
　गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥—काव्यालंकार १, ३२

२. वही १, ३५

३. वही १, ३३

तर्कसंगत जान पड़ता है। दंडी ने गौडी रीति की निंदा की है, वे इसे अच्छा मार्ग नहीं मानते। इसी को वे पौरस्त्य काव्यपद्धति के नाम से भी अभिहित करते हैं। उनके मतानुसार इस काव्यपद्धति की विशेषता अनुप्रास तथा अर्थालंकारडम्बर है। दंडी इन दोनों विशेषताओं को श्लेष तथा समता का विरोधी मानते हैं, जो वैदर्भी के गुण हैं। दंडी इसी बात को यों कहते हैं।

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्। - काव्यादर्श १, ४४

× × ×

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरम्।
अवेक्ष्यमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः॥—वही १, ५०

आगे जाकर दंडी ने बताया है कि गौडों ने वैदर्भ मार्ग को पसंद नहीं किया कि क्योंकि उन्हें अनुप्रास बहुत प्यारा है।

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।—वही १, ५४

दंडी के बाद मार्गभेद का संकेत हमें बाण में मिलता है। बाण ने काव्य में चार प्रकार की पद्धतियों का संकेत किया है। हर्षचरित के प्रस्तावनाभाग में प्रसंगवश बाण ने भौगोलिक आधार पर चार काव्य मार्गों की विशेषताओं का उल्लेख किया है:—

"उत्तर के लोग श्लेषमय काव्य को अधिक पसंद करते हैं, पश्चिम के लोग केवल अर्थ को ही पसंद करते हैं, दक्षिण के लोगों में उत्प्रेक्षा अलंकार का विशेष प्रचार है, और गौड देश के लोगों को अक्षरडम्बर अधिक अच्छा लगता है।"[१]

किंतु बाण स्वयं उत्तम काव्य की पद्धति वह मानते हैं, जिसमें इन चारों मार्गों का समन्वय हो। तभी तो बाण कहते हैं कि "नवीन अर्थ, सुंदर (अग्राम्य) स्वभावोक्ति (जाति), अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस तथा विकट अक्षरों की संघटना एक साथ काव्य में मिलना दुर्लभ है।"[२]

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥ —हर्षचरित

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥ —हर्षचरित।

रीति के इतिहास में वामन का प्रमुख स्थान है। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति को काव्य की आत्मा उद्घोषित किया। उनके अनुसार रीति का अर्थ है 'विशिष्ट पद रचना।'

रीतिरात्मा काव्यस्य। —काव्यालंकारसूत्र २, ६
विशिष्टपद्रचना रीतिः॥ —वही २, ७

वामन ने गुणों को शब्द गुण तथा अर्थ गुण के रूप में विभक्त किया है। उन्होंने बताया है कि गुणों का रीति से घनिष्ठ संबंध है। गुणों तथा अलंकारों का भेद बताते हुए वामन ने कहा है कि गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, तथा काव्य शोभा के कारक हेतु हैं, जब कि अलंकार उस शोभा के बढ़ाने वाले हैं।[1] वामन ने शब्दगुणों की अपेक्षा अर्थगुणों को अधिक महत्त्व दिया है तथा बताया है कि रीति अर्थगुणों के ही कारण उत्कर्ष को प्राप्त होती है। अर्थगुण ही काव्य को रसमय बनाते हैं। इसीलिए वामन ने 'कान्ति' गुण में 'रस' का समावेश करते हुए कांति गुण वहाँ माना, जहाँ रस की उद्दीप्ति हो।[2] वामन भी वैदर्भी को ही उत्तम काव्यरीति मानते हैं, किंतु दण्डी की भाँति गौडी को बुरा नहीं मानते। वामन के मतानुसार गौडी में भी वैदर्भी के सारे गुण पाये जाते हैं। हाँ, वैदर्भी के माधुर्य तथा सौकुमार्य वहाँ न पाये जाकर उनके स्थान पर समासबाहुल्य तथा उज्ज्वलपदत्व पाये जाते हैं, जिन्हें हम ओज तथा कांति शब्दगुणों का प्राचुर्य कह सकते हैं। वामन ने वैदर्भी तथा गौडी के अतिरिक्त पांचाली नामक तीसरी रीति की भी कल्पना की है। इस रीति को वैदर्भी तथा गौडी का मिश्रण कहा जा सकता है। वामन ने इन तीनों रीतियों में वैदर्भी की ही प्रशंसा की है तथा कवियों को उसी का प्रयोग करने की सलाह दी है, क्योंकि उसमें समस्त गुण पाये जाते हैं, जब कि पांचाली तथा गौडी में कतिपय गुण ही पाये जाते हैं।[3] गुणों की स्फुटता के कारण ही काव्य में परिपक्वता आती है और यह परिपक्वता आम्र की परिपक्वता की

---

१. काव्यालंकार सूत्र ३. १. १–२

२. दीप्तरसत्वं कान्तिः। —वही ३. २. १५

३. तासां पूर्वा ग्राह्या। गुणसाकल्यात्। न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्। —वही १. २. १४–१५

गुणों के विषय में एक नवीन धारणा को भी जन्म दिया है। पंडित-राज जगन्नाथ ने मम्मट की पद्धति का अनुसरण न कर पुनः वामन के बीस गुणों—१० शब्दगुण तथा १० अर्थगुण—की कल्पना को पुष्ट किया है। वे 'जरत्तरों' (प्राचीनों के गुण संबंधी मत का उल्लेख कर तदनुरूप ही २० गुणों का विवेचन करते हैं।[1]

शिंग भूपाल ने रीति की परिभाषा "पद विन्यास-भंगी' दी है तथा कोमला, कठिना और मिश्रा ये तीन रीतियाँ मानी हैं, जो वस्तुतः वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली के ही दूसरे नाम हैं। रीति के भेदोपभेद के विषय में नवीन कल्पना करने वाले भोज हैं। सरस्वतीकंठाभरण में वे ६ रीतियों का उल्लेख करते हैं:—वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी, आवंती एवं मागधी। भोज की पूर्व चार रीतियाँ ठीक वही हैं, जो प्राचीन आलंकारिकों की। आवंती रीति वहाँ मानी गई है, जहाँ दो, तीन या चार समस्त पद हों, तथा जो पांचाली और वैदर्भी के बीच हो।

अन्तराले तु पांचाली वैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः॥

—सर० क० २, ३२

अतः भोज के मतानुसार यह रीति लाटी रीति की अपेक्षा वैदर्भी के अधिक समीप है, क्योंकि उसके मतानुसार लाटी में सभी रीतियों का सम्मिश्रण होता है, साथ ही वह समासप्रधान भी होती है। (समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते।—वही २, ३३) मागधी रीति वहाँ होती है, जहाँ पहली रीति का निर्वाह न किया गया हो अर्थात् जहाँ पूर्वार्ध में किसी अन्य रीति का ग्रहण किया गया हो, किंतु उसे छोड़-

---

१. जरत्तरास्तु—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकांतिसमाधयः॥'
इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति।
नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम्।

—रसगंगाधर पृ० ७०

कर उत्तरार्ध में दूसरी ही रीति ग्रहण कर ली गई हो। इसीलिए इसे खंडरीति भी कहते हैं। ( पूर्वरीतेरनिर्वाहे खंडरीतिस्तु मागधी ।. २,३३ )

यद्यपि कुंतक वक्रोक्ति संप्रदाय के आचार्य हैं, तथापि 'रीति' के संबंध में उन्होंने एक नई कल्पना को जन्म दिया है। कुंतक ने रीति को मार्ग' के नाम से पुकारा है तथा रीति की देशसंबंधी धारणा का खंडन किया है। वे बताते हैं कि देश भेद के अनुसार रीति की कल्पना करने पर तो रीति भेद की अनंतता होगी।[1] साथ ही कुंतक को रीति के देशभेद संबंधी—वैदर्भी, गौडी या पांचाली—जैसे नामकरण से ही आपत्ति नहीं है, वे इनके उत्तम, मध्यम, अधम भेद मानने की धारणा का भी खंडन करते हैं।[2] कुंतक रीति की धारणा देश भेद के आधार पर न मानकर कवि के स्वभावभेद के आधार पर मानना ज्यादा ठीक समझते हैं। वे बताते हैं:—"कवि के स्वभावभेद के आधार पर किया गया काव्य-मार्ग का वर्गीकरण संगत माना जा सकता है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद संबंध होता है, अतः सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति तदनुरूप ही सहज सुकुमार होती है। उस सुकुमार शक्ति के कारण वह सुकुमार स्वभाव वाला कवि वैसी ही सुकुमार-रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त होता है। तदनंतर सुकुमार शक्ति तथा सुकुमार व्युत्पत्ति के कारण वह सुकुमार मार्ग का आश्रय लेता है।"[3] ठीक यही बात विचित्र स्वभाव वाले कवियों के विषय में लागू होती है, जो तदनुरूप विचित्र शक्ति के कारण विचित्र व्युत्पत्ति को प्राप्त होते हैं तथा उसके द्वारा विचित्र मार्ग का आश्रय लेते हैं। कुंतक मोटे

---

१. एतच्चोभयमप्ययुक्तियुक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबंधने रीतिभेदानां देशानां आनन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्येत ।

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ४५

२. न च रीतीनां उत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितुं न्याय्यम्

—वही पृ० ४६

३. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते । सुकुमारस्वभावस्य कवेः तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्यां च ...रवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते ।

—वही पृ० ४६

तौर पर दो मार्ग मानते हैं—एक सुकुमार, दूसरा विचित्र, जो क्रमशः वैदर्भी तथा गौडी के ही रूप हैं। इन दोनों का मिश्रित एक तीसरा मार्ग भी हो सकता है, जिसे कुंतक ने उभयात्मक या रमणीय मार्ग कहा है, जो वामन की 'पांचाली' माना जा सकता है।[1] सुकुमार मार्ग की कुन्तक ने बड़ी प्रशंसा की है तथा उसकी तुलना पुष्पों से लदे वन से की है। "सुकुमार मार्ग में कवि वैसे ही संचरण करते हैं, जैसे भौंरे फूलों से लदे वन में संचरण करते हैं।"

सुकुमाराभिधः सोयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः॥

—वक्रोक्तिजीवित १, २९

किंतु कुंतक ने दंडी की भाँति विचित्र मार्ग की निंदा नहीं की है, अपितु उसे तो वह असिधारापथ बताया है, जिस पर विदग्ध कवि ही चल पाते हैं।

सोतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः॥—वही १, ४३

इस प्रकार कुंतक ने कवि के स्वभाव के अनुरूप मार्ग की कल्पना कर इस बात का भी संकेत किया है कविस्वभावगत होने के कारण काव्य मार्ग के समस्त भेदों का आकलन करना असंभव है, अतः मोटे तौर पर उसे तीन तरह का माना गया है।[2] ठीक यही बात शारदातनय ने भाव प्रकाश में कही है:—

"काव्य की रीति वचन, पुरुष, जाति आदि के आधार पर प्रत्येक के साथ अलग अलग तरह की होने के कारण अनंत प्रकार की हो जाती है। इस आनन्त्य का वर्णन करना असंभव है। इसीलिए कवियों ने संक्षेप से चार ही रीतियाँ मानी हैं।"[3]

---

१. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥

—वही, प्रथम उन्मेष कारिका २४

२. यद्यपि कविस्वभावभेदनिबंधनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते। — वही पृ० ४७

३. प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव॥ —भाव प्रकाश

रीति सम्प्रदाय के विवेचन में हम देखते हैं कि केवल वामन ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्हें शुद्ध दृष्टि से इस सम्प्रदाय का माना जा सकता है। कुछ विद्वान् दंडी तथा भोज को भी इसी सम्प्रदाय का आलंकारिक मानते हैं। कुछ विद्वान् 'रीति' तथा 'गुण' को दो भिन्न २ सम्प्रदाय मानते हैं, जो अनुचित है, क्योंकि रीति तथा गुण की कल्पना परस्पर अन्योन्याश्रित होकर चली है, इसे हम देख चुके हैं। ये दोनों एक ही चीज के दो पहलू हैं। अतः दोनों का एक ही संप्रदाय में वर्णन करना उचित है। रीति वस्तुतः विशिष्ट पदरचना मात्र है, काव्य-पुरुष के शरीर का अवयवसंस्थान है। अतः शरीर के संगठन को ही आत्मा मान लेना या उसी में काव्य का वास्तविक सौंदर्य या चमत्कार मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदायः - वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर इसके नाम पर एक नया सम्प्रदाय स्थापित करने वाले राजानक कुंतक हैं। वैसे वक्रोक्ति की कल्पना अलंकार शास्त्र में कुंतक से बहुत पहले की है। वह भामह से भी पुरानी जान पड़ती है। भामह ने उसकी मीमांसा करते समय बताया है कि वक्रोक्ति समस्त अलंकारों की चारुता का हेतु है, उसके बिना कोई भी अलंकार काव्य में निबद्ध नहीं किया जा सकता, कवि को चाहिए कि वह काव्य में वक्रोक्ति का संनिवेश करने के लिए प्रयत्नशील हो।[1] हम देख चुके हैं कि भामह की वक्रोक्ति कुछ नहीं अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम है। भामह के वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों के जीवनाधायक मानने में ही संभवतः कुंतक की वक्रोक्ति संबंधी कल्पना का बीज है। दंडी की वक्रोक्ति की कल्पना भामह से मिलती जुलती होने पर भी कुछ भिन्न है। दंडी समस्त काव्य को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति इन दो भेदों में विभक्त करते हैं।[2] उनके मतानुसार सभी अलंकारों में वक्रोक्ति है, पर स्वभावोक्ति का क्षेत्र उससे

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना॥

—काव्यालंकार २, ८५

२. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

—काव्यादर्श २, ३६२

भिन्न है। वामन की वक्रोक्ति की कल्पना भामह व दंडी दोनों से भिन्न है। उसने सर्व प्रथम वक्रोक्ति को अलग से अलंकार विशेष माना है, पर उसकी वक्रोक्ति बाद के आलंकारिकों की वक्रोक्ति से भिन्न है। वामन ने सादृश्य को लेकर चलने वाली लक्षणा में वक्रोक्ति अलंकार माना है।[1] बाद के आलंकारिकों में वक्रोक्ति के संबंध में जो धारणा पाई जाती है, उसकी कल्पना सर्वप्रथम हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलती है।[2] इस प्रकार भामह की वक्रोक्ति संबंधी कल्पना में परिवर्तन होता रहा है, कुंतक में अवश्य हमें भामह की कल्पना का पल्लवित रूप मिलता है।

राजानक कुंतक का वक्रोक्तिसिद्धांत उस समय प्रचलित किया गया था, जब ध्वनि तथा व्यंजना की स्थापना ने आलंकारिकों में एक खलबली सी मचा दी थी। प्राचीन आलंकारिक ध्वनि को किसी न किसी अलंकार में अंतर्भावित कर रहे थे, तो दूसरे आलंकारिक कुछ नवीन उद्भावना कर व्यंजना तथा ध्वनि का समावेश उसमें करने की चेष्टा कर रहे थे। ध्वनिवाद के नये संप्रदाय को उदित देखकर कई अभिधावादी तथा लक्षणावादी स्पष्ट या प्रच्छन्न रूप में व्यंजना एवं ध्वनि का निषेधकर उसे अपने सिद्धांतों में आत्मसात् करने के लिए तत्पर थे। ध्वनिवादी के इन विरोधियों में दो प्रबल व्यक्ति पाये जाते हैं—महिमभट्ट तथा राजानक कुंतक। महिमभट्ट ने 'काव्यानुमितिवाद' की स्थापना कर व्यंजना को अनुमिति में अंतर्भूत किया, तथा प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय या गम्य अर्थ माना। कुंतक ने प्रतीयमान अर्थ का समावेश वक्रोक्ति में कर समस्त ध्वनि प्रपंच का वक्रोक्ति के तत्तत् भेदों में समाहार कर डाला। महिम तथा कुंतक दोनों ही मूलतः अभिधावादी आचार्य थे। ये दोनों लक्षणा को भी अभिधा में ही स्वीकार करते हैं। महिमभट्ट ने तो स्पष्ट कहा है कि अर्थ दो ही तरह के होते हैं, वाच्य या अनुमेय। वे लक्ष्यार्थ का भी समावेश अनुमेय में करते हैं। कुंतक भी अभिधावादी हैं, उनकी वक्रोक्ति कुछ नहीं एक विशिष्ट प्रकार

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। — काव्यालंकारसूत्र, ४, ३, ८

२. काव्यालंकार २, १४, १७

की अभिधा ही तो है। इतना होने पर भी महिमभट्ट तथा राजानक कुंतक के व्यक्तित्व में महान् अंतर है। महिमभट्ट केवल पंडित हैं, नैयायिक के गंभीर पांडित्य के साथ ही वे अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में दिग्विजय करना चाहते हैं, पर कुंतक में पांडित्य तथा प्रतिभा का अपूर्व समन्वय है। आलंकारिक के लिए जिस प्रतिभा की, जिस सहृदयता की आवश्यकता होती है, वह कुंतक में यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। यही कारण है कि कुंतक की कई कल्पनाएँ बड़ी मार्मिक तथा तथ्यपूर्ण हैं, तथा उतने हलके से ढंग से उड़ा देने लायक नहीं है, जैसा कि बाद के ध्वनिवादी आलंकारिकों ने कुंतक की वक्रोक्ति को केवल अलंकार विशेष घोषित कर कुंतक का खंडन कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है, बाद के आलंकारिकों ने कुंतक के साथ समुचित न्याय नहीं किया है।

कुंतक के मतानुसार काव्य का जीवित वक्रता या वक्रोक्ति ही है। इसीलिए काव्य की परिभाषा निबद्ध करते समय वे स्पष्ट कहते हैं—"वक्रतामय व्यापार से युक्त, तथा उस (वक्रता) के जानने वाले सहृदयों का आह्लाद करने वाले, बंध (पद्यादि) में प्रयुक्त शब्दार्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते हैं।"[1] अतः कुंतक के मतानुसार काव्य में शब्दार्थमय वक्रता आवश्यक है। जब शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर काव्य माने जाते हैं, तो यह स्पष्ट है कि वक्रता भी वाचक तथा वाच्य दोनों में माननी होगी। इसी को बताते हुए कुंतक ने कहा है कि दोनों (शब्द तथा अर्थ) में उसी प्रकार सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता होती है, जैसे प्रत्येक तिल में तैल होता है, केवल एक में ही नहीं।[2] इन काव्य के अंगभूत शब्दार्थ की शोभानिष्पत्ति का हेतु वक्रोक्ति ही है। इसी को कुंतक ने "वैदग्ध्यभंगीभणिति" के नाम से पुकारा है। वक्रोक्ति को आगे स्पष्ट करते हुए कुंतक बताते हैं कि

---

१. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ —वही १. ८.

२. तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। —वही पृ० ७, (डे संस्करण)

वक्रोक्ति अभिधा का ही दूसरा रूप है, वस्तुतः वह विचित्र प्रकार की अभिधा है, जो अपने प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ को द्योतित करती है। अतः कुंतक वक्रोक्तिगम्य अर्थ को वाच्यार्थ ही मानने के पक्ष में हैं।

कुंतक ने वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं:—१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्धवक्रता, ३. पदपरार्धवक्रता (प्रत्ययवक्रता), ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता, तथा ६. प्रबंधवक्रता। इन छः भेदों के भी कई अवांतर उपभेद किये गये हैं। कुंतक की वक्रोक्ति संबंधी कल्पना बड़ी विशाल है। इसमें काव्य के प्रायः सभी अंगों का समावेश हो जाता है। अलंकार, रस, ध्वनि सभी कुंतक की वक्रोक्ति में अन्तर्भावित हो जाते हैं। वक्रता के इन छः भेदों का विशद वर्णन वक्रोक्तिजीवित के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ उन्मेष में पाया जाता है। हम यहाँ संक्षेप में इनकी रूपरेखा मात्र दे रहे हैं:—

१. वर्णविन्यासवक्रता:—वक्रता का यह भेद वर्णविन्यास से संबंध रखता है। यह वक्रता शब्दसंबंधिनी है तथा काव्य म एक विशेष प्रकार की विच्छित्ति उत्पन्न करती है। इसको हम अनुप्रासगत चमत्कार मान सकते हैं। यह वर्णविन्यास कभी तो बीच में दूसरे वर्णों का प्रयोग करते हुए उनके बार बार उपन्यास करने से संबद्ध हो सकता है, कभी अव्यवहित रूप वाला। उदाहरण के लिए निम्न पद्य में, जहाँ 'पायं पायं' कदलदलं, दात्यूहव्यूह, केलीकलित, कुहकुहाराव, कान्ता वनान्ता जैसे दो दो वर्णों का अव्यवहित विन्यास पाया जाता है:—

> ताम्बूलीनद्धमुग्धक्रमुकतरुतलस्रस्तरे सानुगाभिः,
> पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः।
> सेव्यतां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
> र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः॥

यही वक्रोक्ति समस्त गुणों तथा मार्गों में पाई जाती है। यमक अलंकार का समावेश भी इसी वर्णविन्यासवक्रता में हो जाता है। यह वर्णविन्यास भी औचित्यपूर्वक किया जाता है। इसी के अनुसार कुंतक ने सुकुमार प्रस्ताव तथा परुष प्रस्ताव इन दो भेदों को माना है।

(२) पदपूर्वार्धवक्रता:—संस्कृत के पदों में दो अंश पाये जाते हैं एक प्रकृतिरूप, दूसरा प्रत्यय रूप। प्रकृति को कुंतक ने पदपूर्वार्ध तथा

प्रत्यय को पदपरार्ध कहा है। प्रकृति भी दो तरह की होती है प्रातिपदिक या धातुरूप। इस प्रकार पदपूर्वार्धवक्रता में प्रातिपदिक या धातु की वक्रता पाई जाती है। इसके आठ मुख्य भेद ये हैं:—१. रूढिवैचित्र्यवक्रता, २. पर्यायवक्रता, ३. उपचारवक्रता, ४. विशेषणवक्रता, ५. संवृतिवक्रता, ६. वृत्तिवक्रता, ७. लिंगवैचित्र्यवक्रता, ८. क्रियावैचित्र्यवक्रता। इन वक्रताओं में से कई के नाम से ही थोड़ा बहुत संकेत मिल सकता है कि उस वक्रता से कुंतक का क्या तात्पर्य है। हम प्रत्येक के उदाहरणों का उपन्यास न कर केवल पर्यायवक्रता का एक उदाहरण देते हैं:—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कांतिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

इस पद्य में 'कपालिनः' पद में पर्यायवक्रता है। महादेव के लिए इस विशिष्ट पर्यायवाची शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि पार्वती की खप्पर वाले अमंगल शिव को वरण करने की इच्छा को शोचनीय बताना कवि का अभीष्ट है। अतः यहाँ 'कपालिनः' पद विच्छित्तिविधायक है। यदि यहाँ 'पिनाकिनः' पद का प्रयोग कर दिया जाय, तो यह विच्छित्ति नष्ट हो जायगी, यह सहृदयानुभव सिद्ध है।

३. पदपरार्धवक्रता (प्रत्ययवक्रता):—यह वक्रता मुख्यरूप से छः प्रकार की मानी गई है। प्रत्ययवक्रता के अंतर्गत सुप्, तिङ्, संख्या, कारक, पुरुष आदि की वक्रता का समावेश होता है। इसके समस्त भेदों में कारकगत वक्रोक्ति में सौंदर्यातिशय पाया जाता है। जैसे निम्न पद्य में—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः,
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्यैवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां,
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥

इस उदाहरण में रावण का खड्ग चन्द्रहास यद्यपि अचेतन है, फिर भी उसे 'लज्जते' क्रिया का कर्त्ता बना दिया गया है। अतः यह कारकवैचित्र्य है।

४. वाक्यवक्रता:—जहाँ सम्पूर्ण वाक्य के द्वारा विच्छित्ति का विधान किया जाय, वहाँ वाक्यवक्रता होती है। इसी वाक्यवक्रता के अंतर्गत समस्त अर्थालंकारों का समावेश हो जाता है।[1] इस वक्रता में वस्तुवक्रता के साथ अलंकारवैचित्र्य की मीमांसा करते समय कुंतक ने अर्थालंकारों के विषय में कई मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं।
वाक्यवक्रता का दिङ्मात्र उदाहरण यह है:—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
त्वामाश्रयं प्राप्य तथा नु कोपात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती॥

यह राम के प्रति लक्ष्मण के द्वारा भेजे गये सीता के संदेश की उक्ति है। यहाँ 'पहले तो उपस्थित राज्यलक्ष्मी को भी ठुकरा कर आप मेरे साथ वन को प्रस्थित हुए थे, किंतु अब क्रोध के कारण आप के आश्रय को प्राप्त कर मेरा घर में रहना भी आप न सह सके—इस वाक्य से राम ने सीता को वनवास देकर उचित किया है या अनुचित यह वे स्वयं ही विचार करें, यह अर्थ वक्रता द्वारा प्रतिपाद्य है।

(५) प्रकरणवक्रता:—जहाँ प्रबंध के किसी प्रकरण विशेष में विन्यासवैचित्र्य हो, वहाँ प्रकरण वक्रता होती है। जैसे रामायण में मारीच के माया हरिण बन कर आने के बाद उसका अनुसरण करते हुए राम की आवाज सुनकर सीता सहायता के लिये लक्ष्मण को भेजती है। इस संबंध में राम जैसे महापुरुष के लिये छोटे भाई के द्वारा प्राणपरित्राण की संभावना उचित नहीं, इसलिये उदात्तराघवकार ने मारीच को मारने के लिए गये लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता ने राम को भेजा, यह प्रकरण-परिवर्तन कर दिया है। इसमें प्रकरणवक्रता है। अथवा, जैसे वाल्मीकि रामायण में परशुराम का सीता का परिणय कर लौटते हुए मार्ग में राम से मिलना वर्णित है, किंतु तुलसी ने अपने "मानस" में परशुराम का आगमन धनुष के टूटते ही रंगभूमि में ही वर्णित किया है। यह भी प्रकरणवक्रता ही है।

---

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥
—वक्रोक्ति जीवित १. २१. पृ० ३७

( ६ ) प्रबन्धवक्रताः—प्रबंधवक्रता काव्य या नाटक के समस्त इतिवृत्त में पाई जाती है। इस वक्रोक्ति का क्षेत्र सब से अधिक व्यापक है। कुंतक ने प्रबंधवक्रता के कई प्रकार माने हैं। रस का समावेश भी इसी वक्रता में हो जाता है। प्रबंध-वक्रता का एक प्रसिद्ध निदर्शन भवभूति का उत्तररामचरित है। रामायण का अंगी रस करुण है। किंतु भवभूति ने करुण का वर्णन करते हुए भी प्रमुख रस शृंगार ही रखा है। यह प्रबंधवक्रता ही है।

वक्रोक्ति का संस्कृत साहित्यशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह दूसरी बात है कि वक्रोक्तिकार का सम्मान उतना अधिक न हो सका, जितना ध्वनिकार का। ध्वनि की कल्पना में ध्वनिकार ने कवि तथा भावुक सहृदय, कर्तृपक्ष तथा अनुभूतिपक्ष, दोनों को ध्यान में रखा है, जब कि कुंतक ने वक्रोक्ति कल्पना में विशेष महत्त्व कविव्यापार या कविकौशल ( कर्तृपक्ष ) को दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि कुंतक अनुभूतिपक्ष की सर्वथा अवहेलना करते हैं, फिर भी वे कल्पना-पक्ष को अनुभूतिपक्ष से अधिक स्थान देते हैं। यही कारण है कि ध्वनिवाद के अनुभूतिवादी सिद्धांत पर यह सिद्धांत विजय न पा सका।

( ५ ) ध्वनि सम्प्रदायः—हम देख चुके हैं कि अलंकार तथा रीति-गुण के सिद्धांतों में रस को गौण स्थान दिया गया था, वह अलंकार या किसी गुणविशेष के अंतर्गत समाविष्ट कर दिया गया था। दृश्य काव्य में तो रस की प्रतिष्ठापना भरत के समय से ही चली आ रही थी, किंतु श्रव्य काव्य में उसकी महत्ता घोषित न हुई थी। श्रव्य काव्य में रस की महत्ता घोषित कर उसे काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य ध्वनिसिद्धांत ने किया। यद्यपि ध्वनिसिद्धांत का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हमें आनंदवर्धन की ध्वनिकारिकाओं और उनकी वृत्ति ध्वन्यालोक में मिलता है, किंतु यह निश्चय है कि ध्वनिवादी सिद्धांतों के बीज आनंदवर्धन से भी पुराने हैं। स्वयं आनंदवर्धन ने ही बताया है कि प्राचीन विद्वानों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ( कारिका १. १ )। इतना ही नहीं आनंदवर्धन ने यह भी बताया है कि कई ध्वनिविरोधी विद्वान् ध्वनि का खंडन करते हुए ( १ ) या तो उसका निषेध करते हुए ध्वनि की सत्ता का अभाव मानते थे, ( २ ) या उसे भक्तिगम्य

( भाक्त ) अर्थात् लक्ष्यार्थ मानते थे, ( ३ ) अथवा उसे वागगोचर अनिर्वचनीय तत्त्व मानकर उसकी विवेचना का निषेध करते थे।[१] ध्वनि का आधार वह वाक्यान्तर ( वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान ) अर्थ है, जो काव्य को साधारण लौकिक वाक्यादि से भिन्न बनाकर उसमें विलक्षण चमत्कारवत्ता उत्पन्न करता है। ध्वनिवादी के पूर्व के आचार्यों ने भी किसी न किसी रूप में इस वाच्येतर अर्थ की सत्ता स्वीकार की है। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्भट जैसे आलंकारिक व्यंग्यार्थ या व्यञ्जना का उल्लेख नहीं करते, तथापि प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान उन्हें पूर्ण रीति से था। पर्यायोक्त आदि अलंकारों के प्रकरण में प्रतीत वाच्येतर अर्थ का उन्होंने संकेत किया है। उद्भट ने स्पष्ट रूप में 'अवगमन' का संकेत भी किया है।[२] इसीलिए पंडितराज जगन्नाथ ने उन नव्य आलंकारिकों का खण्डन किया है, जो यह समझते हैं कि भामहादि को प्रतीयमान अर्थ ( ध्वन्यादि ) स्वीकृत नहीं है। उन्होंने समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों के द्वारा गुणीभूतव्यंग्य का संकेत किया ही है। साथ ही पर्यायोक्त में ध्वनि का भी समावेश किया है। प्रतीयमान अर्थ तो अनुभव सिद्ध है, अतः अनुभवसिद्ध अर्थ का निषेध वे कैसे कर सकते थे। हाँ उन्होंने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, पर इतने भर से वे इसका निषेध करते हैं, ऐसा मानना ठीक नहीं।[३] यही कारण है; ध्वनिकार तथा अभिनव-

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

—ध्वनिकारिका १. १

२. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह ४. ११

३. ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इति आधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाफलं-

गुप्त ने भी भामहादि का संकेत ध्वनि का सर्वथा निषेध करने वाले लोगों में न कर उनमें किया है, जो इसे अलंकारकक्षाविनिविष्ट मानते हैं।[1] ध्वनिवादियों ने यद्यपि ध्वनि के मोटे तौर पर तीन भेद माने हैं—रसध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा वस्तुध्वनि, तथापि इनमें महत्त्व रसध्वनि को ही दिया है तथा उसे काव्य का वास्तविक जीवित माना है। यही कारण है कि विद्वानों ने ध्वनिसिद्धांत को रससिद्धांत का ही पल्लवन कहा है।

ध्वनिवादियों की सिद्धांतसरणि व्यञ्जना नामक नई शब्दशक्ति की कल्पना पर आधृत है। काव्यवाक्य से जिस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति सहृदय को होती है, वह अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य नामक वृत्तित्रय से प्रतिपाद्य नहीं हो पाता। अभिधा केवल उसी अर्थ की प्रतीति करा पाती है, जो किसी शब्द का साक्षात्संकेतित अर्थ है। इसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य ( शक्यान्तर ) अर्थ की ही प्रतीति करा पाती है, क्योंकि लक्ष्यार्थ प्रतीति वहीं मानी जा सकती है, जहाँ मुख्यार्थबाध, तद्योग, तथा रूढि अथवा प्रयोजन ये हेतुत्रय विद्यमान हों। इसी प्रकार तात्पर्य वृत्ति भी व्यंग्यार्थ का बोध नहीं करा पाती। अतः प्रकरणादि के कारण सहृदय श्रोता की प्रतिभा से उन्मीलित विलक्षण अर्थ ( प्रतीयमान अर्थ ) की प्रतीति के लिए तुरीय ( चौथा ) व्यापार मानना ही पड़ेगा। इसी को ध्वनिवादी व्यंजना, ध्वनन, अवगमन आदि नामों से पुकारते हैं।[2] ध्वनिवादी ने इस बात पर भी

---

कारनिरूपेणेन कियंतोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चः पर्यायोक्तकुक्षौ विक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानंगीकारो भवति।

—रसगंगाधर पृ० ५५५–५६

१. देखिये, ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत कारिका १३ की वृत्ति तथा उस पर लोचन टीका।

२. तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपकोऽभ्युपगन्तव्यः।

—लोचन पृ० ११५ ( मद्रास संस्करण )

ज़ोर दिया है कि प्रयोजनवती लक्षणा में जहाँ प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति होती है, वहीं व्यंजना व्यापार काम करता देखा जाता है। उदाहरण के लिए 'गंगायां घोषः' में 'गंगातट' वाले अर्थ में लक्षणा शक्ति है, किंतु इस लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन—शैत्यपावनत्वादि—लक्षणा के द्वारा प्रतीत नहीं होता, उसके लिए व्यञ्जनाशक्ति की कल्पना करनी ही पड़ेगी।[1]

व्यञ्जना की कल्पना करने के बाद ध्वनिवादी ने इसके दो भेद माने हैं—शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी। व्यञ्जना पुनः दो प्रकार की होती है—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। आर्थी व्यञ्जना के तीन भेद माने गये हैं:—वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा, व्यंग्यसंभवा। इस प्रकार व्यञ्जना शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति सिद्ध होती है। प्रत्येक काव्य में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तो होते ही हैं, किसी किसी वाक्य में बीच में लक्ष्यार्थ भी हो सकता है। अतः व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ की चारुता के तारतम्य को लेकर ही ध्वनिवादी ने काव्य की उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि का संकेत किया है। ध्वनिवादी उस काव्य को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, जिसमें अर्थ अथवा शब्द एवं उसका अर्थ दोनों अपने आप को गौण बनाकर किसी अन्य प्रतीयमान अर्थ को व्यंजित करते हैं। इसे ध्वनिकार ने 'ध्वनि' काव्य की संज्ञा दी है। इसमें वाच्यार्थ सदा व्यंग्यार्थ का उपस्कारक होता है तथा विशेष चमत्कार व्यंग्यार्थ में ही होता है। दूसरी कोटि के काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होता है, अतः इसे गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है। तीसरी कोटि के काव्य में वाच्यार्थ ही विशेष चमत्कारी होता है। इसमें या तो अर्थालंकार की महत्ता होती है, या शब्दालंकार की। इसमें व्यंग्यार्थ होता तो है, पर वह नगण्य होता है, आर्थी या शाब्दी क्रीडा उसे ढँक देती है। इसे चित्र काव्य कहा जाता है। मम्मट ने इन्हीं तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम संज्ञा दी है।

---

१. नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।

—काव्यप्रकाश पृ० ५९.

ध्वनिवादियों की अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापना गुण, अलंकार, रीति आदि का काव्य में स्थान-निर्धारण है। हम देख चुके हैं कि ध्वनिवादी से पूर्व के आचार्यों ने रस को इतना महत्त्व नहीं दिया था। ध्वनिवादी ने ध्वनि या रस ध्वनि को काव्यपुरुष की आत्मा माना। शब्दार्थ उसके शरीर हैं, रीति उसके शरीर का अवयव संस्थान। गुण तथा अलंकार का स्पष्ट भेद करते हुए उन्होंने यह प्रतिष्ठापना की कि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं, ठीक वैसे ही जैसे शौर्यादि आत्मा के धर्म होते हैं। इस प्रकार गुणादि काव्य के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अलंकार काव्य के धर्म न होकर ऊपर से पहने जाने वाले कटक, अंगद आदि आभूषणों की तरह हैं।[1]

ध्वनि के भेदोपभेदों का विवेचन करते समय ध्वनि काव्य को सर्वप्रथम दो वर्गों में बाँटा गया है:—१. विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक ध्वनि) तथा २. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक ध्वनि)। लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद माने जाते हैं:–अर्थांतरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अभिधामूलक ध्वनि को सर्वप्रथम दो वर्गों में बाँटा गया है:—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्षक्रमव्यंग्य वह है जहाँ वाच्य से व्यंग्य तक पहुँचने का क्रम प्रतीत नहीं होता। इसके अन्तर्गत रसादिध्वनि आती है। इसके आठ भेद हैं:—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि, भावशबलता। इसके अंतर्गत समस्त रसप्रपंच का समावेश हो जाता है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि को तीन भेदों में बाँटा जाता है:—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि, अर्थशक्ति मूलक, उभयशक्तिमूलक। इनमें पुनः भेद किये जाते हैं। शब्दशक्तिमूलक के दो भेद होते हैं—एक वस्तुरूप, दूसरा अलंकार रूप। अर्थशक्तिमूलक को प्रथम स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध मानकर प्रत्येक के वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से अलंकार, अलंकार से वस्तु—ये चार चार भेद माने जाते हैं। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेद होते हैं। उभयशक्तिमूलक का केवल एक ही भेद होता है। इस तरह अभिधामूला के

---

१. तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ —ध्वन्यालोक २. ६.

कुल १६ भेद—१ रसध्वनि, २ शब्दशक्तिमूलक, १२ अर्थशक्तिमूलक, तथा १ उभयशक्तिमूलक होते हैं, लक्षणामूलक के केवल दो भेद होते हैं। इस प्रकार मोटे तौर पर सब भेद १८ हैं। इसके बाद पद, पदांश, वाक्य, प्रबंध आदि के कारण इनके ५१ भेद हो जाते हैं। वैसे तो ध्वनि के शुद्ध तथा मिश्र भेदों की संख्या हजारों के ऊपर हैं। हम यहाँ दिङ्मात्र उदाहरण दे रहे हैं:—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
> निंद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बालाचिरं चुम्बिता॥

'नायिका ने शयनागार को सूना देखकर सेज पर से धीरे से उठ कर निद्रा के बहाने सोये पति के मुख को बड़ी देर तक निहारकर विश्वासपूर्वक उसके कपोल का चुंबन कर लिया। चुंबन के कारण रोमांचित कपोल को देखकर लज्जा के कारण नीचे मुँह वाली नायिका का हँसते हुए प्रिय ने बड़ी देर तक चुम्बन किया।'

यहाँ शृंगार रसकी व्यंजना हो रही है। यह रसध्वनि या असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। इसमें शृंगार रस का आश्रय नायिका है तथा आलंबन नायक। नायिका के औत्सुक्य, व्रीडा आदि संचारी भाव हैं। शय्या से उठकर नायक के पास जा उसके कपोल का चुंबन करना अनुभाव है।

> अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
> मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

'हे रतौंधी वाले पथिक, तुम दिन में ही भली भाँति देखकर समझ लेना कि यहाँ मेरी सास सोती है और यहाँ मैं। कहीं ऐसा न हो कि रात में तुम हमारी शय्या पर आकर गिर पडो।'

प्रकरणादि के कारण यह पता चलता है कि वक्त्री, जो सच्चरित्रा नहीं है, पथिक को रात में रमणार्थ निमंत्रित करती अपने सोने का स्थान बता रही है।

लावण्यकान्तिपरिपूरितादिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः॥

हे चंचल नेत्र वाली सुंदरि, समस्त दिशाओं को अपने लावण्य की कांति से प्रदीप्त करने वाले मुसकुराते हुए तुम्हारे मुखको देखकर भी यह समुद्र बिलकुल क्षुब्ध नहीं होता, इस बातको देखकर मैं समझता हूँ कि यह समुद्र सचमुच ही जडराशि (पानी का समूह, महान् मूर्ख) है।

इस पद्य में वस्तु से अलंकार की व्यंजना हो रही है। मुखको देखकर समुद्र को चंचल होना चाहिए, इस वस्तु के द्वारा मुख पर पूर्णिमा चन्द्र का आरोप व्यक्त होता है। इस प्रकार यहाँ रूपक अलंकार ध्वनि है। यहाँ अर्थशक्त्युद्भव अलंकारध्वनि पाई जाती है।

ध्वनिवादी के सिद्धांतों का बाद में कई आचार्योंने खंडन किया है। महिमभट्ट ने समस्त ध्वनिप्रपंच को अनुमितिगम्य सिद्ध किया। आनंदवर्धन के बाद ध्वनि को परिपक्व रूप देने वाले अभिनवगुप्त हैं, जिन्होंने लोचन टीका में ध्वनि तथा रस की विशद मीमांसा की। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने अपने पूर्व के सभी ध्वनिविरोधी आचार्यों का खंडन कर काव्य के समस्त उपकरणों का ध्वनिसिद्धांत में समाहार करते हुए ध्वनि को एक सुदृढ़ रूप दिया। यद्यपि मम्मट का ग्रंथ 'प्रस्थान ग्रंथ' नहीं है, तथापि ध्वनि को प्रौढरूप में उपन्यस्त करने के लिए मम्मट आचार्यों में माने जाते हैं, तथा बाद के आलंकारिकों ने उन्हें 'वाग्देवतावतार' कहकर उनका आदर के साथ स्मरण किया है। बाद में तो हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसी सिद्धांत को मान्यता देकर इसी के विकास में योगदान दिया है। यहाँ तक कि जयदेव तथा अप्पय दीक्षित जैसे आलंकारिकों ने भी ध्वनि को स्वीकार कर इस सिद्धांत की महत्ता घोषित की है।

(६) औचित्य सम्प्रदाय—औचित्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक क्षेमेन्द्र माने जाते हैं। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्तपादाचार्य के शिष्य थे

तथा उन्होंने ध्वनि सिद्धांतों के ही आधार पर "औचित्य" की कल्पना की है। औचित्य की कल्पना को जन्म देने का श्रेय क्षेमेन्द्र को नहीं जाता, यह कल्पना बहुत पुरानी है, किंतु उसे काव्य का जीवित घोषित करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही जाता है। औचित्य का संकेत आनंद-वर्धन तथा अभिनवगुप्त में ही मिलता है, किंतु क्षेमेन्द्र ने उसे एक प्रस्थान भेद के रूप में पल्लवित किया है। यही कारण है कि डॉ० राघवन् ने क्षेमेन्द्र को भी एक सम्प्रदाय का आचार्य माना है।[1]

औचित्य के बीज भरत में ही देखे जा सकते हैं। वे बताते हैं "यदि वेशभूषा का समुचित सन्निवेश न किया जायगा, तो वह शोभाधायक नहीं हो सकेगा, वह उसी प्रकार उपहास्य होगा, जैसे वक्षःस्थल पर पहनी हुई मेखला।"[2] भरत की इसी उक्ति का पल्लवन क्षेमेन्द्र के निम्न प्रसिद्ध पद्य में पाया जाता है, जो काव्य में औचित्य की महत्ता उद्घोषित करता है—

> कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
> औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

यद्यपि भामह, दण्डी तथा उद्भट में औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, तथापि वे इसकी भावना से पूर्णतः परिचित थे। उपमा दोषों तथा दूसरे काव्य दोषों की कल्पना जो उनमें पाई जाती है अनौचित्यका काव्य में निराकरण करने का प्रयास है। रुद्रट ने काव्यालंकार में स्पष्ट

---

1. It is his Auchitya Vicharcharcha we are concerned herewith, a small work which yet belongs to the class of 'Prasthan-works' like those of Bhamaha, Dandin, Anandvardhan, Kuntaka and Mahimabhatta.

—Dr. Raghavan : Some Concepts of Alankara sastra p. 245.

२. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥—नाट्यशास्त्र २३-६९.

रूप से "औचित्य" शब्द का प्रयोग किया है।[1] औचित्य की स्पष्ट कल्पना आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक में पाई जाती है। वहाँ कारिका तथा वृत्ति दोनों में कई बार औचित्य का प्रयोग हुआ है। आनंदवर्धन ने औचित्य को रस का सच्चा रहस्य माना है तथा उसके अभाव को रसभंग का कारण माना है।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥
(ध्वन्यालोक कारिका ३. १५)

अभिनवगुप्त के लोचन में भी औचित्य संबंधी कल्पना का कई स्थानों पर संकेत मिलता है। अलंकार के औचित्य का वर्णन करते हुए एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने बताया है कि काव्य में जब तक अलंकारों का उचित सन्निवेश नहीं होगा, काव्य चमत्कारी नहीं होगा। यदि किसी संन्यासी को कड़े आदि गहने पहना दिये जायँ, तो वे उसको शरीर को हास्योपयुक्त बना देंगे, क्योंकि वहाँ अलंकार्य का अनौचित्य पाया जाता है।[2] इसी तरह विभावादि के औचित्य का संकेत करते समय अभिनवगुप्त ने बताया है कि विभावादि के औचित्य के बिना काव्य में रसवत्ता नहीं होगी, विभावादि का औचित्य ही रसचर्वणा का विधायक है।[3] अतः स्पष्ट है कि ध्वनि की कल्पना के साथ ही साथ औचित्य की भी कल्पना उद्भूत हो चुकी थी। अभिनवगुप्त ने तो लोचन में कुछ लोगों के उस मत का भी संकेत किया है, जो क्षेमेन्द्र से पूर्व ही औचित्य को काव्य ही नहीं ध्वनि का भी जीवित मानने लगे थे। वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतक भी औचित्य की कल्पना से पूर्णतः परिचित थे। एक स्थान पर वे काव्य के दो साधारण गुणों—औचित्य तथा सौभाग्य—का उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार "जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व

---

१. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यक् औचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥
—काव्यालंकार २-३२.

२. यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौचित्यात्।
—लोचन पृ० ७५.

३. विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता कवेरिति।—वही

स्पष्टतः पुष्ट किया जाय, वही औचित्य उक्ति का जीवित है। जहाँ वक्ता या प्रमाता ( बोद्धा ) का वाच्य अत्यधिक शोभाशाली स्वभाव के द्वारा आच्छादित हो जाय, उसे भी औचित्य कहते हैं।"[1]

औचित्य को प्रस्थान भेद के रूप में उपस्थित करने वाला क्षेमेन्द्र का ग्रंथ "औचित्यविचारचर्चा" है। क्षेमेन्द्र रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, पर औचित्य को उसका भी जीवित घोषित करते हैं। इस प्रकार औचित्य रस तथा काव्य दोनों का जीवित माना गया है:—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (कारिका ३ )

× × ×

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। (कारिका ५ )

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के २८ प्रकार माने हैं। इसके अंतर्गत गुण, अलंकार, रस के औचित्य के अतिरिक्त पद, वाक्य, कारक, क्रिया, लिंग, वचन आदि के औचित्य का भी संकेत किया गया गया है। क्षेमेन्द्र के औचित्य का दिङ्मात्र संकेत करने के लिए हम 'रसौचित्य' का निम्न उदाहरण लेते हैं—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

यह रत्नावली नाटिका में उदयन की उक्ति है। एक उद्यानलता को देखते हुए वह कह रहा है—"इस उद्यानलता की चटकती कलियाँ इस प्रकार शोभित हो रही हैं जैसे मदनोन्मत्त कामिनी आलस्य से जँभाई ले रही हो और हवा के झोंके से हिलती यह लता उत्कंठाभरी नायिका की चंचलता के समान शोभा दे रही है। मैं इसे देखने में

---

१. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम्।
यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥
—वक्रोक्तिजीवितः प्रथम उन्मेष कारिका ५३-५४.

व्यस्त होकर देवी वासवदत्ता का कोपभाजन ठीक वैसे ही हो जाऊँगा जैसे मैंने किसी अन्य सकामा नायिका को देखकर अपराध कर डाला है।"

इस पद्य में वासवदत्ता के "ईर्ष्या विप्रलंभरूप" श्रृंगार को चित्रित करने के लिए ही कवि ने नवमालिका लता पर विरहक्षाम नायिका का आरोप किया है, जो रस को और अधिक दीप्त करता है।

यद्यपि औचित्य सिद्धांत सम्प्रदाय के रूप में अधिक प्रतिष्ठित न हो पाया तथापि रस तथा ध्वनि के अनुयायियों ने इसकी महत्ता अवश्य स्वीकार की है। वस्तुतः औचित्य का अन्तर्भाव ध्वनि सिद्धांत में हो ही जाता है। कुछ विद्वानों ने तो औचित्य का क्षेत्र समस्त आलोचना-सिद्धांतों की अपेक्षा विस्तृत बताया है। उनके मत से सभी सिद्धांतों—अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि तथा काव्यानुमितिवाद का औचित्य में ही समावेश हो जाता है। म० म० कुप्पू स्वामी शास्त्री ने बताया है कि ये सब औचित्य की ही ओर बढ़ते हैं तथा औचित्य ही इन सबका लक्ष्य है।

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

(७) चमत्कार सम्प्रदायः—जिस प्रकार क्षेमेन्द्र ने आचार्यों के द्वारा "औचित्य" का प्रयोग देखकर इसके आधार पर एक नये सिद्धांत की स्थापना की, वैसे ही कुछ परवर्ती आलंकारिकों ने "चमत्कार" का महत्त्व देखकर "चमत्कार" के आधार पर एक नये सिद्धांत का पल्लवन किया तथा उसे ही काव्य की आत्मा घोषित किया। 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम ध्वन्यालोक (पृ० १४४) में पाया जाता है। यहाँ यह साहित्यिक आस्वाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अभिनवगुप्त ने भी इसी अर्थ में 'लोचन' में इसका कई बार प्रयोग किया है। (दे० पृ० ३७, ६३, ६५, ६९, ७२, ७९, ११३, ११७, १३९)[1]। इसी अर्थ में कुंतक ने भी इसका प्रयोग किया है तथा क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में दस प्रकार के चमत्कारों का संकेत किया है।[2] साहित्यदर्पणकार विश्व-

---

१. पृष्ठसंख्या निर्णयसागर वाले संस्करण से संबद्ध है।

२. कविकण्ठाभरण (काव्यमाला संस्करण पृ० १२९)

नाथ के पूर्वज नारायण ने तो चमत्कार को रस का सार माना था ( रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते )। पर अभी तक चमत्कार का प्रयोग किसी ने भी निश्चितरूप में "काव्य के जीवित" रूप में नहीं किया था। औचित्य की भाँति चमत्कार में भी रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, रीति, अलंकार सभी का समावेश कर उनके सम्मिलित सौंदर्य को 'चमत्कार' नाम देकर उसे काव्य की आत्मा घोषित किया गया।

चमत्कार सिद्धांत के सर्व प्रथम पुरस्कर्ता विश्वेश्वर हैं जिन्होंने अपनी 'चमत्कारचन्द्रिका' में बताया है कि चमत्कार ही काव्य का जीवित है। इसे वे गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, अलंकार इन सात भेदों में विभक्त करते हैं तथा इन सातों तत्वों को चमत्कार का कारण मानते हैं।

विश्वेश्वर का यह ग्रन्थ अप्रकाशित है तथा इसकी एक प्रति मद्रास की 'ओरिंयटल मेन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी' में दूसरी लंदन की 'इंडिया आफिस लायब्रेरी' में है। विश्वेश्वर कविचंद्र के सिद्धांत का संकेत निम्न पद्य से मिल सकता है:—

रम्योक्त्यर्थतनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी।
चेतोरंजकरीतिवृत्तिकवितापाकं वयो बिभ्रती।
नानालंकरणोज्ज्वलादवसती ( ? ) सर्वत्र निर्दोषतां
शय्यामंचति कामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मनः॥

( चमत्कारचंद्रिका इंडिया आफिस लायब्रेरी हस्त० ले० नं० ३९६६ )

चमत्कार को काव्य की आत्मा मानने वाले दूसरे आलंकारिक हरि प्रसाद हैं, जिन्होंने 'काव्यालोक' में बताया है कि "चमत्कार ही विशिष्ट शब्द वाले काव्य की आत्मा है। उसको उत्पादित करने वाली कवि की प्रतिभा है।"[१]

वैसे पंडितराज जगन्नाथ भी काव्य में चमत्कार को विशेष महत्त्व देते हैं तथा काव्यकी परिभाषा में प्रयुक्त रमणीयार्थ शब्द की व्याख्या

१ विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्॥ —काव्यालोक
डा० राघवन् द्वारा Some Concepts में उद्धृत

करते समय वे बताते हैं कि रमणीयता से उनका तात्पर्य लोकोत्तराह्लाद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के क्षेत्र से है। लोकोत्तर आह्लाद की व्याख्या करते हुए वे पुनः बताते हैं लोकोत्तर आह्लाद से उनका मतलब उस स्वानुभसिद्ध आह्लाद से है, जिसे चमत्कार भी कहा जाता है।

यद्यपि औचित्य तथा चमत्कार दोनों सिद्धांतों को कुछ विद्वान् अलग से मानते हैं, पर उनका समावेश ध्वनि में ही हो जाता है। केवल इनका संक्षिप्त परिचय देने के लिए हमने इनका अलग से वर्णन किया है।

---

मिलते हैं:—'अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः। तत्र श्लोकः' आदि। भाषा व विषयप्रतिपादन की दृष्टि से भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनता का द्योतक है। भरत के नाट्यशास्त्र में कहीं कहीं सूत्रप्रणाली का भी व्यवहार पाया जाता है। टीकाकारों ने भरत की रचना को कई स्थानों पर 'सूत्र' तथा उन्हें 'सूत्रकृत्' कहा है। नान्यदेव भरत के लिए 'सूत्रकृत्' शब्द का प्रयोग करते कहते हैं—'कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा—'। अभिनवगुप्त भी भरत के नाट्यशास्त्र को 'भरतसूत्र' कहते हैं—'षट्त्रिंशकं भरत सूत्रमिदं विवृण्वन्'।

भरत का नाट्यशास्त्र ३७ अध्यायों का ग्रंथ है। भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में प्राचीन टीकाकारों का मत है कि वह ३६ अध्यायों में विभक्त है। अभिनवगुप्त भी अभिनवभारती में उसे 'षट्त्रिंशक'—३६ अध्याय वाला ही मानते हैं। किंतु इसके साथ ही अभिनव ने ३७ वें अध्याय पर भी 'भारती' की रचना की है। साथ ही इस अध्याय का अलग से मंगलाचरण इसका संकेत करता है कि अभिनव ३६ अध्याय की परंपरागत मान्यता को स्वीकार करते हुए भी इस अध्याय की व्याख्या करते हैं। इतना ही नहीं, नाट्यशास्त्र के उत्तर व दक्षिण से प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में भी यह भेद पाया जाता है। उत्तर की प्रतियों में ३७ अध्याय है, जब कि दक्षिण के हस्तलेखों में ३६ व ३७ दोनों अध्याय एक साथ ही ३६ वें अध्याय में पाये जाते हैं। इसका क्या कारण है? कुछ विद्वानों के मतानुसार ३६ वें अध्याय को दो अध्यायों में विभक्त करना 'भारती' के रचयिता अभिनवगुप्तपादाचार्य को ही अभीष्ट था, यद्यपि वे पुरानी परिपाटी का भी भंग नहीं करना चाहते थे। अभिनव ने अपने शैवसिद्धांतों का मेल नाट्यशास्त्र के ३६ अध्यायों से मिलाकर, शैवागम के ३६ तत्त्वों का संकेत किया है। इन तत्त्वों से परे स्थित 'अनुत्तर' तत्त्व का संकेत करने के ही लिए उन्होंने ३६ वें अध्याय में से ही ३७ वें अध्याय की रचना की हो। ३७ वें अध्याय का 'अभिनव भारती' का मंगलाचरण इसका संकेत कर सकता है:—

आकांक्षाणां प्रशमनविधेः पूर्वभावावधीनां
धाराप्राप्तस्तुतिगुरुगिरां गुह्यतत्त्वप्रतिष्ठा।
ऊर्ध्वादन्यः परभुवि न वा यत्समानं चकास्ति
प्रौढानन्तं तमहमधुनानुत्तरं धाम वन्दे॥

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटक व नाट्यशास्त्र ( नाट्यवेद ) की उत्पत्ति का वर्णन है। बादमें रंगभूमि ( रंगमंच ) के प्रकार, रंगमंच के विभिन्न अंगों —रंगशीर्ष, रंगमध्य, रंगपृष्ठ, मत्तवारणी, तथा दर्शकों के बैठने के स्थान का विशद वर्णन है। चतुर्थ तथा पंचम अध्याय में पूर्वरंग विधान का वर्णन है। इसके बाद भरत ने चारों प्रकार के अभिनयों का क्रमशः वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का अभिनय माना गया है—सात्त्विक, आंगिक, वाचिक तथा आहार्य। नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में सात्त्विक अभिनय का विचार किया गया है। इसके अंतर्गत रस, भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का विवेचन किया गया है। आगे के छः अध्यायों में आंगिक अभिनय का वर्णन है। अगले सात अध्यायों में वाचिक अभिनय की मीमांसा की है। साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से रसप्रकरण तथा यह प्रकरण विशेष महत्त्व के हैं। इसके अंतर्गत दस गुणों, दस दोषों तथा चार अलंकारों—यमक, रूपक, उपमा तथा दीपक का उल्लेख पाया जाता है। इसके बाद आहार्य अभिनय तथा ध्रुवादि का संकेत है।

भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में एक मत यह प्रचलित रहा है कि इसके रचयिता भरत नहीं थे, अपितु भरत के किसी शिष्य ने इसकी रचना की है। यह मत अभिनवगुप्त के समय में भी प्रचलित था। अभिनव ने इस मत का खंडन किया है तथा इस बातकी प्रतिष्ठापना की है कि नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है। उक्त मतका खंडन करते हुए अभिनव ने 'भारती' में लिखा है:—

'एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रंथखंडप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्।'

भरत के नाट्यशास्त्र या सूत्रों पर कई टीकाएँ व्याख्याएँ लिखी गईं, जो नाट्यशास्त्र के विकास में सहायक हुई हैं। इनमें कई तो अनुपलब्ध है। हर्षकृत वार्तिका, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकाएँ, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिधरकृत टीका उनमें से खास हैं, जिनके मतों का उल्लेख 'अभिनवभारती' में मिलता है। भरत के रसनिष्पत्ति संबंधी सूत्र की व्याख्या में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के भी मत मिलते हैं, जिनका संकेत अभिनवगुप्त ने 'भारती' में विस्तार से किया है। संभवतः ये भी

भरत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार रहे हों। भरत के नाट्यशास्त्र पर एक अन्य टीका नान्यदेव ने लिखी थी।

( २ ) भामह ( छठी शती पूर्वार्ध ) :—भामह को ही अलंकारशास्त्र का सर्वप्रथम आचार्य कहना अधिक ठीक होगा। भामह का सबसे पहला संकेत हमें आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक की वृत्ति में मिलता है ( पृ० ३६, २०७ )। इसके बाद उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की टीका ( पृ० १३ ) में प्रतिहारेन्दुराज ने इस बात का उल्लेख किया है कि उद्भट ने भामह विवरण नामक ग्रंथ की रचना की थी, जो कदाचित् भामह के काव्यालंकार पर टीका थी। इसकी पुष्टि लोचन से भी होती है, जहाँ अभिनवगुप्त ने उद्भट के लिए 'विवरणकृत्' ( पृ० १०, ४०, १५९ ) शब्द का प्रयोग किया है। हेमचंद्र ने भी काव्यानुशासन में उद्भट को भामह का टीकाकार माना है। रुय्यकने उद्भट की टीका के विषय में 'भामहीय उद्भटविवरण' ( अलंकार सर्वस्व पृ० १८३ ) का संकेत किया है, तथा समुद्रबंध ने उसे 'काव्यालंकार विवृति' कहा है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह में कई ऐसी परिभाषायें मिलती हैं, जो कुछ नहीं भामह के द्वारा काव्यालंकार में निबद्ध तत्तत् अलंकार की परिभाषायें हैं।[1] उद्भट के समसामयिक वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में भामह का साक्षात् उल्लेख तो नहीं किया है, पर वामन की कुछ परिभाषायें देखने पर पता चलता है कि भामह की परिभाषाओं का उस पर प्रभाव है। उदाहरण के लिए भामह ने उपमा की परिभाषा यों दी है:—'विरुद्धेनोपमानेन...उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा' ( २, ३० )। वामन ने इसीका उलथा अपने निम्न सूत्र में कर दिया जान पड़ता है:—'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यं उपमा (४,२,१)। इतना ही नहीं वामन ने एक अज्ञातनामा कवि का पद्य भी उद्धृत किया है, जो भामह के काव्यालंकार ( २, ४६ ) में शाखवर्धन के नाम से उद्धृत है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भामह की तिथि

१. उदाहरण के लिए रसवत्, अतिशयोक्ति, ससंदेह, सहोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, विभावना, विरोध तथा भाविक की परिभाषायें देखिये।

का निर्णय करते समय हमें उद्भट तथा वामन के समय (आठवीं शती का उत्तरार्ध) को अंतिम सीमा मानना होगा।

भामह की उपरितन सीमा के विषय में विद्वानों में बड़ा मत भेद है। भामह के काव्यालंकार (६, ३६) में एक 'न्यासकार' का संकेत मिलता है। प्रो० पाठक का मत है कि यह बौद्ध न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के प्रति संकेत किया गया है, जिसका समय ७०० ई० के लगभग माना जाता है। इस प्रकार भामह को हम आठवीं शती से पहले का नहीं मान सकते। प्रो० कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी इस मत का विरोध करते हैं। उनके मत से जिनेन्द्रबुद्धि के पूर्व भी कई न्यास ग्रंथ लिखे जा चुके थे, तथा बाण के हर्षचरित तक में 'न्यास' शब्द का प्रयोग मिलता है। भामह का संकेत किसी प्राचीन न्यासकार की ओर है। याकोबी ने भी प्रो० पाठक के मतको संदेह की दृष्टि से देखा है। याकोबी ने यह बताने की चेष्टा की है कि भामह ने अपने काव्यालंकार के पंचम परिच्छेद में बौद्धों के सिद्धांतों का उल्लेख किया है। ऐसा जान पड़ता है कि भामह ने बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के दार्शनिक विचारों का उपयोग किया है। इस प्रकार भामह धर्मकीर्ति से परवर्ती सिद्ध होते हैं। धर्मकीर्ति का समय याकोबी ने ह्वेनसांग तथा इत्सिंग की भारत यात्रा के बीच में माना है। इस प्रकार धर्मकीर्ति का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध रहा है। भामह का काल इस तरह सातवीं शती का अंतिम चरण तथा आठवीं शतीका आरंभ है। डा० सुशीलकुमार दे याकोबी का मत मानते हैं।[1] प्रो० बटुकनाथ शर्मा ने 'काव्यालंकार' की भूमिका में इस मतका खंडन किया है। भामह पर धर्मकीर्ति का प्रभाव मानने वाले याकोबी के मत की विस्तार से विवेचना करते हुए प्रो० शर्मा ने बताया है कि भामह पर दिङ्नाग के बौद्ध सिद्धांतों का प्रभाव जान पड़ता है।[2] इस तरह वे भामह का समय छठी शती के अंतिम चरण से इधर रखने को तैयार नहीं है। भामह के प्रश्न से भट्टि तथा दंडी का प्रश्न भी संबद्ध है। इन तीनों में भट्टि ही एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसके विषय में हम मोटे तौर पर तिथि का संकेत कर सकते हैं। भट्टि का काल सातवीं शती

---

१. De : Sanskrit Poetics Vol. I. 48-49.

२. डा० बटुकनाथ शर्मा—काव्यालंकार की अंगरेजी भूमिका पृ० ५०

का प्रथम चरण रहा है। उसे हम ६५० ई० से बाद का किसी भी तरह नहीं मान सकते। इस तरह प्रो० शर्मा के मत से भामह भट्टि से प्राचीन हैं, किंतु याकोबी भट्टि को भामह से पुराना मानते हैं। वैसे ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ने अपने पूर्व के आलंकारिकों का उपयोग स्वतन्त्र रूप से किया है। दंडी का समय भी पूरी तरह निश्चित नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् उसे बाण से परवर्ती मानते हैं, कुछ पुराना। साथ ही काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित दोनों के रचयिता अभिन्न हैं या भिन्न, इस में भी दो मत प्रचलित हैं।[1] प्रो० शर्मा, याकोबी तथा दे दंडी को भामह से परवर्ती मानते हैं, किंतु म. म. डा० काणे इस मत से संतुष्ट नहीं। उन्होंने भामह की तिथि के विषय में प्रचलित समस्त मतों की आलोचना कर बताया है कि भामह दंडी से परवर्ती थे। वे दंडी का समय ६६०-६८० ई० मानते हैं, तथा भामह को आठवीं शती में रखते हैं।[2] इस प्रकार संक्षेप में भामह के विषय में तीन मत प्रचलित हैं:—

(१) भामह का समय छठी शती का उत्तरार्ध है। वह दंडी तथा भट्टि से प्राचीन हैं। उन पर दिङ्नाग का प्रभाव है, धर्मकीर्ति का नहीं।—प्रो० बटुकनाथ शर्मा का मत

(२) भामह भट्टि से परवर्ती किंतु दंडी से प्राचीन हैं। उनका समय धर्मकीर्ति के बाद माना जा सकता है। अतः उनका समय सातवीं शती का उत्तरार्ध या आठवीं शतीका पूर्वार्ध है।—याकोबी तथा दे का मत

(३) भामह भट्टि, दंडी तथा धर्मकीर्ति के बाद हुए हैं। दंडी का समय सातवीं शतीका उत्तरार्ध है। अतः भामह का समय आठवीं शती का पूर्वार्ध है।—काणे का मत

इन तीनों मतों में प्रो० बटुकनाथ शर्मा का मत विशेष प्रामाणिक जान पड़ता है।

प्रो० कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी भामह की तिथि पर कुछ नहीं कहते, पर वे उसे दंडी से प्राचीन मानते हैं। प्रतापरुद्रीय की भूमिका

---

१. दंडी के विषय में देखिये—दंडी का विवरण

२. Mm. Kane: History of Sanskrit Poetics p. 124.

में वे कई बिन्दु ऐसे बताते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि दंडी को भामह का पता था। प्रो० त्रिवेदी ने प्रो० नरसिंहियेंगर के इस मत का खंडन किया है कि भामह को दंडी का पता था तथा उसने दंडी का खंडन किया है और प्रहेलिका के उदाहरण में दंडी के उदाहरण का आधा पद्य उदाहृत किया है। प्रो० त्रिवेदी ने निम्न बातों के आधार पर भामह को ही प्राचीन माना है:—

(१) प्राचीन आलंकारिकों ने भामह को प्राचीनतम आलंकारिक माना है:—यथा पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः (एकावली पृ० ३०), भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः (अलंकार सर्वस्व पृ० ३) आदि।

(२) दंडी के द्वारा उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक तथा शब्दालंकारों के भेदोपभेदों का विशद वर्णन उसे भामह का परवर्ती सिद्ध करता है, जिसके काव्यालंकार में ये वर्णन इतने सूक्ष्म नहीं हैं।

(३) भामह तथा दंडी के द्वारा कथा एवं आख्यायिका का विवेचन इस बात का संकेत करता है कि इनके पूर्व ही इन दोनों का भेद माना जाने लगा था। दंडी ने कथा तथा आख्यायिका के जिस भेद का खंडन किया है, वह भामह में मिलता है। संभवतः दंडी ने भामह का ही खंडन किया हो।

(४) भामह ने ११ दोषों का संकेत किया है। दंडी केवल दस दोष मानता है तथा अन्यदोष मानने का खंडन करता है। अतः स्पष्ट है कि दंडी भामह वाले मत को नहीं मानता।

(५) भामह 'गतोऽस्तमर्कः' आदि को 'किंकाव्य' (कुत्सित काव्य) कहता है, दण्डी इसे साधु काव्य मानता है। अतः वह भामह के मत को ही ध्यान में रखकर इसे सत्काव्य घोषित करता है।

(६) प्रेयस् अलंकार का उदाहरण दोनों में एक ही पाया जाता है। भामह ने स्पष्ट कहा है कि उसने अपने ही बनाये उदाहरण दिये हैं, अतः दंडी ने ही भामह से उदाहरण लिया है।

(७) भामह के २, २०, पद्य का परिवर्तित रूप हमें भट्टिकाव्य में मिलता है। जान पड़ता है, भट्टि ने भामह के आधार पर इसे बनाया है। अतः भामह भट्टि से भी प्राचीन है।[1]

---

१. प्रो० त्रिवेदी: विद्यानाथकृत प्रतापरुद्रयशोभूषण की आंग्ल भूमिका पृ० xxxii—xxxiv

भामह के विषय में अधिक जानकारी नहीं है। उसके पिता का नाम "रक्रिलगोमिन्' था। इसके आधार पर प्रो० नरसिंहियेंगर ने यह कल्पना की है कि भामह बौद्ध थे। प्रो० त्रिवेदी ने इस मत का खंडन किया है। वे भामह को ब्राह्मण मानते हैं। प्रो० त्रिवेदी निम्न प्रमाण देते हैं: —

( १ ) 'रक्रिलगोमिन्' का गोमिन् शब्द वस्तुतः निघंटु के अनुसार 'गोस्वामिन्' का समाहृत रूप है। इसका ठीक वही अर्थ है जो आचार्य का।

( २ ) भामह ने सोमयाग करने वालों की प्रशंसा की है।

( ३ ) काव्यालंकार में रामायण तथा महाभारत की कथाओं का संकेत है।

( ४ ) भामह ने राम, शिव, विष्णु, पार्वती तथा वरुण का उल्लेख किया है, जबकि बुद्ध या बौद्ध कथाओं का संकेत नहीं किया है। भामह ने 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए न कर 'शिव'के लिए किया है।

( ५ ) भामह शब्दार्थ के 'अन्यापोह' संबंध का खंडन करता है, जो बौद्धों का मत है।

( ६ ) भामह वेदाध्ययन का उल्लेख करता है।

भामह का काव्यालंकार ६ परिच्छेदों में विभक्त ग्रंथ है। प्रथम परिच्छेद में काव्यशरीर का वर्णन है, द्वितीय तथा तृतीय में अलंकारों का विवेचन। चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ परिच्छेदों में क्रमशः दोष, न्याय-निर्णय तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया गया है।[१] आलंकारिक भामह के किसी अन्य ग्रंथ का पता नहीं। वररुचि के प्राकृत प्रकाश की टीका मनोरमा के रचयिता भामह इससे भिन्न जान पड़ते हैं। सन् १९०९ तक

---

१. षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पंचाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

—काव्यालंकार ( उपसंहार )

भामह का काव्यालंकार प्रकाश में नहीं आया था । प्रो० त्रिवेदी ने सर्वप्रथम प्रतापरुद्रीययशोभूषण के संपादन के परिशिष्ट में इसका प्रकाशन किया तथा इसे भामहालंकार नाम दिया। इसके बाद प्रो० बटुकनाथशर्मा ने १९२८ में काव्यालंकार का संपादन किया। भामह पर कोई टीका नहीं मिलती । सुना जाता है कि इस पर उद्भट ने कोई टीका ( भामहविवरण ) लिखी थी। यह टीका आज अनुपलब्ध है।

( ३ ) दण्डी ( सातवीं शती पूर्वार्ध ) :—दूसरे प्रसिद्ध आलंकारिक दंडी हैं, जो अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में हैं। दंडी की तिथि अलंकार साहित्य के इतिहास में एक जटिल समस्या है। आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में भामह का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर वह दंडी का कोई संकेत नहीं करते। दंडी का सबसे पहला उल्लेख प्रतिहारेन्दुराज की टीका ( पृ० २६ ) में मिलता है। दंडी के काव्यादर्श से भी कोई निश्चित अन्तःसाक्ष्य का पता नहीं चलता। वैसे दंडी ने भूतभाषा में लिखी बृहत्कथा ( १, ३८ ) का तथा महाराष्ट्री के सेतुबंध काव्य ( प्रवरसेन के रावणवहो ) का संकेत किया है, इससे दंडी की ऊपरी सीमा का कुछ संकेत मिल सकता है। प्रेयोलंकार के प्रकरण में दिये उदाहरण में राजा राजवर्मा ( या रातवर्मा ) का उल्लेख है, पर इससे किसी निश्चित तिथि का पता नहीं चल पाता। कुछ विद्वानों ने इस राजा को कांची का नरसिंहवर्मा द्वितीय माना है, जो राजसिंह वर्मा के नाम से प्रसिद्ध था, तथा जिसका समय सातवीं शती का उत्तरार्ध है। दंडी के टीकाकार तरुणवाचस्पति तथा अन्य ने प्रहेलिका के उदाहरण ( ३. ११४ ) में कांची के पल्लव राजाओं का संकेत माना है। विज्जा या विज्जका नामक कवयित्री ने दंडी के काव्यादर्श के मंगलाचरण पर कटाक्ष करते हुए एक पद्य लिखा था,[1] किंतु विज्जा की तिथि का पता नहीं। वैसे कुछ विद्वानों ने इसे पुलकेशी द्वितीय के पुत्र चन्द्रादित्य की पत्नी विजया ( ६५९ ई० ) से अभिन्न माना है।

---

१. विज्जका का वह प्रसिद्ध पद्य यों है:—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकामामजानता ।
कथं हि दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

यदि दंडी की तिथि का निश्चित संकेत किसी तथ्य से मिल सकता है, तो वह यह है कि दंडी का संकेत सिंहली भाषा के एक अलंकार ग्रंथ 'सिय-बस-लकर' में मिलता है। यह ग्रंथ डा० बर्नेट के मतानुसार नवीं शती से बाद का नहीं हो सकता। एक दूसरे ग्रंथ, कनाडी भाषा के अलंकारग्रंथ कविराजमार्ग में, जो राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष नृपतुंग ( ९ वीं शती ) की रचना है, दंडी के काव्यादर्श के छः पद्यों का अनुवाद मिलता है। ये छः पद्य असाधारणोपमा, असंभवोपमा, अनुशयाक्षेप, विशेषोक्ति, हेतु तथा अतिशयोक्ति से संबद्ध हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दंडी की परवर्ती सीमा नवीं शती है। जहाँ तक दण्डी एवं वामन का संबंध है, ऐसा जान पड़ता है कि वामन को दण्डी के काव्यादर्श का पता रहा होगा।[1] दण्डी ने जिस रीति एवं गुण सिद्धांत पर जोर दिया है, वामन ने उसी का पल्लवन किया है। साथ ही भामह एवं दण्डी दोनों कथा एवं आख्यायिका वाले प्रश्न का समाधान करते हैं, पर वामन इस विषय में नहीं जाते, किंतु प्राचीनों के ग्रंथ देखने का संकेत करते हैं।[2] दण्डी ने बड़े यत्न से यह सिद्ध किया है कि 'इव' उत्प्रेक्षा का भी वाचक है, किंतु वामन के समय तक यह तथ्य प्रतिष्ठित हो चुका है। इस प्रकार दण्डी वामन ( ८ वीं शती ) से पुराने हैं।

दण्डी की ऊपरी सीमा को निश्चित करना बड़ा कठिन है। पिटर्सन के मतानुसार दण्डी बाण से परवर्ती हैं। याकोबी भी इसी मतको मानते हैं प्रो० पाठक दण्डी को बाण, भर्तृहरि तथा माघ से परवर्ती मानते हैं।[3] हमें यह मत मान्य नहीं। हमें ऐसा जान पड़ता है कि दण्डी का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध रहा है, तथा वे बाण से एक पीढी पुराने हैं। साथ ही काव्यादर्श एवं दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी एक ही हैं, अलग अलग नहीं।

---

१. De : Sanskrit Poetics p. 60.

२. यच्च कथाख्यायिका महाकाव्यं इति तल्लक्षणं च नातीव हृदयंगमं इत्युपेक्षितं अस्माभिः, तदन्यतो ग्राह्यम्।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १. ३. ३२

३. De : Sanskrit Poetics p. 63.

दण्डी का प्रसिद्ध अलंकारग्रंथ 'काव्यादर्श' है। इस ग्रंथ में तीन परिच्छेद हैं, जिनमें कुल ६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य के भेद, गद्य के भेदद्वय—कथा तथा आख्यायिका, रीति, गुण तथा कवि के आवश्यक गुणों का वर्णन पाया जाता है। द्वितीय परिच्छेद में अर्थालंकारों का विवेचन है, जिसमें अलंकार की सामान्य परिभाषा तथा ३५ अलंकारों का संकेत है। तृतीय परिच्छेद में शब्दालंकारों, चित्रबन्धों तथा दस काव्य दोषों का वर्णन है।

काव्यादर्श पर एक दर्जन से अधिक टीकाओं और व्याख्याओं का पता चलता है। इनमें दो टीकाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं, एक तरुणवाचस्पति-कृत टीका, दूसरी किसी अज्ञात टीकाकार की हृदयंगमा नामक टीका। दोनों मद्रास से प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पर एक अच्छी टीका आधुनिक विद्वान पं० रंगाचार्य रेड्डी शास्त्री ने प्रभा नाम से लिखी है। काव्यादर्श का एक जर्मन अनुवाद प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ओ० बोत्लिंक ने लिपजिक (१८९०) से प्रकाशित किया था।

(४) उद्भट (आठवीं शती उत्तरार्ध)—अलंकारसम्प्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हैं। उद्भट ध्वनिकार आनंदवर्धन से निश्चित रूप में प्राचीन हैं। प्रतिहारेंदुराज, रुय्यक तथा पंडितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनंदवर्धन से प्राचीन माना है।[1] आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्पष्ट-रूप से दो बार भट्ट उद्भट का नामनिर्देश किया है। आनंदवर्धन का समय नवीं शती का पूर्वार्ध है।[2] उद्भट के नाम से स्पष्ट है कि वे काश्मीरी थे। कल्हण की राजतरंगिणी में एक भट्ट उद्भट का संकेत मिलता है, जो काश्मीरराज जयापीड (७७६-८१३ ई०) के सभापति थे। डा० ब्यूल्हर ने, जिन्होंने उद्भट के अलंकारग्रंथ की खोज की है,

---

१. देखिये, प्रतिहारेन्दुराज (पृ० ७९), रुय्यक (पृ० ३), पंडितराज (पृ० ४१४-५)

२. आनंदवर्धन की तिथि के विषय में राजतरंगिणी का निम्न पद्य प्रमाण माना जाता है। वे अवंतिवर्मा (नवीं शती पूर्वार्ध) के राजकवि थे।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

आलंकारिक उद्भट को इन्हीं भट्टोद्भट से अभिन्न माना है। इस प्रकार उद्भट का समय आठवीं शती का उत्तरार्ध सिद्ध होता है!

उद्भट का एक ही ग्रंथ उपलब्ध है—काव्यालंकारसारसंग्रह। प्रतिहारेंदुराज की साक्षी पर उद्भट ने एक दूसरी भी रचना की थी, जो भामह के काव्यालंकार की टीका 'भामहविवरण' थी। काव्यालंकारसारसंग्रह से एक तीसरी कृति का भी पता चलता है—कुमारसंभव काव्य। उद्भट ने इस काव्य के लगभग सौ पद्यों को अपने अलंकार ग्रंथ में उदाहरणों के रूप में उपन्यस्त किया है। यह काव्य कालिदास के कुमारसंभव की नकल पर लिखा काव्य जान पड़ता है, और केवल अनुष्टुप् छंदों में निबद्ध है।

उद्भट के ग्रंथ पर दो टीकाएँ मिलती हैं। एक प्रतिहारेन्दुराज की टीका है, जो निर्णय सागर प्रेस से सर्वप्रथम १९१५ में प्रकाशित हुई थी। प्रतिहारेंदुराज भट्ट मुकुल ( अभिधावृत्तिमातृका के रचयिता ) के शिष्य थे। यद्यपि प्रतिहारेंदुराज टीकाकार हैं, किंतु प्रसिद्ध ध्वनि-विरोधी होने के कारण आलंकारिकों ने इन्हें भी आचार्य माना है तथा अलंकारसम्प्रदाय की आचार्यचतुष्टयी ( भामह, दण्डी, उद्भट, प्रतिहारेंदुराज ) में इनकी गणना की है। प्रतीहारेंदुराज दाक्षिणात्य थे तथा इनका समय दसवीं शती का पूर्वार्ध है। उद्भट के दूसरे टीकाकार राजानक तिलक हैं, जिनकी 'विवेक' नामक टीका गायकवाड ओरियन्टल सिरीज से १९३१ में प्रकाशित हुई है। विवृति के साथ उसके रचनाकार का उल्लेख नहीं है, किंतु इस संस्करण के संपादक रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि ने कई प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इसके रचयिता राजानक तिलक हैं।[1] राजानक तिलक को भूमिका में मम्मट का समसामयिक माना है, तथा उनका समय इस तरह १०७५—११२५

---

१. जयरथानुवादयोश्चैकः शब्दतोऽन्योऽर्थतः प्रकृतव्याख्यायां समुपलभ्यमानः, उद्भटसम्मतार्थस्य विवेचनोद्भटविवेक इत्यभिधानौचिती च प्रकृतव्याख्यायाः राजानकतिलकप्रणीतोद्भटविवेकाभिधानसम्भावनां द्रढयतः।—

—काव्यालंकारसारसंग्रह ( भूमिका ) पृ० ३८

( गायकवाड ओ० सि० संस्करण )

ई० माना है। विवेक में कई स्थान पर प्रतीहारेंदुराजकृत टीका का खंडन भी पाया जाता है।

यद्यपि उद्भट का ग्रंथ भामह के काव्यालंकार को ही उपजीव्य बनाकर चला है, तथापि बाद के आलंकारिकों ने उद्भट का नाम इतने आदर से लिया है कि उद्भट ने भामह की कीर्ति को आच्छन्न कर दिया है। उद्भट ने अलंकारों के विषय में सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है। उद्भट ने कई नये अलंकारों का संकेत किया है, साथ ही कई के भेदोपभेद का वैज्ञानिक विवरण दिया है। उपमा तथा श्लेष के विषय में उद्भट के भेदोपभेद बाद के आलंकारिकों ने स्वीकार किये हैं।

( ५ ) वामन ( आठवीं शती उत्तरार्ध )—वामन रीतिसंप्रदाय के आचार्य हैं। वामन के अलंकार ग्रंथ में सूत्र ४, ३, ६ की वृत्ति में भवभूति के उत्तररामचरित का उद्धरण पाया जाता है, अतः यह स्पष्ट है कि वामन भवभूति से परवर्ती हैं। भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहे हैं, जिसका समय आठवीं शती का पूर्वार्ध है। इस प्रकार भवभूति का समय आठवीं शती का पूर्वार्ध रहा है। वामन का संकेत राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है तथा वामन के सूत्र १, २, १–३ का उद्धरण राजशेखर ने दिया है। इससे स्पष्ट है कि नवीं शती के उत्तरार्ध तक—जो राजशेखर का समय है—वामन ने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। यद्यपि आनंदवर्धन ने वामन का कहीं भी साक्षात् संकेत नहीं किया है, तथापि अपनी ३, ५२ कारिका की वृत्ति में रीति-सिद्धांत का संकेत अवश्य किया है। ऐसा जान पड़ता है कि वामन भी भामह, दंडी एवं उद्भट की भाँति ध्वनि सिद्धांत की उद्भावना के पूर्व हुए थे। प्रतीहारेंदुराज ने वामन का नाम आदर के साथ लिया है तथा उसने बताया है कि वामन अलंकार ध्वनि के स्थलों पर वक्रोक्ति को मानते हैं। प्रो० याकोबी वामन को अज्ञातनामा ध्वनिकार ( जो आनंदवर्धन से भिन्न हैं ) का समसामयिक मानते हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि वामन पर ध्वनि सिद्धांत का कोई प्रभाव नहीं है। इस प्रकार हम वामन को नवीं शती के मध्य से इधर का नहीं मान सकते।

इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि वामन आठवीं शती के अंतिम दिनों में थे। डॉ० ब्यूल्हर ने आलंकारिक वामन

को काश्मीरराज जयापीड ( ७७९-८१३ ई० ) के मंत्री वामन से अभिन्न माना है, जिसका संकेत राजतरंगिणी (४, ४९७) में पाया जाता है। इस मत की प्रामाणिकता स्वीकार कर ली गई है। इस मत के अनुसार वामन और उद्भट एक दूसरे के समसामयिक तथा विरोधी रहे हैं। वामन तथा उद्भट के विरोधी शास्त्रीय मतों की पुष्टि राजशेखर, हेमचंद्र तथा जयरथ के उन प्रयोगों से होती है, जहाँ वे वामनीय तथा औद्भट संप्रदायों का संकेत करते हैं।

वामन का ग्रंथ सूत्र पद्धति पर लिखा गया है। पूरा ग्रंथ पाँच अधिकरण, बारह अध्याय तथा ३१९ सूत्रों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, काव्य का अधिकारी, काव्य की आत्मा, रीति के भेद तथा काव्य-प्रकार का वर्णन है। द्वितीय अधिकरण में दोष प्रकरण है। तृतीय अधिकरण में गुणालंकार प्रविभाग तथा दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों का विवेचन है। चतुर्थ अधिकरण में अर्थालंकारों की मीमांसा है। पंचम अधिकरण में संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया गया है।

वामन का ग्रंथ 'काव्यालंकारसूत्र' है. जिस पर 'कविप्रिया' नामक वृत्ति है। इसमें उदाहरण भाग भी है। वृत्ति की रचना स्वयं वामन ने ही की है। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति पर दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—गोपेंद्र ( या गोविंद ) कृत कामधेनु तथा महेश्वर कृत साहित्यसर्वस्व। दोनों बहुत बाद की रचनाएँ हैं। इसका आंग्ल अनुवाद डॉ० गंगानाथ झा ने प्रकाशित कराया था। इसकी एक हिंदी व्याख्या भी इन्हीं दिनों निकल चुकी है।

( ६ ) रुद्रट ( नवीं शती का पूर्वार्ध )—रुद्रट अलंकार संप्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। रुद्रट का प्रभाव सर्वप्रथम राजशेखर ( काव्यमीमांसा पृ० ३१ ) पर पाया जाता है, जो रुद्रट द्वारा सम्मत काकुवक्रोक्ति ( २, १६ ) का संकेत करता है। अतः स्पष्ट है कि रुद्रट का समय नवीं शती के उत्तरार्ध से पुराना है। माघ के शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ( १०वीं शतो पूर्वार्ध ) ने अपनी टीका में दो स्थानों पर इस बात का संकेत किया है कि उसने रुद्रट के अलंकार ग्रंथ पर भी एक टीका लिखी है। जर्मन विद्वान् हुल्त्श ने वल्लभ की टीका में

अन्यत्र भी ऐसे स्थल ढूँढे हैं, जो संभवतः रुद्रट का संकेत जान पड़ते हैं।[1] प्रतीहारेंदुराज की टीका में भी रुद्रट की दो कारिकाएँ ( ७, ३५; १२, ४ ) बिना नाम के उद्धृत हैं तथा रुद्रट के सप्तम परिच्छेद का ३६वाँ श्लोक भी पाया जाता है। इससे प्रो० पीटर्सन के द्वारा रुद्रट को दसवीं शती के उत्तरार्ध का मानने की धारणा का खंडन हो जाता है। रुद्रट की तिथि की ऊपरी सीमा का पूरी तरह निश्चय नहीं हो सकता, पर यह स्पष्ट है कि वह भामह, दंडी तथा वामन से परवर्ती है। याकोबी के मतानुसार रुद्रट ने वक्रोक्ति अलंकार संबंधी धारणा कवि रत्नाकर से ली है, जिसने 'वक्रोक्ति पंचाशिका' की रचना की थी तथा जो अवंतिवर्मा का राजकवि था। चाहे रुद्रट ने रत्नाकर से यह धारणा न ली हो, पर रुद्रट ही ने सर्व प्रथम इसका प्रदर्शन किया है। रुद्रट ने इसके दो भेद किये हैः—श्लेष तथा काकु। हम देखते हैं कि भामह, दंडी तथा वामन की वक्रोक्ति संबंधी धारणा रुद्रट से सर्वथा भिन्न है। अतः रुद्रट वामन से परवर्ती सिद्ध होते हैं। इस प्रकार रुद्रट को नवीं शती के मध्य भाग में माना जा सकता है।

पिशेल, वेबर, आफ्रेक्ट तथा ब्यूल्हर ने रुद्रट को शृंगारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट से अभिन्न माना है, किंतु पीटर्सन, म० म० दुर्गाप्रसाद तथा प्रो० त्रिवेदी ने इन्हें भिन्न-भिन्न माना है। रुद्रट के पिता का नाम भट्ट वामुख था जो सामवेदी ब्राह्मण थे तथा रुद्रट का दूसरा नाम शतानंद भी था। जब कि रुद्रभट्ट के कुल का पता नहीं, साथ ही काव्यालंकार के रचयिता का नमिसाधु एवं वल्लभ दोनों ने स्पष्टतः रुद्रट के रूप में उल्लेख किया है।

रुद्रट का काव्यालंकार १६ अध्यायों में विभक्त ग्रंथ है। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दालंकार, चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबंध, अर्थालंकार, दोष, दस रस तथा नायक-नायिकाभेद का विवेचन पाया जाता है। रुद्रट सबसे पहले अलंकार संप्रदाय के आचार्य हैं, जिन्होंने रस का विस्तार से वर्णन किया है। काव्यालंकार पर वल्लभदेव ने कोई टीका लिखी थी वह उपलब्ध नहीं। इसके अतिरिक्त दो टीकाएँ और हैं—जैन यति नमिसाधु की टीका, जो ग्यारहवीं शती की रचना है, तथा

१. De : Sanskrit Poetics V. I p. 86.

काव्यालंकार की प्रसिद्ध टीका है, दूसरी अन्य जैन टीकाकार आशाधर की रचना है, जो तेरहवीं शती की रचना है—ये आशाधर त्रिवेणिका तथा अलंकार दीपिका के रचयिता पंडित आशाधर से भिन्न हैं, जो परवर्ती ( १८वीं शती ) ब्राह्मण लेखक हैं।

( ७ ) ध्वनिकार आनंदवर्धन ( नवीं शती उत्तरार्ध )—ध्वनि संप्रदाय के सिद्धांतों का प्राथमिक विवेचन हमें उन कारिकाओं में मिलता है, जिनकी रचना आनंदवर्धन ने की या किसी दूसरे व्यक्ति ने, यह प्रश्न साहित्यशास्त्र के इतिहास का अंग बन गया है। ये कारिकायें कब लिखी गईं, किसने लिखीं, क्या ये आनंदवर्धन की ही रचना है ? आदि विवादग्रस्त विषय हैं। संस्कृत के पूर्वीय पद्धति के विद्वान अधिकतर यही मानते हैं कि कारिकायें और वृत्ति दोनों आनंदवर्धन की ही कृतियाँ हैं। किंतु पाश्चात्य विद्वानों का मत इस विषय में सर्वथा भिन्न है।

सर्व प्रथम ब्यूल्हर ने अपनी "काश्मीर रिपोर्ट" में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इसके प्रमाण स्वरूप उनका कहना है कि अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका "लोचन" में कारिकाकार तथा वृत्तिकार के परस्पर विरुद्ध मतों का उल्लेख तीन स्थानों पर ( पृ० १२३, १३०, १३० चतुर्थ परि, पृ० २९ ) किया है। अतः वे दोनों भिन्न ही होने चाहिए।[1] पृष्ठ १२३ पर अभिनव गुप्त ने बताया है कि वस्तु, अलंकार तथा रस रूप ध्वनि-भेदों का स्पष्ट निर्देश कारिकाओं में कहीं नहीं है, साथ ही चतुर्थ उल्लास में वृत्तिकार तो काव्य की अनंतता के विषय का उल्लेख करता है, किंतु यह बात कारिकाकार में नहीं पाई जाती। जैसा प्रतीत होता है कि आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत को अपूर्ण रूप से स्पष्ट करने वाली कारिकाओं पर उसे पूर्ण एवं प्रौढ रूप देने की चेष्टा से वृत्ति लिखी। कालांतर में, आनंद वर्धन के इस प्रौढ़-सिद्धांत-विवेचन के कारण ध्वनिकार की महत्ता कम हो गई और वह स्वयं ही ध्वनि सिद्धांत का आदि प्रवर्तक माना जाने लगा। इसी आधार पर हम साहित्यशास्त्र

---

१. ZDMG. 1902 P. 405 f

के अन्य ग्रंथों में आनंद के नाम से कारिकाओं को, तथा ध्वनिकार के नाम से वृत्ति को उदाहृत पाते हैं। डॉ० व्यूल्हर तथा याकोबी के अतिरिक्त डॉ० दे भी अपने "संस्कृत काव्य शास्त्र" में इनको भिन्न ही मानते हैं।[1]

यह कारिकाकार कौन था? इस विषय में प्रो० सोवानी ने "रायल एशियाटिक सोसायटी"[2] की पत्रिका में एक धारणा रक्खी थी। उनके मतानुसार इन कारिकाओं के रचयिता का नाम "सहृदय" था। इसके वे दो कारण देते हैंः—

(१) ध्वन्यालोक का दूसरा नाम "सहृदयालोक" भी है,

(२) ध्वन्यालोक के चतुर्थ उल्लास के अंत में तथा अभिनवगुप्त के व्याख्या के आदि में प्रयुक्त "सहृदय" तथा "कवि सहृदय" शब्द इसकी पुष्टि करते हैं। किंतु यह मत ठीक नहीं, "सहृदय" शब्द का प्रयोग वस्तुतः उस काव्यानुशीलनकर्ता व्यक्ति के लिए हुआ है, जिसमें रसानुभूति की क्षमता है। आनंद स्वयं वृत्ति में "सहृदयत्व" पर प्रकाश डालते हैं, तथा अभिनवगुप्त "सहृदय" की परिभाषा यों देते हैंः—

"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः"।

प्रो० याकोबी ध्वनिकार को काश्मीरनृपति जयापीड़ तथा ललितादित्य एवं मनोरथ का समसामयिक मानते है, किंतु इस विषय में कोई विशेष प्रमाण नहीं। डॉ० दे का मत है कि ध्वनिकार का संप्रदाय रीति, रस व अलंकार के साथ ही साथ प्रचलित हुआ होगा, किंतु आनंदवर्धन के समय तक वह इतना प्रौढ नहीं हुआ था। डॉ० दे के मत से ध्वनिकार को दंडी तथा वामन का समसामयिक मानना ही ठीक होगा।[3]

---

१. Dr. De : Sanskrit Poetics. Vol. I. PP. 107-110.

२. Journal of Royal Asiatic Society (1910) PP. 164-67.

३. It only goes to establish that the theory ennunciated by the Dhwanikara, may have existed

डॉ० कांतिचंद्र पांडेय ने अपने "अभिनवगुप्त—ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अध्ययन" नामक गवेषणापूर्ण ग्रंथ में ध्वनिकार तथा आनंद-वर्धन संबंधी इस प्रश्न को फिर से उठाया है। इस ग्रंथ के तृतीय परिच्छेद में "ध्वनिकारिका का रचयिता कौन था" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ० पांडेय ने डॉ० दे आदि का खंडन किया है। ध्वनि-कार तथा आनंदवर्धन को एक मानने के वे पाँच प्रमाण देते हैं:—
( १ ) बहुधा ऐसा देखा जाता है कि संस्कृत लेखक किसी रचना के पूर्व में मंगलाचरण अवश्य रखते हैं। ध्वन्यालोक में केवल एक ही मंगलाचरण[1] पाया जाता है। यदि दोनों भिन्न-भिन्न है, तो कारिका ग्रंथ का मंगलाचरण अलग तथा वृत्ति ग्रंथ का अलग पाया जाता।

( २ ) वृत्ति पढ़ते समय हम देखते हैं कि कई कारिकाओं के पूर्व कई स्थानों पर "उच्यते" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि हमें "उच्यते" क्रिया के कर्ता का पता लग जाय तो ग्रंथकर्ता के प्रश्न पर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर इसे स्पष्ट किया है। द्वितीय उल्लास की २८वीं कारिका के पहले "इयत् पुनरुच्यते

---

side by side with these systems, as we find them in the extent works, for it could not have been much later in as much as such a supposition would bring it too near the line of Anandawardhana himself. If the Dhwanikara was contemporaneous with Dandin or Vamana, he may be placed, at most a century earlier than his commentator in the first half of the 8th century.

—Dr. De : Sanskrit Poetics Vol. I. P. 115.

१. स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

( ध्वन्यालोक, १, १ )

एव" इस वृत्ति की टीका में लोचनकार ने "अस्माभिरिति वाक्यशेषः" ऐसा लिखा है। क्या इससे वृत्ति व कारिका दोनों के कर्ता की अभिन्नता नहीं प्रकट होती ?

( ३ ) लोचन में द्वितीय उल्लास के आदि में "ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः" इस वृत्ति की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने "प्रकाशित इति, मया वृत्तिकारेण सतेति भावः" इसमें "सता" का प्रयोग किया है। यह प्रयोग कारिकाकार तथा वृत्तिकार की अभिन्नता व्यक्त करता है।

( ४ ) एक स्थान पर अभिनवगुप्त वृत्तिकार को स्पष्ट रूप से कारिकाकार मानते हैं:—प्रकान्तप्रकारद्वयोपसंहारः तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारण अवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्" ( ध्वन्यालोक पृ० १०४ )

इसमें प्रयुक्त "एकेनैव यत्नेन" बाद की कारिका का संकेत करता है। यह "करोमि" क्रिया वाले वाक्य का अंश है। यह वाक्य वृत्तिकृत् का संकेत करता है। अतः वही "करोमि" का कर्ता है। क्या इससे दोनों की अभिन्नता स्पष्ट नहीं होती ?

( ५ ) जब अभिनवगुप्त ग्रंथ के उल्लासों के अन्त में 'ध्वन्यालोक" शब्द का प्रयोग करते हैं, तो केवल वृत्ति के लिए नहीं अपितु वृत्ति एवं कारिका दोनों के लिए।[१]

पं० बलदेव उपाध्याय का मत भी यही है कि ध्वनिकार एवं वृत्तिकार दोनों एक ही व्यक्ति हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "भारतीय साहित्य शास्त्र" के द्वितीय खण्ड में वे स्पष्ट घोषित करते हैं "कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं, कारिकाकार को उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की है।"[२] ध्वनिकार तथा आनन्द वर्धन के विषय में डा० पांडेय जैसे लोगों की गवेषणा ने बता दिया है कि दोनों एक ही है। अतः इस प्रश्न का एक प्रकार से अन्तिम उत्तर दे दिया गया है।

---

१. Dr. Pandey : Abinavagupta : A Historical and Philosophical study. P. 132–37.

२. भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० ११

ब्यूल्हर तथा याकोबी ने आनन्दवर्धन का समय, राजतरंगिणी के आधार पर नवीं शताब्दी का मध्य भाग माना है। वे निम्न श्लोक के आधार पर काश्मीर राज्य अवन्तिवर्मा के राजकवि थे, जो ८५५ ई० से ८८४ ई० तक विद्यमान था।

"मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः"

ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त का समय हमें स्पष्ट ज्ञात है कि उन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की बृहती विमर्शिनी १०२५ ई० में लिखी थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, लोचन के पूर्व अभिनव के ही एक पूर्वज या गोत्रज ने ध्वन्यालोक पर "चन्द्रिका" नाम की टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख अभिनव स्वयं भी करते हैं:—"चन्द्रिकाकारैस्तु पठितम्—इत्यलमस्मत्पूर्ववंशैः सह विवादेन बहुना" (पृ० १८५) अतः आनन्द तथा अभिनव के बीच कुछ समय मानना ही होगा। इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी उठता है कि अभिनव आनन्द के लिए "गुरु" का प्रयोग करते हैं, तो क्या वे आनन्द के समसामयिक थे? वस्तुतः यहाँ "गुरु" का तात्पर्य "परम्परागुरु" ही लेना उचित होगा। आनन्द वर्धन के "देवीशतक" पर कैयट ने ९७७ ई० के आसपास टीका लिखी थी। अतः दसवीं शताब्दी के अन्त तक आनन्द ने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

आनन्द के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं। हेमचन्द्र तथा इंडिया आफिस लन्दन की हस्तलिखित प्रति के आधार पर वे "नोण" के पुत्र थे। इन्होंने देवीशतक, विषमबाणलीला (प्राकृतकाव्य), अर्जुन चरित तथा तत्त्वालोक ये ग्रंथ भी लिखे थे। इनमें से केवल ध्वन्यालोक तथा देवीशतक ये दो ग्रंथ ही उपलब्ध हैं, अन्य का उल्लेख भर मिलता है।

(८) अभिनवगुप्तः—ध्वनि संप्रदाय के संस्थापकों तथा आचार्यों में अभिनव ही अकेले ऐसे हैं, जिनके समय तथा जीवन के विषय में हम आवश्यक बातें जानते हैं। अभिनवगुप्त की विशेष प्रसिद्धि तंत्रशास्त्र तथा शैव दर्शन संबंधी ग्रंथों के लेखक के रूप में है, किंतु भरत तथा

आनंद के प्रमुख नाट्यशास्त्रीय तथा साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों पर "भारती" तथा "लोचन" लिखने से इस क्षेत्र में भी उनकी कम प्रसिद्धि नहीं। समस्त ध्वनिविरोधियों तथा व्यंजनाविरोधियों का खंडन कर ध्वनि सिद्धांत के आधार पर रस की मनःशास्त्रीय महत्ता प्रतिपादित करने वाले सर्व प्रथम अभिनव ही हैं। इन्हीं के मार्ग पर मम्मट चले हैं। अभिनवगुप्त जैसे प्रकांड विद्वान को पाकर ही ध्वनिसंप्रदाय साहित्य शास्त्र में बद्धमूल हो सका तथा साहित्यमंदिर का स्वर्ण कलश बन सका।

अभिनव का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इनकी रचनायें ९८५ ई० के बाद की हैं। क्रमस्तोत्र की रचना उन्हीं के अनुसार ९९१ ई० में हुई थी। जैसा कि अभिनव स्वयं लिखते हैं ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की टीका विमर्शिनी १०१४-१५ ई० (कलि संवत् ४०९० में लिखी गई थी।)

इतिनवतितमेंशे वत्सरांत्ये युगांशे,
तिशिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥

अभिनव गुप्त के पिता का नाम नरसिंहगुप्त[1] (चुखुलक) तथा माता का नाम विमलका था। अभिनव के कई गुरु थे। इनसे अभिनव ने भिन्न-भिन्न विद्यायें तथा शास्त्र पढ़े थे। इनमें विशेष उल्लेखनीय नरसिंहगुप्त (इनके पिता), इंदुराज तथा भट्टतौत हैं, जिनसे उन्होंने क्रमशः व्याकरण, ध्वनि एवं नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया। इस विषय में भट्टेन्दुराज अथवा इंदुराज का उल्लेख लोचन में स्थान स्थान पर हुआ है।[2] साथ ही उनके कई पद्य भी उद्धृत हुए हैं। भट्टेन्दुराज कौन थे, इस विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं।

---

१. तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धः चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः

—तन्त्रालोक ३७

२. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोहम्।

—ध्वन्यालोक लोचन

अभिनव ने तंत्रशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र तीनों पर रचनायें की हैं। इनकी आरंभिक रचनायें तांत्रिक हैं। बीच के समय में अभिनव में साहित्यिक प्रवृत्ति पाई जाती है। उस काल की रचनाएँ "भारती" तथा "लोचन" हैं। "अभिनव भारती" तथा "लोचन" में पहली रचना संभवतः "लोचन" ही हो। इसके बाद अभिनव में दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय हुआ और हमें शैव दर्शन पर "बृहती" जैसे ग्रंथ की उपलब्धि हुई। अभिनव के कुल ग्रंथ लगभग ४१ प्रसिद्ध हैं। डा० पांडेय ने अपने अभिनव गुप्त संबंधी गवेषणात्मक प्रबंध में इनको पूरी तालिका दी है। अभिनव ने प्रसिद्ध दो साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त 'काव्य-कौतुकविवरण" नामक रचना भी की थी। इसकी रचना उनके साहित्यिक काल में सर्व प्रथम हुई थी। भारती इस काल की अंतिम रचना रही होगी। यद्यपि शैव दार्शनिक के रूप में अभिनवगुप्त का महत्त्व अधिक है, तथापि यहाँ हमें उनके साहित्यिक रूप से ही प्रयोजन है। इतना होते हुए हम भी शैव दार्शनिक अभिनव को सर्वथा नहीं भुला सकते, क्योंकि उनकी रस पद्धति पर शैव दर्शन का गहरा प्रभाव है।

( ९ ) कुंतक ( दसवीं शती उत्तरार्ध )—कुंतक वक्रोक्ति नामक प्रस्थानभेद के प्रसिद्ध उद्भावक हैं। ये अलंकारसाहित्य में वक्रोक्ति जीवितकार के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। कुंतक का नाम कुंतल भी प्रसिद्ध है। हम देखते हैं कि वक्रोक्तिजीवित में राजशेखर के नाटकों से—विशेषतः बालरामायण से, कई पद्य उद्धृत किये गये हैं, साथ ही कुंतक ध्वनिकार के सिद्धांतों से पूर्णतः परिचित हैं, अतः स्पष्ट है कि कुंतक का समय नवीं शती से पुराना नहीं हो सकता। कुंतक का उद्धरण सर्व प्रथम हमें महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक में मिलता है। महिम भट्ट का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि कुंतक दसवीं शती के उत्तरार्ध या ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में रहे होंगे। इस तरह वे लोचनकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ( दसवीं शती-ग्यारहवीं शती ) के समसामयिक सिद्ध होते हैं। लोचनकार ने यद्यपि वक्रोक्ति के संबंध में प्रचलित कई धारणाओं का संकेत किया है, किंतु वे वक्रोक्तिजीवितकार का कोई संकेत नहीं करते।

कुंतक का ग्रंथ चार उन्मेषों में विभक्त है, जिनमें वक्रोक्ति के छः

भेदों का विवरण है। ग्रंथ कारिका तथा वृत्ति के ढंग पर लिखा गया है। कुंतक ने स्वयं ही दोनों अंशों की रचना की है। कुंतक का वक्रोक्तिजीवित साहित्यिक समाज के सम्मुख बहुत देर से प्रकाश में आया है। इसके प्रकाशन का श्रेय डॉ० सुशील कुमार दे को है, जिन्होंने इसके प्रथम दो उन्मेषों को पहले तथा बाकी दो उन्मेषों को बाद में प्रकाशित किया। कुंतक के वक्रोक्तिजीवित पर कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है। अभी हाल में ही इस पर एक हिंदी व्याख्या प्रकाशित हुई है।

( १० ) भोज ( ग्यारहवीं शती का मध्य)—भोज वस्तुतः एक ऐसे आलंकारिक हैं, जिन्हें अलंकारशास्त्र का कोषकार कहा जा सकता है। सरस्वतीकंठाभरण तथा शृंगारप्रकाश दोनों ग्रंथों में भोज ने अलंकार शास्त्र के समस्त विषयों पर विस्तार से विचार किया है। भोज का सबसे पहला उल्लेख हमें हेमचंद्र के काव्यानुशासन में मिलता है। हेमचंद्र का समय १२वीं शती का पूर्वार्ध है। भोज प्रसिद्ध धारा-नरेश हैं, जो सिंधुराज मुंज के भतीजे थे। सरस्वतीकंठाभरण में राजशेखर तथा विह्लण तक के पद्यों के उद्धरण पाये जाते हैं, जो भोज की तिथि के निर्धारण में साक्षी हैं।

सरस्वतीकंठाभरण पाँच परिच्छेदों का ग्रंथ है। प्रथम परिच्छेद में काव्य दोषों व गुणों का वर्णन है। भोज ने १६ दोष तथा २४ गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों का विवेचन है। तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालंकारों तथा चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालंकारों की मीमांसा है। अंतिम परिच्छेद में रस, भाव, पंचसंधि तथा वृत्ति चतुष्टय का वर्णन है। इस ग्रंथ पर रत्नेश्वर नामक लेखक की टीका उपलब्ध है। भोज का दूसरा ग्रंथ शृंगारप्रकाश है। इसके केवल तीन प्रकाश ( २२-२४ प्रकाश ) प्रकाशित हुए हैं, बाकी ग्रंथ अप्रकाशित हैं। पूरा ग्रंथ ३६ प्रकाशों में विभक्त महाकाय प्रबंध है। इसका विवरण डा० राघवन् के थीसिस 'भोजाज शृंगारप्रकाश' के दोनों भागों में मिलता है।

(११) मम्मट ( ग्यारहवीं शती उत्तरार्ध ):—मम्मट का काव्य-प्रकाश ध्वनि संप्रदाय का प्रामाणिक ग्रंथ है, जो प्रस्थान ग्रंथ की तरह आदर से देखा जाता रहा है। मम्मट के समय का पूरी तरह

निश्चय नहीं हो सकता है, पर यह तो निश्चित है कि मम्मट रुद्रट, अभिनवगुप्त तथा महिमभट्ट से परिचित हैं। रुद्रट के अलंकारसंबंधी विचारों के मम्मट ऋणी हैं। महिमभट्ट (११ वीं शती उत्तरार्ध) का साक्षात् उल्लेख तो काव्यप्रकाश में कहीं नहीं मिलता, किंतु पंचम उल्लास में अनुमानवादी का खंडन संभवतः महिम का ही खंडन है। महिम तथा मम्मट समसामयिक जान पड़ते हैं। मम्मट के द्वारा उद्धृत एक पद्य में भोजदेव का नाम मिलता है—"...भोजनृपतेस्तत्त्याग-लीलायितम्" इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोज से प्राचीन नहीं हो सकते। एक किंवदंती के अनुसार वे नैषधीयचरित के कवि श्रीहर्ष के मामा थे। काव्यप्रकाश पर सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका माणिक्यचन्द्र ने १२१६ संवत् (= ११६० ई०) में लिखी थी, अतः स्पष्ट है कि इस समय तक मम्मट की अत्यधिक ख्याति हो चुकी थी। इन्हीं दिनों इस पर एक दूसरी भी टीका लिखी गई है। यह टीका अलंकारसर्वस्व के रचयिता रुय्यक की रचना है। रुय्यक का समय बारहवीं शती का मध्य माना जाता है। इस प्रकार मम्मट को ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में मानना ठीक होगा।

सुधासागरकार भीमसेन दीक्षित के मतानुसार मम्मट के पिता का नाम जैयट था तथा मम्मट के दो भाई कैयट तथा उव्वट थे। कैयट महाभाष्य की प्रसिद्ध टीका प्रदीप के लेखक थे। उव्वट प्रातिशाख्यों के प्रसिद्ध टीकाकार थे। किंतु उव्वट मम्मट के भाई नहीं हो सकते, क्योंकि उव्वट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है, जैयट नहीं।

मम्मट की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—काव्यप्रकाश तथा शब्दव्यापार-विचार। दूसरा ग्रंथ कुछ नहीं काव्यप्रकाश के ही द्वितीय उल्लास का उलथा-सा है। प्रथम ग्रंथ कारिका तथा वृत्ति में लिखा गया है तथा दस उल्लासों में विभक्त है। इसके नवें तथा दसवें उल्लासों में क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का प्रकरण है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मम्मट ने इस ग्रंथ को दसवें उल्लास के परिकर अलंकार के प्रकरण तक ही लिखा था, बाद में अलक या अलट नाम के विद्वान् ने बाकी अंश को पूरा किया है, पर यह किंवदंती मात्र है। डा० दे इस किंवदंती पर विश्वास करते हैं।[1]

१. De : Sanskrit Poetics Vol. I p. 162-163.

मम्मट के काव्य प्रकाश पर सत्तर के लगभग टीकायें लिखी गई हैं, यह तथ्य इस ग्रंथ की महत्ता का संकेत कर सकता है। इनके प्रमुख टीकाकारों में रुय्यक, माणिक्यचन्द्र, जयंतभट्ट, चंडीदास, विश्वनाथ कविराज, परमानंद चक्रवर्ती, गोविंद ठक्कुर, कमलाकर भट्ट, भीमसेन दीक्षित, नागेश भट्ट तथा वैद्यनाथ तत्सत् का नाम लिया जा सकता है। प्राचीन टीकाओं के आधार पर वामनाचार्य झलकीकर ने सुबोधिनी टीका लिखी है। म० म० डा० गंगानाथ झा ने इसकी अंगरेजी कारिका उपस्थित की थी तथा इस पर दो हिंदी व्याख्यायें भी निकल चुकी हैं।

(१२) अग्निपुराण ( बारहवीं शती का मध्य ):—अग्निपुराण में अध्याय ३३६ से लेकर ३४६ तक साहित्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन है। अग्निपुराण के इस अंश के संकलन कर्ता को रीति तथा ध्वनि के विषय में पूरी जानकारी थी, पर वह ध्वनि का विरोधी जान पड़ता है। उसकी अलंकार संबंधी धारणाओं पर भोज का प्रभाव दिखाई पड़ता है, अतः ऐसा अनुमान होता है कि अग्निपुराण का यह अंश भोज की रचनाओं से परवर्ती है। अग्निपुराण के तीन अध्यायों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन है। ३४२ वें अध्याय में शब्दालंकार तथा चित्रबंधों का संकेत है, ३४३–४४ वें दो अध्यायों में अर्थालंकारों का। भोज की भाँति अग्निपुराण ने भी उभयालंकार जैसी अलंकार कोटि मानी है। विद्वानों ने बताया है कि अग्निपुराण के अलंकार संबंधी विचारों पर भामह, दंडी, तथा भोज का प्रभाव है।[1]

(१३) रुय्यक ( बारहवीं शती का मध्य ):—रुय्यक राजानक तिलक के पुत्र थे। राजानक तिलक स्वयं आलंकारिक थे तथा उन्होंने उद्भट पर 'विवेक' नामक टीका लिखी थी। रुय्यक का दूसरा नाम रुचक भी है। रुय्यक की प्रसिद्ध आलंकारिक कृति 'अलंकारसर्वस्व' है। इसके अतिरिक्त रुय्यक ने दो रचनाएँ और की थीं, एक काव्यप्रकाश पर 'संकेत' नामक टीका, दूसरी महिम भट्ट के व्यक्ति विवेक पर टीका। महिमभट्ट के व्यक्ति विवेक पर विरचित रुय्यक की टीका व्यक्तिविवेकविचार द्वितीय विमर्श तक ही उपलब्ध हुई है तथा छप चुकी है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि रुय्यक मम्मट तथा महिम भट्ट से

---

१. Kane : History of Sanskrit Poetics pp. 6–9.

परवर्ती हैं। रुय्यक का सबसे पहला प्रभाव जयदेव के चंद्रालोक में देखा जाता है, जहाँ जयदेव ने 'विचित्र', 'विकल्प' जैसे अलंकारों का वर्णन किया है, जिनकी उद्भावना सर्व प्रथम रुय्यक ने ही की थी। अतः रुय्यक जयदेव से प्राचीन हैं। रुय्यक ने इस ग्रंथ में मंखुक के श्रीकण्ठ चरित से पाँच पद्यों को उद्धृत किया है। मंखुक रुय्यक का शिष्य था, क्योंकि मंखुक ने श्रीकण्ठ चरित के उपसंहार में अपने आपको रुय्यक का शिष्य बताया है। इस प्रकार रुय्यक ने अपने ग्रंथ में अपने शिष्य के काव्य से भी उदाहरण दिये हैं। मंखक का श्रीकण्ठ चरित डा०. ब्यूल्हर के मतानुसार ११२५ ई० तथा ११३४ ई० के बीच की रचना है, अतः रुय्यक का समय भी यही सिद्ध होता है।

रुय्यक की उपर्युक्त तीन कृतियों के अतिरिक्त अलंकारमंजरी, साहित्यमीमांसा, अलंकारानुसारिणी, नाटकमीमांसा, हर्षचरितवार्तिक, सहृदयलीला, अलंकारवार्तिक, श्रीकंठस्तव नामक रचनाओं का भी संकेत मिलता है। अलंकारसर्वस्व में दो भाग हैं—एक सूत्रभाग, दूसरा वृत्तिभाग। प्रश्न होता है क्या दोनों अंश रुय्यक की ही रचना हैं? इस संबंध में दो मत हैं, एक दक्षिण से मिले हस्तलेख के अनुसार इसके सूत्रकार रुय्यक हैं, वृत्तिकार मंखु या मंखुक। कुछ विद्वान् इसको प्रामाणिक मानते हैं तथा केवल सूत्रभाग को ही रुय्यक की रचना मानते हैं। किंतु दूसरा मत इसे नहीं मानता। हम देखते हैं कि जयरथ ने दोनों को एक की रचना माना है, साथ ही मल्लिनाथ, कुमारस्वामी, अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ भी सूत्रकार तथा वृत्तिकार का पार्थक्य नहीं मानते जान पड़ते। अतः दोनों को रुय्यक की ही रचना मानना ठीक है।

अलंकारसर्वस्व पहला ग्रंथ है, जो केवल अलंकारों पर लिखा गया है। बाद के आलंकारिकों ने इसे कई स्थानों पर उद्धृत किया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इसके ऋणी हैं, तथा अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद का यह तो उपजीव्य ग्रंथ माना गया है। इसमें रुय्यक ने ८० से ऊपर अलंकारों का वर्णन किया है। रुय्यक के अलंकार ग्रंथ की दो टीकाएँ पाई जाती हैं:—जयरथकृत विमर्शिनी टीका, तथा समुद्रबंधकृत टीका। विमर्शिनीकार जयरथ के ही कारण रुय्यक की इतनी प्रसिद्धि हुई है। दीक्षित तथा पंडितराज ने विमर्शिनीकार तक को उद्धत

किया है। पंडितराज ने तो कई स्थानों पर विमर्शिनीकार का खंडन भी किया है।

(१४) हेमचंद्र (बारहवीं शती का उत्तरार्ध):—हेमचंद्र प्रसिद्ध श्वेतांबर जैन आचार्य थे, जिन्होंने विविध विषयों पर रचनाएँ की हैं। ये गुजरात के राजा कुमारपाल (बारहवीं शती का उत्तरार्ध) के गुरु थे। इन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक अलंकार ग्रंथ लिखा है, जिस पर स्वयं ही टीका भी लिखी है। हेमचंद्र पर मम्मट के काव्यप्रकाश का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हेमचंद्र का यह ग्रंथ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिसमें काव्य की समस्त सामग्री का विवेचन किया गया है। हेमचंद्र ने छठे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन किया है, उन्होंने केवल २९ अलंकारों का वर्णन किया है।

(१६) वाग्भटद्वय (वाग्भट प्रथम १२ वीं शती उत्तरार्ध, वाग्भट द्वितीय १४ वीं शती):—हेमचंद्र के अतिरिक्त वाग्भटद्वय भी जैन आलंकारिक हैं। वाग्भट प्रथम काव्यानुशासनकार हेमचंद्र का समसामयिक है। वाग्भट द्वितीय परवर्ती हैं। वाग्भट प्रथम का ग्रंथ 'वाग्भटालंकार' है, जिस पर सिंहदेवगणि की टीका है। यह पाँच परिच्छेद में विभक्त सूक्ष्मकाय ग्रंथ है, जिसमें काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवरण पाया जाता है। इसके चतुर्थ परिच्छेद में चार शब्दालंकार तथा ३५ अर्थालंकारों का विवेचन है। वाग्भट द्वितीय का ग्रंथ 'काव्यानुशासन' है। यह सूत्रों में लिखा है, जिस पर ग्रंथकार की ही वृत्ति है। ग्रंथ में पाँच अध्याय हैं जिनमें काव्य के सभी अंगों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में ६३ अर्थालंकारों का वर्णन है। वाग्भट द्वितीय ने ध्वनि सिद्धांत का खंडन कर ध्वनि को पर्यायोक्त अलंकार में अंतर्भूत किया है।

(१७) पीयूषवर्ष जयदेव (तेरहवीं शती उत्तरार्ध):—जयदेव का चंद्रालोक एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। जयदेव उन आलंकारिकों में हैं, जिन्होंने ध्वनि सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है, पर अलंकार संप्रदाय के सिद्धांतों का मोह नहीं छूट सका है। चंद्रालोक में काव्य के समस्त अंगों का वर्णन करते हुए व्यंजना, ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य को मानते हुए भी चंद्रालोककार ने काव्य को 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहनेवाले ध्वनिवादी मम्मटाचार्य की खबर ली है। ये जयदेव गीत-

गोविंदकार कवि जयदेव से भिन्न हैं, किंतु प्रसन्नराघव के रचयिता से अभिन्न हैं। प्रसन्नराघव के पद्यों के उद्धरण हमें विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण तथा शार्ङ्गधरपद्धति में मिलते हैं। अतः स्पष्ट है जयदेव विश्वनाथ से प्राचीन हैं। विश्वनाथ का समय १४वीं शती माना जाता है। एक जयदेव प्रसिद्ध नैयायिक भी थे, तथा पक्षधर कहलाते थे। विद्वानों ने इनके साथ पीयूषवर्ष जयदेव की अभिन्नता मानी है, क्योंकि प्रसन्न-राघवकार ने अपने को नैयायिक कहा है, पर डॉ० दे इस मतको संदिग्ध मानते हैं। डा० दे जयदेव का समय चौदहवीं शतीका पूर्वार्ध मानते हैं।[1] जैसा कि हम रुय्यक के संबंध में बता चुके हैं, जयदेव रुय्यक से प्रभावित हैं, अतः रुय्यक एवं विश्वनाथ का मध्य ही जयदेव का काल है। चन्द्रालोक १० मयूखों में विभक्त अलंकारग्रंथ है। इसके पंचम मयूख में जयदेव ने १०० अर्थालंकारों की मीमांसा की है। चन्द्रालोक कारिका पद्धति में लिखा गया है, इसके पूर्वार्ध में लक्षण है, उत्तरार्ध में उदाहरण। चंद्रालोक को ही अप्पय दीक्षित ने अपना उपजीव्य बनाया है, उसी की कारिकायें कुवलयानन्द में ली हैं। इनमें कहीं कहीं परि-वर्तन भी कर दिया है। चंद्रालोकपर छः टीकायें उपलब्ध हैं। इनमें दीपिका, शरदागम, रमा तथा राकागम ( या सुधा ) प्रसिद्ध हैं। इसका हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

(१८) विश्वनाथ (चौदहवीं शती पूर्वार्ध):—विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में अत्यधिक प्रचलित है। विश्वनाथ ध्वनि-वादी हैं, तथा समस्त ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानकर रसध्वनि (रस) को ही काव्यजीवित घोषित करते हैं। विश्वनाथ के ग्रंथ में जयदेव कवि के गीतगोविंद, श्रीहर्ष के नैषध तथा पीयूषवर्ष जयदेव के प्रसन्न-राघव से उद्धरण मिलते हैं। विश्वनाथ ने रुय्यक के नाम का कहीं भी संकेत नहीं किया है, पर रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद में स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। विश्वनाथ के ग्रंथ में एक पद्य ऐसा उदाहृत है, जिसमें अलाउद्दीन का उल्लेख है, जो खिलजी बादशाह अलाउद्दीन ही है। इस प्रकार विश्वनाथ का समय चौदहवीं शती से पूर्व नहीं हो सकता।

---

१. De : Sanskrit poetics p. 65.

विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ को काव्यप्रकाश की नकल पर बनाया है। वैसे तीसरे परिच्छेद में नायक-नायिका-भेदप्रकरण तथा षष्ठ में नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों का विवेचन काव्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक है। विश्वनाथ ने दशम परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने कुल ८४ अलंकार माने हैं, जिनमें ७६ अर्थालंकार हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अतिरिक्त कई और काव्य नाटक आदि लिखे थे, जो उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने काव्यप्रकाश पर भी एक दर्पण नामक टीका लिखी थी। साहित्यदर्पण पर अधिक टीकायें नहीं मिलतीं। इनमें प्रमुख टीका रामतर्कवागीश की प्रभा है। इस ग्रन्थ का अंगरेजी अनुवाद बेलेंटाइन ने प्रकाशित कराया था। इस पर एक सुंदर हिंदी व्याख्या शालिग्राम शास्त्री ने लिखी थी।

( १९ ) विद्याधर ( चौदहवीं शती पूर्वार्ध ):—ये विश्वनाथ के ही समसामयिक हैं। विद्याधर का ग्रंथ 'एकावली' है। विद्याधर ने रुय्यक तथा श्रीहर्ष का उल्लेख किया है। एकावली का सबसे पहला उल्लेख शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर में मिलता है तथा चौदहवीं शती के उत्तरार्ध में कोलाचल मल्लिनाथ सूरि ने इस पर 'तरला' टीका की रचना की है। विद्याधर ध्वनिवादी आलंकारिक हैं। इनके ग्रंथ में आठ उन्मेष हैं, जिनमें समस्त काव्यांगों का विवेचन है। अष्टम उन्मेष में अर्थालंकारों की विवेचना है। एकावली का सुंदर संस्करण प्रो० त्रिवेदी ने प्रकाशित कराया था।

( २० ) विद्यानाथ ( चौदहवीं शती पूर्वार्ध ):—ये भी विश्वनाथ तथा विद्याधर के समसामयिक हैं। विद्यानाथ का ग्रंथ प्रतापरुद्रीय है। ये भी ध्वनिवादी हैं तथा मम्मट एवं रुय्यक के ऋणी हैं। इनका समय काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव का राज्यकाल है। विद्यानाथ ने अपने ग्रंथ में विद्याधर की भाँति अपने ही बनाये उदाहरण दिये हैं। ग्रंथ में विश्वनाथ की तरह नाटक प्रकरण का भी समावेश है। ग्रंथ नौ प्रकरणों में विभक्त है। नवम प्रकरण में अर्थालंकारों का विवेचन है। इस ग्रंथ पर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी की 'रत्नापण' नामक प्रसिद्ध टीका है। इस पर एक 'रत्नशाण' नामक अधूरी टीका भी उपलब्ध है। इस ग्रंथ का दोनों टीकाओं के साथ एक सुंदर संस्करण प्रो० त्रिवेदी ने बांबे संस्कृत सिरीज से प्रकाशित कराया था।

विद्याधर तथा विद्यानाथ का महत्त्व इसलिये भी है कि अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने अपने ग्रंथों में इनके मतों का उल्लेख किया है।

(२१) शोभाकर मित्र (संभवतः १४वीं शती):—शोभाकर मित्र के 'अलंकाररत्नाकर' का उल्लेख 'रत्नाकर' के नाम से अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ दोनों ने किया है। रत्नाकर-कार के मतों का कई स्थानों पर अलंकार सर्वस्व की विमर्शिनी के रचयिता जयरथ ने भी संकेत किया है। अतः निश्चित है कि शोभाकर मित्र का काल जयरथ के पूर्व रहा है। जयरथ का समय पंद्रहवीं शती माना जाता है, अतः शोभाकर मित्र का समय चौदहवीं शती ही जान पड़ता है। पंडितराज जगन्नाथ ने दो स्थानों पर अलंकाररत्नाकर का संकेत किया है। उपमा (पृ० २१६) तथा असम (पृ० २७९) अलंकार के प्रकरण में पंडितराज ने अलंकाररत्नाकर के द्वारा असम अलंकार के प्रकरण में उदाहृत निम्न पद्य में असम अलंकार नहीं माना है[१]:—

ढुँढुँणंतो हि मरीहिसि कण्टककलिआइँ केअइवणाइँ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो न पावहिसि॥

शोभाकर मित्र के 'रत्नाकर' में असम अलंकार के प्रकरण में ठीक यही उदाहरण दिया गया है। वे इसे उपमानलुप्ता उपमा मानने का विरोध भी करते हैं।[१] इस संबंध में इतना कह दिया जाय कि अधिकतर

---

१. "ढुँढुँणंतो…" इत्यत्रासमालंकारोऽयमुपमातिरिक्त इति वदन्तोऽलंकाररत्नाकरादयः परास्ताः। —रसगंगाधर पृ० २१६

२. यत्तु "ढुँढुँणंतो मरीहसि…" नेयमुपमानलुप्ता तस्याः संभवदुपमानानुपादानविषयत्वात् 'अपित्वसमालंकारः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तदसत्। —वही पृ० २७९

१. देखिये—अत्र मालतीकुसुमसदृशमन्यन्नास्तीति उपमानासंभवः प्रतीयते। तेनोपमानानुपादानाल्लुप्तोपमेयमिति न वाच्यम्। उपमानस्य संभवतोऽनुपादाने लुप्तोपमा। अत्र चोपमानस्यासंभव एव उपनिबद्धः। न चास्यानन्वयादावन्तर्भाव इत्यलंकारान्तरमेव।

यत्रोपमानस्य न संभवोऽस्ति तत्रासमः स्यादुपमा न लुप्ता।
संभाव्यमानस्य सतः समानधर्मादिकस्य त्वनुदीरणे सा॥

इति संक्षेपः। —शोभाकरमित्रः अलंकाररत्नाकर पृ० ११
(पूना से प्रकाशित)

आलंकारिकों ने इस पद्य में उपमा ही मानी है। ( दे० मम्मटः काव्यप्रकाश पृ० ४५२; हेमचंद्रः काव्यानुशासन पृ० २४२, विश्वेश्वरः अलंकार कौस्तुभ पृ० १३४ ) ये आलंकारिक असम अलंकार को नहीं मानते। पंडितराज ने रत्नाकर के ही आधार पर दो अलंकार माने हैं, जिन्हें अप्पय दीक्षित ने नहीं माना है। ये हैं—असम तथा उदाहरण। असम के संबंध में उन्होंने रत्नाकर के प्रथम उदाहरण को दुष्ट बताया है, उदाहरण के संबंध में उन्होंने रत्नाकर द्वारा उदाहृत पद्यों में से एक "अनंतरत्नप्रभवस्य यस्य" इत्यादि कुमारसंभवस्थ कालिदासीय पद्य को उपन्यस्त किया है। रत्नाकर ने अपने ग्रंथ में १०० से ऊपर अलंकारों का वर्णन किया है। रत्नाकर के ग्रंथ में कई नये अलंकार मिलते हैं तथा कई ऐसे अलंकार हैं, जिनके नाम भिन्न हैं। ये अलंकार निम्न हैं:—

अचिंत्य, अतिशय, अनादर, अनुकृति, असम, अवरोह, अशक्य, आदर, आपत्ति, उद्भेद, उद्रेक, उदाहरण, क्रियातिपत्ति, गूढ, तंत्र, तुल्य, नियम, प्रतिप्रसव, प्रतिभा, प्रतिमा, प्रत्यादेश, प्रत्यूह, प्रसंग, वर्द्धमानक, विनोद, विपर्यय, व्यत्यास, व्याप्ति, व्यासंग और समता।

शोभाकर मित्र ने संसृष्टि अलंकार का खंडन किया है। वे स्पष्ट कहते हैं:—न संसृष्टिः पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्च।—सूत्र १११।

शोभाकर मित्र उस समय की देन हैं, मम्मट के द्वारा अलंकारों की संख्या सीमित कर दिये जाने पर भी जब एक बार फिर से नये अलंकारों की गवेषणा की धुन में आलंकारिक व्यस्त होने लगे थे। ये काश्मीर निवासी जान पड़ते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था। काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के सूत्रों के तत्तत् अलंकार के उदाहरण उपन्यस्त करते हुए 'देवीस्तोत्र' की रचना की थी। शोभाकर की तिथि का पूर्णतः निश्चय नहीं हो पाया है, किंतु ये पंद्रहवीं शती से बाद के नहीं हो सकते। शोभाकर मित्र का नव्य आलंकारिकों के अध्येता के लिए बड़ा महत्त्व है तथा अलंकार शास्त्र के इतिहास में शोभाकर मित्र का उल्लेख न करना बहुत बड़ी भूल हो सकती है। रत्नाकर का यह ग्रंथसूत्र वृत्ति के ढंग पर लिखा गया है। वृत्ति में कई प्रामाणिक काव्यों से उद्धरण पाये जाते हैं। इस

ग्रंथ का प्रकाशन सर्वप्रथम प्रो० सी० आर देवधर ने ओरियंटल बुक एजेंसी पूना से सन् १९४२ में कराया है।

( २२ ) अप्पय दीक्षित ( सोलहवीं शती का अंतिमचरण ):— अप्पय दीक्षित के स्वयं के ही ग्रंथ से उनके समय का कुछ संकेत मिलता है। कुवलयानन्द के उपसंहार में बताया गया है कि वह दक्षिण के किसी राजा वेंकट के लिए लिखा गया था।

अमुं कुवलयानंदमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥

आफ्रेक्ट तथा एगेलिंग के मतानुसार अप्पय दीक्षित का आश्रयदाता विजयनगर का वेंकट ( १५३५ के लगभग ) था। किंतु हुल्त्श के मतानुसार इनका आश्रयदाता पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था, जिसके १५८६ ई० से १६१३ ई० तक के लेख मिलते हैं।[१] 'शिवादित्य मणि-दीपिका' की पुष्पिका में अप्पय ने चिन्नवीर के पुत्र तथा लिंगमनायक के पिता, चिन्नबोम्म को अपना आश्रयदाता बताया है। चिन्नबोम्म वेल्लूर का राजा था तथा इसके १५४९ ई० तथा १५५६ ई० के लेख मिले हैं। इस प्रकार अप्पय दीक्षित का रचनाकाल मोटे तौरपर १५४६ ई० तथा १६१३ ई० के बीच जान पड़ता है। अतः दीक्षित को सोलहवीं शती के अंतिम चरण में रखना असंगत न होगा। इसकी पुष्टि इन प्रमाणों से भी हो जाती है कि अप्पय दीक्षित का उल्लेख कमलाकर भट्ट ( १७वीं शती प्रथम चरण ) ने किया है तथा उन्हीं दिनों पंडितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित का खण्डन भी किया है। सतरहवीं शती के मध्यभाग में अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठदीक्षित ने चित्र मीमांसादोषधिक्कार की रचना कर पण्डितराज के चित्र मीमांसाखण्डन का उत्तर दिया था।

अप्पय दीक्षित के नाम के तीन रूप मिलते हैं—अप्पय दीक्षित, अप्पय्य दीक्षित तथा अप्प दीक्षित। कुवलयानन्द के ऊपर उद्धृत पद्य में 'अप्पदीक्षित' रूप मिलता है, पर प्रायः इसका अप्पय्य तथा अप्पय

---

१ फ्रेंच विद्वान् रेञो ( Regnand ) ने ल रेतोरीके साँस्कीत ( Le Rhetorique Sanskrit ) पृ० ३७५ पर अप्पय दीक्षित को विजयनगर के कृष्णराज ( १५२० ई० ) का समसामयिक माना है, जो भ्रांति है।

रूप ही देखा जाता है। पंडितराज ने दोनों रूपों का प्रयोग किया है—देखिये अप्पय्य दीक्षित (रसगंगाधर पृ० १४), अप्पय दीक्षित (पृ० २१०)। वैसे चित्रमीमांसाखण्डन के भूमिका के पद्य में अप्पय्य रूप ही मिलता है:—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यादस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥
(चित्र मीमांसाखण्डन काव्यमाला पृ० १२३)

अप्पय दीक्षित एक सर्वशास्त्रज्ञ विद्वान् थे, जिनके विविध शास्त्रों पर लिखे ग्रंथों की संख्या १०४ मानी जाती है। जिनमें अलंकारशास्त्र पर तीन ग्रंथ हैं—वृत्ति वार्तिक, चित्र मीमांसा तथा कुवलयानंद।

अप्पय दीक्षित मूलतः मीमांसक एवं वेदांती हैं। उनका निम्न पद्य तथा उसकी कुवलयानंद की वृत्ति में की गई व्याख्या अप्पय दीक्षित के तद्विषयक पांडित्य का संकेत कर सकते है।

आश्रित्य नूनममृतद्युतयः पदं ते देहक्षयोपनतदिव्यपदाभिमुख्याः।
लावण्यपुण्यनिचयं सुहृदि त्वदास्ये विन्यस्य यांति मिहिरं प्रतिमासभिन्नाः॥

जहाँ तक दीक्षित के साहित्यशास्त्रीय पांडित्य का प्रश्न है, उनमें कोई मौलिकता नहीं दिखाई देती। क्या कुवलयानन्द, क्या चित्र-मीमांसा, क्या वृत्तिवार्तिक तीनों ग्रंथों में दीक्षित का संग्राहक रूप ही अधिक स्पष्ट होता है। वैसे जहाँ कहीं दीक्षित ने मौलिकता बताने की चेष्टा की है, वे असफल ही हुए हैं तथा उन्हें पंडितराज के कटु आक्षेप सहने पड़े हैं। पंडितराज ही नहीं, अलंकार कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने भी अप्पय्य दीक्षित के कई मतों का खंडन किया है। अप्पय्य दीक्षित के इन तीन ग्रंथों में वृत्तिवार्तिक तथा चित्रमीमांसा दोनों ग्रंथ अधूरे ही मिलते हैं। वृत्तिवार्तिक में केवल अभिधा तथा लक्षणा शक्ति का विवेचन पाया जाता है। चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षांत मिलती है, कुछ प्रतियों में अतिशयोक्ति का भी अधूरा प्रकरण मिलता है।

अप्पय्य दीक्षित के अलंकार संबंधी विचारों के कारण अलंकार शास्त्र में एक नया वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। पंडितराज ने रस-गंगाधर में दीक्षित के विचारों का कस कर खंडन किया है तथा उन्हें रुय्यक एवं जयरथ का नकलची घोषित किया है। इतना ही नहीं, बेचारे अप्पय्य दीक्षित को गालियां तक सुनाई हैं। व्याज स्तुति के

प्रकरण में तो अप्पय्य दीक्षित को महामूर्ख तथा बैल तक बताते हुए पंडितराज कहते हैः—"उपालम्भरूपाया निन्दाया अनुत्थानापत्तेः प्रतीतिविरोधाच्चेति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविडपुंगवेनेति।" (रसगंगाधर पृ० ५६३) अप्पय्य दीक्षित तथा पंडितराज के परस्पर वैमनस्य की कई किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनके विवरण में हम नहीं जाना चाहते। सुना जाता है कि यवनी को रखैल रखने के कारण पंडितराज को जाति बहिष्कृत करने में दीक्षित ही प्रमुख कारण थे। अतः पंडितराज ने दीक्षित के उस व्यवहार का उत्तर गालियों से दिया है। कुछ भी हो, पंडितराज जैसे महापंडित के लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना ठीक है या नहीं, इस पर विद्वान् ही निर्णय दे सकते हैं। अप्पय्य दीक्षित के विचारों का खंडन एक दूसरे आलंकारिक ने भी किया था—ये हैं, भीमसेन दीक्षित। भीमसेन दीक्षित ने अपनी काव्यप्रकाश की टीका सुधासागर में बताया है कि उन्होंने 'कुवलयानन्द-खंडन' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसमें अप्पय्य दीक्षित के मतों का खंडन रहा होगा। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

(२३) पंडितराज जगन्नाथ (सतरहवीं शती पूर्वार्ध):—भामिनी-विलास के एक पद्य से पता चलता है कि पंडितराज ने अपनी युवावस्था दिल्ली के बादशाह के आश्रय में गुजारी थी[1]। यह बादशाह शाहजहाँ था, जिसके पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा पंडितराजने 'जगदाभरण' में की है। जगन्नाथ नवाब आसफ खाँ के आश्रय में रहे थे, जो शाहजहाँ का मनसबदार था। इसकी प्रशंसा में जगन्नाथ ने 'आसफ-विलास' की रचना की थी। रसगंगाधर में इसका एक पद्य उद्धृत है। एक पद्य में नूरदीन का भी संकेत मिलता है, जो शाहजहाँ के पिता जहाँगीर का नाम जान पड़ता है। शाहजहाँ का शासनकाल १६२८ ई० से १६५८ ई० तक है, जब वह औरंगजेब के द्वारा बंदी बना लिया गया था। ऐसा जान पड़ता है, शाहजहाँ तथा उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह पंडितराज के प्रमुख आश्रयदाता थे। अतः यह निष्कर्ष असंगत नहीं होगा कि पंडितराज की साहित्यिक रचनाओं का काल सतरहवीं शती का द्वितीय चरण रहा है। यह इस बात से भी पुष्ट होता है कि रसगंगाधर तथा चित्रमीमांसा के खण्डन में अप्पय्य दीक्षित

---

१. दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

के मतों का खंडन मिलता है तथा १८वीं शती के आरंभ में नागेशभट्ट ने रसगंगाधर पर टीका लिखी है।

जगन्नाथ पेरुभट्ट तथा लक्ष्मी के पुत्र थे। ये भी अप्पय्य दीक्षित की तरह दाक्षिणात्य थे। जगन्नाथ के पिता स्वयं प्रकांड विद्वान् थे तथा उन्होंने कई विद्वानों से तत्तत् शास्त्र का अध्ययन किया था। जगन्नाथ ने अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से शास्त्रों का अध्ययन किया था। पंडितराज के वैयक्तिक जीवन के विषय में बहुत कम पता है, यद्यपि उनके विषय में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। रसगंगाधर के अतिरिक्त पंडितराज ने कई काव्यों की रचना की है। इसके अतिरिक्त इनका चित्रमीमांसाखण्डन भी प्रसिद्ध है। भट्टोजि दीक्षित की 'सिद्धांतकौमुदी' की टीका प्रौढमनोरमा' का खंडन करते हुए उन्होंने एक व्याकरण विषयक ग्रंथ भी लिखा था, जिसका विचित्र शीर्षक था—मनोरमा-कुच-मर्दन। पंडितराजकी लगभग एक दर्जन कृतियों का पता लगता है।

( १ ) रसगंगाधर, ( २ ) अमृतलहरी, ( ३ ) आसफविलास, ( ४ ) करुणालहरी, ( ५ ) गंगालहरी, ( ६ ) जगदाभरण, ( ७ ) प्राणाभरण, ( ८ ) भामिनीविलास ( ९ ) मनोरमाकुचमर्दन, ( १० ) यमुना वर्णन-चम्पू. ( ११ ) लक्ष्मीलहरी, ( १२ ) सुधालहरी ( १३ ) चित्रमीमांसा खण्डन।

पंडितराज के दोनों अलंकारग्रन्थ अधूरे ही मिले हैं। रसगंगाधर केवल उत्तरालंकार प्रकरण तक ही मिलता है, तथा उसमें भी अंतिम पद्य अधूरा मिला है। रसगंगाधर में इस प्रकार प्रथम आनन पूर्ण तथा द्वितीय आनन अपूर्ण उपलब्ध है। नागेशभट्ट की टीका भी इतने ही अंश तक मिली है। 'गंगाधर' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि पंडितराज इसे पाँच आननों में निबद्ध करना चाहते होंगे। इन पाँच आननों में प्रथम तथा द्वितीय (अपूर्ण) आनन ही मिलते हैं। प्रथम आनन में काव्य के भेद दस शब्दगुण तथा दस अर्थ-गुण, ध्वनि के तत्तत् भेदोपभेद, असंलक्ष्यक्रमध्वनि ( रस ) तथा अन्य ध्वनिभेदों की विस्तृत मीमांसा है। दूसरे आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा ७० अलंकारों का विवेचन पाया जाता है। पंडित-राज ने काव्य की परिभाषा में शब्द की ही प्रधानता मानकर शब्दार्थ

को काव्य माननेवाले मम्मटादि का खंडन किया है। वे काव्य के तीन भेद न मानकर चार भेद मानते हैं। रस के संबंध में पंडितराज ने ११ मतों का उल्लेख किया है तथा नव्यों के एक नये मत का उल्लेख किया है, जिसे वे स्वयं मानते जान पड़ते हैं। पंडितराज ने वामन के अनुसार २० गुणों का वर्णन किया है। वे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अर्थ शक्तिमूलक वर्ग में कवि-निबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिवाले भेद का खंडन करते हैं तथा उसे कवि प्रौढोक्ति में ही अन्तर्भावित करते हैं। इस तरह वे इस ध्वनि के ८ ही भेद मानते हैं, १२ नहीं। शक्ति के द्वारा प्रतीत शाब्दबोध तथा लक्षणाशक्ति के शाब्दबोध के विषय में पंडितराज ने कई वैज्ञानिक विचार प्रकट किये हैं। अलंकारों के विषय में भी पंडितराज ने कई मौलिक विचार प्रकट किये हैं।

पंडितराज ने अपने ग्रंथ में ध्वनिकार, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ के अतिरिक्त, रुय्यक, विमर्शिनीकार जयरथ, विद्याधर, विद्यानाथ, तथा अप्पयदीक्षित का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त वे शोभाकरमित्र के अलंकाररत्नाकर, मम्मट के टीकाकार श्रीवत्सलाञ्छन तथा एक अज्ञात आलंकारिक के अलंकारभाष्य का संकेत करते हैं।

रसगंगाधर पर दो टीकायें लिखी गई थीं। एक टीका नागेशभट्ट या नागोजिभट्ट की 'गुरुमर्मप्रकाशिका' है, जो प्रकाशित हो चुकी है। रसगंगाधर की एक दूसरी टीका भी लिखी गई थी, किसी अज्ञात टीकाकार की 'विषम-पदी' जो उपलब्ध नहीं है। रसगंगाधर का एक स्वतंत्र हिंदी अनुवाद नागरी प्रचारिणी सभा से निकल चुका है। केवल प्रथम आननपर एक दूसरी संस्कृत व्याख्या तथा हिंदी व्याख्या भी प्रकाशित हो चुकी है।

(२४) विश्वेश्वर पंडित (१८वीं शती का प्रथम चरण):— मम्मट ने रुद्रट के अलंकारों की बढ़ती संख्या को रोकने का बीड़ा उठाया था, किंतु रुय्यक ने अलंकारों की संख्या को पुनः बढ़ावा दिया। जयदेव, विश्वनाथ, शोभाकर मित्र, अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज ने भी कम-ज्यादा उसी मार्ग का अनुसरण किया। विश्वेश्वर पंडित ने पिछले दिनों में इस बाढ़ को रोकने का प्रबलतम प्रयत्न किया है। यही

प्रयत्न हमें 'अलंकार कौस्तुभ' के रूप में उपलब्ध होता है। विश्वेश्वर ने अलंकार कौस्तुभ में केवल उन्हीं अलंकारों का वर्णन किया है, जिनका वर्णन मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। इस तरह वे केवल ६१ अर्थालंकारों की मीमांसा करते हैं तथा बाकी अलंकारों को इन्हीं में अंतर्भावित करते हैं। विश्वेश्वर ने स्वयं ग्रंथ के उपसंहार में अपने इस लक्ष्य का संकेत किया है:—

अन्यैरुदीरितमलंकरणांतरं यत् काव्यप्रकाशकथितं तदनुप्रवेशात्।
संक्षेपतो बहुनिबंधविभावनेनालंकारजातमिह चारुमयान्यरूपि ॥

(पृ० ४१६)

विश्वेश्वर अपने समय के प्रबल पंडित थे। पंडितराज की तरह इन्होंने भी तत्तत् अलंकारों का लक्षणपरिष्कार नव्यन्याय की 'अवच्छेदकावच्छिन्न' वाली शैली में किया है। अलंकारकौस्तुभ पर इन्होंने स्वयं ही व्याख्या भी लिखी है, जो केवल रूपक अलंकार प्रकरण तक ही मिलती है। संभवतः ये बाद में व्याख्या न लिख सके होंगे। विश्वेश्वर ने दीक्षित का डट कर खंडन किया है। उपमा के संबंध में वे दीक्षित की परिभाषा का खंडन कर पुनः विद्यानाथ की परिभाषा की प्रतिष्ठापना करते हैं—(देखिये पृ० १२-१९)। कई स्थानों पर वे पंडितराज के द्वारा किये गये दीक्षित के खंडन से सहमत हैं, तथा स्वयं दीक्षित का खंडन न कर रसगंगाधर की पंक्तियाँ ही उद्धृत कर देते हैं। कुछ स्थानों पर वे पंडितराज के मतों का भी खंडन करते हैं। विश्वेश्वर स्वयं कवि भी थे तथा इन्होंने अपने कई ललित पद्यों को उद्धृत किया है। अलंकार कौस्तुभ में श्रीहर्ष के नैषधीय के अधिक उदाहरण पाये जाते हैं। इनके पिता लक्ष्मीधर थे, जो स्वयं प्रकांड विद्वान् थे, तथा संभवतः ये ही इनके विद्यागुरु भी थे। अलंकारकौस्तुभ के आरंभ में विश्वेश्वर ने इनकी स्तुति की है:—

'लोकध्वान्तघनांधकारपटलध्वंसप्रदीपांकुरा,
विद्याकल्पलताप्रतानजनने बीजं निजासंगिनाम्।
मध्येमौलि ममासतां सुविमला मालायमानाश्चिरं
श्रीलक्ष्मीधरविद्वदङ्घ्रिनलिनोद्गीताः परागाणवः ॥'

इनके बड़े भाई उमापति थे, जो स्वयं बड़े भारी विद्वान् थे। उमापति के मत का एक स्थान पर 'कौस्तुभ' में संकेत मिलता है। परिकर

अलंकार के प्रकरण में अपने भाई उमापति का संकेत करते वे बताते हैं कि वे परिकरांकुर अलंकार नहीं मानते तथा विशेषण तथा विशेष्य दोनों के साभिप्राय होने पर भी परिकर ही मानते हैं।

'तेन विशेष्यविशेषणोभयसाभिप्रायत्वेऽपि परिकर एवेति त्वस्माकं यविष्ठभ्रातुरुमापतेः पक्ष इत्यलं भूयसा।' (पृ० ३५७)

विश्वेश्वर के चार अन्य ग्रंथों का भी संकेत मिलता है:—अलंकार मुक्तावली, रसचंद्रिका, अलंकार प्रदीप, कवींद्रकर्णाभरण। विश्वेश्वर को हम अंतिम आलंकारिक कह सकते हैं।

———

# संदर्भ ग्रंथ सूची

## ( अ ) संस्कृत ग्रंथ

१ ऋग्वेद
२ शतपथ ब्राह्मण
३ कौशीतकीब्राह्मण
४ ऐतरेय ब्राह्मण
५ बृहदारण्यक उपनिषद्
६ छान्दोग्य उपनिषद्
७ वाजसनेयी प्रातिशाख्य ( उवट कृत टीका सहित )
८ यास्क निरुक्त : ( दुर्गाचार्य टीका सहित )
९ बृहद्देवता
१० मीमांसा सूत्र : जैमिनि
११ मीमांसाभाष्य : शबर स्वामी
१२ श्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट (उम्बेककृत टीकासहित) (मद्रास १९४०)
१३ न्यायरत्नमाला : पार्थसारथि मिश्र
१४ तत्त्वबिंदु : वाचस्पति मिश्र ( अन्नामलाइ संस्करण )
१५ न्यायसूत्र : गोतम ( वात्स्यायन भाष्य सहित )
१६ शक्तिवाद : गदाधर
१७ शब्दशक्ति प्रकाशिका : जगदीश तर्कालंकार
१८ न्यायसिद्धांत मुक्तावली (कारिकावली ) : विश्वनाथ भट्टाचार्य
१९ तर्कभाषा : केशव मिश्र
२० तर्कसंग्रह : अन्नभट्ट ( न्यायबोधिनी तथा दीपिका सहित )
२१ वैशेषिक सूत्र : कणाद
२२ सांख्यसूत्र : कपिल
२३ वेदान्तसूत्र : बादरायण
२४ शारीरिकभाष्य : शंकराचार्य
२५ वेदांतसार : सदानन्द
२६ सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य ( अभ्यंकर द्वारा संपादित, पूना )

२७ व्यास-शिक्षा
२८ पाणिनि शिक्षा
२९ अष्टाध्यायी : पाणिनि
३० महाभाष्य : पतंजलि ( म० म० शिवदत्त द्वारा संपादित )
३१ वाक्यपदीय : भर्तृहरि ( पुण्यराज कृत टीका सहित )
३२ वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड) : भर्तृहरि ( सूर्यनारायण व्याकरणाचार्य कृत टीका सहित )
३३ वैयाकरणभूषणसार : कोण्ड भट्ट
३४ वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा : नागेशभट्ट ( संपादित कृत टीका सहित )
३५ तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त
३६ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी : अभिनवगुप्त ( भास्करी सहित ) ( सरस्वती भवन, काशी )
३७ नाट्यशास्त्र : भरत ( भारती सहित, बड़ौदा संस्करण )
३८ काव्यालंकार : भामह ( बनारस संस्करण )
३९ काव्यादर्श : दण्डी ( हृदयांगमा तथा प्रभा टीका सहित, दो संस्करण )
४० काव्यालंकार सूत्र : वामन ( काव्यमाला, १९२६ )
४१ काव्यालंकार : रुद्रट (नमिसाधुकृत टीका सहित) (काव्यमाला)
४२ काव्यालंकार सारसंग्रह : उद्भट ( बड़ौदा संस्करण )
४३ ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन ( लोचन सहित ) (चौ० सं० सि० काशी)
४४ ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन ( लोचन सहित ) ( प्रथम उद्योतमात्र ) ( मद्रास संस्करण )
४५ ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन (बदरीनाथ कृत दीधिति सहित) (काशी)
४६ वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक ( दे द्वारा संपादित, १९२५ )
४७ व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट ( त० गणपति शास्त्री संपादित त्रिवेंद्रम १९०९)
४८ व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट (मधुसूदनी विवृति सहित, काशी १९२६)
४९ दशरूपक : धनंजय ( धनिककृत अवलोक सहित )
५० काव्यमीमांसा : राजशेखर
५१ सरस्वतीकंठाभरण : भोज ( निर्णयसागर, १९३४ )
५२ काव्यप्रकाश : मम्मट ( बालबोधिनी, पूना )
५३ काव्यप्रकाश : मम्मट ( प्रदीप तथा उद्योत सहित, पूना )

५४ काव्यप्रकाश : मम्मट (भीमसेन कृत सुधासागर सहित, काशी सं० १९६४)
५५ काव्यप्रकाश : मम्मट (चक्रवर्ती भट्टाचार्य कृत टीका सहित, कलकत्ता)
५६ शब्दव्यापारविचार : मम्मट (काव्यमाला)
५७ अलंकारसर्वस्व : रुय्यक (समुद्रबंध तथा जयरथ दोनों टीकाओं के संस्करण)
५८ काव्यानुशासन : हेमचन्द्र (पारिख संपादित, जैन विद्यालय बंबई, १९३८)
५९ अभिधावृत्तिमातृका : मुकुल भट्ट (काव्यमाला)
६० प्रतापरुद्रीय : विद्यानाथ (रत्नापण टीका सहित) (के० पी० त्रिवेदी संपादन, १९०६)
६१ एकावली : विद्याधर (तरला टीका सहित) (के० पी० त्रिवेदी संपादन, १९०३)
६२ साहित्यदर्पण : विश्वनाथ (रामचरण तर्कवागीश टीका सहित)
६३ साहित्यदर्पण : विश्वनाथ (हरिदासी टीका सहित)
६४ चन्द्रालोक : जयदेव
६५ रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ (निर्णयसागर)
६६ चित्रमीमांसा : अप्पय दीक्षित (काव्यमाला)
६७ वृत्तिवार्तिक : अप्पय दीक्षित (काव्यमाला)
६८ त्रिवेणिका : आशाधर (सरस्वती भवन, काशी)
६९ अलंकार चन्द्रोदय : वेणीदत्त
७० अलंकार कौस्तुभ : विश्वेश्वर पंडित (काव्यमाला)
७१ यशवन्तयशोभूषणं : सुब्रह्मण्य शास्त्रीकृत संस्कृत अनुवाद (जोधपुर)
७२ यशवन्तयशोभूषणं : रामकरण आसोपाकृत संस्कृत अनुवाद (जोधपुर)

## (आ) हिंदी ग्रंथ

७३ कविप्रिया : केशवदास
७४ काव्यरसायन : देव
७५ भाषाभूषण : जसवन्तसिंह
७६ काव्यनिर्णय : भिखारीदास
७७ काव्यप्रभाकर : भानु
७८ जसवन्तजसोभूषण : मुरारिदान (जोधपुर)

७९ व्यंग्यार्थमंजूषा : लाला भगवानदीन
८० व्यंग्यार्थकौमुदी : प्रतापसाहि
८१ काव्यदर्पण : रामदहिन मिश्र
८२ साहित्यालोचन : श्यामसुंदरदास
८३ चिन्तामणि भाग १, २ : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
८४ रसमीमांसा : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
८५ साहित्यशास्त्र ( प्रथम तथा द्वितीय खण्ड ) : पं० बलदेव उपाध्याय
८६ सिद्धांत और अध्ययन : गुलाबराय
८७ रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र
८८ देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र
८९ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र
९० काव्यकला और निबंध : जयशंकर प्रसाद
९१ हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल

( इ ) अंगरेजी पुस्तकें

९२ Purva Mimansa : Dr. Ganganath Jha.
९३ Lectures on Patanjali's Mahabhashya : P. S. Subrahmanya Sastri. ( Annamalai Uni. Series 9, 1944 )
९४ Philosophy of Sanskrit Grammar : Chakravarty.
९५ History of Sanskrit Poetics : Dr. P. V. Kane. ( 1951 )
९६ Sanskrit Poetics Vol. I & II : Dr. S. K. De. ( 1924 )
९७ Some Concepts of Alankara Sastra : Dr. Raghavan. ( 1940 )
९८ Number of Rasas : Dr. Raghavan. ( 1940 )
९९ Rasa and Dhavai : Dr. Shankaran.
१०० Highways and Byways of Literay Criticism in Sanskrit } Mm. Kuppuswami Sastri.

१०१ History of Sanskrit Literature : Dr. A. B. Keith,

१०२ Abhinava gupta : An Historical and philosophical study } Dr. K. C. Pandey.

१०३ Indian Aestectics Vol. I : Dr. K. C. Pandey

१०४ La Rhetorique Sanskrit : Regnand. ( French )

१०५ Poetics : Aristotle.

१०६ Rhetorics : Aristotle.

१०७ Principle of Literary Criticism : I. A. Richerds.

१०८ Practical Criticism : I. A. Richards.

१०९ The Meaning of the Meaning : Ogden and Richards.

११० Illusion and Reality : Candwell.

१११ An Essay on Human Understanding : Locke,

११२ A System of Logic : J. S. Mill.

११३ Language, Truth and Logic : Ayar.

११४ Meaning and Truth : Russel.

११५ Language and Reality : Urban,

११६ Language : Bloomfield.

११७ Mankind, Nation and Individual : Otto Jespersen.

११८ Antiquities in Linguistics : Dr. W. S. Allen. (Cambridge Univ. Ph. D. thesis—typed Copy)

११९ Modes of Meaning : Firth. ( Essays and Studies, 1950 )

१२० Soviet Contribution to Linguistic thought } W. K. Mathews ( Archivum Linguisticum. Vol. II-2. )

१२१ La Vie de Mots : Dermesteter : ( French )

---

# शब्दानुक्रमणिका

## ( १ ) पारिभाषिक शब्द

———

# ( १ ) ग्रन्थकारों व ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका

# शुद्धिपत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
| --- | --- | --- | --- |
| ७ | १ | शब्द के तथा अर्थ | शब्द तथा अर्थ |
| ३० | १६ | उपादन | उपादान |
| ३३ | ३० | Spangern | Spingern |
| ४४ | ३१ | lectere | lecture |
| ४८ | १८ | सामान्य निममों का | सामान्य नियमों का |
| ५१ | १७ | विजिज्ञापमिषया | बिजिज्ञापयिषया |
| ६५ | २१ | मत्यौं | मर्त्यौं |
| १०२ | २१ | °रुचिमेयतपस्यतींदुः ॥ | रुचिमेष तपस्यतींदुः ॥ |
| १११ | १ | ३ | तृतीय परिच्छेद |
| १२३ | २७ | साधारणगुणाश्रयत्येन | साधारणगुणाश्रयत्वेन |
| १४८ | ७ | आरोपक तथा आरोप्यमाण | आरोपविषय तथा आरो-प्यमाण |
| १४८ | १० | आरोपक आरोप्यमाण का | आरोप्यमाण आरोपविषय का |
| १८१ | ४ | प्रसिद्धावमवातिरिक्तं | प्रसिद्धावयवातिरिक्तं |
| २०० | १९ | स्खनत्तुहिनदीधिति° | स्खलत्तुहिनदीधिति° |
| २४४ | २९ | ङ्क्तः | व्यङ्क्तः |
| २४५ | २४ | allurios | allusion |
| २४६ | १७ | les jeuk de mots | les jeux de mots |
| ३५५ | ५ | इमारा | हमारा |
| ४२४ | ७ | कार्यों | कार्यः |
| ४३७ | २७ | कार्यों | कार्यः |
| ४४९ | २ | °पूरितादिङ्मुखे | °पूरितदिङ्मुखे |